गूजरात
ुरातत्त्वमनि
ग्रन्थावली



पं० ब

पाठान्तर-टिप्पण्यादि

गूजरात वि

अमदा

आवृत्ति, प्रतियां ७००] संवत १९८७ ग्रन्थाङ्क १

गूजरातपुरातत्त्वमन्दिरग्रन्थावली

आचार्यश्रीसिद्धसेनदिवाकरप्रणीतं

संमतितर्क-प्रकरणम् ।

जैनश्वेताम्बर-राजगच्छीय-प्रद्युम्नसूरिशिष्य-तर्कपञ्चानन-

श्रीमद्-अभयदेवसूरिनिर्मितया तत्त्वबोधविधायिन्या

व्याख्यया विभूषितम् ।

चतुर्थो विभागः ।

(द्वितीयकाण्डान्तः)

गूजरातविद्यापीठप्रतिष्ठितपुरातत्त्वमन्दिरस्थेन

संस्कृतसाहित्य-दर्शनशास्त्राध्यापकेन

पं० सुखलालसंघविना

प्राकृतवाङ्मयाध्यापकेन जैनन्याय-व्याकरणतीर्थ-

पं० बेचरदासदोशिना च

पाठान्तर-टिप्पण्यादिभिः परिष्कृत्य संशोधितम् ।

गूजरात विद्यापीठ

अमदावाद

प्रथमावृत्तिः, प्रतिसं० ५००] संवत् १९८५ [मूल्यम्-१० रूप्यकाणि.

प्रकाशकः—नरहरि द्वारकादास परीख महामात्र, गूजरात विद्यापीठ,
अमदावाद

मुद्रकः—रामचंद्र येसू शेडगे, निर्णयसागर प्रेस, नं. २६–२८, कोलभाट लेन, मुंबई

टीका-टिप्पण्युपयुक्तावतरणस्थानानां संकेताः।

अभिधान०	अभिधानचिन्तामणिकोशः।
अष्टश०	अष्टशती।
आप्तपरीक्षाप्रस्तावना।	
आवश्यकनि० नवकारनि०	आवश्यकनिर्युक्तौ नमस्कारनिर्युक्तिः।
आवश्यक० हारि०	आवश्यकस्य हरिभद्रीया वृत्तिः।
कल्पसू० मू०	कल्पसूत्रमूलम्।
कुमारसं०	कुमारसंभवटीका।
केवलिभुक्तिप्रकरणम्	शाकटायनविरचितं केवलिभुक्तिप्रकरणम्।
गोम्मटसारः	
गं० श्लो० वा०	गङ्गानाथझाकृतानुवादं श्लोकवार्तिकम्।
चरकसंहिता।	
जैनतर्कपरि०	जैनतर्कपरिभाषा।
ज्ञानबि०	ज्ञानबिन्दुः।
तत्त्वार्थ० व्या०	तत्त्वार्थव्याख्या।
तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालङ्कारः।	
तत्त्वोप० लि०	तत्त्वोपप्लवः लिखितः।
त्रिंशिकाविज्ञ०	त्रिंशिकाविज्ञप्तिः वसुबन्धुकृता।
त्रिंशिकाविज्ञ० भा०	त्रिंशिकाविज्ञप्तिभाष्यम् स्थिरमतिकृतम्।
नयनप्रसादिनी चित्सुखी।	
नियमसारः।	
नन्दि० चू० लिं० लि०	नन्दिसूत्रचूर्णिः लिम्बडीभण्डारसत्का लिखिता।
नन्दि० म० नन्दिसूत्रवृत्तिः	नन्दिसूत्रमलयगिरिटीका
नन्दि० ल० वा० लि०	नन्दिसूत्रलघुटीका वाडीपार्श्वनाथभण्डारसत्का लिखिता।
ध० न्या० टी० न्यायबि० टी०	धर्मकीर्तिकृतन्यायबिन्दोष्टीका।
ध० न्या० टी० टि०	धर्मकीर्तिकृतन्यायबिन्दोष्टीकायाष्टिप्पणी।
न्यायमञ्ज०	न्यायमञ्जरी।
न्यायसि० मु० का० मुक्ताव०	न्यायसिद्धान्तमुक्तावलिकारिका।
परीक्षामुखम्।	
प्रमाणप०	प्रमाणपरीक्षा।
प्रमाणमी०	प्रमाणमीमांसा।
प्रज्ञाप०	प्रज्ञापनासूत्रम्।
बृहद्द्रव्यसंग्रहः।	
महाभा०	महाभारतम्।
„ वनप०	„ वनपर्व।
रत्नाकराव०	रत्नाकरावतारिका।
रामाय० अरण्य०	रामायणम् अरण्यकाण्डः।
लघीयस्त्र०	लघीयस्त्रयम्।

लघीयस्त्र° स्वो° वृ° लि°	लघीयस्त्रयस्य स्वोपज्ञा बृहद्वृत्तिः लिखिता।
विशेषणवती।	
विशेषा° भा°	विशेषावश्यकभाष्यम्।
विशेषावश्यकभाष्यवृत्तिः।	
विज्ञप्तिमात्र°	विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिः विंशतिका वसुबन्धकृता।
वैजय°	वैजयन्तीकोशः।
श्रीभा°	श्रीभाष्यम्।
श्लो° वा° अनु°	श्लोकवार्त्तिकम् अनुमानपरिच्छेदः।
" अर्थाप°	" अर्थापत्तिपरिच्छेदः।
" उपमान°	" उपमानपरिच्छेदः।
" निरा°	" निरालम्बनवादः।
" प्रत्यक्ष°	" प्रत्यक्षसूत्रम्।
" प्रत्यक्षसू°	" "
" शब्दप°	" शब्दपरिच्छेदः।
षड्द° स° बृ° वृ°	षड्दर्शनसमुच्चयबृहद्वृत्तिः।
स्फुटार्थअभि°	स्फुटार्थअभिधर्मकोशव्याख्या यशोमित्रकृता।

विषयानुक्रमः

संपादकीय निवेदन

जो के आ भाग त्रीजो भाग प्रसिद्ध थया पछी पूरूं एक वर्ष वीत्या पहेलां ज प्रसिद्ध थाय छे छतां एनी संपूर्ण तैयारीमां फक्त एटलो ज वखत लाग्यो छे एम कोई न धारे. आगळना भागोनी पेठे आ भागनी तैयारी पण दोढे ज चालती हती. साधनसंपत्ति अने सहकारीओनी मदद पण अविच्छिन्न रहेली तेथी ज आ भागनुं प्रकाशन जलदी करी शकायुं छे.

(क) प्रस्तुत भागने अंगे बे बाबतो अत्रे जणाववानी छे; ग्रंथने लगती अने संपादनने लगती. ग्रंथने लगती बाबतमां मुख्य त्रण मुद्दाओ छे. १ मूळ अने टीकानुं परिमाण २ विषय ३ अने तेनी नवीनता.

१ प्रस्तुत भागमां सम्मतितर्कनुं बीजुं काण्ड आखुं आवी जाय छे. एमां ४३ गाथाओ छे. ए बधी गाथाओनी संपूर्ण टीका पण आ भागमां आवी ज जाय छे. बधी गाथाओमांथी पहेली गाथानी टीकाथी ज प्रस्तुत भागनो मोटो हिस्सो रोकाएलो छे. लगभग पोणा जेटलो हिस्सो ए टीकाए रोक्यो छे अने बाकीना हिस्सामां बीजीथी ठेठ सुधीनी बधी गाथाओनी टीका समाई जाय छे.

२ प्रस्तुत भागमां आवेला बीजा काण्डनो विषय ज्ञान छे. जैन आगमोमां जे ज्ञानसंबंधी प्राचीन विचार छे अने जे तेना भेदोनुं वर्गीकरण छे तेने ज आधारे आ बीजा काण्डमां चर्चा करवामां आवी छे. परंतु टीकामां एक विशेषता छे अने ते ए के जैन आगमनी प्राचीन शैलीमां स्थान नहि पामेली अने तर्कना विकास दरमियान उद्भव तथा प्रसार पामेली प्रमाणचर्चा टीकाकारे पहेली गाथानी टीकामां बहु उदारताथी दाखल करी छे. ए चर्चामां तत्कालीन बौद्ध अने वैदिक दर्शनोनां मंतव्योने पूर्वपक्षरूपे गोठवी सर्वदर्शनसंग्रहनी ढबे अदरोअदर एकथी बीजानुं निरसन करी छेवटे जैनदर्शननां मंतव्योने उत्तरपक्षरूपे मूकी तेनुं ज स्थापन करवामां आव्युं छे. ए प्रमाणचर्चा टीकाकारना बौद्ध अने वैदिक दर्शनसंबंधी प्रमाणविषयक महान् ग्रंथराशिना अभ्यासनी साक्षी पूरे छे. बीजीथी छेल्ली गाथा सुधीनी टीकामां मात्र गाथानो ज विषय टीकाकारे स्पष्ट कर्यो छे, एमां तो फक्त प्राचीन आगमशैलीए ज्ञाननो विचार आवे छे तेथी तेमां दर्शनांतरना ग्रंथो अने तेना विषयने स्थान ज मळ्युं नथी.

३ जैन आगमोमां उपयोगना दर्शन अने ज्ञानरूपे बे भेद पाडी दरेकना अनुक्रमे चार अने पांच प्रकारो वर्णववामां आव्या छे, ए ज आगमनी ज्ञाननिरूपणासंबंधी प्राचीन शैली, ए शैलीने आधारे ज प्रस्तुत बीजा काण्डमां ज्ञाननी चर्चा छे, पण आ चर्चामां जे एक तत्त्व छे ते समग्र जैन वाङ्मयनी दृष्टिए तद्दन नवीन छे. प्राचीन आगम परंपरामां पांच ज्ञान अने चार दर्शनोनुं वर्णन होवाथी तेम ज ए बन्ने प्रकारोना आवरणभूत कर्मना नव प्रकारोनुं वर्णन होवाथी केवलज्ञान अने केवलदर्शन ए बन्ने उपयोगो जूदा जूदा तेम ज भिन्नभिन्न समयवर्ती मनाता आव्या छे. गमे त्यारे पण पाछळथी उत्पन्न थयेली बीजी एक विचारपरंपरा ए बन्ने उपयोगोनुं जूदापणुं स्वीकारे छे छतां तेनुं भिन्नभिन्नसमयवर्तीपणुं न स्वीकारतां मात्र समकालीनपणुं स्वीकारे छे. आ बन्ने परंपराओनी सामे दिवाकर श्रीसिद्धसेने एक त्रीजो पक्ष रजु कर्यो अने ते ए के जेम उक्त बन्ने उपयोगोनुं भिन्नभिन्नसमयवर्तीपणुं संभवतुं नथी तेम तेमनुं व्यक्तिरूपे जूदापणुं पण संभवतुं नथी. तेथी ए बन्ने उपयोगो जूदा नथी पण एक ज उपयोगनां बे जूदां जूदां सार्थक नामो छे. आ पक्ष दिवाकरश्रीनो पोतानो ज होवाथी ते नव्य मत तरीके पण

प्रसिद्ध छे. ए जैन्य पक्षनी इमारत तर्कना पाया उपर चणाएली छे. आगमना पाठो उपरथी स्पष्टपणे फलित थती केवळोपयोगना क्रमपक्षनी परंपरानो अने पाछळथी विचारबळे उत्पन्न करेली केवळोपयोगना युगपद् पक्षनी परंपरानो सबळ विरोध शमाववा अने पोताना पक्षने सप्रमाण स्थापवा माटे दिवाकरश्रीए प्रस्तुत बीजा काण्डमां अद्भुत बुद्धिचातुरी अने प्रतिभा वापर्यां छे. जेम हमेशां बनतुं आव्युं छे तेम ते वखते पण शास्त्रना आधार सिवाय कोई पण वस्तु लोकोने गळे उतारवानुं अशक्यप्राय जणावाथी दिवाकरश्रीए ए विरोधी परंपराओ सामे पोतानो पक्ष तर्कबळथी मूक्यो खरो पण तेनी सावीती तो शास्त्रवाक्योने आधारे ज करी एम करवामां पण तेमणे कौशळ खूब वापर्युं छे. विषय अने तेना प्रतिपादननी आ जे नवीनता प्रस्तुत बीजा काण्डमां छे; ए नवीनता समजवा, एनो तुलनात्मक दृष्टिए अभ्यास करवा अने तेना पक्षप्रतिपक्षोनी दलीलो जाणवा माटे गा० ४ पृ० ५९७–६०४ उपर एक टिप्पण आपवामां आव्युं छे. एमां आर्यावर्तीय मुख्य मुख्य बधां दर्शनोना सर्वज्ञत्वविषयक पक्षप्रतिपक्षो उपरांत जैनदर्शनमां ते संबंधी उपलब्ध थती बधी विचारपरंपराओ प्रधान प्रधान पुरस्कर्ता अने ग्रंथोनां नाम साथे आपवामां आवी छे. दिवाकरश्रीना प्रबळ विरोधी सैद्धान्तिक जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण हता तेमना विशेषणवती नामक नहि छपायेल ग्रंथमां प्रस्तुत विषयनी सौथी वधारे चर्चा मळे छे. तेथी एनो ए बधो भाग टिप्पणमां आपी तेमां अमुद्रित नन्दिचूर्णि अने लघुनन्दिटीकानो उपयोग करी प्रस्तुत विषय उपरनी मुद्रित के अमुद्रित समग्र ज्ञात साहित्यनी सामग्री एकत्र करवामां आवी छे ते अभ्यासीओना मानसने अनुकूळ थाय एवी छे.

उपयोगनो अभेद पक्ष दिवाकरश्रीनो स्वोपज्ञ कहेवाय छे. ए विचारनां सूक्ष्म बीजो जैन परंपरामां प्रथम हतां के नहि ते कहेवुं जो के कठण छे छतां बहु बारीकीथी विचार अने तुलना करतां एम चोक्खुं लागे छे के न्याय वैशेषिक आदि सर्वज्ञवादी जैनेतर दर्शनोना सर्वज्ञत्वसंबंधी विचारोना ऊंडा अभ्यासे अने तुलनात्मक बुद्धिए उपयोगनो अभेद पक्ष उपस्थित करवामां दिवाकरश्रीने कांईक प्रेरणा आपी हशे.

(ख) संपादनने लगती बाबतमां मुख्य पांच मुद्दा अत्रे कहेवाना छे. १ प्रतिओ २ पाठांतरो ३ संशोधनमां वपरायेल ग्रंथोना उपयोगनी पद्धति ४ तद्दन अप्रसिद्ध एवां लिखित पुस्तकोनो उपयोग ५ एक अगत्यना ग्रंथनो उपयोग शक्य छतां नहि करवानुं कारण.

१ त्रीजा भागनी पेठे आ भागना संशोधनमां पण कागळ उपरांत ताडपत्रनी प्रतिओनो उपयोग करवामां आव्यो छे. फेर एटलो के त्रीजा भागमां ताडपत्रनी बन्ने प्रतिओ अधूरी हती ज्यारे आ भागमां ताडपत्रनी बृहत् प्रति तो संपूर्ण ज हती. कागळ अने ताडपत्रनी प्रतिओमांनो प्रस्तुत बीजा काण्डने लगतो बधो भाग मोटे भागे शुद्ध ज छे. तेमां य भां० मां० वा० वा० अने ताडपत्रनी प्रतिओनुं स्थान शुद्धिनी दृष्टिए उत्तरोत्तर चडतुं छे. ताडपत्रनी प्रतिओमां शुद्धि उपरांत नानां नानां टिप्पणोनी पण एक खास विशेषता छे. जेथी प्रस्तुत संशोधनमां बहु मदद मळी छे. एमांनां केटलांक टिप्पणो मां० प्रतिमां पण छे.

२ पाठांतरो लेवां अने तेमांथी पसंद करी गोठववानो क्रम तो प्रथमना भागोनी जेम ज आ भागमां पण राखवामां आव्यो छे छतां प्रतिओनी शुद्धि अने अन्य साधनोनी सगवडने लीधे आ भागमां पाठांतरो बहु आव्यां ज नथी अने लीधेल पाठांतरोमांथी पण यथासंभव ओछां राखवामां आव्यां छे.

३ प्रस्तुत संशोधनमां वपरायेल ग्रंथोना बे भाग पडे छे; १ छपायेल २ लखेल. ग्रंथने शुद्ध करवा माटे, विषयने स्पष्ट करवा माटे, सरखामणी माटे के अभ्यासमां विशालता आणवा माटे ज्यां ज्यां छपायेल ग्रंथोनो उपयोग थयेलो छे त्यां त्यां घणी जगोए तो शरुआतमां ते ते ग्रंथोना उपयोगी पाठो वगर संकोचे नीचे आपवामां आव्या छे. पण घणे स्थळे लाघव आदि अनेक कारणोने लीधे मात्र तेनां स्थळो ज सूचववामां आव्यां छे. परंतु ज्यां ज्यां लखेल पुस्तकोनो उपयोग कर्यो छे त्यां त्यां बनी शक्युं त्यां सुधी तेना पाठो ज नीचे आपवानो आग्रह राख्यो छे, जेथी अभ्यासीने दुर्लभ एवा लिखित पुस्तकोना पाठो सुलभ थाय.

४ अत्यार सुधीमां हजु क्यांय प्रसिद्धि नहि पामेल अने मोटे भागे अज्ञात अगर दुर्लभप्राय एवां सात लिखित पुस्तकोनो प्रस्तुत संशोधनमां उपयोग करवामां आव्यो छे, जे प्रथमना त्रण भागोमां अल्पप्राय छे. १ हेतुबिंदुटीका २ तत्त्वोपप्लव ३ सिद्धिविनिश्चय टीका ४ न्यायकुमुदचंद्रोदय ५ विशेषणवती ६ नन्दिचूर्णी अने ७ लघुनन्दिटीका. आ साते ग्रंथोनो करवा धारेलो सर्वांशे उपयोग थयो छे एम रखे कोई धारे. एम करवुं ए वर्तमान मर्यादामां अशक्यप्राय हतुं छतां आवश्यक स्थळोए दिशासूचन पूरतो खास उपयोग कर्यो छे.

५ बीजा काण्डनी ४३ गाथाओमांनी प्रस्तुत विषय उपर महत्त्व धरावती केटलीक गाथाओनी व्याख्या महामहोपाध्याय श्रीयशोविजयजीए पोताना ज्ञानबिंदुप्रकरणमां करी छे. ए व्याख्या मुद्रित पण छे अने गंभीर पण छे. तो ए प्रस्तुत भागमां तेनो उपयोग आवश्यक छतां कर्यो नथी ते एम धारीने के भिन्नभिन्न स्थळे टिप्पणमां कटके कटके ए व्याख्या आपवी ते करतां एक ज साथे समग्र व्याख्या आपवी ए विशेष अनुकूळ थशे. तेथी प्रथमना त्रण भागोमां समाप्त थयेल नयकाण्डनी अनेक गाथाओ उपरनी उपाध्यायजीश्रीना भिन्न भिन्न ग्रंथोमां मळी आवती छूटी छूटी व्याख्याओना संग्रहरूपे आगळ आपवा धारेल परिशिष्टनी पेठे ज्ञानकाण्डमांनी गाथाओ उपरनी तेमनी व्याख्यानुं परिशिष्ट पण छेवटे ज आपवा धारीए छीए. ते साथे एमां विशेषता ए रहेशे के बीजा पण श्वेतांबर दिगंबर आचार्योए जे जे अने जेटजेटली गाथाओ उपर करेली व्याख्याओ उपलब्ध थाय छे ते पण परिशिष्टमां जोडवामां आवशे. त्रीजा काण्डनी गाथाओ विषे पण आ योजना योग्य धारी छे जेथी अत्यार सुधीमां सम्मतितर्कनी गाथाओ उपर छूटुं छूटुं के एकसाथे लखायेलुं बधुं साहित्य अभ्यासीने एक ज स्थळे उपलब्ध थाय.

प्रस्तुत भागना संशोधनकार्यमां पाठांतर लेवां, प्रतिओ जोवी वगेरे नीरस अने कठण छतां बहु किंमती कार्यमां उदारचेता प्रवर्तक **श्रीकान्तिविजयजीना** शिष्य **श्रीचतुरविजयजीए** पोताना सुशील अने विद्याव्यसनी शिष्य **पुण्यविजयजी** आदि साथे जे किंमती मदद आपी छे तेनी अत्यंत कृतज्ञतापूर्वक अमे नोंध लईए छीए.

सुखलाल
अने
बेचरदास.

संपादकीयं निवेदनम्

पूर्वभागसहभावित्वेनैव संपादनकार्यस्य समारब्धतया साधनसानुण्य-सहकारिसाहायकयोरविच्छिन्नोपनततया च प्रस्तुतभागस्य प्रकाशनं तृतीयभागानन्तरं किञ्चिदूनेनैकेनैव वर्षेण संपन्नमित्यवगन्तव्यम् ।

१ ग्रन्थगोचरः २ संपादनगोचरश्चेति द्वावेव प्रस्तुतभागसंबन्धिनौ विषयौ प्रधानतयाऽत्र प्रतिपिपादयिषितौ स्तः ।

ग्रन्थगोचरे विषये १ मूल-टीकयोः परिमाणम् २ प्रतिपाद्यं तत्त्वम् ३ तदीयं चापूर्वत्वम् इति त्रीण्येव वस्तूनि वक्तव्यानि सन्ति ।

१ प्रस्तुते भागे सम्मतितर्कस्य त्रिचत्वारिंशद्गाथात्मकं द्वितीयं काण्डम् तदीया च टीका संपूर्णतया परिसमाप्यते । तत्र चास्य भागस्य पादोनमितप्रायोंऽशः प्रथमगाथाटीकया शेषश्चाऽवशिष्टसमस्तगाथाटीकया व्याप्तो वर्तते ।

२ आगमगतां ज्ञानस्य तदीयभेदानां च प्राचीनां विचारशैलीमनुसरन्तीं ज्ञानचर्चां विदधतः प्रस्तुतान्मूलकाण्डात् तट्टीकाया एतावान् विशेषः—आगमगतायां प्राचीनायां शैल्यामलब्धावकाशा तर्कविकाससमये च प्राप्तोद्भवप्रसरा प्रमाणचर्चा टीकाकारेण प्रथमगाथाटीकायां सविस्तरं संगृहीता वर्तते । तत्र च तत्कालोपलब्धानि बौद्धवैदिकदर्शनानां मन्तव्यानि पूर्वपक्षतया सन्निवेश्य सर्वदर्शनसंग्रहीयमार्गेण परस्परं निरस्य पर्यवसाने जैनदर्शनमन्तव्यान्युत्तरपक्षतयोपन्यस्य प्रतिष्ठापितानि सन्ति । सा पुनः प्रमाणचर्चा टीकाकारकृतस्य बौद्धवैदिकदर्शनसंबन्धिप्रमाणविषयकमहाग्रन्थराशिगोचराभ्यासस्य साक्षित्वं परिपूरयति । टीकाकारेण द्वितीयाप्रभृतिचरमापर्यवसानसमस्तगाथाटीकायां गाथागतस्यैवाऽर्थस्य स्फुटीकृततया तत्र च केवलमागमशैलीकृताया ज्ञानमीमांसाया लब्धावकाशत्वेन न तत्र दर्शनान्तरीया ग्रन्था न वा तदीया विषयाः स्थानमलभन्त ।

३ आगमेषूपयोगं ज्ञानदर्शनरूपतया द्वेधा विभज्य तयोर्द्वयोरनुक्रमेण पञ्च चत्वारश्च प्रकारा वर्णिताः सन्ति । इयमेव ज्ञाननिरूपणपरा प्राचीनाऽऽगमिकशैली निगद्यते; यद्यप्येनामेव शैलीमवलम्बमाना प्रस्तुतकाण्डगता ज्ञानचर्चा समस्ति तथापि तस्यामुपलभ्यमानमेकं तत्त्वमितरस्मिन् समग्रेऽपि जैनवाङ्मयेऽदृष्टचरतया सर्वथैवाऽपूर्वं प्रतिभाति । तद्यथा—प्राचीनाऽऽगमपरंपरा ज्ञानपञ्चक-दर्शनचतुष्कयोस्तदीयावरणभूतकर्मप्रकारनवकस्य च व्यावर्णिततया केवलज्ञान-केवलदर्शनरूपमुपयोगद्वयं विभिन्नत्वेन भिन्नभिन्नसमयवर्तित्वेन चाऽभ्युपगच्छति । यदाकदाचिच्च पश्चादुत्पन्ना द्वितीया विचारपरंपरा तस्योपयोगद्वयस्य विभिन्नत्वं मन्यमानाऽपि भिन्नभिन्नसमयवर्तित्वमनङ्गीकृत्यैकसमयवर्तित्वमेवाऽभ्युपगच्छति । तत्र च केवलोपयोगे भिन्नभिन्नसमयवर्तित्ववद् वैयक्तिकभेदस्याऽप्यसंभवात् केवल एक एवोपयोगो द्वाभ्यां सार्थकाभ्यां नामभ्यां द्वेधा व्यपदिश्यत इत्येष तृतीयः पक्षः श्रीसिद्धसेनदिवाकरेण पूर्वोक्तयोर्द्वयोः परंपरयोः समक्षमुपस्थाप्य समर्थितः । अयं च पक्षो दिवाकरोपज्ञतया नव्यमतत्वेन ख्यातिं गतः । एष च नव्यपक्षप्रासादस्तर्कभूमिकामवष्टभ्य विनिर्मितो वर्तते । आगमेभ्यः स्पष्टतया प्रतीयमानायाः केवलोपयोगद्वयक्रमपक्षपरंपरायाः पश्चाद् विचारबलप्रादुर्भावितायाः केवलोपयोगयौगपद्यपक्षपरंपरायाश्च विरोधमुन्मूलयितुं स्वपक्षं सप्रमाणं स्थापयितुं च श्रीमता दिवाकरेण प्रस्तुते काण्डेऽद्भुता चातुरी प्रतिभा चोपायोजिषाताम्, सार्वदिकाऽनुभववत् तदाऽपि शास्त्राधारमन्तरेण कस्यापि वस्तुनो लोकेन स्वीकारयितुमशक्यत्वमवगम्य श्रीमता दिवाकरेण

द्वयोर्विरोधिपरंपरयोः पुरस्तात् सतर्कबलमुपन्यस्तोऽपि स्वपक्षः शास्त्रवाक्यैरेव सकौशलं प्रमाणीकृतः। एवैव प्रतिपाद्यगता प्रतिपादनशैलीगता चापूर्वता प्रस्तुते काण्डे प्रतीयते। सिद्धसेनोपज्ञत्वेन प्रसिद्धस्योपयोगाभेदपक्षस्य सूक्ष्माणि विचारबीजानि जैनपरंपरायां प्रागभूवन् न वेत्यस्य सांप्रतं वक्तुमशक्यत्वेपि सूक्ष्मेक्षिकया तुलनात्मकविचारणाबलादेतावत्त्विदानीं वक्तुं पार्यते यत् न्याय–वैशेषिकप्रभृतिसर्वज्ञवादिजैनेतरदर्शनसंमतसर्वज्ञत्वविषयकविचारगोचरगम्भीराभ्यासप्रयुक्तमेवोपयोगाभेदपक्षोपस्थापनं तत्समर्थनं चेति।

प्रस्तुतकाण्डस्य मुख्यतयाऽपूर्वतया च प्रतिपाद्य उपयोगाभेदपक्षो दिवाकरोपज्ञानामनेकेषां विशेषाणामन्यतमो विशेषोऽवगन्तव्यः। एनं विशेषं परिज्ञातुम् तुलनयाऽभ्यसितुम् तदीयपक्षप्रतिपक्षयोर्युक्तीरवगन्तुं च गा० ४ पृ० ५९७–६०४ एकं टिप्पणं निवेशितम्। तत्राऽर्यावर्तीयसमग्रमुख्यमुख्यदर्शनगतैः सर्वज्ञत्वसंबन्धिभिः पक्षप्रतिपक्षैः सह तदीया जैनदर्शनगताः सर्वा अपि विचारपरंपराः सशास्त्राधारं विविच्य सन्निवेशिताः सन्ति। श्रीमद्दिवाकरप्रबलविरोधिश्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणकर्तृके विशेषणवतीनामकेऽमुद्रिते ग्रन्थे प्रस्तुतविषयायाश्चर्चाया विस्तृततयोपलभ्यत्वेन तद्गतं सर्वमप्युपयुक्तं भागं टिप्पणके समादाय तत्र चामुद्रिते नन्दिचूर्णि-नन्दिलघुटीके उपयुज्य प्रस्तुतविषयसंबन्धिनी सर्वाऽपि मुद्रिताऽमुद्रितवाङ्मयसामग्री समगृह्यत सा चाभ्यासिनां मनांस्यनुकूलयिष्यतीति संभाव्यते।

संपादनगोचरे च विषये आदर्शगतत्वेन, पाठान्तरगतत्वेन, संशोधनोपयुक्तग्रन्थोपयोगपद्धतिगतत्वेन, क्वाप्यप्रसिद्धलिखितग्रन्थोपयोगगतत्वेन, प्रसिद्धात्युपयोगिग्रन्थोपयोगाविधानकारणगतत्वेन च पञ्चैव वस्तूनि वक्तव्यानि सन्ति।

१ तृतीयभागवत् प्रस्तुतभागस्याऽपि संशोधने पत्रप्रतिभिः सार्धं ताडपत्रप्रती अप्युपयोजिते तास् विशेषश्चैतावानेव यत् तृतीये भागे द्वे अपि ते प्रती अपूर्णे आस्ताम् अत्र तु बृहत्ताडपत्रप्रतिरेका पूर्णैवाऽऽसीत्।

२ पत्र-ताडपत्रादर्शगतः प्रस्तुतकाण्डसंबन्धी सर्वोऽपि पाठः शुद्धप्राय एव विद्यते तत्राऽपि भां० मां० पा० बा० ता० संज्ञका आदर्शा उत्तरोत्तराधिकशुद्धिमन्तः सन्ति। केवलताडपत्रादर्शद्वयगतेभ्यो लघु-लघुतरटिप्पणकेभ्योऽपि पाठशुद्धेरिव प्रस्तुते संशोधनकर्मणि महानुपकारः संवृत्तः।

यद्यपि पाठान्तराणां संग्रह-पृथक्करणव्यवस्थापनक्रमः प्राक्तनभागतुल्यतयैव प्रस्तुतभागेऽवलम्बितस्तथाप्यादर्शानां शुद्धतयेतरसाधनानां च सुलभतया संगृहीतानामपि पाठान्तराणां यथासंभवमल्पीकृतत्वात् प्रस्तुते भागे तेषां भूयस्त्वं नावशिष्यते।

३ प्रस्तुतसंशोधनोपयुक्ता ग्रन्था मुद्रित–लिखिततया द्वेधा विभज्यन्ते। ग्रन्थं शोधयितुम् विषयं विशदीकर्तुम् तुलनां विधातुम् विशालमभ्यसितुं च यत्र यत्र मुद्रिता ग्रन्था उपयोजितास्तत्र पूर्वं बहुषु स्थलेषु तत्तद्ग्रन्थगता उपयोगिनः पाठा निःसंकोचमधस्तादुपन्यस्ताः। पुरस्ताच्चानेकेषु स्थलेषु लाघवादिभिर्बहुभिर्हेतुभिः केवलं तदीयानि तदीयानि स्थलान्येव प्राधान्येन सूचितानि. परंतु यत्र लिखिता ग्रन्था उपायोजयिषत तत्र सर्वत्राभ्यासिनां सौलभ्याय तत्तदज्ञातदुर्लभग्रन्थगतान् पाठान् यथाशक्यं यथामर्यादं चाधस्तादुपन्यसितुमाग्रहो व्यधायि।

४ इदानीं यावत् क्वाप्यप्रकाशिता अज्ञातप्राया दुर्लभप्रायाश्च प्राक्तनभागसंशोधनेऽल्पोपयोजितप्रायाः सप्त लिखितग्रन्था यथामर्यादं प्रस्तुते संशोधने दिङ्मात्रतयोपयोजिताः सन्ति। ते चेमे १ हेतुबिन्दुटीका २ तत्त्वोपप्लवः ३ न्यायकुमुदचन्द्रोदयः ४ सिद्धिविनिश्चयटीका, ५ विशेषणवती ६ नन्दिचूर्णी ७ लघ्वी नन्दिवृत्तिश्च।

५ श्रीमद्वाचकयशोविजयैः स्वीये तत्र तत्र ग्रन्थे सम्मतितर्कीयकाण्डत्रयगता बह्व्यो गाथाः प्रकीर्णतया क्रमबद्धतया च विवृता दृश्यन्ते अभ्यासिनामानुगुण्याय तासां सर्वासामपि तदीयव्याख्योपेतानां गाथानां अन्यसमासिगागिषु परिशिष्टेषु संकलयितुमिष्टतया नयकाण्डवत् प्रस्तुतेऽपि काण्डे तत्र तत्र टिप्पणके खण्डीकृत्य नोपन्यासः कृतः। एवमेवान्यैरपि श्वेताम्बरीय-दिगम्बरीयैराचार्यैः कृतविवरणत्वेनोपलभ्यास्तत्तद्गाथा-स्तेषु परिशिष्टेषु संकलयितुमिष्टतया न क्वचित् टिप्पणके उपन्यास्यन्त।

प्रस्तुतभागसंशोधनकर्मोपयोगिषु पाठान्तरग्रहण-प्रतिप्रेक्षणादिषु नीरसेषु क्लिष्टेषु च बहुमूल्येषु कार्येषु सहायतां विदधानान् उदारचित्तप्रवर्तकश्रीकान्तिविजयशिष्यान् श्रीचतुरविजय-पुण्यविजयादीन् कृतज्ञतापूर्वकं स्मराम इति।

सुखलालः
बेचरदासश्च।

संमतितर्क-प्रकरणम् ।



चतुर्थो विभागः ।



द्वितीयः काण्डः ।



प्रथमगाथाव्याख्या ।



[१ उपयोगनिरूपणम्]

[व्यस्तयोर्दर्शन-ज्ञानयोः लक्षणमभिधाय द्रव्यास्तिक-पर्यायास्तिकाभ्यां तयोः स्वभावस्य विभज्य वर्णनम्]

एवमर्थाभिधानरूपज्ञेयस्य सामान्य-विशेषरूपतया द्व्यात्मकत्वं प्रतिपाद्य 'ये वचनीयविकल्पाः संयुज्यमानयो[1]र्नयोर्नययोर्भवन्ति सा स्वसमयप्रज्ञापनाऽन्यथा तु सा तीर्थकृदासादना' इति यदुक्तम्[2] तदेव प्रपञ्चयितुम् 'उपयोगोऽपि परस्परसव्यपेक्षसामान्य-विशेषग्रहणप्रवृत्तदर्शन-ज्ञानस्वरूपद्वयात्मकः प्रमाणम् दर्शन-ज्ञानैकान्तरूपस्त्वप्रमाणम्' इति दर्शयितुं प्रकरणमारभमाणो द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकाभिमतप्रत्येकदर्शन-ज्ञानस्वरूपप्रतिपादिकां गाथामाहाचार्यः—

[3]जं सामण्णग्गहणं दंसणमेयं विसेसियं णाणं ।
दोण्ह वि णयाण एसो पाडेक्कं अत्थपज्जाओ ॥ १ ॥

द्रव्यास्तिकस्य सामान्यमेव वस्तु तदेव गृह्यते अनेनेति ग्रहणं दर्शनमेतद् उच्यते, पर्यायास्तिकस्य तु विशेष एव वस्तु स एव गृह्यते येन तत् ज्ञानम् अभिधीयते ग्रहणम् विशेषितम् इति विशेषग्रहणमित्यभिप्रायः। द्वयोरपि अनयोर्नययोरेष प्रत्येकमर्थपर्यायः अर्थं विषयं पर्येति अवगच्छति यः सोऽर्थपर्यायः ईदृग्भूतार्थग्राहकत्वमित्यर्थः।

१-नयोर्नय-आ० हा० वि० । २ पृ० ४५५ गा० ५३ पं० २८ ।

३ "जं सामण्णग्गहणं भावाणं णेव कट्टुमायारं । अविसेसिदूण अट्ठे दंसणमिदि भण्णए समए" ॥ ४३ ॥
इतीयं गाथा दर्शनस्वरूपप्रतिपादिका बृहद्द्रव्यसंग्रहगता—पृ० १६८ ।

[उपयोगस्य साकारानाकारते स्पष्टयित्वा तयोः प्रामाण्याऽप्रामाण्यकथंताभिधानम्]

उपयोगस्य चानाकार–साकारते सामान्य–विशेषग्राहकते एव तत्र तत्राभिधीयेते। अविद्यमान आकारः भेदो ग्राह्यस्य अस्येत्यनाकारं दर्शनमुच्यते। सह आकारैर्ग्राह्यभेदैर्वर्त्तते यद् ग्राहकं तत् साकारं ज्ञानमित्युच्यते। निराकार–साकारोपयोगौ तूपसर्जनीकृततदितराकारौ स्वविषयावभासकत्वेन प्रवर्तमानौ प्रमाणम् न तु निरस्तेतराकारौ, तथाभूतवस्तुरूपविषयाभावेन निर्विषयतया प्रमाणत्वानुपपत्तेरितरांशविकलैकांशरूपोपयोगसत्त्वानुपपत्तेश्च। तेनैकान्तवाद्यभ्युपगमः 'बोधमात्रं प्रमाणम् साकारो बोधोऽनधिगतार्थाधिगन्तृत्वविशिष्टः स एव ज्ञातृव्यापारोऽर्थदृष्टताख्यफलानुमेयः संवेदनाख्यफलानुमेयो वा अनधिगतार्थाधिगन्ता इन्द्रियादिसंपाद्यः अव्यभिचारादिविशेषणविशिष्टार्थोपलब्धिजनिका सामग्री तदेकदेशो वा बोधरूपोऽबोधरूपो वा साधकतमत्वात् प्रमाणम्' इत्यादिरूपोऽयुक्तः।

[२ प्रमाणसामान्यनिरूपणम्]

[वैभाषिक–सौत्रान्तिक–योगाचारसंमतानां निराकार–साकार–विज्ञानवादानां परस्परोपमर्दं पूर्वपक्षतयोपन्यासः]

तथाहि–'बोधः प्रमाणम्' इति वदन्तो वैभाषिकाः पर्यनुयोज्याः–किं बोधमात्रस्य प्रामाण्यम्, आहोस्विद् बोधविशेषस्य? यदि बोधमात्रस्य तदा तल्लक्षणप्रणयनमयुक्तम् व्यवच्छेद्याभावात्, अबोधस्य व्यवच्छेद्यत्वेऽपि संशय–विपर्ययादीनां बोधस्वभावत्वात् प्रमाणताप्रसक्तिः। न च संशयादीनामपि प्रमाणता लोक–शास्त्रविरोधात्। लोकप्रसिद्धं च प्रमाणं व्युत्पादयितुमारब्धम् तत्र चेन्द्रियादेरपि प्रमाणतायाः प्रसिद्धेर्बोधस्य प्रामाण्येऽव्याप्तिश्च लक्षणदोषः। न चाबोधरूपस्येन्द्रियादेर्लोकः प्रमाणतां न व्यपदिशति 'प्रदीपेनोपलब्धम्' 'चक्षुषा दृष्टम्' 'धूमेनावगतम्' इति लौकिकानां व्यवहारदर्शनात्।

१–कार ज्ञा–वा० बा० विना। २–प्रयोगाद्युप–आ०। ३–स्तुवि–बृ०। ४ वा बोधरूपो वा सा–वा० बा०। ५–त्वात् बृ० वा० बा०। ६ संक्षेपेण वैभाषिकादिमतस्वरूपमित्थं वर्णितमस्ति षड्दर्शनसमुच्चयबृहद्वृत्तौ–"अथवा वैभाषिक–सौत्रान्तिक–योगाचार–माध्यमिकभेदाच्चतुर्धा बौद्धा भवन्ति।

तत्रार्यसमितीयापरनामकवैभाषिकमतमद–चतु क्षणिकं वस्तु जातिर्जनयति, स्थिति स्थापयति, जरा जर्जरयति, विनाशो विनाशयति। तथा आत्मापि तथाविध एव पुद्गलव्यासावभिधीयते। निराकारो बोधोऽर्थसहभाव्येकसामग्र्यधीनस्तत्रार्थे प्रमाणमिति।

सौत्रान्तिकमतं पुनरिदम्–रूप–वेदना–विज्ञान–संज्ञासंस्कारा सर्वशरीरिणामेते पञ्च स्कन्धा विद्यन्ते न पुनरात्मा। त एव हि परलोकगामिन। तथा च तत्सिद्धान्त–पञ्चेमानि भिक्षव। संज्ञामात्रम् प्रतिज्ञामात्रम् संवृतिमात्रम् व्यवहारमात्रम्। कतमानि पञ्च? अतीतोऽध्वा, अनागतोऽध्वा, सहेतुको विनाश, आकाशम्, पुद्गल इति, अत्र पुद्गलशब्देन परपरिकल्पितो नित्यत्वव्यापकत्वादिधर्मक आत्मेति। बाह्योऽर्थो नित्यमप्रत्यक्ष एव ज्ञानाकारान्यथानुपपत्त्या तु समवगम्यते। साकारो बोध प्रमाणम् तथा क्षणिका सर्वसंस्कारा स्वलक्षणं परमार्थ। यदाहुस्तद्वादिन–प्रतिक्षणं विशरारवो रूप–रस–गन्ध–स्पर्शपरमाणवो ज्ञान चेत्येव तत्त्वमिति। अन्यापोहः शब्दार्थ। तदुत्पत्ति–तदाकारताभ्यामर्थपरिच्छेद। नैरात्म्यभावनातो ज्ञानसंतानोच्छेदो मोक्ष इति।

योगाचारमत त्विदम्–विज्ञानमात्रमिदं भुवनम्, नास्ति बाह्योऽर्थ ज्ञानाद्वैतस्यैव तात्त्विकत्वात्। अनेके ज्ञानसंताना साकारो बोधः प्रमाणम् वासनापरिपाकतो नील–पीतादिप्रतिभासा। आलयविज्ञानं हि सर्ववासनाधारभूतम्। आलयविज्ञानविशुद्धिरेवापवर्ग इति।

माध्यमिकदर्शने तु–शून्यमिदम् स्वप्नोपम प्रमाण–प्रमेययो प्रविभाग, मुक्तिस्तु शून्यतादृष्टेस्तदर्थं शेषभावनेति। केचित्तु माध्यमिकाः स्वस्थं ज्ञानमाहु"–पृ० ४६ प० १२–पृ० ४७ पं० १५।

एतदर्थं सर्वदर्शनसंग्रहगत बौद्धदर्शनमपि (पृ० २८–४६) विलोकनीयम्।

७–न्त्याः बो–आ०। ८–पामयु–वा० बा०। ९ प्रमेयक० पृ० ३ प्र० पं० ९।

न चौपचारिकं तेषां प्रामाण्यम् प्रमितिक्रियायां साधकतमत्वेन मुख्यप्रामाण्योपपत्तेः अत एव शास्त्रान्तरेऽप्यपि विशिष्टोपलब्धिजनकस्य बोधाऽबोधरूपविशेषत्यागेन सामान्यतः

"लिखितं साक्षिणो भुक्तिः प्रमाणं त्रिविधं स्मृतम्" [ ] इत्युक्तिः।

किञ्च, 'प्रमीयतेऽनेन' इति प्रमाणशब्दः करणविशेषप्रतिपादकः करणविशेषत्वं चास्य विशिष्टोपलब्धिस्वरूपकार्यजनकत्वेन कार्यस्य चाव्यभिचारादिस्वरूपप्रमितिरूपत्वात् तज्जनकेनापरेण साधकतमेन भाव्यम् एकस्यैव स्वात्मनि करणक्रियाविरोधात् ततो बोधाबोधरूपस्य प्रमितिजनकस्य प्रमाणतोपपत्तेः 'बोधमात्रं प्रमाणम्' इत्यत्राव्याप्तिर्लक्षणदोषः प्राप्नोतीति स्थितम्। अथ बोधविशेषः प्रमाणम् तदाऽत्रापि वक्तव्यम्-कः पुनरसौ बोधस्य विशेषः? यद्यव्यभिचारादिविशेषणविशिष्टत्वं तदा प्रमितिस्वभावस्य तस्य प्रमाणताप्रसक्तिः। न चास्युगपदस्यत एवेति वाच्यम् करणविशेषस्य प्रमाणत्वव्यवस्थितेः।

अत एव "निराकारो बोधोऽर्थसहभाव्येकसामग्र्यधीनस्तत्रार्थे प्रमाणम्" [ ] इति वैभाषिकोक्तमसंगतम्। अपि च, कर्मण्यसौ प्रमाणमभ्युपेयते। यत उक्तम्—

"सव्यापारमिवाभाति व्यापारेण स्वकर्मणि" [ ] इति।

कर्मता च बोधसहभाविनोऽर्थस्य तद्बोधापेक्षया न सम्भवति, तत्समानकालस्य तत्कृतविकार्यत्वाद्ययोगात् अकर्मरूपे च तत्र कारणे क्रियायाः कथं प्रतिनियमः तदभावे चैकसामग्र्यधीनतायामपि सर्वः सर्वस्य बोधो भवेत्। किञ्च, एकसामग्र्यधीनत्वस्य द्वयोरप्यविशेषात् यथा बोधोऽर्थस्य ग्राहकस्तथाऽर्थोऽपि बोधस्य किं न भवेत्? तन्न निराकारो बोधः प्रमाणं सम्भवति।

अथ मा भून्निराकारो बोधः प्रमाणम् साकारस्त्वसौ प्रमितिक्रियायां साधकतमत्वात् प्रमाणम्; ननु च बोधस्य प्रमाणस्वरूपत्वादर्थाकारात्मकत्वमयुक्तम् प्रमेयरूपत्वापत्तेः। न च प्रमेयरूपमेव प्रमाणं भवितुमर्हति प्रमाणस्य तद्ग्राहकत्वेन प्रतिभासात्। न च तथात्वेन प्रतिभासमानमपि प्रमेयरूपं युक्तम् प्रमाण-प्रमेययोरन्तर्बहिर्व्यवस्थितत्वेनावभासनात् भेदेन च प्रतिभासमानं नान्यथाधिगन्तुं युक्तम्। न हि प्रतिभासः साक्षात्करणाकारत्वात् प्रत्यक्षरूपोऽर्थव्यवस्थापकः प्रमाणान्तराद्नुग्रह बाधां वा प्रतिपद्यते।

उक्तं च—

"प्रमाणस्य प्रमाणेन न बाधा नाप्यनुग्रहः।
बाधायामप्रमाणत्वमानर्थक्यमनुग्रहे"॥ [ ] इति

सर्वदा बहिर्विच्छिन्नार्थावभासिनोऽध्यक्षस्याप्रमाणत्वे प्रमाणान्तराप्रवृत्तिरेव। न चाध्यक्षेण ज्ञानमेव बहिरर्थाकारं वेद्यते न बाह्योऽर्थ इति कथं निराकारता तस्येति वक्तव्यम् ज्ञानरूपतया बोधस्याध्यक्षे प्रतिभासनात् अर्थस्य च ज्ञानरूपतयाऽप्रतिपत्तेः। न ज्ञानहङ्कारास्पदत्वेनार्थस्य प्रतिभासेऽहङ्कारास्पदबोधरूपस्येव ज्ञानरूपता युक्ता, यदि त्वहङ्कारास्पदत्वेनार्थस्य प्रतिभासः स्यात् तदा ज्ञानरूपादभिन्नत्वात् तदात्मनः 'अहं घटः' इति प्रतिभासः स्यात्। न चान्यथाभूता प्रतिपत्तिरन्यथा-

---

१-स्य बोधरूपवि-भा० मा०। २-क्षिणो भुक्तिः प्र-आ०।-क्षिणो भुक्ति प्र-हा०।

३ "ततो यद् बोधाबोधरूपस्य प्रमाणत्वाभिधानकम्—

"लिखितं साक्षिणो भुक्तिः प्रमाणं त्रिविधं स्मृतम्"—

इति तत् प्रत्याख्यातम् ज्ञानस्यैवानुपचरितप्रमाणव्यपदेशार्हत्वात्"

लिखितम् "शासनादि लोके पत्रादि तत् प्रमाणम्" साक्षिणः "पुरुषाः प्रमाणम्" भुक्तिः "अनुभवः प्रमाणम्"—प्रमेयक० पृ० ३ प्र० पं० ११, टि० ४०, ४१, ४२। षड्द० स० बृ० वृ० पृ० २०७ पं० १७-१९। ४-रूपत्वात्-वा० वा०। ५-नकत्वेना-वा० वा०। ६-पवि-आ० हा० वि०। ७-कर्मणि इ-हा० वि०। ८-पताप-धृ० वा० वा०। ९-रूपार्थ-आ०। १०-पद्येत-आ० हा० वि०। ११-न नावा-(नाऽऽवा-) आ०। १२ अत्र 'अनुग्रहे' 'अनुग्रहः' इति द्वयमपि समाव्यते इति विचार्य 'अनुग्रह इति' इति सर्वप्रतिषु विद्यमानः ससन्धिः पाठो न्यस्तः।

भूतमर्थं व्यवस्थापयितुं शक्ता प्रतिपत्तिव्यतिरेकेणाप्यर्थव्यवस्थितिप्रसक्तेर[1]तिप्रसक्तिश्च नीलप्रतिपत्तेरपि पीतादिव्यवस्थापनाप्रसङ्गात् । अथ साकारं विज्ञानमाकारप्रतिनियमात् तत्प्रतिपत्त्यैवार्थापत्त्या तदाकारतां तज्जनकस्यार्थस्य व्यवस्थापयेदिति प्रतिकर्म व्यवस्था सिध्यति निराकारं तु विज्ञानं बोधमात्रतया व्यवस्थितं सर्वार्थान् प्रत्यविशिष्टत्वात् 'नीलस्येदं संवेदनं न पीतस्य' इति प्रतिकर्मव्यवस्थानिबन्धनं न भवेदिति साकारं ज्ञानमभ्युपगन्तव्यम्, असदेतत्, 'सर्वार्थान् प्रति बोधमात्रतया निराकारस्याविशिष्टत्वात्' इति हेतोर[2]सिद्धेः निराकारत्वेपि चक्षुरादिवृत्त्या बोधस्य तत्रैव नियमितत्वात् । न च नियतत्वं तस्य सर्वार्थे[3]षु, नीलादावेव तस्य प्रतीतेः समानत्वेऽपि वा पुरोवर्त्तिन्येव नीलादौ समानत्वस्य सम्भवान्न सर्वार्थसाधारणी प्रतिपत्तिरिति निराकारज्ञानवादिनो न काचित् क्षतिः तथादृष्टत्वात् '[4]नहि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम' । निराकारत्वे किमिति पुरोवर्त्तिन्येव नीलादौ प्रवर्त्तते विज्ञानम्? चक्षुरा[5]दिभिस्तत्रैव नियमितत्वादिति प्रतिपादितं प्राक्[6] । क[7]स्मात् तैस्तत्र तन्नियम्यत इति चेत् अत्र वस्तुस्वभावैरुत्तरं वाच्यम् न हि कारणानि कार्यजननप्रतिनियमे पर्यनुयोगमर्हन्ति तत्र तस्य वैफल्यात् । साकारत्वेऽपि[8] चायं पर्यनुयोगः समानः । तथाहि–साकारमपि ज्ञानं किमिति नीलादिकमेव पुरोवर्त्ति तत्सन्निहितमेव च व्यवस्थापयति? तेनैव तथा तस्य जननादिति चेत् समानमेतन्निराकारत्वेऽपि । किञ्च, चक्षुरादिजन्यं तद्विज्ञानं किमिति चक्षुराद्याकारं न भवति इति पर्यनुयोगे भवतापि 'वस्तुस्वभावैरत्रोत्तरं वाच्यम्' इति वक्तव्यम् तदस्माभिरभिधीयमानं किमित्यसंगतं भवतः प्रतिभाति । अपि च, साकारता विज्ञानस्य किं साकारेण प्रतीयते, आहोस्विन्निराकारेण? यदि साकारेण तदा[9] तत्रापि प्रतिपत्तावाकारान्तरपरिकल्पनमित्यनवस्थाप्रसक्तिः । निराकारेण चेद् बाह्यार्थस्यापि तथाभूतेनैव प्रतिपत्तिप्रसक्तिः । न च बाह्ये प्रत्यासत्तिनियमाभावान्न तथाभूतेन प्रतिपत्तिरिति वाच्यम् इतरत्रापि प्रत्यासत्तिनियमाभावस्य तुल्यत्वात् । शुक्ले पीताकारदर्शनाद् अभ्रान्ते न प्रतिनियमाभाव इति चेत् निराकारेऽपि तदभ्रान्तत्वादेव प्रतिनियमो भविष्यतीति किमाकारपरिकल्पनया? कथमाकारमन्तरेण प्रतिनियम इति न वाच्यम् आकारेऽप्यस्य समानत्वात् । तथाहि–साकारवादिनोऽपि कथं प्रतिनियम इति प्रेरणायाम् 'प्रतिनियताकारपरिग्रह एव प्रतिनियमः' इति नोत्तरं युक्तम् प्रतिनियताकारपरिग्रहस्यैव प्रतिनियमरूपतयोपन्यस्तस्याद्यापि विचार्यमाणत्वात् । अथानुमानाद् बाह्योऽर्थः प्रतीयते तर्हि प्रतिबन्धसिद्धिर्वक्तव्या । न च बाह्योऽर्थोऽध्यक्षतः कदाचनापि सिद्धः नापि तत्प्रतिबद्धो ज्ञानाकार इति न प्रतिबन्धसिद्धिः तामन्तरेण न चानुमानप्रवृत्तिरिति कथं बाह्यार्थसिद्धिः? अथार्थापत्त्या बाह्योऽर्थोऽधिगम्यते, न; अर्थापत्त्याऽर्थस्वरूपप्रतिपत्तौ तस्याः प्रत्यक्षरूपताप्रसक्तेः । न च स्वरूपप्रतिपत्तिमन्तरेणाप्यनुमानवत् तस्याः प्रामाण्यम् अनुमानस्यावगतप्रतिबन्धलिङ्गप्रभवत्वेन प्रामाण्यात् अत्र च तदभावात् । नं[10] चाऽप्यत्यन्तपरोक्षस्यार्थस्य केनचिदाकारेण विषयीकरणमिति न तस्य प्रतिपत्तिविषयता अनुमानविषयस्य तु पूर्वदृष्टत्वात् 'इदं तत्' इत्याकारेण प्रतिपत्तिविषयता सम्भवत्यपि इति नार्थापत्त्याप्यर्थप्रतीतिः । अथ दूरस्थितवृक्षा[11]दौ तत्पिण्डाद्याकारो यथा बाह्यवृक्षाद्यर्थव्यतिरेकेण न प्रतिभासविषयस्तद्वत् पुरोवर्त्तिनि स्तम्भादौ तदाकारः सत्येव बाह्ये स्तम्भाद्यर्थं इति सिद्ध एव बा[12]ह्योऽर्थः । न च वृक्षादावपि पिण्डाद्याकार एव वृक्षादिः तस्य स्व-पराभ्यां सन्निहितस्यान्यथाप्रतीतेः असदेतत्, यतः स्व-पराभ्यामसौ सन्निहितः प्रतीयमानः साकारेण वा

१-सक्तेरितिप्र-वृ० । २-रसिद्धत्वात् नि-आ० । ३-रणा प्र-भां० । ४ "नास्ति दृष्टेऽनुपपन्नं नाम"—मीमांसाद० १-१-५ शा० पृ० १३ प० २० । ५-रादेस्त-आ० ।-रादिस्त-हा० वि० । "यतो निराकारत्वेऽपि अवबोधस्य इन्द्रियवृत्त्या पुरोवर्तिन्येवार्थे नियमितत्वान्न सर्वार्थघटनप्रसङ्गः"—प्रमेयक० पृ० २८ प्र० पं० १२ । ६ प्राक् तस्मा-वृ० सं० । प्र० पृ० प० ६ । ७ "कस्मात् तैस्तत्र तन्नियम्यते इत्यत्र वस्तुस्वभावैरुत्तरं वाच्यम्" -प्रमेयक० पृ० २८ द्वि० पं० १ ।

"प्रत्यक्षेण प्रतीतेऽर्थे यदि पर्यनुयुज्यते । स्वभावैरुत्तरं वाच्यं दृष्टे काऽनुपपन्नता" ॥,

इति स्वयमभिधानात्"—अष्टस० पृ० १५१ पं० १३ । ८-पि चायं वा० बा० वि० विना । ९-दाऽत्रा-वृ० आ० हा० वि० । १० न चास्य-वृ० ल० । ११-क्षादौ मृत्पिण्डाद्याका-वृ० आ० हा० ।-क्षादौ मृत्पिण्डाका-बा० बा० वि० । १२ बाह्यार्थः आ० हा० वि० ।

ज्ञानेन प्रतीयते, निराकारेण वा? यदि साकारेण इति पक्षस्तदा असावपि ज्ञानाकार एव न बाह्योऽर्थ इति क्वचिदपि अर्थासिद्धेरसिद्धो दृष्टान्तः तथा च प्रतिबन्धाप्रसिद्धेर्न ज्ञानाकाराद् बाह्यार्थसिद्धिः । अथ निराकारेण तेन अर्थः स्व-पराभ्यां प्रतीयत इति प्रतिबन्धसिद्धिरभ्युपगम्यते पिण्डाद्याकारस्य बाह्यार्थेन सह; नन्वेवं निराकारं ज्ञानं बाह्यार्थग्राहकं सिद्धमिति व्यर्थं ज्ञानाकारकल्पनम् । न च तत्रापि प्रतिभासमानो वृक्षो ज्ञानाकार एव इति अपरमर्थं साधयति तत्रापि अपरापरार्थकल्पनायामनवस्थाप्रसङ्गात् कुतोऽर्थसिद्धिः? ज्ञानाकारात् इति चेत्; ननु प्रतिबन्धाग्रहणे कथं ततस्तत्सिद्धिः इति पुनरपि तदेव वक्तव्यमिति अपर्यवसाना पर्यनुयोगानवस्था । तस्मात् निराकारादेव ज्ञानाद् बाह्यार्थसिद्धिरभ्युपगन्तव्या ।

अथ निराकारं ज्ञानं नीलादावर्थे व्यापारवत् प्रवर्त्तते, उत निर्व्यापारम् इति कल्पनाद्वयम् । प्रथमकल्पनायामपि अव्यतिरिक्तव्यापारवत् उत व्यतिरिक्तव्यापारवत् इति कल्पनाद्वयम् । आद्य-[1] विकल्पे ज्ञानरूपमेव न व्यापारः कश्चित् । न च व्यापार-तद्वतोरभेदो युक्तः धर्मधर्मितया प्रतीतेः । द्वितीयविकल्पेऽपि सम्बन्धासिद्धिः ततस्तस्योपकाराभावात् उपकारेऽपि तस्य तन्निर्वर्तनेऽपरो व्यापारः कल्पनीय इत्यनवस्था । व्यापारस्यापि चार्थग्रहणव्यापृतावपरो व्यापारः परिकल्पनीय इत्यत्राप्यनवस्था । निर्व्यापारस्यापि व्यापारस्यार्थव्यापृतावर्थस्यापि ज्ञानग्रहणे व्यापृतिप्रसक्तिरित्यर्थस्यापि ज्ञानं प्रति ग्राहकता स्यात् । न च निराकारो बोधो निर्व्यापारोऽपि बोधस्वरूपत्वादर्थग्राहकः अर्थ-[1] स्याप्यर्थरूपतया बोधं प्रति ग्राहकतोपपत्तेः ततो ग्राह्यरूपासंस्पर्शान्न बोधस्य ग्राहकता । न च ग्राह्यार्थरूपान्यथानुपपत्त्या बोधस्य ग्राहकताव्यवस्था, इतरेतराश्रयदोषप्रसक्तेः । तथाहि-ग्राह्यरूपव्यवस्था ग्राहकरूपसंस्पर्शाद् ग्राहकरूपव्यवस्थापि ग्राह्यरूपसंस्पर्शादिति कथं नेतरेतराश्रयदोषः? न च समानकालयोर्नील-बोधयोर्ग्राह्यग्राहकभावव्यवस्था, कर्म-कर्तृरूपत्वासिद्धेः—न हि समानकालतायां निर्वर्त्य-विकार्य-प्राप्यरूपकर्मतासम्भवः समानकालस्य निर्वर्त्य-विकार्यताऽयोगात् प्राप्य-[2] रूपता च न तद्व्यतिरिक्ता सम्भवति समानकालयोर्द्वयोरपि ग्राह्यग्राहकभावाविशेषात् । तत्र निराकारस्याप्यर्थव्यवस्थापकत्वं बोधस्येति "विज्ञप्तिमात्रमेव नार्थव्यवस्था" [ ] इति विज्ञानवादिनः । अयुक्तमेतत्; सप्रतिघरूपतयाऽध्यक्षतो बाह्यस्य सिद्धेर्विज्ञप्तिमात्रत्वे तद्रूपताऽभावप्रसक्तिर्भवेत् ।

१-कारङ्गा-पृ० । २ एते निर्वर्त्यप्रभृतयः कर्मकारकभेदाः । तदुल्लेखः तत्स्वरूपं चैवम्—

"प्राप्यं विषयभूतं च निर्वर्त्यं विक्रियात्मकम् । कर्तुश्च क्रियया व्याप्यमीप्सितानीप्सितेतरत्" ॥

—जैने० व्या० पृ० ९७ पं० ३ ।

"निर्वर्त्यं च विकार्यं च प्राप्यं च त्रिविधं मतम् । तत्रेप्सिततमं कर्म चतुर्धाऽन्यत् तु कल्पितम्" ॥

× × × × ×

"सती वा विद्यमाना वा प्रकृतिः परिणामिनी । यस्य नाश्रीयते तस्य निर्वर्त्यत्वं प्रचक्षते" ॥

"प्रकृतेस्तु विवक्षायां विकार्यं कैश्चिदन्यथा । निर्वर्त्यं च विकार्यं च कर्म शास्त्रे प्रदर्शितम्" ॥

"यदसज्जायते सद्वा जन्मना यत् प्रकाश्यते । तन्निर्वर्त्यं विकार्यं च कर्म द्वेधा व्यवस्थितम्" ॥

"प्रकृत्युच्छेदसंभूतं किञ्चित् काष्ठादिभस्मवत् । किञ्चिद् गुणान्तरोत्पत्त्या सुवर्णादिविकारवत्" ॥

"क्रियाकृतविशेषाणां सिद्धिर्यत्र न गम्यते । दर्शनादनुमानाद्वा तत् प्राप्यमिति कथ्यते" ॥

—वाक्यप० तृ० का० श्लो० ४५-५१ पृ० २०३-२०५ ।

ब्रह्मणः स्वरूपे न कथमपि कर्मकारकप्रकारो घटते इति निरूपयता श्रीशंकराचार्येण स्वभाष्ये कर्मकारकस्य चातुर्विध्यमभ्यनुज्ञातम् । भामतीकृताऽपि तदेव विशदीकृतम् । तद्यथा "अत्र च कूटस्थनित्यम् इति निर्वर्त्यकर्मतामपाकरोति । सर्वव्यापि इति प्राप्यकर्मताम् । सर्वविक्रियारहितम् इति विकार्यकर्मताम् । निरवयवम् इति संस्कार्यकर्मताम्" —ब्रह्मसू० १-१-४ पृ० ११९ पं० ११ ।

भर्तृहर्युक्तं निर्वर्त्यादिस्वरूपं गद्यात्मकतया निरदेशि आचार्यहेमचन्द्रेण—"तत् त्रेधा—निर्वर्त्यम् विकार्यम् प्राप्यं च । तत्र यदसज्जायते जन्मना वा प्रकाश्यते तन्निर्वर्त्यम् । कटं करोति । पुत्रं प्रसूते । प्रकृत्युच्छेदेन गुणान्तराधानेन वा यद् विकृतिमापाद्यते तद् विकार्यम् । काष्ठं दहति । काण्डं लुनाति । यत्र तु क्रियाकृतो विशेषो नास्ति तत् प्राप्यम् । आदित्यं पश्यति । ग्रामं गच्छति" ।—हैम० बृ० सू० २-२-३ पृ० २१ द्वि० पं० ६ ।

न चाध्यक्षतः सप्रतिघबाह्यरूपतया प्रतीयमानस्य 'विज्ञप्तिः' इति नामकरणे काचिन्नः क्षतिः नामकरणमात्रेण सप्रतिघत्वबाह्यरूपत्वादेरर्थधर्मस्याव्यावृत्तेः । अतः सप्रतिघत्वादिरूपो बाह्योऽर्थः तद्विपरीतश्चान्तरो बोधोऽभ्युपगन्तव्य इति कथं विज्ञप्तिमात्रम्? न च सप्रतिघाकारबाह्यार्थः तद्विपरीतश्चान्तरो बोधोऽभ्युपगन्तव्य इति कथं विज्ञप्तिमात्रम्? न च सप्रतिघाकारतया बोधप्रतिपत्तिः तद्विषयतया तु तस्य प्रतिपत्तिरस्त्येव 'नीलविषयो बोधो मयाऽनुभूयते' इति निश्चयोत्पत्तेः । न च प्रतिभासनिश्चयमन्तरेणापरं पदार्थस्वरूपव्यवस्थितौ निबन्धनमुत्पश्यामः ततो निराकारादेव बोधाद् बाह्यार्थसिद्धिरभ्युपेया, असदेतत्; यतः 'निराकारं ज्ञानमर्थव्यवस्थापकम्' इति किं प्रत्यक्षतोऽवगम्यते आहोस्विदनुमानतः उतार्थापत्तेरिति विकल्पाः । तत्र न तावत् प्रत्यक्षतस्तत्प्रतिपत्तिः प्रतिभासमानशरीर-स्तम्भादिव्यतिरिक्तस्यापरस्य ज्ञानस्यानुपलम्भेनासत्त्वात् । न च सुखाद्यान्तररूपेण अहङ्कारास्पदतया स्वसंवेदनाध्यक्षतो ज्ञानरूपं प्रतीयत एवेति कथं तस्यानुपलम्भः यतः सुखादयो नान्तःस्पष्टव्यशरीरव्यतिरिच्यमानतनवः प्रतिभान्ति 'अहम्' इति प्रत्ययोऽपि तथाभूतशरीरालम्बनतया संवेद्यत इति । न च तद्व्यतिरिक्तो बोधात्मा स्वप्नेऽप्यनुभवविषय इति न प्रत्यक्षतो ग्राह्यव्यतिरिक्तवपुर्ग्राहकस्वरूपमवभातीति न तत् प्रत्यक्षावसेयम् । नाप्यनुमानाधिगम्यम् प्रत्यक्षाप्रवृत्तौ तत्पूर्वकस्य तत्र तस्याप्यप्रवृत्तेः । नाप्यर्थापत्तिस्तत्सद्भावमवगमयति तस्याः प्रामाण्यानुपपत्तेः । किञ्च, अनुसरणमात्रमर्थापत्तिः न च 'इदं तत्' इत्युल्लेखवदनुसरणमदृष्टेऽर्थे प्रवृत्तिमासादयति । न च ज्ञानस्वरूपं कदाचनापि दृष्टम् दृष्टौ वा तत एव तत्सिद्धेः किमर्थापत्त्या? अथ 'अर्थस्य ज्ञानम्' इति निराकारस्य ज्ञानस्य प्रतीतेस्तत्सद्भावः । न चार्थग्राहकत्वेन सर्वदा 'अर्थस्य ज्ञानम्' इत्येवंप्रतीयमानस्याविसंवादिप्रत्ययविपर्ययस्य तस्याभावः संवेदनमात्रस्याप्यभावप्रसक्तेः । अतो निराकाराऽविसंवादिप्रत्ययविषया बुद्धिः सिद्धेति युक्तमुक्तम्-"निराकारा नो बुद्धिः" [ ] इति, असदेतत्; यतो निराकारा अर्थबुद्धिर्मया प्रतीयत इत्यपरा बुद्धेस्तदर्थस्य च ग्राहिका बुद्धिः प्रसज्येत तथा च सति आकारमन्तरेण केनाकारेण 'बुद्धिरर्थस्य' इति संयोज्य प्रतीयेत? नहि 'इदं तत्' इत्यनिरूपिताकारमाकारान्तरेण नियोजनामर्हति । न च तथाऽप्रतीयमाना 'बुद्धिः' इति व्यपदेशमासादयति शशशृङ्गादेरपि बुद्धित्वप्रसक्तेः । अथापि स्यात् 'ममार्थबुद्धिरासीत्' इति नार्थाकारव्यतिरिक्ता सा प्रतिभाति किन्तु पृथगपोद्धारपरिकल्पनया प्रकाशरूपतया व्यवस्थापिता 'बुद्धिः' इति व्यपदिश्यते, अयुक्तमेतत्; यतो नाव्यतिरेकेण प्रतीयमाना बुद्धिर्विकल्पेनापोद्धर्तुं शक्या न च पृथक् प्रतीयते सेत्युक्तम् । अथ सुख-स्तम्भाद्याकारतया यैवान्त(न्तः)स्पष्टव्यरूपादिकमेव ज्ञानं प्रतिभाति न पुनस्ततो व्यतिरिक्तमपरं ज्ञानम् तथा सति संवेदनमात्रमेव प्रसक्तम् एवं च 'चक्षुरादिना मया रूपं प्रतीयते' इति सम्बन्धाभावात् कथं प्रतीतिः? अस्ति चेयं प्रतीतिः तस्मादुपलभ्ये रूपादिके अभिमुखीभूतं चक्षुस्तत्प्रकाशत्वं विदधाति सा च बुद्धिरुच्यते । न च नीलाद्याकारमविद्यमानमेव तत्र प्रकाशत्वमुत्पन्नमिति वक्तव्यम् विद्यमाननीलादिविपर्ययस्य चक्षुरादिव्यापारादविद्यमानस्य प्रकाशत्वस्यैव तत्रोत्पत्तेः नीलादेस्तु पूर्वमेव भावात् तथा च सति 'अर्थस्य बुद्धिः' इति व्यपदेशः सिद्ध एव । अत एवोक्तम्-"बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम्" [न्यायद० १-१-१५] इति, एतदप्यसत्, यतो न प्रकाशव्यतिरेकेण नीलादिरुपलभ्यते इति कुतः पूर्वव्यवस्थिते एव नीलादौ प्रकाशता चक्षुरादेरुदयतीति वक्तुं शक्यम् न हि प्रकाशतारहितं कदाचिदुपलब्धं नीलादिकम् उपलम्भे वा सर्वस्य सर्वदर्शित्वप्रसक्तिः । अथ 'नीलस्य प्रकाशः' इति व्यतिरेक उपलभ्यत एव, न, 'शिलापुत्रकस्य शरीरम्' 'स्तम्भस्य स्वरूपम्' इत्यत्रापि व्यतिरेकोपलब्धेर्व्यतिरेकः स्यात् 'प्रकाशस्य प्रकाशता' इति च दृष्टेर्भेदः प्रकाशतायाः स्यात् । अथात्रैकैव प्रकाशतोपलभ्यते नापरेति न प्रकाशस्यापरः प्रकाशः व्यतिरेकोपलम्भस्य प्रत्यक्षबाधितत्वात् तर्हि नील-प्रकाशयोरपि न प्रत्यक्षप्रतीतो भेद इति तत्रापि समानन्यायतो व्यतिरेकस्यासिद्धेर्नीलाद्याकारैव प्रकाशता सा च बुद्धिः इति सिद्धा साकारता ज्ञानस्य ।

१-परता-ल० । २ नान्तस्प्र-बृ० । नान्तद्रष्ट-आ० । ३-पयस्याभा-भा० । ४-'त्यपरा" बुद्धेस्तदर्थस्य च ग्राहिका बुद्धिः" प्रसज्येत' इत्यन्वयसूचकचिह्नाङ्कित पाठ ल० । ५ नहीह त-आ० । ६-ण यो-बृ० भा० वा० । ७ यद्यन्तप्रष्ट-हा० वि० । यदेतत्स्प्रष्ट-भा० बा० । यद्यन्तद्रष्ट-आ० । ८ एवं चक्षु-बृ० ल० भा० मा० विना । ९-लंभ्ये बृ० । लंभे बृ० स० । वा० बा० । १०-शकत्वं भा० मा० । ११-यचक्षु-भा० मा० । १२-लम्भे च स-आ० हा० वि० ।

अथ परोक्षा बुद्धिर्निराकारा च ततः साकारत्वमुभयस्यासिद्धम्, असदेतत्; निराकारस्य बोधस्य 'बुद्धिः बुद्धिः' इति विकल्पेऽप्यप्रतिभासनात् अर्थापत्तेश्च प्रक्षयः प्रकाशमात्रेणार्थस्य सिद्धत्वाद् व्यर्थं तदपरबुद्धिपरिकल्पनम् ततश्च यदुक्तम्—"निराकारमेव ज्ञानमर्थोन्मुखमुपलभ्यमानं प्रतिनियमेन कथं सर्वसाधारणमिति सिद्धः प्रतिकर्म प्रत्ययः" [ ] इति, तदप्ययुक्तम्; यतो न किञ्चिन्नीलाद्याकारप्रकाशताव्यतिरेकेणोपलभ्यतेऽपरमिति कस्यार्थे प्रत्यासन्नता परैः परिकल्प्यते प्रकाशता तु यदि निराकारा स्यात् प्रतिकर्म व्यवस्था न भवेत् न ह्यालोकमात्रेणाधिश्रितघटादिरूपेण तद्रूपप्रकाशनं युक्तम् कथं तर्हि चक्षुरादिना रूपमुपलभ्यत इति व्यवस्था? बाह्यार्थवादिपरिकल्पिते परोक्षे रूपादौ तदाकारा प्रकाशता चक्षुरादिना जन्यत इति तथाव्यपदेशः संभवी प्रकाशता वा अपोद्धारपरिकल्पनयाऽनादिवासनानियमाद् भिन्ना व्यपदिश्यत इति न किञ्चिदयुक्तम् यद्वा पूर्वसामग्रीतश्चक्षुरादिरूपाद्याकारप्रकाशता बुद्धिस्वभावोपजायत इत्येकसामग्र्यधीनतया तथाव्यपदेशः—दृश्यते हि प्रदीप-प्रकाशयोः समानकालयोः 'प्रदीपेन घटः प्रकाशितः' इत्येकसामग्र्यधीनतया व्यपदेशः। न ह्येककालयोरत्रापि प्रकाश्य-प्रकाशयोः कार्यकारणभाव उपपद्यते; ननु यदि साकारं विज्ञानमभ्युपगम्यते तदा चक्षुरादिकोऽर्थः प्रतिक्षिप्त एव भवेत् चक्षुराद्याकारस्य संवेदनमात्रस्यैवोपलब्धेर्न तदाकाराच्चक्षुराद्यर्थव्यवस्था स्यात् । यतो न बाह्यार्थस्तदाकारं च विज्ञानं द्वयमुपलम्भविषयः तत्त्वे वा ज्ञानमेव, तत्रापि साकारम् तत्राप्यर्थस्य पुनरप्युपलब्ध्यभ्युपगमे ज्ञानाकारेऽन्तर्भाव इति न कदाचित् स्वरूपेणोपलब्धिर्भवेदिति नार्थव्यवस्था, असदेतत्, कार्यव्यतिरेकेण बाह्यार्थपरिकल्पना अर्थापत्त्या वा परेषामभिमतेति तदभ्युपगमादर्थस्यायमाकारः प्रकाशतामनुप्रविष्ट इत्यभिधानात् यथोक्तदोषानुपपत्तिः अथवा विज्ञानवादेऽर्थासिद्धिप्रेरणं सिद्धसाध्यतया न दोषावहमिति साकारमेव ज्ञानं प्रमाणमभ्युपपन्नाः सौत्रान्तिक-योगाचाराः।

[बाह्यार्थं तद्ग्राहकं च निराकार-साकारज्ञानं स्वीकुर्वता सिद्धान्तिना साकारज्ञानप्रमाणवादस्य प्रतिविधानम्]

अत्र प्रतिविधीयते—निराकारं विज्ञानमर्थग्राहकमिति न प्रत्यक्षतः प्रतीयते शरीर-स्तम्भादिव्यतिरेकेणानुपलम्भतस्तस्यासत्त्वादिति 'तस्यासत्त्वात्' इत्यत्र हेतुरसिद्धः अहङ्कारास्पदस्य सुखादेर्ज्ञानविशेषस्यान्तःस्वसंवेदनप्रत्यक्षानुभूयमानस्य सत्त्वात् । न च स्वसंवेदनप्रत्यक्षसिद्धस्याप्यसत्त्वम् स्तम्भाद्याकारस्यापि ज्ञानस्यासत्त्वप्रसक्तेः न हि तथाप्रतिभासव्यतिरेकेणापरमत्रापि सत्त्वनिबन्धनम् न च 'अहम्' इति प्रत्ययोऽन्तःस्पृष्टव्यशरीराद्यालम्बनः शरीरस्य सप्रतिघत्वेनापरप्रत्यक्षविषयत्वेन चाऽज्ञानरूपतया मुख्याहंप्रत्ययविषयत्वानुपपत्तेः ज्ञानस्यैवाप्रतिघानन्यवेद्यरूपस्यान्तर्मुखाकारस्य मुख्याहंप्रत्ययविषयत्वात् 'अहं कृशः' इत्यादिशरीरालम्बनस्य त्वहंप्रत्ययस्यौपचारिकत्वात् उपचारनिबन्धनत्वस्य च प्राक् प्रतिपादितत्वात् तेन 'निराकारस्य ज्ञानस्य स्वप्नेऽप्यसंवेदनान्न प्रत्यक्षतो ग्राह्यव्यतिरिक्तं ग्राहकस्वरूपं प्रतिभाति' इति प्रत्युक्तम्। 'नीलमहं वेद्मि' इति बाह्यनीलार्थग्राहकस्यान्तर्ग्राह्याद् व्यतिरिक्तस्य स्वसंवेदनाध्यक्षतो ज्ञानस्याहमहमिकया प्रतीतेः। न चान्तःसुखादयो बहिश्च नीलादयः परिस्फुटवपुषः स्वसंविदिताः प्रतिभान्ति न पुनस्तद्व्यतिरिक्तं निराकारं ज्ञानस्वरूपमर्थग्राहकमाभाति सुखादेरर्थग्राहकत्वायोगादिति वक्तव्यम् यतो बाह्यं प्रति सुखादीनां नैवास्माभिरपि ग्राहकत्वमभ्युपगम्यते। नहि सुखादयो भावनोपनेयजन्मानो बहिरर्थसंनिधिमन्तरेणापि प्रादुर्भवन्तः पदार्थव्यक्तीनां नियमेनोद्द्योतकाः स्ववपुःपर्यवसितस्वरूपत्वात् तेषाम् चक्षुरादिप्रभवास्तु संविदो बहिरर्थमुद्भासयन्त्यः स्पष्टावभासा अन्वय-व्यतिरेकाभ्यां पृथगवसीयन्त इति पदार्थग्राहिण्यस्ता एवाभ्युपगमनीयाः सुखादिवेदनं तु हृदि परिवर्तमानं बाह्यार्थसंविदः पृथगेव न तत् बाह्यार्थग्राहक-

---

१-शता चाऽपो-बृ०। २-रक-बृ० ल० विना। ३-या व्यप-आ० हा० वि०। ४-काश्ययोः भा० मां०। ५-काशते' वा० बा०। ६-च च भ-वा० बा०। ७ तत्त्वे विज्ञा-आ० हा० वि०। ८-नरुप-बृ० ल० वा० बा०। ९-पत्तेः भा०। १० पृ० ४६२ पं० ७। ११-नुपलम्भस्तस्या-बृ० ल० वा० बा०।-नुपलम्भतस्तस्यासत्त्वादिति हेतुर-आ०। १२-दस्तु-बृ०। १३-न्तःप्र-आ० हा० वि०। १४ पृ० ४६२ पं० ११। १५-न्तर्ग्राह्यद्व्यति-हा०।-न्तर्ग्राह्यव्यति-वा० बा० आ० वि०। १६-कारज्ञा-बृ० वा० बा० आ० वि०।

तयाऽभ्युपगमविषयः। तदेवं ग्राह्याद् व्यतिरेकेण निराकारज्ञानस्य स्वसंवेदनाध्यक्षसिद्धत्वादनुमानमपि तत्सत्त्वप्रतिपादकत्वेन प्रवर्तत एव विप्रतिपत्तिसद्भावे। यच्च 'अर्थापत्तेरप्रामाण्याद् नातस्तत्प्रतिपत्तिः' इति, तत् सिद्धसाधनमेव। यदपि 'निराकारा मया बुद्धिः प्रतीयते इति बुद्धेरप्यपरा बुद्धिर्ग्राहिका' इत्याद्युक्तम् तदप्यसंगतमेव, यतः स्वपरार्थग्राहकं बुद्धेः स्वरूपम् तेन च रूपेण स्वसंविदि प्रतिभासमाना कथं शशशृङ्गादिवदव्यवस्थितस्वरूपा भवेत्? यदपि 'तदव्यतिरिक्ततया प्रतीयमाना न विकल्पेनाप्यपोद्धर्तुं शक्या' इति, तदप्यसङ्गतम्; ग्राह्यार्थस्वरूपविविक्ततया स्वरूपेण तत्प्रतिभासनस्य प्रतिपादितत्वात्। यदपि 'प्रकाशतारहितं नीलादिकं नोपलभ्यते तथोपलम्भे सर्वः सर्वदर्शी भवेत्' इति, अत्रापि यदि ज्ञानं विना नीलादिकं नोपलभ्यत इत्युच्यते तदा सिद्धसाध्यता तदन्तरेण तदुपलम्भस्यानिष्टेः। अथ नीलमेव प्रकाशरूपमिति प्रतिपाद्यते, तदयुक्तम्; नीलस्य जडतया प्रकाशरूपत्वानुपपत्तेः परस्परपरिहारस्थितलक्षणतया जडाजडयोरेकत्वायोगात्। यदपि 'नीलस्य प्रकाशः' इति व्यतिरेकः 'शिलापुत्रकस्य शरीरम्' इत्यादाविवाभेदेऽपि संभवति' इति, तदपि न सम्यग्, दृष्टान्ते हि प्रत्यक्षावगतोऽभेदो भेदप्रतिभासस्य बाधकः न तु दार्ष्टान्तिके प्रत्यक्षारूढोऽभेदप्रतिभासः समस्ति। तथाहि–ग्राह्यरूपं स्तम्भाद्यनन्यव्यापृतत्वेन ग्राह्यतयाऽध्यक्षे प्रतिभाति प्रकाशता तु स्तम्भादिकर्मणि व्यापृतत्वेन ग्राहकतया प्रतिभातीति न स्तम्भ–तत्संवेदनयोरभेदावभासोऽध्यक्षारूढोऽवभाति। न केवलं ग्राहकाकारोऽन्यव्यापृतत्वेन प्रतिभाति किन्त्वाह्लादादिस्वभावतया अहङ्कारास्पदश्च प्रतिभास–निश्चयाभ्यामवसीयते तद्ग्राह्यस्तु तद्विपरीतत्वेन। न चाध्यक्षसिद्धभेदयोर्नील–तत्संवेदनयोः कुतश्चित् प्रमाणादेकताऽवसातुं शक्येति न भेदप्रतिभासस्य बाधा। न च नीलादिरेव ज्ञानरूपः 'अहं नीलादिः' इत्यनवगमात्, तेन 'नीलाद्याकारैव प्रकाशता सा च बुद्धिरिति साकारता ज्ञानस्य' इति यदुक्तम् तदपि निरस्तं द्रष्टव्यम्। यदपि 'प्रकाशतामात्रेणार्थस्य सिद्धत्वाद् व्यर्थं तदपरबुद्धिपरिकल्पनम्', तदपि सिद्धमेव साधितम्; अर्थप्रकाशताया अर्थव्यतिरिक्ताया बुद्धित्वेन तदपरबुद्धिपरिकल्पनाया असिद्धत्वात्। यदपि 'नापरं नीलाद्याकारप्रकाशताव्यतिरेकेणोपलभ्यत इति कस्यार्थे प्रत्यासन्नता परैः परिकल्प्यते' तदपि नीलाद्यर्थग्रहणपरिणतेर्ज्ञानस्य स्वसंवेदनाध्यक्षतः सिद्धेरयुक्ततया स्थितम्। 'प्रकाशता तु यदि निराकारा भवेत् प्रतिकर्म व्यवस्था न स्यात्' इति यदुक्तम्, तदप्यसंगतमेव, यतः प्रकाशता किं नीलाद्याकारा, आहोस्विद् ग्राह्याकाराऽभ्युपगम्यते? यदि प्रथमो विकल्पस्तदा वक्तव्यम् किमेकदेशेन नीलाद्याकारा प्रकाशता, आहोस्वित् सर्वात्मनेति? तत्र यद्येकदेशेन तदा सांशैका प्रकाशता प्रसक्तेत्यनेकान्तसिद्धिः। अथ सर्वात्मना तदा प्रकाशताया जडरूपनीलादिस्वभावत्वाद् विज्ञप्तिरूपताऽभावप्रसक्तिः जडस्य प्रकाशरूपतायोगात्। अथ ग्राह्याकारा एवमपीतरेतराश्रयत्वम्। तथाहि–ग्राह्यस्य प्रतिनियतरूपसिद्धौ तदाकारा प्रकाशता सिध्यति तत्सिद्धौ च ग्राह्यस्य प्रतिनियतरूपसिद्धिरिति व्यक्तमितरेतराश्रयत्वम्। नहि देवदत्तस्य प्रतिनियताकारतासिद्धौ यज्ञदत्तस्य तदाकारतासिद्धिर्दृष्टा। न च प्रकाशतासाकारतासिद्धिमन्तरेणापि ग्राह्यस्य प्रतिनियतरूपसिद्धिः निराकारज्ञानस्य प्रतिकर्मव्यवस्थाहेतुत्वप्रसक्तेः। न च 'यद् यदाकारं तत् तस्य ग्राहकम्' इति व्याप्तिसिद्धिः अन्यथोत्तरनीलक्षणः पूर्वनीलक्षणस्य ग्राहकः स्यात्। न च तस्याज्ञानरूपत्वान्नायं दोषः देवदत्तनीलज्ञानस्य यज्ञदत्तनीलज्ञानग्राहकताप्रसक्तेः। न च तयोः कार्यकारणभावाभावान्नायं दोषः सदृशसमनन्तरज्ञानक्षणं प्रत्युत्तरज्ञानक्षणस्य ग्राहकताप्रसक्तेः। अथ तत्र तादृग्विधसारूप्याभावान्नायं दोषः, ननु तथाविधं सारूप्यं यदि कथञ्चित्सारूप्यमभिधीयते तदाऽनेकान्तवादापत्तिः। अथ सर्वात्मना सारूप्यम् तदोत्तरक्षणस्य पूर्वक्षणरूपताप्रसक्तिरित्येकक्षणमात्रं सर्वः सन्तानो भवेत्। न च पूर्वोत्तरक्षणयोः परपक्षे भिन्नमभिन्नं वा एकान्ततः सारूप्यं संभवति भेदपक्षे सामान्यवादप्रसक्तेः अभेदपक्षे तु तदभावप्-

१–कारस्य ज्ञा–वृ० वा० वा० भा० मां० विना। २ पृ० ४६२ पं० १३। ३ पृ० ४६२ पं० १९। ४–दपि च त–आ० हा० वि०। ५ पृ० ४६२ पं० २४। ६ पृ० ४६२ पं० ३३। ७–भवीति वृ० वा० वा०। ८ पृ० ४६२ पं० ३५। ९–व्यावृतत्वे–वृ० ल०।–व्यावृत्तत्वे–वा० वा०। १० व्यावृतत्वे–वृ० ल०। व्यावृत्तत्वे–वा० वा०। ११–व्यापृतत्वे–वृ० ल०।–व्यावृत्तत्वे–वा० वा०। १२ पृ० ४६२ पं० ३८। १३ पृ० ४६३ पं० २। १४ पृ० ४६३ पं० ५। १५ पृ० ४६३ पं० ६। १६–शता–आ० हा० वि०।

सक्तेः। न च परपक्षे सारूप्यग्रहणोपायः संभवतीत्युक्तम्। किञ्च, यदि नीलाकारं ज्ञानमनुभूयत इति बाह्योऽप्यर्थो नीलतया व्यवस्थाप्यते तर्हि त्रैलोक्यगतनीलार्थव्यवस्थितिस्ततो भवेत् सर्वनीलार्थसाधारणत्वात् तस्य। अथ नीलाकारताऽविशेषेऽपि कश्चित् प्रतिनियमहेतुस्तत्र विद्यते यतः पुरोवर्तिन एव नीलादेस्ततो व्यवस्था तर्ह्यनाकारत्वेऽपि ज्ञानस्य तत एव नियमहेतोः प्रतिनियतार्थव्यवस्थापकत्वं भविष्यतीति तत्साकारतापरिकल्पनं व्यर्थम्। यदपि 'चक्षुरादिना रूपमुपलभ्यते इतिव्यपदेशनिबन्धनं चक्षुरादिजन्यत्वं रूपाकारप्रकाशस्य' उक्तम्, तदपि स्वजाड्याविष्करणमात्रम्; यतो यथा प्रत्यासत्त्या चक्षुरादिकं समानकालं भिन्नकालं वा भिन्नं रूपाद्याकारं ज्ञानं जनयति तथैव निराकारमपि ज्ञानं समानकालं भिन्नकालं वा स्वग्राह्यं भिन्नमपि ग्रहीष्यति न हि चक्षुरादेर्विभिन्नकार्योत्पादनवद् विभिन्नग्राह्यग्रहणे शक्तिप्रक्षयः कश्चिद् ज्ञानस्य संभवी।

अथ विभिन्नकार्योत्पादनमप्यसंभवीति नाभ्युपगम्यते तर्हि "प्रमाणमविसंवादि" [ ] इति प्रमाणलक्षणप्रणयनमनर्थकं धर्मकीर्तेरासज्यते अविसंवादित्वस्यार्थक्रियाज्ञानजनकत्वलक्षणस्याभावात्। अथ व्यावहारिकमेतत् प्रमाणलक्षणं न पारमार्थिकम् किं तर्हि पारमार्थिकमिति वक्तव्यम्? अज्ञातार्थप्रकाशो वेति चेत्, न, अत्रापि यद्यज्ञातस्यार्थस्य प्रकाशः स्वसंविदितोऽर्थग्रहणपरिणाम आत्मसम्बन्धी तदाऽस्मन्मताभ्युपगम इति न कश्चिद्दोषः। अथ "स्वरूपस्य स्वतो गतिः" [ ] इति वचनाद् अज्ञातार्थप्रकाशः स्वरूपसंवेदनमात्रम् तदाध्यक्षबाधा दोषः स्वपरवेदकत्वेन ज्ञानस्य स्वसंवेदनाध्यक्षतः प्रतिपत्तेरिति प्रतिपादितत्वात् प्रतिपादयिष्यमाणत्वाच्च। एतेन 'एकसामग्र्यधीनतया चक्षुरादिना रूपमुपलभ्यत इति व्यपदेशः' इत्येतदपि निरस्तम् भिन्नानामेकसामग्र्यधीनत्वलक्षणप्रतिबन्धाविरोधे ग्राह्यग्राहकलक्षणस्यापि तस्याविरोधात् यथा चैकसामग्र्यधीनानां चक्षुरादीनां समानसमयेऽपि स्वरूपप्रतिनियमस्तथा ग्राह्यग्राहकयोरपि समानकालत्वाविशेषेऽपि विज्ञानं ग्राहकमेव अर्थस्तु ग्राह्य एवेति प्रतिनियमो भविष्यति। अथैकसामग्र्यधीनत्वं रूपप्रतिनियमश्चक्षुरादेर्नेष्यते तर्हि प्रमाणादिव्यवहारस्य सकलस्य विलोपात् साकारज्ञानाभ्युपगमोऽसंगत एव स्यात्। यदपि 'कार्यव्यतिरेकेण बाह्यार्थकल्पनाऽर्थापत्त्या वा परेषामिति तदभ्युपगमेनोच्यते अर्थस्यायमाकारः प्रकाशतामनुप्रविष्टः' इत्युक्तम्, तदपि परदर्शनाऽनभिज्ञतां ख्यापयति; न हि जैनानां कार्यव्यतिरेकात् अर्थापत्त्या वाऽर्थपरिकल्पना किन्तु तद्ग्राहकप्रतिभासवशात्। साकारज्ञानवादिनस्तु यदि ज्ञानाकारोऽर्थव्यतिरेकेण नोपपद्यत इत्यर्थव्यवस्थापकस्तदाऽनियतार्थव्यवस्थापकः स्यात्। जनकस्यैव व्यवस्थापक इति चेत्, न; चक्षुरादेरपि व्यवस्थापकः स्यात्। तज्जनकत्वेऽपि चक्षुरादेरतदाकारत्वान्नेति चेत्; ननु चक्षुरादिजन्यत्वेऽपि किमिति तज्ज्ञानं तदाकारं न भवति चक्षुरादि वा साकारज्ञानाजनकमिति वक्तव्यम्? स्वहेतुबलायाततत्स्वभावत्वात् तयोरिति चेत्; ननु निराकारज्ञानपक्षेऽपि तत्स्वाभाव्याद् ज्ञानमेव चक्षुरादिव्यतिरेकेण स्वजनकार्थव्यवस्थापकमिति किं नाभ्युपगम्यते न्यायस्य समानत्वात्? किञ्च, ग्राहकस्यार्थजन्यत्वेन साकारता सा च प्रतिभासगोचरा एवं च ग्राहके आकारस्य जनकस्यैव प्रतिभासविषयत्वेऽन्यस्य तज्जनकस्य कल्पनाप्रसक्तिः तत्राप्येवमित्यनवस्था भवेत्। तन्न

१-कारपरि-बृ० ल० वा० बा० भा०, हा०। २ पृ० ४६३ पं० ७। ३-ज्जात्यावि-वा० बा० विना। ४ वा भिन्नरू-बृ० ल० वा० बा० हा० विना। ५-रपरिज्ञानं हा०। ६ "अविसंवादकं ज्ञानं सम्यग्ज्ञानम्"—न्यायबिं० टी० पृ० ३ पं० ५। "यथाह प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ४२८ पं० १०। "अन्ये तु अविसंवादि ज्ञानं प्रमाणमभिदधति"—तत्त्वोप० लि० पृ० ३७ पं० १। "अपरे पुनरविसंवादकत्वं प्रमाणसामान्यलक्षणमाचक्षते"—न्यायमञ्ज० आ० १ पृ० २३ पं० १९। "तथाह प्रज्ञाकरगुप्तः प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम् इत्यादि प्रमाणलक्षणं व्यवहारेण"—सिद्धिवि० टी० लि० पृ० ७८ पं० १९ इत्युल्लेखाद् वचनमेतत् प्रज्ञाकरगुप्तीयं ज्ञायते। पार्थसारथिमिश्रः श्लोकवार्तिकटीकायां वचनमेतद् धर्मकीर्तिकर्तृकतयोल्लिखतीति तत्पाठप्रदर्शनपूर्वकं ससूचितं प्रथमे भागे पृ० १५ पं० २३ तथा टि० १२। "अविसंवादकं प्रमाणम्"—न्यायावता० टी० पृ० २० पं० १५। स्याद्वादर० पृ० १७ प्र० पं० ७। "प्रमाणमविसंवादि ज्ञानमिति सौगताः"—प्रमाणमी० १-१-८ पृ० ११ पं० १९। ७ पृ० १५ पं० २२। ८ पृ० ४६३ पं० १०। ९ पृ० ४६२ पं० १७। १०-ज्ञाहिप्र-बृ० ल० वा० बा० भां० भा०। ११ अयं चर्चस्तावद् भङ्ग्यन्तरेण वर्तते—आप्तमी० का० १२ अष्टश० पृ० ११ पं० २९। अष्टस० पृ० ११८ पं० १०। प्रमेयक० पृ० २७ द्वि० पं० ९।

साकारज्ञानानुभववशादर्थव्यवस्था। प्रकाशतानुप्रविष्टता चार्थाकारस्यायुक्तैव वस्त्वन्तरानुप्रवेशासंभवात् संभवे वा प्रकाशताया अपि चैतन्यरूपतायाः पृथिव्याद्यनुप्रवेशात् परलोकाय दत्तो जलाञ्जलिर्भवेत्। यदपि 'अर्थवादिन एवायं दोषो ज्ञानवादे तु सिद्धसाध्यता' इति, तदपि न्यायबहिष्कृतम्; प्रमाणसिद्धस्याप्यर्थस्याभावो यदि न दोषाय भवेत् ज्ञानाभावोऽपि न दोषाय स्यात्। न च शून्यताभ्युपगमात् तदभावोऽपि न दोषावह इति वक्तव्यम् तत्प्रतिपादकप्रमाणाभावान्न शून्यतेति न साकारज्ञानप्रमाणवादोऽभ्युपगमार्होऽनेकदोषदुष्टत्वादिति स्थितम्।

[जैमिनीयसंमतं ज्ञातृव्यापारस्य प्रमाणत्वं निराकर्तुं तद्विशेषणस्यानधिगतार्थाधिगन्तृत्वस्य व्यपोहनम्]

जैमिनीयाभिमतस्य तु ज्ञातृव्यापारस्य फलानुमेयस्य यथा प्रमाणता न संभवति तथा स्वतःप्रामाण्यं निराकुर्वद्भिः प्रदर्शितमिति न पुनः प्रतन्यते। यदपि अनधिगतार्थाधिगन्तृत्वं ज्ञातृव्यापारविशेषणत्वेन प्रतिपादितम् तदप्यसङ्गतमेव; यतः प्रमाणं वस्तुन्यधिगतेऽनधिगते वाऽव्यभिचारादिविशिष्टां प्रमां जनयन्नोपालम्भविषयः। न चाधिगते वस्तुनि किं कुर्वत् तत् प्रमाणतामाप्नोतीति वक्तव्यम् विशिष्टप्रमां विदधतस्तस्य प्रमाणताप्रतिपादनात्। न च पूर्वोत्पन्नैव प्रमा तेन जन्यते, प्रमित्यन्तरोत्पादकत्वेन प्रमाणत्वात्। न च प्रमित्यन्तरजनकत्वेऽप्यधिगते विषये तस्याकिञ्चित्करत्वेनोपालम्भविषयता, स्वहेतुसन्निधिबलादधिगतमनधिगतं वा वस्त्वधिगच्छतोऽप्रेक्षापूर्वकारितयोपालम्भविषयतानुपपत्तेः। न चैकान्ततोऽनधिगतार्थाधिगन्तृत्वे प्रामाण्यं तस्यावसातुं शक्यम् तद्धि अर्थतथाभावित्वलक्षणं संवादादवसीयते स च तदर्थोत्तरज्ञानवृत्तिः। न चानधिगतार्थाधिगन्तुरेव प्रामाण्ये संवादप्रत्ययस्य प्रामाण्यमुपपन्नम् न चाप्रमाणेन संवादप्रत्ययेन प्राक्तनस्य प्रामाण्यं व्यवस्थापयितुं शक्यम् अतिप्रसङ्गात् अतो यथा अधिगतार्थाधिगन्तुरर्थक्रियानिर्भासिज्ञानस्य प्रामाण्यम् तथा साधननिर्भासिनोऽप्यभ्युपगन्तव्यम्। न च सामान्य-विशेषतादात्म्यवादिन एकान्ततोऽनधिगतार्थाधिगन्तृत्वं प्रमाणस्य संभवति इदानीन्तनास्तित्वस्य पूर्वास्तित्वाभेदात् तस्य च पूर्वमप्यधिगतत्वसंभवात् कथञ्चिदनधिगतार्थाधिगन्तृत्वाभ्युपगमे असन्मतानुप्रवेशप्रसक्तिः। अथ अप्रेक्षापूर्वकारितया प्रमा-

---

१ पृ० ४६३ पं० १८। २ "अर्थापरोक्षतावत्संवेदनरूप"स्य—भू० लि० टि०। ३ पृ० २० पं० १। ४ पृ० ४५८ पं० ७। ५ अनधिगतार्थाधिगन्तृत्वविशेषणस्य निरसनमिदं प्रायोऽक्षरशः परीक्षामुखीय१–४सूत्रव्याख्यायां वर्तते—प्रमेयक० पृ० १६ द्वि० पं० ३। एतदेवाशयं "यदपि प्रमाणविशेषणमनधिगतार्थग्राहित्वमभिधीयते परैः तदपि न साम्प्रतम्" इत्यादिना शब्दान्तरेण न्यायमञ्जर्यां दृष्टिपथमायाति—आ० १ पृ० २१ पं० २४। स्याद्वादरत्नाकरे तु तदेव

"अविज्ञातज्ञानं त्वभिदधति भट्टस्य तनया. प्रमाणं तत् सम्प्रत्यनतरतु दूष्यत्वपदवीम्" ॥

इत्यादिपद्यान्तरेण चर्चितम्—१–२ पृ० १८ प्र० पं० १५। ६ "अन्यथा भेदायोगात्"—भू० लि० टि०।

७ "न च प्रयोजनानुवर्ति प्रमाणं भवति। कस्य चैष पर्यनुयोगः? न प्रमाणस्य अचेतनत्वात्। पुंसस्तु सन्निहिते, विषये करणे च सम्भवन्ति ज्ञानानीति सोऽपि किमनुयोज्यताम् किमक्षिणी निमील्य नास्से कस्माद् इदं विषयं पश्यसीति। प्रमाणस्य तु न किञ्चिद् वाच्यं पश्यामः येन तद् अप्रमाणमिति व्यवस्थापयामः न च सर्वात्मना वैफल्यम् हेये अहिकण्टक-मकर-विषधरादौ विषये पुनः पुनरुपलभ्यमाने मनः सन्तापात् सत्वरं तदपहानाय प्रवृत्तिः उपादेयेऽपि चन्दन-घनसार-हार-महिलादौ परिदृश्यमाने प्रीत्यतिशयः स्वसंवेद्य एव भवति" इत्यादि—न्यायमञ्ज० आ० १ पृ० २२ पं० २–८

"न च प्रयोजनानुवर्ति प्रमाणं भवति × × ×

किमिति पश्यसि वस्तु तदेव भो यदिह पूर्वमिया कलितं किल।
किमिति वस्तुनि सन्निहितेऽपि च लभसि नैव निमीलितलोचन. ॥

अपि च,

पुनः पुनः प्रमाणानां प्रवृत्तौ विषयेष्विह। सर्वथा नास्ति वैयर्थ्यं फलस्याप्युपलम्भनात् ॥
तथाहि–हालाहल-विहगादौ हेये मुहुर्वस्तुनि वीक्ष्यमाणे।
स कोऽपि तापः स्फुरति प्रकामं न गोचरं यो वचसामुपैति ॥

णस्यानुपालम्भविषयत्वेऽपि पुरुषस्य प्रेक्षापूर्वकारिणोऽधिगतविषयमपि प्रमाणं पर्येषमाणस्योपालम्भविषयता-स हि पूर्वाधिगते वस्तुनि प्रेक्षापूर्वकारी किमित्यधिगमाय प्रमाणान्तरमन्वेषते निष्पन्नप्रयोजनापेक्षया हेतुं व्यापारयतः प्रेक्षापूर्वकारिताहानिप्रसक्तेः, नैतदेवम्; यतः प्रीत्यतिशयादेः प्रयोजनस्यानिष्पन्नस्य भावात् तन्निष्पत्त्यर्थमुपायान्वेषणं न प्रेक्षापूर्वकारितां तस्योपहन्तुं समर्थम्। तथाहि-सुखसाधने विषये पुनः पुनः प्रमां जनयतः प्रीत्यतिशयजनकत्वेन सप्रयोजनत्वात् प्रमाणान्वेषणस्य न तदन्वेष्टुः पुरुषस्योपालम्भार्हता। न च निश्चिते विषये न किञ्चिन्निश्चयान्तरेण प्रयोजनम्-यतस्तदर्थं प्रमाणान्वेषणं न वैयर्थ्यमनुभवेत्-यतो भूयो भूय उपलभ्यमाने दृढतरा प्रतिपत्तिर्भवतीति सुखसाधनं तथैव निश्चित्योपादत्ते दुःखसाधनं च तथात्वेन सुनिश्चित्य परित्यजेत् अन्यथा विपर्ययेणाप्युपादान-त्यागौ भवेताम् अत एवैकविषयाणामपि शाब्दाऽनुमानाऽध्यक्षाणां प्रामाण्यमुपपन्नम् प्रतिपत्तिविशेषस्य प्रीत्यतिशयादेश्च सद्भावात्। न च प्रथमप्रत्ययेनैवार्थक्रियासमर्थवस्तुप्रदर्शने प्रवर्तितः पुरुषः प्रापितश्चार्थ इति तत्रापरप्रमाणान्वेषणं वैयर्थ्यमनुभवेत्, पुरुषप्रवृत्तेः प्रमाणाधीनत्वाभावात् विशिष्टप्रमाया एव प्रमाणाधीनत्वात् तां च जनयत उपेक्षणीयादौ विषये प्रमाणस्याप्रवर्तकस्यापि प्रमाणत्वेन लोके प्रसिद्धत्वात् प्रवृत्तेस्तु पुरुषेच्छानिबन्धनत्वात् तदभावे नोक्तफलजनकस्य प्रमाणत्वव्याघातः। न च पुरुषार्थसाधनप्रदर्शकत्वमेव तस्य प्रवर्त्तकत्वम् तत्सद्भावेऽपि 'प्रवर्त्तितोऽहमनेनात्र' इति तद्ग्रहणेच्छाभावे प्रतिपत्त्यनुपपत्तेः। न च प्रवृत्त्यभावे तस्य प्रदर्शकत्वलक्षणो निजो व्यापार एव नोपपद्यत इति वक्तव्यम् प्रतीतिबाधोपपत्तेः। नहि चन्द्रार्काद्यर्थविषयमध्यक्षमप्रवर्तकत्वात् न तत्प्रदर्शकमिति लोकप्रतीतिः। तन्न अनधिगतार्थाधिगन्तृत्वमपि ज्ञातृव्यापारविशेषणमुपपत्तिमत्। अतोऽनधिगतार्थाधिगन्ता ज्ञातृव्यापारोऽर्थप्रकटताख्यफलानुमेयो जैमिनीयपरिकल्पितो न प्रमाणमिति स्थितम्।

[धर्मोत्तरीयं प्रमाणसामान्यलक्षणं व्यावर्ण्य सिद्धान्तिना तस्य समालोच्य दूषणम्]

सौगतैस्तु 'प्रमाणमविसंवादिज्ञानम्' इति वचनात् अविसंवादकत्वं प्रमाणलक्षणमुक्तम् अविसं-

---

निरीक्ष्यमाणे परमार्थतस्तु हेये मुहुर्मोहविकारमुख्ये।

विवेकसेकस्तुतमानसानामरोचकस्तीव्रतरोऽभ्युदेति॥

प्रि(प्रे)यस्विनी-पार्वण-शीतरोचिर्-मयूर-माणिक्यमुखे त्वजस्रम्।

आदेयवस्तुन्यवलोक्यमाने सम्प्राप्यते प्रीतिरसः स कोऽपि॥". इत्यादि—स्याद्वादर० १-२ पृ० १८ द्वि० पं० ७- पृ० १९ प्र० पं० ४।

१-धनचि-बृ० ल० भां० मा० विना। २ "उत्तरम्"—बृ० ल० टि०। ३ सुनिश्चितं प-ल० वा० बा० भां० मा० हा०। ४-मपि शाब्दा—बृ० ल० वा० बा० विना। ५ "प्रवृत्त्यभावे"—बृ० टि०। "प्रवृत्ति"—ल० टि०। ६ "प्रदर्शकता-" बृ० ल० टि०। ७-हणे भावेच्छा प्रति-वा० बा०। ८-कत्वमि-वा० बा०। "न च प्रवृत्त्यभावे प्रमाणस्यार्थप्रदर्शकत्वलक्षणव्यापाराभावो वाच्यः प्रतीतिविरोधात्। न खलु चन्द्रार्कादिविषयं प्रत्यक्षमप्रवर्तकत्वान्न तत्प्रदर्शकमिति लोके प्रतीतिः"—प्रमेयक० पृ० ८ प्र० पं० ६। "न च प्रवृत्तेरभावे प्रमाणस्य वस्तुप्रदर्शकस्वरूपो व्यापार एव न संभवतीति विभावनीयम् अनुभवविरोधात्। न खलु कुमुदबान्धवादौ प्रत्यक्षेण दृष्टेऽप्यप्रवर्तमानो लोकः तस्याप्रदर्शकत्वमिति प्रतिपद्यते"—स्याद्वादर० पृ० २१ द्वि० पं० ६। ९ "भट्टमतं(त)प्रसिद्धतत्संवेदनरूपफलोप(पल)क्षणमेतत्"—ल० टि०। १० जैमिनीय-वा० बा०।

११ एतत् सर्वं धर्मोत्तरीयायां धर्मकीर्तिकृतन्यायबिन्दुवृत्तावित्थं दृश्यते—"अविसंवादकं ज्ञानं सम्यग्ज्ञानम्। लोके च पूर्वमुपदर्शितमर्थं प्रापयन् संवादक उच्यते तद्वद् ज्ञानमपि प्रदर्शितमर्थं प्रापयत् संवादकमुच्यते प्रदर्शिते चार्थे प्रवर्तकत्वमेव प्रापकत्वम् नान्यत्। तथाहि—न ज्ञानं जनयद् अर्थं प्रापयति अपि तु अर्थे पुरुषं प्रवर्तयत् प्रापयत्यर्थम् प्रवर्तकत्वमपि प्रवृत्तिविषयप्रदर्शकत्वमेव। न हि पुरुषं हठात् प्रवर्तयितुं शक्नोति विज्ञानम् अत एव चार्थाधिगतिरेव प्रमाणफलम् अधिगते चार्थे प्रवर्तितः पुरुषः प्रापितश्चार्थः तथा च सति अर्थाधिगमात् समाप्तः प्रमाणव्यापारः। अत एव अनधिगतविषयं प्रमाणम् येनैव हि ज्ञानेन प्रथममधिगतोऽर्थस्तेनैव प्रवर्तितः पुरुषः प्रापितश्चार्थः तत्रैवार्थे किमन्येन ज्ञानेनाधिकं कार्यम् ततोऽधिगतविषयमप्रमाणम् तत्र योऽर्थो दृष्टत्वेन ज्ञातः स प्रत्यक्षेण प्रवृत्तिविषयीकृतः यस्माद् यस्मिन्नर्थे प्रत्यक्षस्य साक्षात्कारित्वव्यापारो विकल्पेनानुगम्यते तस्य प्रदर्शकं प्रत्यक्षम् तस्माद् दृष्टतया ज्ञातः प्रत्यक्षदर्शितः। अनुमानं तु लिङ्गदर्शनान्निश्चिन्वत् प्रवृत्तिविषयं दर्शयति

वादकत्वं च प्राप्तिनिमित्तप्रवृत्तिहेतुभूतार्थक्रियाप्रसाधकार्थप्रदर्शकत्वम् यतोऽर्थक्रियार्थी पुरुषस्तन्निर्वर्त्तनक्षममर्थमवाप्तुकामः प्रमाणमप्रमाणं वा अन्वेषते यदेव चार्थक्रियानिर्वर्त्तकवस्तुप्रदर्शकं तदेव तेनान्विष्यते प्रत्यक्षानुमाने एव च तथाभूतार्थप्रदर्शके न ज्ञानान्तरमिति ते एव च लक्षणार्हे तयोश्च द्वयोरप्यविसंवादकत्वमस्ति लक्षणम् प्रत्यक्षेण ह्यर्थक्रियासाधनं दृष्टतयाऽवगतं प्रदर्शितं भवति अनुमानेन तु दृष्टलिङ्गाव्यभिचारितयाऽध्यवसितम् इत्यनयोः प्रदर्शकत्वमेव प्रापकत्वम् न ह्याभ्यां प्रदर्शितेऽर्थे प्रवृत्तौ न प्राप्तिरिति नान्यत् प्रदर्शकत्वव्यतिरेकेण प्रापकत्वम् तच्च शक्तिरूपम्। उक्तं च—"प्रापणशक्तिः प्रामाण्यम् तदेव च प्रापकत्वम् अन्यथा ज्ञानान्तरस्वभावत्वेन व्यवस्थितायाः प्राप्तेः कथं प्रवर्त्तकज्ञानशक्तिस्वभावता ? तत्र यद्यपि प्रत्यक्षं वस्तुक्षणग्राहि तद्ग्राहकत्वं च तस्य प्रदर्शकत्वं तथापि क्षणिकत्वेन तस्याप्राप्तेः तत्सन्तान एव प्राप्यत इति सन्तानाध्यवसायोऽध्यक्षस्य प्रदर्शकव्यापारो द्रष्टव्यः अनुमानस्य तु वस्त्वग्राहकत्वात् तत्प्रापकत्वं यद्यपि न संभवति तथापि स्वाकारस्य बाह्यवस्त्वध्यवसायेन पुरुषप्रवृत्तौ निमित्तभावोऽस्तीति तस्य तत्प्रापकमुच्यते"। [ ] एतदुक्तं भवति—प्रत्यक्षस्य हि क्षणो ग्राह्यः स च निवृत्तत्वान्न प्राप्तिविषयः सन्तानस्त्वध्यवसेयः प्रवृत्तिपूर्विकायाः प्राप्तेर्विषय इति तद्विषयं प्रदर्शितार्थप्रापकत्वमध्यक्षस्य प्रामाण्यम् अनुमानेन त्वारोपितं वस्तु गृहीतम् स्वाकारो वा तयोर्द्वयोरप्यवस्तुत्वान्न प्रवृत्तिविषयतेति न तद्विषयं तस्य प्रापकत्वम् अपि त्वारोपित-बाह्ययोरभेदाध्यवसायेन वस्तुन्येव प्रवर्त्तकत्व-प्रापकत्वे अस्य द्रष्टव्ये। तेनानुमानस्य ग्राह्योऽनर्थः प्राप्यस्तु बाह्यः स्वाकाराऽभेदेनाध्यवसित इति तद्विषयमस्यापि प्रदर्शितार्थप्रापकत्वं प्रामाण्यम्। उक्तं च—"ततोऽपि विकल्पात् तदध्यवसायेन वस्तुन्येव प्रवृत्तेः प्रवृत्तौ च प्रत्यक्षेणाभिन्नयोगक्षेमत्वात्" [ ] तथाऽपरमप्युक्तम्—"न ह्याभ्यामर्थं परिच्छिद्य प्रवर्त्तमानोऽर्थक्रियायां विसंवाद्यते" [ ] इति। अत्र च प्रत्यक्षानुमानयोर्द्वयोरपि परिच्छेद्यः सन्तानविषयोऽध्यवसायो द्रष्टव्यः तथा, प्रामाण्यं वस्तुविषयं द्वयोरिति च। उक्तमत्रापि—"सन्तानविषयत्वेन वस्तुविषयत्वं द्वयोरुक्तम्" [ ] लौकिकं चैतदविसंवादकत्वं प्रामाण्यम् यतो लोके प्रतिज्ञातमर्थं प्रापयन् पुरुषः संवादकः प्रमाणमुच्यते तद्वदत्रापि द्रष्टव्यम्। न च क्षणिकस्य ज्ञानस्यार्थप्राप्तिकालं यावदनवस्थितेः कथं प्रापकतेत्याशङ्कनीयम् प्रदर्शकत्वव्यतिरेकेण तस्यास्त-

---

तथा च प्रत्यक्षं प्रतिभासमानं नियतमर्थं दर्शयति अनुमानं च लिङ्गसंबद्धं नियतमर्थं दर्शयति अत एते नियतस्यार्थस्य प्रदर्शके तेन ते प्रमाणे नान्यद् विज्ञानम्। प्राप्तुं शक्यमर्थमादर्शयत् प्रापकम् प्रापकत्वाच्च प्रमाणम् आभ्यां प्रमाणाभ्यामन्येन ज्ञानेन प्रदर्शितोऽर्थः कश्चिद् अत्यन्तविपर्यस्तः यथा मरीचिकासु जलम् स च असत्त्वाद् प्राप्तुमशक्यः कश्चिदनियतो भावाभावयोः यथा संशयार्थः। न च भावाभावाभ्यां युक्तोऽर्थो जगत्यस्ति ततः प्राप्तुमशक्यस्तादृशः। सर्वेण चालिङ्गजेन विकल्पेन नियामकमदृष्ट्वा प्रवृत्तेन भावाभावयोरनियत एवार्थो दर्शयितव्यः स च प्राप्तुमशक्यः तस्माद् अशक्यप्रापणमत्यन्तविपरीतं भावाभावानियतं चार्थं दर्शयदप्रमाणमन्यद् ज्ञानम्। अर्थक्रियार्थिभिश्च अर्थक्रियासमर्थप्राप्तिनिमित्तं ज्ञानं मृग्यते। यच्च तैर्मृग्यते तदेव शास्त्रे विचार्यते ततोऽर्थक्रियासमर्थवस्तुप्रदर्शकं सम्यग्ज्ञानम् यच्च तेन प्रदर्शितं तदेव प्रापणीयम् अर्थाधिगमात्मकं हि प्रापकमित्युक्तम्। तत्र प्रदर्शिताद् अन्यद् वस्तु भिन्नाकारं भिन्नदेशं भिन्नकालं च। विरुद्धधर्मसंसर्गो हि अन्यद् वस्तु देश-कालाऽऽकारभेदश्च विरुद्धधर्मसंसर्गः तस्माद् अन्याकारवद्वस्तुग्राहि नाकारान्तरवति वस्तुनि प्रमाणम् यथा पीतशङ्खग्राहि शुक्ले शङ्खे, देशान्तरस्थग्राहि च न देशान्तरस्थे प्रमाणम् यथा कुञ्चिकाविवरदेशस्थायां मणिप्रभायां मणिग्राहि ज्ञानं नापवरकदेशस्थे मणौ, कालान्तरयुक्तग्राहि च न कालान्तरवति वस्तुनि प्रमाणम् यथा अर्धरात्रे मध्याह्नकालवस्तुग्राहि स्वप्नज्ञानं नार्धरात्रकाले वस्तुनि प्रमाणम्।

ननु देशनियतमाकारनियतं च प्रापयितुं शक्यम् यत्कालं तु परिच्छिन्नं तत्कालं न शक्यं प्रापयितुम् नोच्यते यस्मिन्नेव काले परिच्छिद्यते तस्मिन्नेव काले प्रापयितव्यमिति अन्यो हि दर्शनकालः अन्यश्च प्राप्तिकालः किन्तु यत्कालं परिच्छिन्नं तदेव प्रापणीयम् अभेदाध्यवसायाच्च संतानगतमेकत्वं द्रष्टव्यमिति"—१-१ पृ० ३ पं० ५-पृ० ४ पं० ११। षड्द० स० वृ० पृ० ३२ पं० १५-पृ० ३३।

१ "अर्थक्रिया-" वृ० ल० टि०। २-ग्राहि ग्राह-वृ०। ३-कत्वे च भा० हा० वि०। ४ "क्षणस्य"—वृ० ल० टि०। ५-थापि साका-भा० हा० वि०। ६ "वस्तुविषयमभेदाध्यवसायेन"-वृ० ल० टि०। ७ प्रवर्तते प्रवृ- वा० बा०। ८ "विकल्पस्य"—वृ० टि०। ९ द्वयोरित्युक्तम् वृ० विना।

प्राप्त्यसंभवादित्युक्तत्वात् । न चान्यस्य ज्ञानान्तरस्य प्राप्तौ सन्निकृष्टत्वात् तदेव प्रापकमित्याशङ्कनीयम् यतो यद्यप्यनेकस्मात् ज्ञानक्षणात् प्रवृत्तावर्थप्राप्तिस्तथापि पर्यालोच्यमानमर्थप्रदर्शकत्वमेव ज्ञानस्य प्रापकत्वं नान्यत् तच्च प्रथमज्ञानक्षण एव संपन्नमिति नोत्तरोत्तरज्ञानक्षणानां तदुपयोगि प्राप्यमाणं च वस्तु नियतदेश-कालाऽऽकारं प्राप्यत इति तथाभूतवस्तुप्रदर्शकयोस्तयोरेव प्रामाण्यम् न ज्ञानान्तरस्य तेन प्रदर्शितप्रापकत्वलक्षणे प्रामाण्ये पीतशङ्खादिग्राहिज्ञानानामपि प्रापकत्वात् प्रामाण्यप्रसक्तिर्न भवति न हि तानि प्रदर्शितमर्थं प्रापयन्ति यद्देश-कालाऽऽकारं वस्तु तैः प्रदर्शितम् न तत् तथा प्राप्यते यच्च यथा प्राप्यते न तैस्तत् तथा प्रदर्शितम् देशादिभेदेन वस्तुभेदस्य निश्चितत्वान्न तेषां प्रदर्शितार्थप्रापकता । एवमपि प्रदर्शितार्थप्रापकत्वे जलादिप्रदर्शकस्य मरीच्यादिवस्त्वन्तरप्राप्तौ प्रदर्शितप्रापकत्वेन प्रामाण्यप्रसक्तिरिति न किञ्चिदप्रमाणं भवेत् । प्रमाणद्वयव्यतिरिक्तं च ज्ञानं न नियतप्रदर्शितार्थप्रापकम् । तेन हि भावाभावसाधारणोऽनियतोऽर्थः प्रदर्शितः स च तथाभूतोऽसत्त्वाच्च प्राप्तुं शक्य इति न तत् प्रदर्शितार्थप्रापकत्वेन प्रमाणम् । अनियतार्थप्रदर्शकत्वं च शाब्दादेः साक्षात् पारम्पर्येण वा प्रतिपाद्यादर्थाद्नुत्पत्तेः । तत् स्थितं प्रापणशक्तिस्वभावमविसंवादकत्वं प्रामाण्यं द्वयोरेव । प्रापणशक्तिश्च प्रमाणस्यार्थाविनाभावनिमित्ता दर्शनपृष्ठभाविना विकल्पेन निश्चीयते । तथाहि—दर्शनं यतोऽर्थादुत्पन्नं तद्दर्शकमात्मानं स्वानुरूपावसायोत्पादनात् निश्चिन्वदर्थाविनाभावित्वं प्रापणशक्तिनिमित्तं प्रामाण्यं स्वतो निश्चिनोतीत्युच्यते न पुनर्ज्ञानान्तरं तन्निश्चायकमपेक्षतेऽर्थानुभूताविव ततोऽविसंवादकत्वमेव प्रमाणलक्षणं युक्तम् ।

एतदप्ययुक्तम्, यतो नार्थप्रदर्शकत्वमेव प्रापकत्वम् पुरुषेच्छाधीनप्रवृत्तिनिमित्तत्वात् सति वस्तुन्यर्थप्राप्तेः । एतच्च प्राक् प्रतिपादितम् । उपेक्षणीये च विषये पुरुषस्य तद्विषयार्थित्वाद्यभावे प्राप्ति-परित्यागयोरभावेऽपि तत्प्रदर्शकत्वलक्षणस्य प्रामाण्यस्य न कश्चिद् व्याघात उपलभ्यते । अथ इष्टाऽनिष्टसाधनार्थव्यतिरेकेणोपेक्षणीयस्यार्थान्तरस्याभावान्न तत्प्रदर्शकं किञ्चिज् ज्ञानं समस्तीति कथं प्रापकत्वाभावेऽपि प्रदर्शकत्वस्य संभवेन दोषोपादनं क्रियते? तथा च तृतीयविषयाभावमवगत्यैवोक्तम्–"अर्थानर्थविवेचनस्यानुमानायत्तत्वात्" [ ] तथा, "हिताहितप्राप्ति-परिहारयोः" [ ] इति च । तृतीयविषयाभावश्च सर्वस्य वस्तुनो राशिद्वयेऽन्तर्भावात् ।

१–पयोगी प्राप्य–वा० बा० । "तत्र प्रथमत एव ज्ञानक्षणे संपन्नमिति नोत्तरोत्तरज्ञानानां तदुपयोगि तद्विशेषाणप्रदर्शकत्वेन तु तत् तेषामुपपन्नमेव" । तद् "प्रदर्शकत्वम्" । उपयोगि "फलवत्" । तद्–"अर्थ"–। अश–"भेद–" । प्रमेयक० पृ० ८ प्र० पं० ५, टि० १२–१३–१४–१५ । २–यतार्थः बृ० । ३ न च त–वा० बा० । ४ पृ० ४६७ पं० १३ । ५–पादानं वा० बा० । ६ दार्शनिकग्रन्थेषु तावदर्थविभागक्रम इत्थं दृश्यते—

यद्यपि न्यायसूत्रभाष्यकारवार्तिककाराभ्यामुपेक्षणीयार्थस्य पार्थक्येन कृतं समर्थनं न दृष्टं तथापि अवयवसूत्रे हानोपादानोपेक्षाबुद्धित्रयवर्णनेन तयोस्तदर्थस्य पार्थक्ये तात्पर्यं प्रतिभाति यतो वाचस्पतिमिश्रेण उपेक्षणीयार्थस्य हेयोपादेयपार्थक्येन समर्थनं कृत्वा तत्तात्पर्यं स्पष्टीकृतम्—

"अप्रतीयमानमर्थं कस्माज्जिज्ञासते? तं तत्त्वतो ज्ञातं हास्यामि वोपादास्य उपेक्षिष्ये वेति । ता एता हानोपादानोपेक्षाबुद्धयस्तत्त्वज्ञानस्यार्थस्तदर्थमयं जिज्ञासते" १–१–३२ वात्स्या० भा० ।

"पुरुषापेक्षया तु प्रामाण्ये चन्द्रतारकादिविज्ञानस्य पुरुषानपेक्षितस्य अप्रामाण्यप्रसङ्ग । न चातिदवीयस्तया तदर्थस्य हेयतया तदपि पुरुषस्यापेक्षितम् तस्योपेक्षणीयविषयत्वात् । न चोपेक्षणीयमपि अनुपादेयत्वाद् हेयमिति निवेदयिष्यते" न्यायवा० ता० टी० १–१–१ पृ० २१ पं० १६ । तन्निवेदनस्थानं च १–१–३ पृ० १०३ पं० २२–पृ० १०४ पं० ३ ।

"ननु कोऽयमुपेक्षणीयो नाम विषयः? स हि उपेक्षणीयत्वादेव नोपादीयते चेत् स तर्हि हेय एव अनुपादेयत्वादिति, नैतद् युक्तम्, उपेक्षणीयविषयस्य स्वसंवेद्यत्वेन अप्रत्याख्येयत्वात् ।

हेयोपादेययोरस्ति तु स्व-प्रीतिनिमित्तता । यत्नेन हानोपादाने भवतस्तत्र देहिनाम् ॥

यत्नसाध्यद्वयाभावादुभयस्यापि साधनात् । ताभ्यां विसदृशं वस्तु स्वसंविदितमस्ति नः ॥

उपादेये च विषये दृष्टे रागः प्रवर्तते । इतरत्र तु विद्वेषस्तत्रोभावपि दुर्लभौ ॥

यत्तु अनुपादेयत्वाद् हेय एवेति, तदप्रयोजकम्, न ह्येवं भवति, यदेतद् नपुंसकम् स पुमान् अस्त्रीत्वात् स्त्री वा नपुंसकम् अपुंस्त्वादिति, स्त्रीपुंसाभ्यामन्यदेव नपुंसकम् तथोपलभ्यमानत्वात् । एवमुपेक्षणीयोऽपि विषयो हेयोपादेयाभ्यामर्थान्तरम् तथोपलम्भादिति ।

तथाहि-तृतीयं वस्तु नेष्टसाधनम् उपेक्षणीयत्वात् यच्च तत्साधनं न भवति तस्यानिष्टसाधनराशा-वन्तर्भावः एतच्चायुक्तम्; स्वसंविदितवस्त्वपह्नवस्य युक्तिशतेनापि कर्तुमशक्यत्वात् । तथाहि-यथा तद् वस्तु इष्टसाधनं न भवति तथाऽनिष्टसाधनमपि न भवति इष्टानिष्टसाधनयोर्यत्नोपादेयत्व-हेयत्वदर्शनात् उपेक्षणीयस्य चायत्नसाध्योपादानत्यागविषयत्वात् कथमिष्टानिष्टसाधनयोरन्तर्भावः? तन्न प्रदर्शकत्वमेव प्रापकत्वम् । न च बौद्धाभ्युपगमेन प्रदर्शितार्थप्रापकत्वं क्वचिदपि ज्ञाने संभवति । तद्धि सन्तानाश्रयेण सौगतैः परिकल्प्यते । न च सन्तानः संभवति-स हि स्वरूपेण वा वस्तुसन् भवेत् सन्तानिरूपेण वा? न तावत् स्वरूपेण सन्तानिव्यतिरेकेण तस्य वस्तुसतोऽनभ्युपगमात् अभ्युपगमे वा क्षणिकवादहानिप्रसक्तिः सामान्यानभ्युपगमश्च निर्निबन्धनो भवेत् इति न तस्य स्वरूपेण प्रवृत्त्यादिविषयता । सन्तानिरूपेणापि तस्य सत्त्वे सन्तानिन एव तथाभूता न तद्व्यतिरिक्तः सन्तानः प्रवृत्त्यादिविषयः सन्तानिनां चोत्पत्त्यनन्तरध्वंसित्वात् न तद्विषयस्य विज्ञानस्य प्रदर्शितार्थ-प्रापकत्वम् दृश्य-प्राप्ययोः क्षणयोरत्यन्तभेदात् यत्र हि देश-कालाऽऽकारभेदादभेदेन प्रतीयमान-स्यापि वस्तुनो भेदोऽभ्युपगम्यते तत्र स्वरूपेण भिन्नयोः पूर्वोत्तरक्षणयोः कथमभेदः येन प्रदर्शितार्थ-प्रापकत्वं साधननिर्भासिज्ञानस्य युक्तिसंगतं भवेत्? अथ संवृत्या सन्तानस्य स्वरूपसिद्धेः पूर्वोक्तम-दूषणम् । तथा च प्रतिपादितम्-"सांव्यवहारिकस्य च प्रमाणस्यैतल्लक्षणम्" [ ] नन्वेवं लोक-व्यवहारानुरोधेन यदि प्रदर्शितार्थप्रापकत्वं प्रमाणस्याभ्युपगम्यते तदा नित्यानित्यवस्तुप्रदर्शकस्य तद् अभ्युपगम्यताम् लोकव्यवहारस्य तत्रैवोपपत्तेः । न च तथाभूततद्ग्राहकस्य युक्तिबाधितत्वान्निर्विषय-त्वम् सन्तानविषयस्यैव पूर्वोक्तन्यायेन युक्तिबाधितत्वोपपत्तेः । तन्नाध्यवसितार्थप्रापकं प्रत्यक्षं परा-भ्युपगमेन संभवति । तथाहि-यदेवाध्यक्षेणोपलब्धं तदेव तेनाध्यवसितम् न च सन्तानस्तेन पूर्वं

यदेतत् तृण-पर्णादि चकास्ति पथि गच्छतः । न धीश्छत्रादिवत् तत्र न च काकोदरादिवत्" ॥

—न्यायम० आ० १ पृ० २४ पं० २५-पृ० २५ पं० १२ ।

"प्रमितिर्गुण दोष-माध्यस्थ्यदर्शनम् । गुणदर्शनमुपादेयत्वज्ञानम्, दोषदर्शनं हेयत्वज्ञानम्, माध्यस्थ्यदर्शनं न हेयं नोपादेयमिति ज्ञान प्रमिति "-[प्रशस्त० कं० पृ० १९९ पं० १८-१९] इत्येषा श्रीधरीयकन्दल्यपि उपेक्षणीयं भावं व्यक्ततया समर्थयते ।

"पुरुषस्यार्थं अर्ध्यत इत्यर्थं काम्यत इति यावत् । हेयोऽर्थः उपादेयो वा । हेयो ह्यर्थो हातुमिष्यते उपादेयोऽप्युपा-दातुम् । न च हेयोपादेयाभ्यामन्यो राशिरस्ति उपेक्षणीयो ह्यनुपादेयत्वाद् हेय एव"—ध० न्या० टी० १-१, पृ० ४ पं० २१ ।

"ननु च हेयोपादेयाभ्यामन्योऽप्युपेक्षणीय अस्ति(योऽस्ति) तस्य किमिति न कथनम्? इत्याह—न च हेयेत्यादि । × × × किन्तु तस्यानुपादेयत्वाद् हेयत्वमेवेति न पृथक्कथनम् । तेन यदुक्तं कैश्चिद् हेयोपादेययो पुरुषार्थोपयोगित्वात् कथनम् उपेक्षणीयस्य तद्विपर्ययान्न कथनमिति तत् प्रत्युक्तम्"—ध० न्या० टी० टि० पृ० ११ पं० ७ ।

"हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत्"-१-२ । "अर्थ्यतेऽभिलष्यते प्रयोजनार्थिभिरित्यर्थो हेय उपादेयश्च । उपेक्षणीयस्यापि परित्यजनीयत्वाद् हेयत्वम् उपादानक्रियां प्रति अकर्मभावात् नोपादेयत्वम् हानक्रिया प्रति विपर्ययात् तत्त्वम् । तथा च लोको वदति-अहमनेन उपेक्षणीयत्वेन परित्यक्त इति"—प्रमेयक० पृ० २ प्र० पं० ४ । "अभिमतानभिमतवस्तुस्वीकारतिरस्कारक्षम हि प्रमाणम् अतो ज्ञानमेवेदम्"—१-२ । "अभिमतानभिमतयोरुपलक्षण-त्वाद् अभिमतानभिमतोभयाभावस्वभाव उपेक्षणीयोऽप्यन्नार्थो ज्ञापयितव्य । रागगोचर. खल्वभिमत द्वेषविषयोऽन-भिमतः रागद्वेषद्वितयानालम्बन तृणादिरुपेक्षणीय तस्य चोपेक्षकं प्रमाणं तदुपेक्षाया समर्थमित्यर्थ."—स्याद्वादर० पृ० २१ द्वि० प० १ ।

"अर्यते अर्थ्यते वा अर्थो हेयोपादेयोपेक्षणीयलक्षणः हेयस्य हातुम् उपादेयस्योपादातुम् उपेक्षणीयस्योपेक्षितुमर्थ्य-मानत्वात् । न च अनुपादेयत्वाद् उपेक्षणीयो हेय एवान्तर्भवति अहेयत्वाद् उपादेय एव अन्तर्भावप्रसक्ते. । उपेक्षणीय एव च मूर्धाभिषिक्तोऽर्थो योगिभिस्तस्यैव अर्यमाणत्वात् अस्मदादीनामपि हेयोपादेयाभ्यां भूयानेव उपेक्षणीयोऽर्थ. । तस्मायमु-पेक्षितु क्षम "—प्रमाणमी० १-१-२ पृ० ५ पं० ११ ।

१ "न हेतु-फलभावादिरन्यभावादनन्वयात् । सतानान्तरवन्नैक संतानस्तद्वत पृथक्" ॥—आप्तमी० ३ श्लो० ४३ ॥ अष्टश० पृ० १९१ पं० ५ ।

२ "अन्येष्वनन्यशब्दोऽयं संवृतिर्न मृषा कथम्? । मुख्यार्थ. संवृतिर्नास्ति विना मुख्यान्न संवृति." ॥

—आप्तमी० ३ श्लो० ४४ । अष्टस० पृ० १९२ प० २ ।

मुपलब्ध इति कथमसावध्यवसीयते? न हि क्षणमात्रभाविनां सन्तानिनां दर्शनविषयत्वे तत्पृष्ठभाविनाऽध्यवसायेन तद्दृष्टस्यैव विषयीकरणम् न चान्यथाभूतवस्तुग्रहणेऽन्यथाभूताध्यवसायिनः प्रदर्शितार्थप्रापकत्वं प्रामाण्यं युक्तम् तथाभ्युपगमे शुक्तिकायां रजताध्यवसायिनोऽपि तत् स्यात्। अथात्र प्रवृत्तेन रजतं न प्राप्यत इति न प्रदर्शितार्थप्रापकत्वं तर्हि सन्तानेऽध्यवसिते क्षणः प्राप्यत इति प्रकृतेऽपि न प्रदर्शितार्थप्रापकत्वम्। अथात्र सन्तान एव प्राप्यते तर्हि स एव वस्तुसन् भवेदिति न सामान्यधर्माः स्वरूपेणासन्तोऽभ्युपगन्तव्याः अक्षणिकस्य च वस्तुनः सिद्धेः। यदुक्तं भवद्भिः- "दर्शनेन क्षणिकाक्षणिकत्वसाधारणस्यार्थस्य विषयीकरणात् कुतश्चिद् भ्रमनिमित्तादक्षणिकत्वारोपेऽपि न दर्शनमक्षणिकत्वे प्रमाणम् किन्तु प्रत्युताप्रमाणम् विपरीतावसायाक्रान्तत्वात् क्षणिकत्वेऽपि न तत् प्रमाणं अनुरूपाध्यवसायाऽजननात् नीलरूपे तु तथाविधनिश्चयकरणात् प्रमाणम्" [ ] इति, तद् विरुध्यते। किञ्च, एवंवादिन एकस्यैव दर्शनस्य क्षणिकत्वाक्षणिकत्वयोरप्रामाण्यम् नीलादौ तु प्रामाण्यं प्रसक्तमित्यनेकान्तवादाभ्युपगमो बलादापतति। न च क्षणग्रहणे तद्विपरीतसन्तानावसायोत्पत्तौ दर्शनस्य प्रामाण्यं युक्तं मरीचिकास्वलक्षणग्रहणे जलाध्यवसायिन इव, यतो 'यदेव मया तत्त्वतो दृष्टं तदेव प्राप्तम्' इत्यध्यवसाये तस्य प्रामाण्यं व्यवस्थाप्यते। न च दृष्टस्य क्षणिकसन्तानिस्वरूपेण सन्तानस्य प्राप्तिरिति प्राक् प्रतिपादितम् स्वरूपेण तु तस्याऽसत्त्वात् प्राप्त्यविषयतैवेति न धर्मोत्तरमतपर्यालोचनया किञ्चित् परमार्थतः प्रदर्शितार्थप्रापकं प्रमाणं संभवति अतः संवादकत्वमपि तन्मतेन प्रमाणलक्षणमयुक्तम्।

[नैयायिक-वैशेषिकसंमतस्य सामग्रीप्रामाण्यवादस्य पूर्वपक्षतयोपन्यासः]

नैयायिकास्तु "अव्यभिचारादिविशेषणविशिष्टार्थोपलब्धिजनिका सामग्री प्रमाणम्" [ ] इति प्रमाणसामान्यलक्षणं प्रतिपन्नाः तज्जनकत्वं च प्रामाण्यमिति च। अथ सामग्र्याः प्रमाणत्वे साधकतमत्वमनुपपन्नम् सामग्री ह्यनेककारकस्वभावा तत्र चानेककारकसमुदाये कस्य स्वरूपेणातिशयो वक्तुं शक्येत? तथाहि—सर्वस्मात् कारणकलापात् कार्यमुपजायमानमुपलभ्यते तदन्यतमापायेऽप्यनुपजायमानं कस्य कार्योत्पादने साधकतमत्वमावेदयतु? न च समस्तसामग्र्याः साधकतमत्वम् अपरस्यासाधकतमस्याभावे तदपेक्षया साधकतमत्वस्यानुपपत्तेः असाधकतममपेक्ष्य साधकतमत्वव्यवस्थितेः न च अनेककारकजन्यत्वेऽपि कार्यस्य "विवक्षातः कारकाणि भवन्ति" [ ] इति न्यायात् साधकतमत्वं विवक्षात इति वक्तव्यम् पुरुषेच्छानिबन्धनत्वेन वस्तुव्यवस्थितेरयोगात्। अथ कर्म-कर्तृविलक्षणस्याव्यभिचारादिविशेषणविशिष्टोपलब्धिजनकस्य प्रमाणत्वान्न यथोक्तदोषानुषङ्गः, असदेतत्; अनेकसन्निधानात् कार्यस्य स्वरूपलाभे एकस्य तदुत्पत्तौ वैलक्षण्याभावे साधकतमत्वानुपपत्तेः। तन्न कर्म-कर्तृवैलक्षण्यमपि साधकतमत्वम्। अत्र चानेकपक्षानुद्भाव्य उद्द्योतकराऽध्ययनप्रभृतिभिः साधकतमत्वं निरस्तम् ते च पक्षा ग्रन्थगौरवभयान्नेह प्रदर्श्यन्ते। सन्निपत्यजनकत्वे

१-यत्वेन त-आ०। २-तस्य व-वा० बा०। ३-वृत्ते र-वा० बा०। ४ क्षणिकाक्षणि-वृ०। ५ पृ० ४७० पं० ९। ६ "सन्तानस"—वृ० ल० टि०। ७ "अव्यभिचारिणीमसंदिग्धामर्थोपलब्धिं विदधती बोधाबोधस्वभावा सामग्री प्रमाणम्"-इत्यादिना सामग्रीप्रमाणवादसमर्थनं दृश्यते न्यायमञ्ज० आ० १ पृ० १२ पं० २२-पृ० १५ पं० २२। इदं सामग्रीप्रमाणवादिकणाद-नैयायिकमतम् तदुपपादनम् सिद्धान्तिकृतं तत्प्रतिविधानं च सर्वं प्रमेयकमलमार्तण्डे वर्तते पृ० ३ द्वि० पं० १। न्यायकुमुदचन्द्रोदये तु तदेव सर्वमतिस्फुटतया विपश्चितम् लि० पृ० १४ प्र० पं० ३-पृ० १७ द्वि० पं० ४। स्याद्वादरत्नाकरेऽपि न्यायकुमुदचन्द्रोदयगता सरणीमाश्रित्यैव पुनस्तदेव सविशेषतया स्पष्टीकृतं दृश्यते, तत्र च सामग्रीप्रमाणवादप्रदर्शनपरा भट्टजयन्तकर्तृकपल्लवगताः सप्त श्लोका अपि समुद्धृताः सन्ति-पृ० ३० द्वि० पं० १। ८ "विशिष्टार्थोपलब्धि-" वृ० ल० टि०। ९ शक्यते वा० बा०। १० हैम० वृ० सू० ७-४-१२२। ११ प्रमाणस्य प्रमातृ-प्रमेयाभ्यां साधकतमत्वेन वैलक्षण्यं दर्शयितुकामेन उद्द्योतकरेण साधकतमत्वार्थः सप्तधा दर्शितः। तथाहि—"कः खलु साधकतमार्थः. साधकतमं प्रमाणमिति केवलं वाक्यमभिधीयते नार्थ इति। १. भावाभावयोस्तद्वत्ता न प्रमातरि प्रमेये वाऽसति प्रमा भवति सति तु भवति न पुनः सति भवत्येव प्रमाणे तु सति भवन्ती भवत्येव सोऽयमतिशयः साधकतमत्वमुच्यते। २ यद्वान् वा प्रमिमीते सोऽतिशयः किवान् प्रमिमीते ?. प्रमाणवान् प्रमिमीते प्रमाणे सति प्रमिमीते नासतीति। ३ सतोर्वाऽकर्तृत्वं यदभावात् यस्य चाभावात् प्रमातृ-प्रमेये न प्रमां कुरुतः

पूर्वोदितदोषाभावः । तथाहि–अनेकसन्निधौ कार्यनिष्पत्तेः साधकतमत्वानुपपत्तिः तस्मिंस्तु सति यदा नियमेन कार्यमुपजायते तदा कथं न तस्य साधकतमत्वोपपत्तिः ? असदेतत्, एवं प्रमाणत्वस्याव्यवस्थितिप्रसक्तेः । तथाहि–दीपादेः प्रकाशस्य सामग्र्येकदेशस्य कस्याञ्चिदवस्थायां प्रमाणत्वेनाभिमतस्य सद्भावेऽपि प्रमेयाभावात् कार्यानिष्पत्तौ तत्सद्भावे तु तन्निष्पत्तौ तस्यापि प्रदीपवत् सन्निपत्यकारकत्वात् प्रमाणताप्रसक्तिर्भवेत् तथा प्रमातुरपि मूर्च्छाद्यवस्थायामनवधाने वाऽन्यकारकसन्निधानेऽपि कार्यानुत्पत्तौ तदवधानादिसन्निधाने तज्जन्यकार्यनिष्पत्तेः सन्निपत्यजनकत्वेन साधकतमत्वप्रसक्तिः ।

अत्र कारकसाकल्यस्य साधकतमत्वेनाभ्युपगमात् पूर्वोक्तदोषाभावं केचिन्मन्यन्ते । तथाहि–नैकस्य प्रदीपादेः सामग्र्यैकदेशस्य करणता अपि तु कारकसाकल्यस्य तदभावे कारकसाकल्याभावेनाभिमतकार्यासत्त्वमिति प्रमातृ-प्रमेयसद्भावे कारकसाकल्यस्योत्पत्तौ प्रमितिलक्षणस्य कार्यस्य भाव एव । अथ मुख्यप्रमातृ-प्रमेयसद्भावेऽपि पूर्वोदितस्य नियमस्य तुल्यता, न, कारकसाकल्यभावाभावनिमित्तत्वात् तन्मुख्यगौणभावस्य । तथाहि–कथंचित् कारकवैकल्ये तयोः सत्त्वेऽपि गौणता तत्साकल्ये कुतश्चिद् निमित्तान्तरात् यथोक्तप्रमितिलक्षणकार्यनिष्पत्तावगौणता प्रमातृ-प्रमेययोः तयोश्चानुपपत्तौ साकल्यस्यासत्त्वम् अतः कारकसाकल्ये कार्यस्यावश्यंभाव इति तस्यैव साधकतमत्वम् । अनेककारकसन्निधाने उपजायमानोऽतिशयः सन्निपत्यजननं साधकतमत्वं यद्युच्येत तदा न कश्चिद् दोषः । तथाहि–सामग्र्यैकदेशकारकसद्भावेऽपि प्रमितिकार्यस्यानुत्पत्तेरेकदेशस्य न प्रमाणता सामग्रीसद्भावे त्ववश्यन्तया विशिष्टप्रमितिस्वरूपोत्पत्तेः एकदेशापेक्षया तस्या एव सन्निपत्यजनकत्वेन साधकतमता । न चात्र किमपेक्षया तस्याः साधकतमत्वं अन्यस्मिन्नसाधकतमे साधके साधकतरे वा सति तदपेक्षया तस्याः साधकतमत्वमुपपन्नमिति प्रेरणीयम् यतो न सामग्र्यन्तर्गतानामेकदेशानां जनकत्वव्याघातः तेषामेव धर्ममात्रत्वात् सामग्र्यस्येति जनकैकदेशापेक्षया तत्सामग्र्यस्य साधकतमत्वात् प्रमाणत्वमुपपन्नमेव । एतेन यत् परैः प्रेरितम्–"किल सामग्री करणं तच्च कर्तृकर्मापेक्षम् सामग्रीजनकत्वेन तयोर्व्यापृतेरर्थान्तरभूतयोरभावात् किमपेक्ष्य साधकतमत्वमासादयेत्' [ ] इति तदपि निरस्तम्; यतः कर्तृ-कर्मणोः सामग्रीजनकत्वेन स्थितयोः कथमसत्त्वम् ? तत्सद्भावे च तदपेक्षा कथं न तस्याः करणता ? अथापि स्यात् तस्यास्तज्जन्यत्वे करणत्वव्याघातः अन्यतः सिद्धस्य करणत्वसद्भावात्, असदेतत् यतो दृश्यत एव प्रदीपादेस्तज्जन्यस्यापि करणत्वसद्भाव इति न कश्चिद् व्याघातस्तज्जन्यत्व-करणत्वयोः । ततोऽव्यभिचारादिविशेषणार्थोपलब्धिजनिका सामग्री बोधाबोधस्वभावा तदेकदेशभूतकारकजन्या प्रमाणम् । वैशेषिका अप्येतदेव प्रमाणसामान्यलक्षणं प्रतिपादयन्ति । एतत्कार्यभूता वा यथोक्तविशेषणविशिष्टोपलब्धिः प्रमाणस्य सामान्यलक्षणम् तया स्वकारणस्य प्रमाणाभासेभ्यो व्यवच्छिद्यमानत्वात् इन्द्रियजत्वादिविशेषणविशेषिता सैवोपलब्धिः प्रमाणस्य विशेषलक्षणमिति स्थितं सामग्री प्रमाणमिति ।

सोऽतिशय । ४ संयोगवच्चरमभाविता वा यथा वा संयोग पश्चाद्भावी द्रव्यशक्तिर्भवति तथा प्रमाणं चरमभावि प्रमातृ-प्रमेययो प्रमाशक्तिर्भवति पश्चाद्भावोऽतिशय । ५ प्रतिपत्तेरानन्तर्यं वा यद्वा प्रमाणानन्तरं प्रतिपत्तेर्जन्म स चायमतिशय इति । ६ असाधारणकारणता वा प्रमाता साधारणं कारणं सर्वप्रतिपत्तीनाम् प्रमेयमपि अशेषपुरुषसाधारणत्वात् तथाभूतम् प्रमाणं त्वसाधारणकारणत्वात् प्रधानम् प्राधान्याच्च साधकतमत्वेनाभिधीयत इति । ७ प्रमाकारणसंयोगविशेषकत्वं वा यो वा प्रमाकारणं संयोगस्तस्य प्रमाणमनुग्रहे वर्तमानमतिशयशब्दवाच्यम्"–न्यायवा० १-१-१ पृ० ६ पं० २३-पृ० ७ पं० १२ । साधकतमत्वगोचरा एते सप्ताऽपि पक्षा अधिकं विशदीकृता वाचस्पतिमिश्रेण–न्यायवा० ता० टी० पृ० २४ पं० १५–पृ० २६ पं० १२ ।

१–मत्र्यैक–वृ० । २ "प्रमेयस्य"–वृ० ल० टि० । ३–धाने का–आ० हा० वि० । ४ "पर' प्रतिविधत्ते"–वृ० ल० टि० । ५–भावे नाभि–हा० वि० । ६ "प्रमातृ-प्रमेययो"–वृ० ल० टि० । ७–द्युच्यते आ० हा० वि० । ८–पत्तिमदिति वृ० ल० वा० बा० । ९–मग्रीकार–आ० । १०–न च त– वृ० ल० भा० मां० हा० । ११ "कर्तृ"–वृ० ल० टि० । १२ "सामग्री"–ल० टि० । १३–स्य विशेपल–आ० हा० वि० । १४ तयोरेककारण–आ० ।

[सामग्रीप्रमाणवादं प्रतिविधाय स्वार्थनिर्णीतिस्वभावज्ञानस्य प्रमाणसामान्यलक्षणतयोपसंहारः]

अत्र प्रतिविधीयते-यत् तावदुक्तम्-'कारकसाकल्यस्य करणत्वेनाभ्युपगमे पूर्वोक्तदोषाभावः' इति, अत्र वक्तव्यम्-किमिदं कारकसाकल्यम्? किं सकलान्येव कारकाणि, आहोस्वित् तद्धर्मः, उत तत्कार्यम्, किंवा पदार्थान्तरमिति पक्षाः। तत्र न तावत् सकलान्येव कारकाणि साकल्यम् कर्तृ-कर्माभावे तेषां करणत्वानुपपत्तेः तत्सद्भावे वा नान्येषां कर्तृकर्मरूपता सकलकारकव्यतिरेकेणा-न्येषामभावात् भावे वा न कारकसाकल्यम्। अथ तेषामेव[3] कर्तृ-कर्मरूपता, न; तेषां करणत्वाभ्युप-गमात् न च कर्तृ-कर्मरूपाणामपि तेषां करणत्वम् तेषां परस्परविरोधात्। तथाहि-ज्ञानचिकीर्षाधारता स्वातन्त्र्यं वा कर्तृता, निर्वर्त्यादि[4]धर्मयोगिता कर्मत्वम्, प्रधानक्रियानाधारत्वं करणत्वम् एतानि परस्पर-विरुद्धानि कथमेकत्र संभवन्ति? अथापरापरनिमित्तभेदादेकत्र कर्तृ-कर्म-करणरूपताया अविरोधः; ननु तान्यपि निमित्तानि किं सकलकारकेभ्यो व्यतिरिक्तानि, उताव्यतिरिक्तानीति वाच्यम्। यद्यव्यति-रिक्तानीति पक्षस्तदा तदभेदे तेषामप्यभेदः तेषां वा भेदे कारकस्यापि भेदः अन्यथाऽव्यतिरेकासिद्धेः। अथ व्यतिरिक्तानि तदा सम्बन्धासिद्धिः-न च समवायलक्षणः सम्बन्धः तस्य निषिद्धत्वात् निषेत्स्य-मानत्वाच्च, न च एकान्तभेदे विशेषणविशेष्यभावादिकोऽपि सम्बन्धः कश्चित् संभवति तत्रापि सम्बन्धान्तरकल्पनातोऽनवस्थाप्रसक्तेः, न च तस्य सम्बन्धरूपत्वात् सम्बन्धान्तरमन्तरेणापि[6] सम्बद्धत्वाच्चानवस्था एकान्तभेदे सम्बन्धरूपताया एवायोगात्। कथञ्चिन्निमित्तानां कारकेभ्योऽ-भेदे अनेकान्तवादापत्तिः। तन्न सकलकारणानि साकल्यम्। अथ कारणधर्मः साकल्यम्; ननु सोऽपि यदि कारकाव्यतिरिक्तस्तदा धर्ममात्रम् कारकमात्रं वा। अथ व्यतिरिक्तस्तदा 'सकलकारकधर्मः साकल्यम्' इति सम्बन्धासिद्धिः सम्बन्धेऽपि यदि सर्वकारणेषु युगपदसौ सम्बध्यते तदा बहुत्व-सङ्ख्या तेन पृथक्त्व-संयोग-विभाग-सामान्यानामन्यतमस्वरूपापत्तिस्तस्येति तद्दूषणेन तस्य दूषित-त्वात् न साधकतमत्वमुपपत्तिमत्।

अथ तत्कार्यं साकल्यम्, तदप्ययुक्तम्; नित्यानां साकल्यजननस्वभावत्वे सर्वदा तदुत्पत्तिप्रसक्तेः ततश्चैकप्रमाणोत्पत्तिसमये सकलतदुत्पाद्यप्रमाणोत्पत्तिप्रसक्तिः तज्जनकस्वभावस्य कारणेषु पूर्वोत्तर-कालभाविनस्तदैव भावात्। तथाहि-यदा यज्जनकमस्ति तत् तदोत्पत्तिमत् यथा तत्कालाभिमतं प्रमाणम् अस्ति च पूर्वोत्तरकालभाविनां सर्वप्रमाणानां तदा नित्याभिमतं जनकमात्मादिकं कारण-मिति कथं न तदैव सकलतदुत्पाद्यप्रमाणोत्पत्तिप्रसक्तिः? अथ आत्मादिके सत्यपि तदा तानि न भवन्ति न तर्हि तत् तत्कारणम् नापि तानि तत्कार्याणीति सकृदपि तानि ततो न भवेयुरिति सकलं जगत् प्रमाणविकलमापद्येत। न च आत्मादिके तत्करणसमर्थे सत्यपि स्वयमेव यथाकालं तानि भवन्ति इति वक्तव्यम् तेषां तत्कार्यताऽभावप्रसक्तेः तस्मिन् सत्यपि तदाऽभावात् स्वयमेवान्यदा च भावात्। न च स्वकालेऽपि कारणे सत्येव भवन्तीति तत्कार्यता गगनादिकार्यताप्रसक्तेः-गगनादावपि सत्येव तेषां भावात्। न च गगनादेरपि तत् प्रति कारणत्वस्येष्टेर्नायं दोषः, प्रमितिलक्षणस्य तत्फल-स्यापि व्योमादिजन्यतया आत्माऽनात्मविभागाभावप्रसक्तेः। अथ यत्र प्रमितिः समवेता स एव आत्मा न व्योमादिरिति न तद्विभागाभावः; ननु 'समवेता' इति कोऽर्थः? समवायेन संबद्धेति चेत्; ननु तस्य नित्यसर्वगतैकत्वेन व्योमादावपि प्रमितेः सम्बन्धात्र तत्परिहारेणात्मनो विभागः। न च समवायाविशेषेऽपि समवायिनोर्विशेषान्नायं दोषः, समवायस्याभावप्रसक्तेः। अथ यदा यत्र यथा

---

१ पृ० ४७२ पं० ८। २ अत्र बृहत्ताडपत्रादर्शे 'किमिदं कारकसाकल्यम्' इति प्रश्नं विषयीकुर्वाणानां पक्षाणां संख्या-स्पष्टीकरणाय तत्तत्पक्षदर्शकवाक्यस्योपरि १-२-३-४ इत्येवमङ्का अपि लिखिताः। अन्यत्रापि एतादृशे स्थले तत्रैवादर्शे क्वचित् क्वचित् अङ्काः प्रदर्शिताः सन्ति। ३-धर्मैककर्तृ-ल० विना। "तद्भावे वान्येषां कर्तृकर्मरूपता तेषामेव वा ता-(न ता-)वदन्येषां सकलकारकव्यतिरेकेणान्येषामभावात् भावे वा न कारकसाकल्यम् नापि तेषामेव कर्तृकर्मरूपता करणत्वाभ्युपगमात्"-प्रमेयक० पृ० ३ द्वि० पं० २। ४-र्तित्वात् क-वा० बा०। "निर्वर्त्यत्वादिधर्मयोगित्वं कर्म-त्वम्"-प्रमेयक० पृ० ३ द्वि० पं० ४। ५ पृ० १०६ पं० १३। ६ संबंधमंतरेणापि व०। ७ संबंधत्वा-ल० भा० वा। संबंधात्मा-आ० हा० वि०। ८-त्रं वा का-आ०। "धर्ममात्रं कारकमात्रं वा स्यात्"-प्रमेयक० पृ० ३ द्वि० पं० ६। ९ सम्बध्यते आ० हा० वि०। १० तत्र पृ-आ० हा० वि०।

यद् भवति तदा तत्र तथा तदात्मादिकं कर्तुं समर्थमिति नैकदा सकलतदुत्पाद्यप्रमाणोत्पत्तिप्रसक्तिः, न, स्वभावभूतसामर्थ्यभेदमन्तरेण कार्यस्य कालादिभेदायोगात् अन्यथा दृश्यपृथिव्यादिमहाभूतकार्यनानात्वस्य कारणं किमदृष्टं पृथिवीपरमाण्वादिचतुर्विधमभ्युपेयते? एकमेवानंशं नित्यं सर्वगं सर्वोत्पत्तिमतां समवायिकारणमभ्युपगम्यताम्। अथ कारणजातिभेदमन्तरेण न कार्यभेद उपपद्यते तर्हि कारणशक्तिभेदमन्तरेणापि न कार्यभेद उपपद्यते इत्यभ्युपगन्तव्यम्। अथ यथा शक्त्येकमनेकाः शक्तीर्बिभर्ति—तत्राप्यनेकशक्तिपरिकल्पनेऽनवस्थाप्रसक्तेः—तथैव तद् अनेकं कार्यं विधास्यतीति न शक्तिभेदपरिकल्पना, असदेतत्; यतो न जैनस्यायमभ्युपगमः यदुत भिन्नाः शक्तीः कयाचित् प्रत्यासत्तिलक्षणया शक्त्या एकः कश्चिद्धारयतीति किन्तु तत् तदात्मकम् तदपि तथाविधं न कस्याश्चित् शक्तेः अपि तु स्वकारणवशात्। न चैकस्यानेकात्मकत्वमदृष्टमेव परिकल्प्यते अनेकरूपाद्यात्मकस्यैकस्य पटादेः प्रमाणतः प्रतिपत्तेः अन्यथा गुणगुणिभाव एव न भवेत् समवायस्य तन्निमित्तस्याभावात्। ततो नित्यानि चेत् सकलकारणानि साकल्यजननस्वभावानि, सकलकालभाविसाकल्यस्य तदैवोत्पत्तिप्रसक्तिः। न चेत् तज्जननस्वभावानि नैकदापि तदुत्पत्तिः अतज्जननस्वभावात् सकृदपि तस्यानुत्पत्तेः। न च सहकारिसव्यपेक्षाणि तानि तज्जनयन्ति नित्यस्यानुपकार्यतया सहकार्यपेक्षाऽयोगात्। न च संभूयैकार्थकारित्वं तेषां सहकारित्वम् एकान्तनित्यवादे तस्यापि निषिद्धत्वात्। तन्न सकलकारणकार्यमपि साकल्यं संभवति। किञ्च, किमसकलानि कारणानि साकल्यं जनयन्ति उत सकलानि? न तावदसकलानि अतिप्रसङ्गात्। नापि सकलानि साकल्यमन्तरेण 'सकलानि' इति व्यपदेशाभावात् भावे वा अकिञ्चित्करं साकल्यमिति तत्परिकल्पना व्यर्था। किञ्च, यया प्रत्यासत्त्या तानि साकल्यं जनयन्ति तयैव प्रमितिमप्युत्पादयिष्यन्तीति व्यर्था साकल्यपरिकल्पना। अथ साकल्यस्य साधकतमत्वात् तदभावे नाकरणिका प्रमित्युत्पत्तिस्तर्हि साकल्योत्पत्तावपि तेषामपरं साकल्यलक्षणं करणमभ्युपगन्तव्यम् अन्यथा अकरणिका साकल्यस्यापि कथमुत्पत्तिः? अथ तदुत्पत्तावपि करणमभ्युपगम्यते तर्हि तदुत्पत्तावप्यपरं करणमभ्युपगन्तव्यमित्यनवस्था। अथ करणोत्पत्तौ नापरं करणमभ्युपगम्यत इति नानवस्था तर्हि उपलब्ध्युत्पत्तावपि न करणमभ्युपगन्तव्यमिति न साकल्यप्रमाणपरिकल्पना युक्तिसङ्गता। न च साकल्यस्य अध्यक्षादिप्रमाणसिद्धत्वाद् अध्यक्षबाधितोऽयं विकल्पकलापः, आत्माऽन्तःकरण-तत्संयोगादेः कारणसाकल्यस्यातीन्द्रियत्वेनाध्यक्षाविषयत्वात् तत्पूर्वकत्वेन पूर्ववदादेरनुमानस्याप्यभ्युपगमाच्च ततोऽपि साकल्यसिद्धिः केवलं विशिष्टार्थोपलब्धिलक्षणमध्यक्षसिद्धं कार्यं करणमन्तरेण नोपपद्यत इति तत्परिकल्पना, तच्च साकल्यमिति न कल्पयितुं शक्यम् आत्मादिकरणसद्भावे कार्यस्योपपत्तावपरपरिकल्पनेऽदृष्टपरिकल्पनाप्रसक्तितोऽपरापरादृष्टपरिकल्पनयाऽनवस्थाप्रसक्तेः। तन्न सकलकारणकार्यमपि साकल्यम्। अथ पदार्थान्तरं सकलकारणेभ्यः साकल्यम् तदा यत् किञ्चित् पदार्थान्तरं तत् साकल्यं प्रसज्यत इति यस्य कस्यचित् पदार्थान्तरस्य सद्भावे अर्थोपलब्धिर्भवेदिति सर्वदा सर्वस्य सर्वज्ञताप्रसक्तिः। तन्न कारकसाकल्यं प्रमाणम्। तेन 'प्रमातृ-प्रमेययोरभावे साकल्याभावः' इत्यादि प्रतिक्षिप्तम् तत्सद्भावेऽपि भवदभिप्रायेण साकल्यानुपपत्तेः।

यदपि 'मुख्यगौणभावस्य कारकसाकल्यभावाभावनिमित्तत्वात्' इत्यादि, तदपि व्योमकुसुमावतंसकभावाभावकृतदेवदत्तसौभाग्यासौभाग्यप्रख्यं द्रष्टव्यम्; एतेन 'सन्निपत्यजननं साधकतमत्वम्' यद् व्याख्यातम् तदपि निरस्तम् तस्यापि साकल्यार्थत्वात्। यदपि 'साकल्यं हि तेषामेव धर्ममात्रम् नैकान्तेन वस्त्वन्तरम्' इति, तदपि अनेकान्तवादिमतानुप्रवेशं भवतः सूचयति अन्यथा साकल्यस्य सकलेभ्योऽभेदे धर्मिमात्रमिति न साकल्यम् धर्ममात्रं वा भवेदिति न धर्मिणः। एकान्तभेदे तु वस्त्वन्तरमेव तत् इति 'न वस्त्वन्तरम्' इत्यभिधेयशून्यं वचः वस्त्वन्तरपक्षे तु दोषाः प्रतिपादिता एव। यदपि 'प्रमातृप्रमेयजन्यत्वेऽपि सामग्र्या न करणत्वव्याहतिः'[11] इति, तदपि न सङ्गतम्; सामग्र्या-

---

१ न च स्व–ल० आ० हा० वि०। २ "पार्थिव–आप्य–तैजस–वायवरूपम्"–भू० ल० टि०। ३–कार्यकारणम–वृ० विना। ४ अथ च क–आ० हा० वि०। ५ "अनुमानात्"–भू० टि०। "अनुमानत"–ल० टि०। ६ पृ० ४७२ पं० १२। ७ पृ० ४७२ पं० १५। ८ पृ० ४७२ पं० २०। ९ न च सा–आ० हा० वि। १० प्र० पृ० पं० ११। ११ पृ० ४७२ पं० २६।

स्तज्जन्यत्वेऽनवस्थाद्यनेकदोषोपपत्तेः प्रतिपादनात्। यदपि 'अव्यभिचारादिविशेषणविशिष्टार्थोपलब्धिजनिका सामग्री प्रमाणम्' इत्युक्तम् तदप्यसङ्गतम्, अव्यभिचारादेरुपलब्धिविशेषणस्य भवदभिप्रायेणायोगात् यथा च तस्याऽयोगस्तथा प्रत्यक्षलक्षणे प्रदर्शयिष्यामः। सामग्री च तज्जनिका यथा न संभवति तथाभिहितमेव साकल्यं विचारयद्भिः। यच्च 'अबोधस्वभावस्यापि प्रदीपादेः प्रमाणत्वं प्रतिपाद्यते, तदप्यसङ्गतमेव; अबोधस्वभावस्य तस्य प्रमितिक्रियायां साधकतमत्वायोगात्। यच्च लोकस्तेषां प्रामाण्यम् 'दीपेन मया दृष्टम्' 'चक्षुषाऽवगतम्' 'धूमेन प्रतिपन्नम्' इति व्यवहरति तदुपचारतः यथा 'ममायं पुरुषः चक्षुः' इति न तु मुख्यतः मुख्यतस्तु बोधस्यैव प्रमितिं प्रति तादात्म्यादव्यवहितं साधकतमत्वम् चक्षुरादेस्तु बोधव्यवधानाद् गौणम्। न च व्यपदेशमात्रात् पारमार्थिकवस्तुव्यवस्था उपचारतोऽपि 'नड्वलोदकं पादरोगः' इत्यादिव्यपदेशप्रवृत्तेः। न च प्रमाणस्य प्रमितिरूपता विरुद्धा स्वरूपे विरोधासिद्धेः। न च प्रमाण-प्रमित्योरेकान्ततो भेद एवाभ्युपगम्यते, कथञ्चिद् बोधादर्थपरिच्छित्तिविशेषस्य भेदात् प्राक्तनपर्यायनिरोधेन कथञ्चिदवस्थितस्यैव बोधस्यार्थपरिच्छित्तिविशेषरूपतयोत्पत्तेः अन्यथा कार्यकारणभावविरोधात् इत्यसकृत् प्रतिपादितत्वात्। एतेन

'लिखितं साक्षिणो भुक्तिः प्रमाणं त्रिविधं स्मृतम्।'

इति यत् शास्त्रान्तरेषु बोधाबोधरूपस्य प्रमाणत्वाभिधानम् तदप्युपचारेण व्याख्येयमित्युक्तं भवति अन्यथा प्रमाणविरोधः प्रदर्शितन्यायेन। यदपि 'तत्कार्यभूता वा उदितविशेषणोपलब्धिस्तस्य सामान्यलक्षणम्' इत्युक्तम् तदप्यसङ्गतम्; न हि यथोक्तविशेषणोपलब्धिः पराभ्युपगमेन संभवति। नापि पराभ्युपगतप्रमाणकार्यतयाऽसौ सिद्धा येन स्वकारणं प्रमाणाभासेभ्यो व्यवच्छिन्द्यात्। तन्नाक्षपाद-कणभुग्मतानुसारिपरिकल्पितमपि प्रमाणसामान्यलक्षणमुपपत्तिक्षमम्। तस्मात् प्रमाणं स्वार्थनिर्णीतिस्वभावं ज्ञानमित्येतदेव प्रमाणसामान्यलक्षणमनवद्यम्।

[नैयायिकादिसंमतं परसंविदितत्वपक्षमपास्य सिद्धान्तिना लक्षणैकदेशभूतस्य स्वनिर्णीतिस्वभावत्वस्य व्यवस्थापनम्]

ननु चात्रापि स्वग्रहणविधुरस्य ज्ञानस्य नैयायिकादिभिरभ्युपगमाद् बौद्धैस्त्वर्थग्रहणविधुरस्येति स्वार्थनिर्णीतिस्वभावताऽसिद्धा। तथाहि—नैयायिकाः प्रतिपादयन्ति—घटादिज्ञानं स्वग्राह्यं न भवति ज्ञानान्तरग्राह्यं वा, ज्ञेयत्वाद् घटादिवत्।

अत्र प्रयोगे हेतुः स्वरूपासिद्धः आश्रयासिद्धश्च धर्मिणो ज्ञानस्याप्रतिपत्तौ तदाश्रितज्ञेयत्वधर्माप्रतिपत्तेः। न चाश्रयासिद्धस्य परैर्गमकत्वमभ्युपगम्यते अन्यथा सामान्यादिनिषेधे 'सामान्यस्यासिद्धौ परं प्रत्याश्रयासिद्धो हेतुः' इति दोषोद्भावनमयुक्तियुक्तं भवेत्। अथ घटादिज्ञानस्य प्रमाणतः प्रसिद्धेर्नायं दोषः; ननु तत्प्रसिद्धिरध्यक्षतः, अनुमानतो वा प्रमाणान्तरस्यात्रानधिकारात्? न तावदध्यक्षतः तस्येन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वाभ्युपगमात् न च ज्ञानस्य चक्षुरादीन्द्रियेण सन्निकर्षः न च तद्व्यतिरिक्तमिन्द्रियान्तरमस्ति। अथ मनोलक्षणमन्तःकरणमस्ति तस्य च ज्ञानेन संयुक्तसमवायः सन्निकर्ष इति तत्प्रभवमध्यक्षं तत्र प्रवर्तत इति। तथाहि—आत्मना मनः संयुक्तम् आत्मनि च समवेतं ज्ञानमिति

---

१ पृ० ४७१ पं० १८। २-मग्री त-पू०। ३ पृ० ४७३ पं० ३। ४ न्यायस्यास्योपयोगो महाभाष्ये इत्थं विहितः—

"अन्तरेणापि निमित्तशब्दं निमित्तार्थो गम्यते। तद्यथा—"दधित्रपुसं प्रत्यक्षो ज्वरः" ज्वरनिमित्तमिति गम्यते। "नड्वलोदकं पादरोगः" पादरोगनिमित्तमिति गम्यते। "आयुर्घृतम्" आयुषो निमित्तमिति गम्यते"—१-१-५८ पृ० ४५८। लौकिकन्याया० भा० ३ पृ० ६६ तथा ६१।

५ पृ० ४५९ पं० ३। ६ पृ० ४७२ पं० २८। ७ ज्ञानस्य परसंविदितत्वनिराकरण-स्वसंविदितत्वस्थापनपरेयं चर्चा प्रमेयकमलमार्तण्डे भाष्यायमाणा बहुधा शब्दसाम्यं बिभ्रती च क्रमोत्क्रमाभ्यां वर्तते-पृ० ३३ द्वि० पं० ६-पृ० ३८। प्र० पं० ५। ८ प्रस्तुतप्रक्रियाप्रतिपादकं षड्दर्शनसमुच्चयबृहट्टीकाया "षडुक्तम्" निर्दिश्य समुद्धृतं प्राच्यं पद्यमित्थम्—

"आत्मा सहैति मनसा मन इन्द्रियेण स्वार्थेन चेन्द्रियमिति क्रम एष शीघ्रः।
योगोऽयमेव मनसः किमगम्यमस्ति यस्मिन् मनो व्रजति तत्र गतोऽयमात्मा"॥ पृ० ५८ पं० १।

मनोज्ञानेन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नतदेकार्थसमवेताध्यक्षग्राह्यत्वाद् घटादिज्ञानस्य कथमाश्रयासिद्धत्वादि-हेतोर्दोषः[1] ? युक्तमेतत् यदि इन्द्रियं मनः सिद्धं भवेत् । अथानुमानात् तत्सिद्धिः । तथाहि[2]-घटादिज्ञान-ज्ञानमिन्द्रियार्थसन्निकर्षजम्[3] प्रत्यक्षत्वे सति ज्ञानत्वात् चक्षुरादिप्रभवरूपादिज्ञानवत्, न; अस्य हेतो-रप्रसिद्धविशेषणत्वात् न हि घटादिज्ञानज्ञानस्याध्यक्षत्वं सिद्धम् इतरेतराश्रयत्वात् । तथाहि—[5]मनइ-न्द्रियसिद्धावस्याध्यक्षत्वासिद्धिः तत्सिद्धौ च सविशेषणहेतुसिद्धेर्मनइन्द्रियसिद्धिरिति व्यक्तमितरेतरा-श्रयत्वम् । न च घटादिज्ञानाद् भिन्नमपरं ज्ञानं तद्ग्राहकमनुभूयत इति विशेष्यासिद्धश्च हेतुः ।

सुखादिसंवेदनेन व्यभिचारी च । तथाहि-तत्संवेदनमध्यक्षत्वे सति ज्ञानं न च तज्जन्यमिति व्यभिचारः । अथास्यापि पक्षीकरणाददोषः । तथाहि-[4]सुखादिसंवेदनमिन्द्रियार्थसन्निकर्षजम् अध्यक्ष-ज्ञानत्वात् चक्षुरादिप्रभवरूपादिवेदनवत् सुखादिर्वा भिन्नज्ञानवेद्यः ज्ञेयत्वात् घटवत् । नन्वेवं व्यभिचारविषयस्य पक्षीकरणे न कश्चिद्धेतुर्व्यभिचारी स्यात् । तथाहि-अनित्यः शब्दः प्रमेयत्वात् घटवत् इत्यत्राप्यात्मादेर्व्यभिचारविषयस्य पक्षीकरणान्न व्यभिचारः शक्यं ह्यत्रापि वक्तुम् अनित्य आत्मादिः प्रमेयत्वात् घटवत् । न चात्र प्रत्यक्षबाधः अन्यत्रापि तस्य समानत्वात् न हि सुखाद्य-विदितस्वरूपं पूर्वं घटादिवदुत्पन्नं पुनरिन्द्रियसम्बन्धोपजातज्ञानान्तराद् वेद्यत इति लोकप्रतीतिः अपि तु प्रथममेव स्वप्रकाशरूपं तदुदयमासादयदुपलभ्यते । आत्मनि क्रियाविरोध इति चेत्, न; स्वरूपेण पदार्थस्य विरोधाभावात् अन्यथा प्रदीपादेरप्यपरप्रकाशविकलस्वरूपप्रकाशविरोधः स्यात् । तस्य तत्स्वरूपं कुतः सिद्धमिति चेत् प्रदीपादौ कुतः? तथादर्शनमितरत्रापि समानम् । न चैकस्य स्वभावोऽपरत्राप्यभ्युपगमार्हः अन्यथा स्वपराप्रकाशस्वभावो घटगतः प्रदीपेऽप्यभ्युपगमनीयो भवेत् । न च तदवगमात् पूर्वमप्रतीयमानमपि सुखाद्यभ्युपगन्तुं युक्तम् श्रवणसमयात् प्राक् पश्चाच्च शब्दस्य सत्ताभ्युपगमप्रसक्ततो नित्यत्वापत्तेः । न चात्मनो ज्ञानाच्च अर्थान्तरभूता एव सुखादयोऽनुग्रहादि-विधायिनो भवेयुः इतरथा योगिनोऽपि ते तथा स्युः । न च तेषां तत्राऽसमवायान्नायं दोषः समवायस्य निषिद्धत्वात् । तन्न सुखादिग्रहणे मनइन्द्रियसिद्धिः । अत एव च 'आत्मा मनसा युज्यते तत्र च समवेताः सुखादयः' इत्यादिप्रक्रियाऽनुपपन्नैव । न च निरंशयोरात्म-मनसोः संयोगः संभवी एकदेशेन तत्संयोगे सांशत्वप्रसक्तेः सर्वात्मना संयोगे उभयोरेकत्वप्राप्तेः । यदि च यत्र मनः संयुक्तं तत्र समवेतं ज्ञानं समुत्पादयति तदा सर्वात्मनां व्यापितया समानदेशत्वेन मनसस्तैः संयुक्त-त्वात् सर्वात्मसमवेतसुखादिषु तदेवैकं[6] ज्ञानमुत्पादयतीति प्रतिप्राणि भिन्नमनःपरिकल्पनमनर्थक-मासज्येत । न च यस्य सम्बन्धि यन्मनस्तत्समवेतसुखादिज्ञाने तदेव हेतुरिति नायं दोषः प्रति-नियतात्मसम्बन्धित्वस्यैव तत्रासिद्धेः न हि तत्कार्यत्वेन तत्सम्बन्धिता, तस्य नित्यत्वाभ्युपगमात् तत्र चानाधेयाप्रहेयातिशये तत्कार्यताऽयोगात् । नापि तत्संयोगात् तस्यापि तत्रैकदेशेन सर्वात्मना वाऽयोगात् योगेऽपि व्यापकत्वेन समानदेशिसर्वात्मभिर्युगपत्संयोगात् प्रतिनियतात्मसम्बन्धित्वा-नुपपत्तेः । न च यददृष्टप्रेरितं तत् प्रवर्तते तत्सम्बन्धीति वक्तव्यम् अदृष्टस्याचेतनत्वेन प्रतिनियत-विषय[7](ये) तत्प्रेरकत्वायोगात् प्रेरकत्वे वा ईश्वरपरिकल्पनावैयर्थ्यप्रसक्तेः । न चेश्वरप्रेरित एवासौ[8] तत्प्रेरक इति न तत्परिकल्पनावैयर्थ्यम् अदृष्टप्रेरणामन्तरेणेश्वरस्य साक्षान्मनःप्रेरकत्वोपपत्तेरदृष्ट-[9]परिकल्पनावैफल्यापत्तेः[10] । न चेश्वरस्य सर्वसाधारणत्वाददृष्टविकलस्य मनःप्रेरकत्वे न ततस्तस्य प्रति-नियतात्मसम्बन्धितेति अदृष्टपरिकल्पना, तस्याचेतनत्वेनेश्वरसहितस्यापि प्रतिनियतमनःप्रवृत्ति-हेतुत्वायोगात् अचेतनस्यापि चेतनसहितस्य प्रवर्तने मनसोऽचेतनस्यादृष्टविकलस्य चेतनसहितस्य

१-तोर्दोषोऽयु-बृ० । २ घटज्ञा-ल० विना । ३ "इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यम्"—बृ० ल० टि० । ४ सुखसं-बृ० । ५ पृ० ४७५ प० ३१ । ६ तदैवै-वा० बा० । ७-पर्येमेतत प्रे-हा० ।-पयमेतत् प्रे-मा० भा० वि० । "नापि यददृष्टप्रेरितं प्रवर्तते निवर्तते वा तत् तस्येति वाच्यम् अचेतनस्यादृष्टस्य अनिष्टदेशादिपरिहारेण इष्टदेशादौ तत्प्रेरणासम्भवात् अन्यथेश्वरकल्पनावैफल्यम्"—प्रमेयक० पृ० ३६ द्वि० प० ११ । ८-रितयेवासौ बृ० वा० बा० ।-रितायेवासौ भा० ।-रितायवासौ ल० हा० वि० ।-रित एवासौ ल० सं० । ९ "आत्मा"—ल० टि० । "न चेश्वरस्यादृष्टप्रेरणे व्यापारात् साक्षात्स्य मनस एवासौ प्रेरक कल्प्यता किं परम्परया"—प्रमेयक० पृ० ३७ प्र० पं० १ । १०-वैयर्थ्यापत्तेः ल० ।

प्रवृत्तिर्भविष्यतीत्यदृष्टपरिकल्पनावैयर्थ्यं पुनः प्रसज्यते। न च प्रतिनियमनिमित्तमदृष्टकल्पना, तस्यापि स्वतःप्रतिनियतत्वासिद्धेः। येनात्मना यद् अदृष्टं निर्वर्तितं तत् तस्येति प्रतिनियमसिद्धिरिति चेत्; ननु किमिदमात्मनोऽदृष्टनिर्वर्तकत्वम्? तदाधारभाव इति चेत्; ननु समवायस्यैकत्वे आत्मनां च व्यापकत्वेनैकदेशत्वे 'प्रतिनियत एवात्मा प्रतिनियतादृष्टाधारः' इत्येतदेव दुर्घटम्। समवायाविशेषेऽपि समवायिनोर्विशेषात् प्रतिनियमे समवायाभावप्रसक्तेरित्यात्मसुखादीनां तत्संवेदनस्य कथञ्चित्तादात्म्यमभ्युपेयम् अन्यथा तदेकार्थसमवेतज्ञानग्राह्यत्वेन सुखादयो न सिद्धिमासादयेयुः। तन्नादृष्टमपि मनसः प्रतिनियमहेतुः। न च 'येनात्मना यन्मनः प्रेर्यते तत् तत्सम्बन्धि' इति प्रतिनियमः अदृष्टवदात्मनोऽप्यचेतनत्वेन तत् प्रत्यप्रेरकत्वात् चेतनत्वेऽपि नानुपलब्धस्य प्रेरणमिति न नियतं मनः सिद्ध्यतीत्येकस्मात् ततो युगपत्सर्वसुखादिसंवेदनप्रसक्तिरित्युक्तन्यायेन सुखादिसंवेदनस्येन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यत्वाभावाद् हेतुरनेन व्यभिचारी।

किञ्च, स्वसंविदितविज्ञानानभ्युपगमे 'सदसद्वर्गः कस्यचिदेकज्ञानालम्बनः अनेकत्वात् पञ्चाङ्गुलिवत्' इत्यत्र पक्षीकृतैकदेशेन व्यभिचारः तज्ज्ञानाऽन्यसदसद्वर्गयोरनेकत्वाविशेषेऽप्येकज्ञानालम्बनत्वाभावात् एकशाखाप्रभवत्वानुमानवत्। अथ सर्वज्ञज्ञानं स्वसंविदितमिति नानेकत्वानुमानस्य व्यभिचारस्तर्हि तज्ज्ञानवदन्यज्ञानस्यापि न स्वात्मनि क्रियाविरोध इति 'सर्वं ज्ञानं स्वसंविदितम् ज्ञानत्वात् सर्वज्ञज्ञानवत्' इति तद्दृष्टान्तबलात् स्वसंविदितसकलज्ञानसिद्धिः घटादिज्ञानं ज्ञानान्तरग्राह्यम् ज्ञेयत्वात् घटवत् इत्यत्र च व्यभिचारः।

अथ "युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्" [न्यायद० १-१-१६] इति वचनाद् आत्मेन्द्रियविषयसन्निधानेऽपि यतो युगपज्ज्ञानानि नोपजायन्ते ततोऽवसीयते अस्ति तत्कारणं यतस्तथा तदनुत्पत्तिरिति तत्कारणं मनः सिद्धम्; ननु तदनुत्पत्तिर्मनःप्रतिबद्धा कुतः सिद्धा यतस्तस्यास्तदनुमीयेत? अथात्मनः सर्वगतस्य सर्वार्थैः सम्बन्धात् पञ्चभिश्चेन्द्रियैरात्मसम्बद्धैः स्वविषयसम्बन्धे एकदा किमिति युगपज्ज्ञानानि नोत्पद्यन्ते यद्यणु मनो नेन्द्रियैः सम्बन्धमनुभवेत् तत्सद्भावे तु यदैकेनेन्द्रियेणैकदा तत् सम्बध्यते न तदाऽपरेण तस्य सूक्ष्मत्वादिति सिद्धा युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनोनिमित्तेति; नन्वेवं तस्यात्मसंयोगसमये श्रोत्रसंज्ञकेन नभसापि संयोगात् संयुक्तसमवायाविशेषात् सुखादिवत् शब्दोपलब्धिरपि तदैव स्यात् निमित्तस्य समानत्वेऽपि युगपज्ज्ञानानुत्पत्तावपरं निमित्तान्तरमभ्युपगन्तव्यमिति नातो मनःसिद्धिः। न च कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नाकाशदेशस्य श्रोत्रत्वात् तेन च तदैव मनसः सम्बन्धाभावान्नायं दोषः निरंशस्य नभसः प्रदेशाभावात्। न च संयोगस्याव्याप्यवृत्तित्वं तस्य प्रदेशव्यपदेशनिमित्तम् उपचरितस्य व्यपदेशमात्रनिबन्धनस्यार्थक्रियायामुपयोगाभावात् न ह्युपचरिताग्नित्वो माणवकः पाकनिर्वर्तनसमर्थो दृष्टः। न च कर्णशष्कुल्यवच्छिन्ननभोभागस्य तथाविधस्यापि शब्दोपलब्धिहेतुत्वमुपलभ्यत एवेति वाच्यम् तदुपलब्धेरन्यनिमित्तत्वात्। किञ्च, चक्षुराद्यन्यतमेन्द्रियसम्बन्धाद् रूपादिज्ञानोत्पत्तिकाले मनसः सम्बद्धसम्बन्धात् मानसज्ञानं किं न भवेत्? न च 'तथाविधादृष्टाऽभावात्' इत्युत्तरम् अदृष्टनिमित्तयुगपज्ज्ञानानुत्पत्तिप्रसक्तितो मनसोऽनिमित्तताभावात् अश्वविकल्पसमये गोदर्शनानुभवाद् युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिश्चासिद्धा कथं मनोऽनुमापिका? न चाश्वविकल्प-गोदर्शनयोर्युगपदनुभवेऽपि क्रमोत्पत्तिकल्पना अध्यक्षविरोधात्। न चोत्पलपत्रशतव्यतिभेदवदाशुवृत्तेः क्रमेऽपि यौगपद्यानुभवाभिमानः अध्यक्षसिद्धस्य दृष्टान्तमात्रेणान्यथाकर्तुमशक्तेः अन्यथा शुक्लशङ्खादौ पीतविभ्रमदर्शनात् स्वर्णेऽपि तद्भ्रान्तिर्भवेत्। मूर्तस्य सूच्यग्रस्योत्तराधर्यव्यवस्थि-

---

१-दृष्टपरिक-बृ० ल०। २ "अदृष्टस्य"—बृ० ल० टि०। ३-यतद्दे-बृ० ल० वा० बा० मां० मा० विना। ४-यतमनः बृ० ल० वा० बा० मा० मां० विना। ५-जत्वा-बृ०। ६ "यथा सदसद्वर्गः कस्यचिदेकज्ञानालम्बनमनेकत्वात् पञ्चाङ्गुलवत्"। सद्—"द्रव्यगुणादि"। असद्-"प्रागभावादि"—प्रमेयक० पृ० १०५ प्र० पं० ८, टि० १९-२०। ७ "पक्वान्येतानि फलानि एकशाखाप्रभवत्वात् उपयुक्तफलवत्"—प्रमेयक० पृ० १०३ प्र० पं० ११। ८ सर्वज्ञा-वा० बा० आ० हा० वि०। ९-त्र व्य-बृ०। १० "युगपदनुत्पत्तेः"—बृ० ल० टि०। ११ "मन."—बृ० ल० टि०। १२-मीयते वा० बा०। १३ "मनः"—बृ० ल० टि०। १४-शस्य व्य-ल०।-शनिमि-बृ०। १५ संबद्धसं-वा० बा० आ० हा० वि०।

तमुत्पलपत्रशतं युगपद् व्याप्तुमशक्तेः। क्रमभेदेऽप्याशुवृत्तेस्तत्र यौगपद्याभिमान इति युक्तम् आत्मनस्तु क्षयोपशमसव्यपेक्षस्य युगपत् स्वपरप्रकाशनस्वभावस्य स्वयममूर्त्तस्याप्राप्तार्थग्राहिणो युगपत् स्वविषयग्रहणे न कश्चिद् विरोध इति किं न युगपद् ज्ञानोत्पत्तिः ? न च मनोऽपि सूच्यग्रवन्मूर्त्तमिन्द्रियाणि तूत्पलपत्रवत् परस्परपरिहारस्थितस्वरूपाणि न युगपद् व्याप्तुं समर्थमिति न युगपज्ज्ञानोत्पत्तिः तथाभूतस्य तस्यैवासिद्धेः। तथाहि—सिद्धे तद्विभ्रमे मनःसिद्धिः तत्सिद्धौ च युगपज्ज्ञानोत्पत्तिविभ्रमसिद्धिरितीतरेतराश्रयत्वान्न मनःसिद्धिः।

ननु "जुगवं दो णत्थि उवओगा" [आवश्यकनि० गा० ९७९] इति वचनाद् भैवतोऽपि युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिः सिद्धैव, नँ; मानसविकल्पद्वययौगपद्यनिषेधपरत्वादस्य नेन्द्रिय-मनोविज्ञानयोर्यौगपद्यनिषेधः। न च 'विवादास्पदीभूतानि ज्ञानानि क्रमभावीनि ज्ञानत्वात् मानसविकल्पद्वयवत्' इत्यतोऽनुमानात् तद्विभ्रमसिद्धिः अस्य प्रत्यक्षबाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तत्वेन कालात्ययापदिष्टत्वात्। न चैतदनुमानबाधितत्वात् युगपत्प्रतिपत्त्यनुभवः प्रत्यक्षमेव न भवति 'अश्रावणः शब्दः सत्त्वात् घटवत्' इत्यनुमानबाधितत्वात् श्रावणशब्दज्ञानस्याप्यप्रत्यक्षताप्रसक्तेः। न च सौगतमतमेतत् न जैनमतमिति वक्तव्यम् "सहभाविनो गुणाः क्रमभाविनः पर्यायाः" [ ] इति जैनैरभिधानात्। तथा च सहभावित्वं गुणानां प्रतिपादयता दृष्टान्तार्थमुक्तम्—

"सुखमाह्लादनाकारं विज्ञानं मेयबोधनम्।
शक्तिः क्रियानुमेया स्यात् यूनः कान्तासमागमे॥" [ ]

तदेवं मनसोऽसिद्धेर्न घटादिज्ञानं तेन सन्निकृष्टमिति कुतस्तत्राध्यक्षज्ञानोत्पत्तिः ? इति यतस्तत्तत् प्रतीयेत न चान्यत् तदुत्पत्तौ पराभ्युपगमेन निमित्तमस्ति सद्भावे वेन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नत्वादिना तद्ग्राहिणोऽध्यक्षता विरुध्येत। अथ ज्ञानान्तरस्यानध्यक्षत्वेऽपि घटज्ञानग्राहकता भविष्यतीति न धर्म्यसिद्धेराश्रयासिद्धो हेतुर्भविष्यति घटज्ञानस्य ततः सिद्धेः, असदेतत्, स्वयमसिद्धेन ज्ञानेन गृहीतस्याप्यगृहीतरूपत्वात् अन्यथा सर्वज्ञज्ञानगृहीतस्य रथ्यापुरुषज्ञानगृहीतत्वं भवेदिति तस्यापि सर्वज्ञताप्रसक्तिः। न च स्वज्ञानगृहीतं तद्गृहीतमिति नायं दोषः स्वसंविदितज्ञानाभावे 'स्वज्ञानम्' इत्यस्यैवासिद्धेः। स्वस्मिन् समवेतं स्वज्ञानमभिधीयते इति नायं दोष इति चेत्, न; तस्याभावात् भावेऽप्यविशिष्टत्वाच्च। न च स्वोत्पादितं 'स्वम्' इति वक्तव्यम् तदुत्पादस्य परदर्शने तदाधेयत्वेन

१-ति न ल०। २ एवं च 'तत्रापि जुगव दो णत्थि उवओगा' इति वचनव्याघात इति वाच्यम्; उक्तवचनस्य समानसविकल्पद्वययौगपद्यनिषेधपरत्वात् इन्द्रिय-मनोज्ञानयोरेकदाप्युपपत्तेः इति सम्मतिटीकाकार."—शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० १५५ प्र० पं० ६-८।

"नाणम्मि दंसणम्मि अ इत्तो एगयरयम्मि उवउत्ता। सव्वस्स केवलिस्सा जुगवं दो नत्थि उवओगा"॥—आवश्यकनि० नवकारनि० गा० ९१ पृ० १७५। आवश्यक० हारि० पृ० ४४६ गा० ९७९। विशेषावश्यकभाष्ये एषैव गाथा (३०९६ पृ० १२००) "एतदिहैव व्यक्तं पुरस्ताद् वक्ष्यति। ततोऽस्या गाथाया भद्रबाहुस्वामिभिर्व्यक्तेऽपि युगपदुपयोगे निषिद्धे तद्यौगपद्याभिमानोऽद्यापि न त्यज्यते इति भाव" इति व्याख्याता। नन्दिसूत्रटीकायां तु "एतदेव सूत्रेण दर्शयति" इत्यवतरणिका कृत्वोद्धृतैषा गाथा-पृ० ११८ प्र० पं० १२-द्वि० पं० १। अधिकारिभेदेन ज्ञान-दर्शनयोर्द्वयोरुपयोगयोर्यौगपद्याऽयौगपद्यप्रतिपादिका बृहद्द्रव्यसंग्रहेऽपि गाथा वर्तते। सा चेयम्—

"दंसणपुव्वं णाणं छदमत्थाणं ण दोण्णि उवउग्गा।
जुगवं जम्हा केवलिणाहे जुगवं तु ते दो वि"॥ ४४ ॥—पृ० १६१।

३ भगवतो-वृ० ल० वा० बा० विना। ४ न समान-भा० हा० वि०। ५ "सहभुवो गुणा."—सिद्धिवि० टी० लि० पृ० ९६ पं० १३। "गुण. सहभावी धर्म• × × × पर्यायस्तु क्रमभावी" × × ×—प्रमाणनयत० ५, ७-८। रत्नाकरा० ५, पृ० ८२। ६ अष्टस० पृ० ७८ पं० १४। "कथमन्यथा न्यायविनिश्चये "सहभुवो गुणा" इत्यस्य—

"सुखमाह्लादनाकारं विज्ञानं मेयबोधकम्। शक्ति. क्रियानुमेया स्याद् यून. कान्तासमागमे"॥

इति निदर्शनं स्यात्"-सिद्धिवि० टी० लि० पृ० ९६ पं० १३-१४।

प्रसिद्धत्वात् समवायाभावे च तस्याप्यसिद्धत्वान्नित्यस्य चेश्वरज्ञानस्येश्वरज्ञानत्वासिद्धेः[1]। न च स्वसंविदितज्ञानवादेऽपि स्वसंविदितत्वाविशेषाद् देवदत्तज्ञानं यज्ञदत्तज्ञानं प्रसज्येत यज्ञदत्तज्ञानस्य देवदत्तासंविदितत्वात् स्वज्ञानस्य कथञ्चित् स्वात्मना तादात्म्यात् तस्यैव तद्रूपतया परिणतेरिति प्रसाधितत्वात्। ज्ञानान्तरेण तस्य संवेदनात् नागृहीतत्वमिति चेत्, न; तस्यापि ज्ञानान्तरेण ग्रहणेऽनवस्थाप्रसक्तेः अग्रहणेऽगृहीतवेदनेन गृहीतस्य द्वितीयज्ञानस्यागृहीतरूपत्वान्न तेन 'प्रथमग्रहणमिति तदवस्था धर्म्यसिद्धिः[2] तेन घटादिज्ञानस्य धर्मिणः द्वितीयेन तस्यापि तृतीयेन ग्रहणादर्थसिद्धेर्नापरज्ञानकल्पनमिति नानवस्था' इति यदुक्तम् तदप्यसङ्गतम्; तृतीयादेर्ज्ञानस्याग्रहणे प्रथमस्याप्यसिद्धेरुक्तन्यायात् यदि पुनस्तृतीयज्ञानेन स्वयमसिद्धेनापि[3] द्वितीयं गृह्यते द्वितीयेन तथाभूतेनैव प्रथमम् तेनापि तथाभूतेनैवार्थो ग्रहीष्यत इति द्वितीयज्ञानपरिकल्पनमपि व्यर्थमासज्येत। न च 'विदितोऽर्थः' इति ज्ञानविशेषणस्यार्थस्य प्रतिपत्तेः "अगृहीतविशेषणा च विशेष्ये बुद्धिर्नोपजायते"[4] [ ] इति विशेषणग्राहिज्ञानं द्वितीयं परिकल्प्यते। न च विशेषणस्याप्यपरविशेषणविशिष्टता प्रतीयते येन तृतीयादिज्ञानपरिकल्पना युक्तिसङ्गता भवेदिति वक्तव्यम् विशेषणस्यैव तृतीयादिज्ञानपरिकल्पनामन्तरेण ग्रहणासंभवादित्युक्तेः स्वसंविदितज्ञानाभ्युपगम एव ज्ञानविशेषणविशिष्टार्थप्रतिपत्तिः संभविनी अन्यथा तदयोगादनवस्थाऽनिवृत्तेः। न च विषयान्तरसञ्चारादनवस्थानिवृत्तिः यतो धर्मिज्ञानविषयात् साधनादि विषयान्तरम् तत्र ज्ञानस्योत्पत्तिर्विषयान्तरसञ्चारः न चापरापरज्ञानग्राहिज्ञानसन्तत्युत्पत्ताववश्यंभाविबाह्यसाधनादिविषयसन्निधानम् येन तत्र ज्ञानस्य सञ्चारो भवेत् सन्निधानेऽपि "अन्तरङ्ग-बहिरङ्गयोरन्तरङ्गस्यैव बलीयस्त्वात्"[5] [ ] नान्तरङ्गविषयपरिहारेण बाह्यविषये ज्ञानोत्पत्तिर्भवेदिति कुतोऽनवस्थानिवृत्तिः? न चादृष्टवशादनवस्थानिवृत्तिः स्वसंविदितज्ञानाभ्युपगमेनाप्यनवस्थानिवृत्तेः संभवात् अन्यथा कार्येऽनुपपद्यमानेऽदृष्टपरिकल्पनाया उपपत्तेः स्वसंवेदनेऽपि चादृष्टस्य शक्तिप्रक्षयाभावात्[6]। एतेन 'ईश्वरादेरनवस्थानिवृत्तिः' इति प्रतिविहितम् तस्यादृष्टकल्पनत्वात् प्रतिषिद्धत्वाच्च[7]। न च शक्तिप्रक्षयाच्चतुर्थज्ञानादेरनुत्पत्तेरनवस्थानिवृत्तिः धर्मिग्रहणस्यैवमभावापत्तेः। किञ्च, शक्तिर्यद्यात्मनोऽव्यतिरिक्ता तदा तत्क्षये आत्मनोऽपि क्षयापत्तिः व्यतिरिक्ता चेत् तत एव ज्ञानोत्पत्तेरनर्थक आत्मा भवेत्। न च 'सा तस्य' इति नात्मानर्थक्यम् समवायाभावे 'तस्य सा' इत्यसिद्धेः। किञ्च, यदि शक्तिप्रक्षयादनवस्थानिवृत्तिः बाह्यविषयमपि ज्ञानं न भवेत् शक्तिप्रक्षयादेव। न च चतुर्थादिज्ञानजननशक्तेरेव प्रक्षयो न बाह्यविषयज्ञानशक्तेः युगपदनेकशक्त्यभावात् भावे वा युगपदनेकज्ञानोत्पत्तिप्रसक्तिः सहकार्यपेक्षापि नित्यस्यासंभविनीति प्रतिपादितम्[8]। क्रमेण शक्तिभावे कुतः स इति वक्तव्यम्? आत्मन इति चेत्, न; अपरशक्तिविकलात् ततः तदभावात् अपरशक्तिपरिकल्पने तद्भावेऽप्यपरशक्तिपरिकल्पनमित्यनवस्था। तदेवं स्वसंविदितविज्ञानानभ्युपगमे[9] कथञ्चिद् घटादिज्ञानस्यासिद्धेराश्रयासिद्धः 'ज्ञेयत्वात्' इति हेतुः स्वरूपासिद्धश्चेति व्यवस्थितमेतत् स्वनिर्णीतिस्वभावं ज्ञानमिति[10]।

१-सिद्धिः। बा० था०। "स्वोत्पादकायोगेन"—भ० टि०। "स्वोत्पादकायोगात्"—ल० टि०। २ धर्मासि-था० था०। धर्मसि-आ०। ३-मपि सि-ल०। ४ "न हि अप्रतीते विशेषणे विशिष्टं केचन प्रत्येतुमर्हन्तीति"—मीमां० १-२-३३ पृ०५६ पं० २१। सिद्धिवि० टी० लि० पृ० ११३ पं० ८। "नाऽगृहीते विशेषणे विशिष्टबुद्धिरुदेति"—लौकिकन्याया० भा० ३ पृ० ७७। अस्य न्यायस्य क्व कोपयोगः, तस्य च पाठभेदभिन्नानि कानिचिद् रूपान्तराणि इत्यादि सर्वं लौकिकन्यायाञ्जलौ तत्रैव विशेषेण निरूपितम्। ५ "अन्तरङ्ग-बहिरङ्गयोरन्तरङ्गं बलवत् इति न्यायात्"—ब्रह्मसू० शाङ्करभा० आनन्दगि० टी० २-१-४ पृ० ४३२ पं० १५। हैम० बृ० वृ० ७-४-१२२। लौकिकन्याया० भा० ३ पृ० १०। ६-यादेते-ल०। ७ पृ० १०२ पं० ६। ८ पृ० ४७४ पं० १३। ९-नानाभ्यु-भ० ।-नाभ्यु-ल० बा० था० आ० हा० वि०। १० पृ० ४७५ पं० २४।

[विज्ञान-शून्यतावादीयमर्थस्यासत्त्वपक्षं निरस्य तस्य च पारमार्थिकत्वं प्रतिष्ठाप्य लक्षणोऽर्थनिर्णीतिस्वभावत्वस्योपपादनम्]

अत्राह सौगतः—भवतु स्वसंविदितं ज्ञानम् अर्थग्रहणस्वभावं तु तन्न युक्तम्, अर्थस्यैवाभावात्। तथाहि—यद् अवभासते तद् ज्ञानम् यथा सुखादिः अवभासते च नीलादिकमिति स्वभावहेतुः।

ननु अत्र किं स्वतोऽवभासो हेतुः, उत परतः, आहोस्विदवभासमात्रमिति विकल्पाः। तत्र यद्याद्यः पक्षः स न युक्तः, परं प्रति तस्यासिद्धत्वात् 'नीलमहं वेद्मि' इत्यहमहमिकया नीलाद् विभिन्नस्वरूपतया प्रतीयमानेन ज्ञानेन नीलादेर्ग्रहणाभ्युपगमान्न परानपेक्षनीलाद्यवभासः परस्य सिद्धः! यदि तु परनिरपेक्षो नीलाद्यवभासः परस्य सिद्धो भवेत् किमतो हेतोरपरं साध्यमिति वक्तव्यम्? ज्ञानरूपतेति चेत्; ननु सा यदि प्रकाशता तदा हेतुसिद्धौ सिद्धैव न साध्या। अथ सा न सिद्धा कथं हेतोर्नासिद्धिः? अथ भ्रान्तेः पुरुषधर्मत्वात् स्वतोऽवभासनं नीलादिष्वभ्युपगच्छन्नपि ज्ञानरूपतां नेच्छेदिति साध्यते तर्हि भ्रान्तेरेव भावधर्ममिच्छन्नपि कश्चिद् भावं नेच्छेदिति "नासिद्धे भावधर्मोऽस्ति" [ ] इत्यत्र कथमुक्तम्—"को हि भावधर्मं हेतुमिच्छन् भावं नेच्छेत्" [ ] इति। अथापि स्यात् यदि भिन्नेन ज्ञानेन नीलादेर्ग्रहणमुपपत्तिमद् भवेत् तदा हेतुरसिद्धः स्यात् न चैवम्। तथाहि—न भिन्नकालस्यार्थस्य तेन ग्रहणं संभवति नापि समानकालस्य, तथा न निर्व्यापारेण, नापि भिन्नाभिन्नव्यापारवता, तथा, न परोक्षेण, नापि स्वसंविद्रूपं बिभ्रता, नापि ज्ञानान्तरवेद्येनेति प्रतिपादितं सौगतैरिति न स्वतोऽवभासलक्षणो हेतुरसिद्धः असदेतत्; एवमभ्युपगच्छतः सौगतस्यानुमानोच्छेदप्रसक्तेः। तथाहि—'यद् अवभासते तद् ज्ञानम् सुखादिवत् तथा च नीलादिकम्' इत्यनुमानमेतत् तच्च त्रिरूपलिङ्गप्रभवम् "त्रिरूपाल्लिङ्गादर्थदृग्" [ ] इति वचनात् लिङ्गं चानुमानाद् भिन्नं भिन्नसमयं च यदि तस्य जनकं तर्हि समस्तानुमानजनकं तदेव स्यादिति अनुमानभेदकल्पनावैयर्थ्यम्। अथ भिन्नकालमपि लिङ्गं किञ्चिदेव कस्यचित् कारणमिति नायं दोषस्तर्हि ज्ञानमपि तथाविधं किञ्चिदेव कस्यचिद् ग्राहकम् अर्थो वा तथाविधः कश्चिदेव कस्यचिद् ग्राह्य इति नातिप्रसक्तिः। अथ भिन्नकालेऽतीतानुत्पन्नेऽर्थे ग्रहणप्रवृत्तं ज्ञानं निर्विषयं भवेत् तर्हि लिङ्गाद् विनष्टानुत्पन्नादुपजायमानमनुमानं निर्हेतुकं किं न भवेत्? अथ स्वकाले विद्यमानं स्वरूपेण तज्जनकमिति नायं दोषस्तर्हि ग्राह्यमपि स्वकालेऽपि विद्यमानमिति तथा तस्य तद्ग्राहकं न निर्विषयं भवेत्। अथ न भिन्नकालं लिङ्गमनुमानस्य कारणं किन्तु समकालम्, न, समकालस्य जनकत्वविरोधात् अविरोधे वा अनुमानमपि लिङ्गस्य जनकं भवेत् तथा चान्योन्याश्रयदोष इति नैकस्यापि

१-दितश्चा-वृ० विना। २ "तथा च यदुक्तं प्रज्ञाकरेण यदवभासते तज्ज्ञानम् यथा सुखादि अवभासते च नीलादिकम् जडस्य प्रतिभासायोगात्"—सिद्धिवि० टी० लि० पृ० १३६ पं० १२-१३। अयं चर्चाविधिस्तावदर्थशः, शब्दशश्च प्रमेयकमलमार्तण्डे वर्तते-पृ० २२ प्र० पं० ४।

३ "नासिद्धेर्भाव- × × ×। धर्मो विरुद्धो भावश्च सा × × ×?"॥—

—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ४१२ पं० १७।

"असिद्धो भावधर्मश्चेद् व्यभि-× × ×। विरुद्धो धर्मोऽभावस्य स सत्ता साधयेत् कथम्" ॥

—अष्टस० पृ० ५८ पं० १८।

"नासिद्धे भावधर्मोऽस्ति व्यभिचार्युभयाश्रय.। धर्मो विरुद्धो भावस्य सा सत्ता साध्यते कथम्"! ॥—न्यायमञ्ज० आ० २ पृ० १२८ पं० ७। प्रमाणमी० १-२-१७ पृ० ६८ पं० २०। जैनतर्कपरि० पृ० ११२ द्वि० पं० ४ यशो०।

४ एतादृशी वाचोयुक्तिः अष्टसहस्र्याम् प्रमेयकमलमार्तण्डे च यथाक्रममित्थं दृश्यते—"को हि नाम सर्वज्ञभावधर्मं हेतुमिच्छन् सर्वज्ञमेव नेच्छेत्"—पृ० ५८ पं० १६। "को हि नाम स्वप्रतिभास तत्रेच्छन् ज्ञानता नेच्छेत्"—पृ० २२ प्र० पं० ७। ५ प्रे० पृ० प० ४। ६ 'त्रिरूपलिङ्गप्रभवं त्रिरूपाल्लिङ्गादर्थदृग्' इत्येवमङ्कितः पाठः पृ०। ७ 'लिङ्गं चानुमानाद् भिन्नं भिन्नसमयं च। यदि तस्य जनकं तर्हि' इत्येवमङ्कितः पाठः पृ०। ८ "ज्ञानम्-पृ० द्वि०।

सद्भावः। अथानुमानमेव जन्यम् तत्रैव जन्यताप्रतीतेः न लिङ्गम् तद्विपर्ययात्, न; अनुमानव्यतिरेकेण ग्राह्यतावज्जन्यताया अप्रतीतेः। न च तत्स्वरूपमेव जन्यता लिङ्गेऽपि स्वरूपसद्भावेन जन्यताप्रसक्तेः तथा च परस्परजन्यतायां पुनरपि स एवेतरेतराश्रयलक्षणो दोषः। अथ स्वरूपाविशेषेऽपि लिङ्गानुमानयोरनुमान एव जन्यता लिङ्गापेक्षा न पुनर्लिङ्गे तदपेक्षा सेति तर्हि नील-तत्संवेदनयोस्तदविशेषेऽपि तत एव नीलस्यैव तत्संवेदनापेक्षा ग्राह्यता न तु तत्संवेदनस्य नीलापेक्षा सेति समानमुत्पश्यामः। न च लिङ्गमनुमानोत्पत्तिकरणादुत्पादकम् यतो यद्युत्पत्तिरनुमानादनर्थान्तरभूता क्रियते तदानुमानमेव लिङ्गेन कृतं भवेत् तथा च तल्लिङ्गमेव प्रसक्तम् लिङ्गजन्यत्वादुत्तरलिङ्गक्षणवत्। न चानुमानोपादानजन्यत्वात् तदनुमानमेव, यतस्तदप्यनुमानोपादानकारणं कुतो जायते? इति पर्यनुयोगे 'अपरलिङ्गात्' इत्युत्तरमभिधानीयम् तत्र च तस्य लिङ्गजन्यत्वाल्लिङ्गतापत्तिरिति पर्यनुयोगे पुनरपि अनुमानोपादानत्वादनुमानत्वमित्युत्तरपर्यनुयोगानवस्थाप्रसक्तिः स्यात्। अथ तथाप्रतीतेर्लिङ्गजन्यत्वाविशेषेऽपि किञ्चिल्लिङ्गम् अपरमनुमानं तर्हि ज्ञानजन्यत्वाविशेषेऽपि किञ्चिज्ज्ञानम् अपरोऽर्थ इति किं न स्यात्? ततश्च 'नीलादि ज्ञानं ज्ञानकार्यत्वात् उत्तरज्ञानवत्' इत्ययुक्ततया व्यवस्थितम्। यदपि 'यया प्रत्यासत्त्या स्वरूपं विषयीकरोति ज्ञानं तयैव चेद् अर्थम् तयोरैक्यप्रसक्तिः न ह्येकस्वभाववेद्यमनेकं युक्तम् अन्यथैकमेव न किञ्चिद् भवेत् अथान्यथा, स्वभावद्वयापत्तिर्ज्ञानस्य भवेत् तदपि च स्वभावद्वयं यद्यपरेण स्वभावद्वयेनाधिगच्छति तदाऽपरापरस्वभावद्वयापेक्षणादनवस्था अन्यथा स्वार्थयोरपि तदपेक्षा न स्यात् स्वसंवेदनलक्षणत्वाच्च ज्ञानस्य नासंविदितं रूपं युक्तम्' इत्युक्तम्, तदपि निरस्तम्; लिङ्गस्य समानक्षणानुमानकरणेप्यस्य समानत्वात्। तथाहि-लिङ्गं यया प्रत्यासत्त्या स्वोपादेयक्षणान्तरं जनयति तयैव चेदनुमानम् तयोरैक्यमिति लिङ्गानुमानयोरन्यतरदेव भवेत्। न च लिङ्गाभावेऽनुमानम् तदभावे वा लिङ्गमित्यन्यतरस्याप्यभावः। न च लिङ्गं सजातीयक्षणं नोपजनयति अनुमानसमये नीलाद्यवभासाभावप्रसक्तेः। अथान्यया स्वोपादेयक्षणम् अपरया चानुमानं तर्हि लिङ्गस्यैकस्य रूपद्वयमायातम् तत्र चावभासनं लिङ्गम् तच्च ज्ञानमेव। न च ज्ञानस्याविदितं रूपं संभवति विरोधात् तद्वेदनं चापरेण तद्द्वयेनेति सैवात्राप्यनवस्था। अपि च, येन स्वभावेनैकां शक्तिमात्मनि बिभर्ति लिङ्गं तेनैव चेदपराम् तयोरैक्यम् अन्येन चेत् स्वभावद्वयम् तत्रापि चापरं स्वभावद्वयं प्राक्तनन्यायेनेत्यपराऽनवस्था। अथ तत्करणैकस्वभावत्वाल्लिङ्गं भिन्नस्वभावं कार्यद्वयं निर्वर्तयेत् तर्हि ज्ञानमपि परस्परविविक्तरूपयोः स्वार्थयोरेकं सद् ग्राहकमस्तु तद्ग्रहणैकस्वभावत्वात्, ततो यदि लिङ्गेनानुमानस्योत्पत्तिरनर्थान्तरभूता क्रियते तर्हि ज्ञानेनार्थस्यानर्थान्तरभूता गृहीतिः क्रियत इति समानो न्यायः। अथार्थान्तरभूतोत्पत्तिर्लिङ्गेनानुमानस्य क्रियते तर्हि नानुमानसद्भावः सद्भावेऽपि 'लिङ्गम्' 'उत्पत्तिः' 'अनुमानम्' इति परस्परासंसक्तत्रितयस्य प्रतिभासात् "भ्रान्तिरपि सम्बन्धतः प्रमा" [ ] इति न युक्तमभिधानम्। अथ तयाप्युत्पत्त्या अपरार्थान्तरभूतोत्पत्तिर्विधीयते तर्हि तयापि तथाविधापरोत्पत्तिर्विधीयत इत्यनवस्थानान्नानुमानसद्भावः। किञ्च, लिङ्गेनोत्पत्तिः स्वसमया भिन्नसमया वा विधीयेत? भिन्नसमया चेद् अर्थग्रहणवत्प्रसक्तिः। समानसमया चेत् सव्येतरगोविषाणवदन्योन्यमुपकार्योपकारकभावाभावान्न जन्यजनकभावः तद्भावे वा तदुत्पत्तिजन्यता लिङ्गस्य प्रसज्येत ततश्च लिङ्गमुत्पत्तिर्भवेत् तत्कार्यत्वात् उत्तरोत्पत्तिवत्। न च लिङ्गेनोत्पत्तिर्विधीयते न तया लिङ्गं तस्यामेव कार्यताप्रतीतेरिति वक्तव्यम् तद्व्यतिरेकेण कार्यताऽप्रतीतेः प्रतीतौ वा 'लिङ्गम्' 'कार्यता' 'उत्पत्तिः' इति त्रितयं परस्परासम्बद्धं भवेत्। न च तत्स्वरूपमेव कार्यता लिङ्गस्यापि ततस्तद्भावापत्तेः। अथ तदविशेषेऽपि प्रतिनियतः कार्यकारणभाव उत्पत्ति-लिङ्गयोस्तर्हि ज्ञानार्थयोः स्वरूपाविशेषेऽपि नियतो ग्राह्यग्राहकभावः किं न स्यात्? एवमन्यदपि ग्राह्यग्राहकभावपक्षोदितदूषणं लिङ्गानुमानयोर्जन्यजनकभावाभ्युपगमे

---

१ "अनुमान"-वृ० ल० टि०। २-नकार-वृ०। ३ "न चेति योग."—ल० टि०। ४-ण तद्द्ये-वृ० ल०।-ण द्वये-वां० बा०। ५ "भ्रान्तिरपि सम्बन्धत प्रमेति चेत्"—सिद्धिवि० टी० लि० पृ० ६८ पं० ८। "अतस्मिंस्तद्ग्रहो भ्रान्तिरपि सम्बन्धतः प्रमा"—षड्द० स० बृ० पृ० पृ० ४१ पं० १६। ६-या चे तदर्थं-ल०। ७-दितं दू-वृ०।

समानतया योज्यम् । अथ सकलानुमानोच्छेदकत्वान्नायं विचारोऽत्र युक्तस्तर्हि ज्ञानार्थयोरपि न विधेयः तत्राप्यस्य विचारस्य सकलव्यवहारोच्छेदकत्वात् । न च परमार्थतो लिङ्गमनुमानकारणं नेष्यत एव व्यवहारिजनमतानुरोधेन तस्याङ्गीकरणादिति वक्तव्यम् तेनैव 'अहम्'इति भिन्नावभासिना ज्ञानेन नीलादेर्भिन्नस्य ग्रहणसिद्धेः स्वतोऽवभासनलक्षणस्य हेतोरसिद्धत्वप्रसक्तेः । न च क्वचिद् व्यवहाराश्रयणं क्वचिन्नेति युक्तम् न्यायस्य समानत्वात् । अथ लिङ्गमनुमानकारणं नेष्यत एव ग्राह्यग्राहकभाववत् कार्यकारणभावस्यापि निषेधात् । कथमनुमानम्? स्वसाध्याविनाभावितद्ग्रहणात् तदपि तद्योग्यतया; नन्वनुमानं स्वविषयतया विषयीकरोति न ज्ञानान्तरमिति कुतोऽयं विभागः? न चानुमानं न किञ्चिद् विषयीकरोति तस्याप्रमाणत्वप्रसक्तेः ।

न च समारोपव्यवच्छेदकरणात् तत् प्रमाणम् समानासमानसमयसमारोपव्यवच्छेदविधानेऽर्थग्रहणवद्दोषप्रसक्तेः । तथाहि-भिन्नसमयसमारोपव्यवच्छेदविधाने एकस्मादेवानुमानात् सकलसमारोपविच्छेदोदयात् सकलं जगद् असमारोपमिति समारोपान्तरसमुच्छेदार्थमनुमानान्तरान्वेषणमनर्थकमासज्येत । अथ भिन्नसमयोऽप्यसौ कश्चिदेव केनचित् तेन समुच्छिद्यते; ननु भिन्नकालोऽर्थोऽपि कश्चिदेव केनचित् संवेदनेन विषयीक्रियते न सर्वः सर्वेणेति समानम् । यथा च स्वरूपं समारोपस्य व्यवच्छिद्यते तथा अर्थस्य तदेव विषयीक्रियत इत्यपि समानम् । न च समारोपव्यवच्छेदोऽनुमानेन सौगतमते विधातुं शक्यः तद्व्यवच्छेदस्य विनाशरूपत्वात् तस्य च निर्हेतुकत्वाभ्युपगमात् । न च प्रवृत्तसमारोपस्य स्वत एव निवृत्तेर्भाविनस्तु तेन व्यवच्छेदः क्रियत इति वक्तव्यम् यतस्तस्यापि सतो व्यवच्छेदो भूतवन्न तेन विधातुं शक्यः असतोऽपि खरविषाणवन्नासौ शक्यक्रियः । अथ भाविनोऽपि समारोपस्य न तेन व्यवच्छेदो विधीयते अपि तु तदुत्पत्तिप्रतिबन्धः; ननु समर्थे कारणे तदुत्पत्तेरवश्यंभावित्वान्न ततस्तत्प्रतिबन्धः अनुत्पत्तौ वा न तत् तत्कारणम् नाप्यसौ तज्जन्यो भवेत् । अथ तेन तत्कारणस्य सामर्थ्यविघातः क्रियते, सोऽप्ययुक्तः, सतः सामर्थ्यस्योपहन्तुमशक्यत्वात् अस्य चार्थस्य–

"तस्य शक्तिरशक्तिर्वा या स्वभावेन संस्थिता ।
नित्यत्वादचिकित्सस्य कस्तां क्षपयितुं क्षमः" ॥ [ ]

इति भवतैव प्रतिपादनात् । असमर्थे तु कारणे कारणाभावादेव नोत्पत्स्यत इति कस्तत्रानुमानोपयोगः न चानुमानसहायः प्राक्तनः समारोपक्षण उत्तरं समारोपक्षणान्तरजननासमर्थं जनयतीति द्वितीये क्षणे कारणाभावादेव समारोपानुत्पत्तिः लिङ्गानुमानयोरिव पूर्वोत्तरसमारोपक्षणयोर्हेतुफलभावाभावात् । अथ समारोपव्यवच्छेदकृदप्यनुमानं नेष्यते तर्हि प्रकृतानुमानस्य फलान्तराभावादभिधानमसाधनाङ्गवचनत्वान्निग्रहस्थानमापद्यते । अथ प्रकृतानुमानं नोपन्यस्यते कुतस्तर्हि नीलादीनां ज्ञानरूपतासिद्धिः? प्रत्यक्षत एवेति चेत्, तत एव जडतासिद्धिरप्यस्तु । अथ ज्ञानरूपतापि नीलादेर्नापरा समस्त्यपि तु तत्स्वरूपमेव, न, अन्यत्राप्यस्य समानत्वात् । अथ नीलादेर्जडत्वे प्रतिभासो न भवेत् जडस्य प्रकाशायोगात्, न, स्वतस्तस्याभावे सिद्धसाध्यतापत्तेः परतोऽपि तदभावोऽसिद्धो 'नीलमहं वेद्मि' इति प्रतीतेः जडस्य च प्रकाशायोगे कस्यासाविति वाच्यम् ज्ञानस्येति चेत्, न; तत्रापि 'स्वतः परतो वा' इति विकल्पद्वयानतिवृत्तेः । न च जडस्य स्वतःप्रकाशे ज्ञानता जडताविरोधिनी प्रसज्यते ज्ञानस्य तु स्वतःप्रकाशे विरोधाभावान्न प्रथमविकल्पे दोषापत्तिः निरंशैकपरमाणुपरिमाणस्य तस्य स्वतःप्रकाशे स्थूलैकप्रतिभासविरोधात् न हि प्रत्यक्षप्रतीतस्य स्थूलैकप्रतिभासस्य विरोधो न दोषाय तत्प्रतिभासपरिहारेण निरंशैकपरमाणुप्रतिभासस्याप्रतीयमानस्याभ्युपगमे एकस्य ब्रह्मणः स्वतः प्रतिभासः किं नाभ्युपगम्यते अप्रतिभासमानकल्पनायास्तत्रापि निरङ्कुशत्वात्? चित्रैकस्वभावस्य तस्याभ्युपगमे क्षणिकत्वविरोधः क्रम-

---

१ "अविनाभाव"–वृ० टि० । "अविनाभावग्रहणात्"–ल० टि० । २ "तद्ग्रहणम्"–वृ० ल० टि० । ३ "वर्तुतापन्नम्"–वृ० ल० टि० । ४ समान्यस–भा० मा० । समानं स–वृ० । ५–धानेऽर्थग्र–ल० । –धानेर्थाग्र–आ० हा० वि० । ६ "नित्यत्वादचिकित्सस्य"–तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २५७ पं० ५ । सिद्धिवि० टीका० लि० पृ० २६ पं० १२–१३ । शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० १७८ द्वि० पं० ३ ।

परिणामिनस्तथैवात्मनः स्वतःप्रतिभासाविरोधात् सर्वविकल्पातीतस्य तस्याभ्युपगमे नील-सुखादिव्यतिरिक्तस्य तस्य ब्रह्मस्वरूपवत् तदप्रतिभासनमेव विरोधः नील-सुखाद्यात्मकत्वेऽपि नील-सुखप्रतिभासेन पीत-दुःखप्रतिभासाविपयीकरणात् पीत-दुःखप्रतिभासेन नील-सुखप्रतिभासयोश्चासंवेदनात् परलोकवदसत्त्वेन सकलशून्यताप्रसक्तिः। किञ्च, नीलादिप्रतिभासानामेकेनाणुप्रतिभासेन तदन्येपां तैश्च तस्याविपयीकरणादभावप्रसक्तिः स्वतोऽपि केवलपरमाणुप्रतिभासस्यासंवेदनात् । अथ नील-सुखादीनां नाभावः स्वयमुपलम्भात्, न; सन्तानान्तरानिपेधप्रसक्तेः तदभ्युपगमे कथं स्व-परग्रहणव्यापारनिपेधोऽनुमानाभावात् । न च विचारात् तद्व्यापारनिपेधः अनेन तदविपयीकरणे न तन्निपेधः विपयीकरणे ग्राह्यग्राहकभावसिद्धेर्न तन्निपेधः इति न सकलविकल्पातीतत्वसंभवः । न च तत्त्वस्यान्यत्र न भावः नाप्यभावः सर्वत्र तथाभावापत्तेः सन्तानान्तरवत् ततः स्थूलैकत्वादिविकल्परहितस्य कदाचिदप्यप्रतिभासनाद् जडवदजडस्यापि न स्वतोऽवभासनं पराभ्युपगमेन संभवति । परतस्तस्यावभासने जडस्यापि ततोऽवभाससिद्धेर्विज्ञानमात्रताऽसिद्धिः । न च परेण समानकालेनाप्रतिबन्धात् परस्परग्रहणप्रसक्तेश्च नार्थग्रहणम् भिन्नकालेनाप्यतिप्रसङ्गात् न तेन तद्ग्रहणम् अन्यत्रापि समानत्वात् । अत[6] एव "स्वरूपस्य स्वतो गतिः" [ ] इत्ययुक्तम् तत्रापि समानकालस्य गतावर्थवत्प्रसङ्गात् । न च स्वरूपस्य ज्ञानतादात्म्यान्नायं दोपः तादात्म्येऽपि समानेतरकालविकल्पद्वयानतिवृत्तेः । अथ स्वरूपं ज्ञानमेवेति न भेदभाविविकल्पावतारस्तत्र, न; तथाप्रतीतेः तत्तथाप्रतीतिश्च यद्यप्रमाणं नातः स्वरूपस्य ज्ञानतासिद्धिः प्रमाणं चेत् तर्हि स्वपरग्रहणस्वरूपतापि ज्ञानस्य तत एव सिद्धेति न तत्रापि तद्विकल्पावतारः प्रत्यक्षविरोधात् । तन्न स्वतोऽवभासनं हेतुः असिद्धत्वात् ।

परतोऽवभासनं चेत्, न, तस्यापि वाद्यसिद्धत्वात्—

"नान्योऽनुभाव्यो बुद्ध्यास्ति तस्या नानुभवोऽपरः ।
ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात् स्वयं सैव प्रकाशते" ॥ [ ] इत्यभिधानान्न

सौगताभिप्रायेण परप्रकाश्यता कस्यचित् सिद्धा ।

न च प्रकाशनलक्षणस्य हेतोर्ज्ञानत्वेन व्याप्तिसिद्धिर्यतः स्वरूपमात्रपर्यवसितं ज्ञानं सर्वमवभासनं ज्ञान(नत्व)व्याप्तमिति नाधिगन्तुं समर्थम् । न च सकलसम्बन्ध्यप्रतिपत्तौ सम्बन्धप्रतिपत्तिः । उक्तं च—

"द्विष्ठसम्बन्धसंवित्तिर्नैकरूपप्रवेदनात् ।
द्वयस्वरूपग्रहणे सति सम्बन्धवेदनम्[11] ॥" [ ]

न च विवक्षितज्ञानं ज्ञानत्वमवभासनं चात्मन्येव प्रतिपद्य तयोर्व्याप्तिमधिगच्छति । तत्रैवानुमानप्रवृत्तेः तत्र च तत्प्रवृत्तेर्वैयर्थ्यम् साध्य[12]स्याध्यक्षसिद्धत्वात् । न च सकलं ज्ञानमात्मनि तयोर्व्याप्तिं प्रतिपद्यत

---

१ "नीलादिप्रतिभासानामिति योग."—वृ० टि० । "तदन्येपा नीलादिप्रतिभासानामिति योगः"—ल० टि० । २ "नीलादिप्रतिभासै."—वृ० ल० टि० । ३ "एकाणुप्रतिभासस्य"-वृ० ल० टि० । ४ "विचारेण"—वृ० ल० टि० । ५-तस्य तत्त्व-वृ० । ६ "न चैवंवादिन स्वरूपस्य स्वतोऽवगतिर्घटते" । एवंवादिन "समकालो भिन्नकालो वार्थो न ग्राह्य इत्येवंवादिनो योगाचारस्य" । स्वरूपस्य "ज्ञानस्य" । स्वत "ज्ञानात्"-प्रमेयक० पृ० २४ प्र० पं० २, टि० ९-१०-११ । ७ नान्या-ल० वा० वा० मा० मा० । ८-भावो बु-ल० वा० वा० ।

९ प्रमेयक० पृ० २४ प्र० पं० ५, अन्य "अर्थ." । अनुभाव्यो "ग्राह्य." । अनुभवो "ग्राहक."—टि० ३३-३४-३५ । स्याद्वादर० पृ० ७३ द्वि० प० ११ । "नान्योऽनुभावो बुद्ध्याऽस्ति × × × स्वयमेव प्रकाशते"—न्यायमञ्ज० ।० ९ पृ० ५४० पं० १९ । श्लो० वा० पार्थ० व्या० पृ० २७५ पं० ११ । सर्वदर्शनस० द० २ पृ० ३१ पं० १९६ । पड्द० स० बृ० वृ० पृ० ४० पं० १३ ।

१० "न खलु स्वरूपमात्रपर्यवसितं ज्ञानं निखिलमवभासमानत्वं ज्ञानत्वव्याप्तमित्यधिगन्तुं समर्थम्"—प्रमेयक० पृ० २४ प्र० पं० ६ । ११ पृ० २ पं० २५, टि० ७ । "तदुक्तमन्यै.—द्वयसबन्धसवित्तिर्नैकरूपप्रवेदनात् ।" इत्यादि—५,२४ तत्त्वार्थश्लो० वा० पृ० ४२१ पं० ११ । सिद्धिवि० टी० लि० पृ० १०९ पं० २६ । १, २० रत्नाकराव० पृ० ४२ पं० ८ । स्याद्वा० का० १६ पृ० १३० पं० ८ । १२ "अवभासनस्य"—वृ० ल० टि० ।

इति वक्तव्यम् सकलज्ञानावेदने वादिनैवंप्रतिपत्तुमशक्तेः । न च न परमार्थतस्तयोर्व्याप्तिः अपि तु व्यवहारेणेति वक्तव्यम् व्यवहारस्यापि प्रमाणत्वाभ्युपगमे उक्तदोषानतिवृत्तेः । अथाप्रमाणं विकल्पनमात्रमसौ, नन्वनुमानमप्यतः प्रवृत्तिमासादयत् तथाभूतमिति नातोऽभिमतसिद्धिः । न च मिथ्याविकल्पविषयधूमाग्निव्याप्तिप्रभवाग्न्यनुमानवदस्यापि स्वसाध्याव्यभिचारित्वम् मिथ्याविकल्पावगतव्याप्तिप्रभवस्य तस्य स्वसाध्याव्यभिचारित्वव्याघातात् न हि साध्यभाव एव साधनभावलक्षणव्याप्त्यभावे साधनप्रभवानुमानस्य कस्यचित् स्वसाध्याव्यभिचारोऽविरुद्धः । न चाविद्यमानव्याप्तिलिङ्गप्रभवादनुमानात् सौगतस्य स्वमतसिद्धिः परस्यापि तथाभूतात् कार्याद्यनुमानात् ईश्वराद्यभिमतसाध्यसिद्धिप्रसक्तेः । न च ज्ञानत्व-स्वतःप्रकाशनयोः साध्यसाधनयोः कुतश्चित् प्रमाणाद् व्याप्तिसिद्धिः पारमार्थिकी ज्ञानवज्जडस्यापि परतोग्रहणसिद्धेर्हेतोरनैकान्तिकत्वप्रसक्तेः। जडस्य प्रकाशायोगोऽप्यप्रतिपन्नस्य प्रतिपत्तुमशक्यः शक्यत्वे वा सन्तानान्तरस्यापि स्वप्रकाशायोगः प्रतिपत्तव्य इति तस्याप्यभावः प्रसक्तः तथा च परप्रतिपादनार्थं प्रकृतहेतूपन्यासो व्यर्थः । अथ प्रतिपन्नस्य जडस्य प्रकाशायोगस्तथापि विरोधः—'जडः प्रतीयते प्रकाशायोगश्च' इति । अथादृश्येऽपि जडे विचारात् तदयोगः प्रतीयते, ननु जडस्य तेनाप्यविषयीकरणे पूर्ववद्दोषः-'विचारस्तत्र न प्रवर्तते तत एव च प्रकाशायोगप्रतिपत्तिः' इति । विषयीकरणे विचारवत् प्रत्यक्षादिनापि तस्य विषयीकरणात् प्रकाशायोगोऽसिद्धः । न च सुखादौ प्रकाशनस्य ज्ञानत्वेन व्याप्तिनिश्चयात् स्वव्यापकरहिते जडे न तस्य संभवोऽन्यथा कृतकत्वादेरप्यनित्यत्वविकल आत्मादौ संभव इति सकलानुमानोच्छेद इति वक्तव्यम् यतस्तत् तत्र तेन व्याप्तमिति कुतो निश्चितम्? 'तस्मिन् सति दर्शनात्' इति यद्युच्येत पुरुषत्वं किञ्चिज्ज्ञत्वेन व्याप्तं तत एव सिद्ध्येत् विपक्षे बाधकाभावः प्रकृतेऽपि समानः । अपि च, ज्ञानत्वेन व्याप्तं प्रकाशनं सुखादौ स्वयमेव प्रतिपन्नं यदि तदेव नीलादावपि कुतश्चित् प्रमाणात् प्रतीयते तदा ततस्तत्र साध्यसिद्धिर्युक्ता न पुनः साध्यव्याप्तधर्मविलक्षणादपि 'धर्मात् प्रतिभासः' इति शब्दसाम्येऽपि अन्यथा बुद्धिमत्कारणव्याप्तघटादिसन्निवेशविलक्षणादपि पर्वतादिसन्निवेशात् तत्र बुद्धिमत्कारणसिद्धिः स्यादिति "वस्तुभेदे प्रसिद्धस्य" [ ] इत्यादेरभिधानमसङ्गतं भवेत् । न च नीलादौ सुखाद्यवभासनं परस्य सिद्धम् सिद्धौ वा विप्रतिपत्तेरभावान्न तदवबोधार्थं शास्त्रप्रणयनं सौगतस्य युक्तम् । जडतासमारोपव्यवच्छेदार्थं तदिति चेत्, न, स्वप्रतिभासेऽप्यन्यथाप्रतिभाससमारोपोऽस्त्येव आत्मनोऽनेकरूपेण स्वतःप्रतिभासाभ्युपगमात् स कुतो व्यवच्छिद्यताम्? न चायं न समारोपः स्वात्मनि स्वकार्यकारी साध्यवत् 'स्वप्रतिभासो नीलादिः अन्यग्राहकाभावे सत्युपलभ्यमानत्वात् सुखादिवत्' इत्यतोऽनुमानात् स व्यवच्छिद्यते अन्यग्राहकाभावश्चानुपलम्भादिति चेत्, न, स्वसंवेदनप्रत्यक्षतोऽहमहमिकया अन्यग्राहकोपलब्धे[11]स्तदभावस्यासिद्धत्वात् । अथ 'स्थूलोऽहम्' 'कृशोऽहम्' इति प्रतीतेः 'अहं'प्रत्ययः शरीरमेव न च तत् नीलादेर्ग्राहकम् स्वयं तस्य प्रमेयत्वात्[12], न, अन्धकाराद्यवगुण्ठितशरीराग्रहेऽपि सालोकघटादिग्रहणोपलब्धेः शरीरात् तद्भेदसिद्धिस्तथाप्यभेदे न किञ्चिद् भिन्नं भवेत् । ततो भिन्नोऽपि न नीलादेर्ग्राहक इति चेत्, न, अस्य प्रतिविहितत्वात् । ततो न दृष्टान्तदृष्टसाधनधर्मस्य साध्यधर्मिण्यवगतिरित्यसिद्धो हेतुः । न च नैयायिकादीन् प्रति सुखादेर्ज्ञानता सिद्धेति साध्यविकलता दृष्टान्तस्य अथात एव हेतोर्ज्ञानता सुखादेः सिद्धेति न साध्यविकलतादोषः, नन्वत्राप्यपरं निदर्शनमुपादेयम् तत्राप्येतच्चोद्ये निदर्शनान्तरमित्यनवस्था । नीलादेर्निदर्शनत्वे इतरेतराश्रयत्वम्—सुखादिज्ञानतासिद्धौ नीलादेस्तद्रूपतासिद्धिः तस्याश्च[13] तन्निदर्शनवशात् सुखादेस्तद्रूपतेति कथं नेतरेतराश्रयत्वम्? न च सुखादौ दृष्टान्तमन्तरेणापि तद्रूपतासिद्धिः नीलादावपि तथैव तदापत्तेः । अथ सुखादेर्जडत्वे प्रतिभासो न भवेत् जडस्य प्रकाशायोगात्; ननु नीलादावपि प्रकाशतासिद्धावेतदेवं

---

१ "प्रमाणभूतम्"—वृ० टि० । "प्रमाणस्सम्"—ल० टि० । २ प्रतिपद्यत इति वृ० । ३ "विचारेण"—वृ० ल० टि० । ४-शायोगः प्र-वृ० । ५ "तद्दर्शनात्"—वृ० ल० टि० । ६ प्रतीयेत त-वृ० । ७-शात् तद् बु-वा० बा० । ८ "शास्त्रप्रणयनम्"—वृ० ल० टि० । ९-भासमारो-वृ० भा० मा० विना । १० "स्वप्रतिभासेऽपि यो जायते"—वृ० ल० टि० । ११ "अन्यग्राहकस्य"—वृ० ल० टि० । १२-त्वान्नाधका-ल० । -त्वान्नकारा-वृ० । १३ "तस्या च तन्निदर्शनात्"—प्रमेयक० पृ० २४ द्वि० प० ७ ।

वक्तव्यम् किं सुखादिनिदर्शनेन? तत्र चोक्तमेव दूषणम्। अथ सुखादेरज्ञानत्वे ततोऽनुग्रहाद्यभावो भवेत्[1], ननु किं सुखमेवानुग्रहः, उत ततो भिन्नम्? प्रथमपक्षे क ज्ञानत्वेनासौ[2] व्याप्तः यतस्तदभावे न स्यात् व्यापकाभावे हि नियमेन व्याप्याभावः परस्याभीष्टः अन्यथा प्राणादेः सात्मकत्वेन क्वचिद् व्याप्त्यसिद्धावप्यात्माभावे स न भवेदिति केवलव्यतिरेकिहेत्वगमकत्वप्रदर्शनमयुक्तं भवेत्। तन्न प्रथमः पक्षः। नापि द्वितीयः यतो यदि नाम सुखे ज्ञानताऽभावः अर्थान्तरभूतानुग्रहस्याभावे किमायातम् न[4] हि यज्ञदत्तस्य गौरताभा(ताऽभा)[3]वे देवदत्ताभावो दृष्टः। तज्ज्ञानताकार्यत्वात्[5] तदभाव इति चेत्, न; परं प्रति तदसिद्धेः। किञ्च, ग्राह्यग्राहकभाववत् समानसमय-भिन्नसमययोः कार्यकारणभावो दुरन्वय इति प्राक् प्रतिपादितं न पुनरुच्यते। तन्न नैयायिकादीन् प्रति ज्ञानता सुखादेः कुतश्चित् साधनात् सिद्धा। प्रत्यक्षतस्तत्सिद्धिरिति चेत्, न; नीलादावप्यध्यक्षत[6] एव तत्सिद्धिप्रसक्तेरनुमानोपन्यासस्तत्र तत्[7]साधनाय वैफल्यमासादयेत् तथापि तदुपन्यासे सुखादावपि तत्प्रसाधनाय तस्योपन्यासो भवेत् न हि नीलादिकमपि स्वसंवेद्यमिति परस्य न सिद्धम्। अथ तत्र जडतासमारोपाद् तद्व्यवच्छेदार्थमनुमानं प्रवर्त्तमानं नानर्थकं तर्हि सुखादावपि तद्व्यवच्छेदाय तत् प्रवर्त्तमानं किमित्यनर्थकं भवेत्? अस्ति च तत्रापि नैयायिकादीनां जडतासमारोपः तत्र च तत्प्रवर्त्तने दोषः प्रतिपादित एव। न च विपरीतारोपव्यतिपक्कमूर्तयो भावा दृष्टान्तीभवन्ति साध्याविशेषादिति। न सुखादीनां प्रकृतसाध्ये दृष्टान्तता। न च जैनस्य तत्र समारोपाभावात् तं प्रति तस्य दृष्टान्तता साधनोपन्यासस्यापि तमेव[8] प्रति प्रसक्तेर्नैकान्ततोऽर्थाभावः सर्वान् प्रति विप्रतिपत्तेरनिराकरणाद् जैनस्यापि किमिति तत्र तदभावः? तेन[9] तत्र[10] ज्ञानत्वनिश्चयात् निश्चयसमारोपयोश्च विरोधादिति चेत्, कुतः पुनस्तत्र तस्य तन्निश्चयः? प्रमाणमन्तरेणेति चेत्, न, तथानिश्चितस्य दृष्टान्तत्वायोगात्। प्रमाणतश्चेत् नीलादौ जडतानिश्चयस्यापि तत एव संभवात् समारोपाभावतोऽनुमानोपन्यासो व्यर्थस्तद्व्यवच्छेदाय। नीलादावजडे जडतानिश्चयो न प्रमाणनिबन्धनस्तेन तत्रानुमानोपन्यास इति चेत् सुखादौ कुतस्तन्निबन्धनो ज्ञानतानिश्चयः? अध्यक्षतस्तस्य ज्ञानतासिद्धिरिति चेत्, न, इतरत्रापि तत एव जडतासिद्धेः न च जडतानिश्चयहेतुरध्यक्षं प्रमाणमेव न भवति इतरत्रापि तत्प्रसक्तेः अबाधितत्वमुभयत्र समानम् न च जैनस्य सुखादौ प्रकाशनं ज्ञानरूपतया व्याप्तं प्रसिद्धमिति तेन स्तम्भादौ ज्ञानता साध्यत इति न किञ्चित् प्रमाणाप्रमाणसिद्धताविचारेण प्रयोजनं यतः स्वतःप्रकाशनं ज्ञानरूपतया व्याप्तं तस्य यत् सिद्धं तत् स्तम्भादौ नास्तीत्यसिद्धो हेतुः परतःप्रकाशनं यत् स्तम्भादौ तस्य सिद्धं न तद् ज्ञानरूपतया व्याप्तम् प्रकाशनमात्रं च स्तम्भादावुपलभ्यमानं जडतया[11]ऽविरुद्धत्वान्नैकान्ततो ज्ञानरूपतां साधयतीति न प्रकाशनलक्षणो हेतुर्ज्ञानरूपतां स्तम्भादेः साधयतीति स्थितम्।

अथ माभून्नीलादेर्ज्ञानरूपता तत्प्रसाधकप्रमाणाभावतः पारमार्थिकार्थरूपता तु तस्य कुतो येन तद्ग्राहिज्ञानमर्थनिर्णीतिरूपतया प्रमाणं भवेत्? उच्यते, अबाधितप्रत्ययविषयत्वान्नीलादेः परमार्थरूपता। तथाहि-जाग्रदवस्थोपलभ्यमानो नीलादिः परमार्थसन् सुनिश्चिताऽसंभवद्बाधकप्रमाणत्वात् सुखादिसंवेदनवत्। न चास्य प्रत्यक्षं बाधकम् अस्खलत्प्रत्ययविषयतया सर्वैरस्य दर्शनात् अन्यथा व्यवहारिणस्तत्र प्रवृत्तिर्न स्यात्। न चानुमानं बाधकम् अध्यक्षसिद्धेऽनुमानस्य बाधकत्वेनाप्रवृत्तेः न चानुमानमर्थासत्त्वप्रतिपादकमुपलभ्यते। अथ यद् विशददर्शनावसेयं न तत् परमार्थसत् यथा तैमिरिकोपलभ्यमानं केशो[12]न्दुकादि, विशददर्शनावसेयं च स्तम्भादिकमित्यतोऽनुमानात् तदभावः, न, अस्यानुमानस्य पराभ्युपगमेन प्रामाण्यायोगादिति प्रतिपादितत्वात्। किञ्च, परमार्थसत्ताभावः

---

१ "अनुग्रह"—बृ० ल० टि०। २ "ज्ञानरूपता"—बृ० ल० टि०। ३-ताभा-बृ० विना। ४ "न खलु यज्ञदत्तस्य गौरत्वाभावे देवदत्ताभावो दृष्टः"-प्रमेयक० पृ० २४ द्वि० पं० ११। ५ तज्ज्ञा-ल० वा० बा०। तदज्ञा-भा० मा०। ६-त एतत्-बृ० विना। ७ "ज्ञानरूपता"—बृ० ल० टि०। ८ "जैनम्"—बृ० ल० टि०। ९ "जैनेन"—बृ० ल० टि०। १० "सुखादिषु"—बृ० ल० टि०। ११-यावि-बृ० विना। १२ पृ० ३६१ टि० ३१। एतत्पदस्यार्थं स्पष्टीकर्तुमयमष्टसहस्रीगत पाठो विचारणीय.—"नभसि केशादिज्ञानं हि बहिर्विसंवादकत्वात् प्रमाणाभासम् स्वरूपे संवादकत्वात् प्रमाणम्"—पृ० २४८ पं० ११।

स्तम्भादेर्यद्यनेनानुमानेन न प्रतीयते कथमस्य वाधकता? वाध्यज्ञानगृहीतधर्माभावग्राहकस्यैव वाधकत्वात् 'अश्रावणः शब्दः' इत्यस्य प्रत्यक्षवत् अन्यथा नीलज्ञानस्यापि पीतज्ञानवाधकता भवेत्। प्रतीयत इति चेत् स यद्यपरमार्थसन् नातः स्तम्भादेरसत्त्वसिद्धिः परमार्थसंश्चेत् अनेनैव हेतोर्व्यभिचारः। न चाभावग्राहकत्वादनुमानं तद्वाधकं नेष्यते अपि तु परमार्थसत्त्वसमारोपव्यवच्छेदकरणादिति वक्तव्यम् तस्यैवासिद्धेः। तथाहि-तद्व्यवच्छेदः समारोपस्वभावः तदभावरूपो वा भवेत्? प्रथमपक्षे समारोपव्यवच्छेदकार्यनुमानं समारोपकारि प्रसक्तम् न चैतद् युक्तम् कृतस्य करणायोगात्। द्वितीयपक्षे विनाशस्य सहेतुकत्वमनिष्टमासज्यते। किञ्च, असौ व्यवच्छेदोऽनुमानेन यदि प्रतीयते परमार्थसंश्च पुनरपि हेतोरनैकान्तिकत्वम्। न प्रतीयते चेत् न तर्ह्यनुमानेन समारोपव्यवच्छेदकरणम् अन्यथाभूतस्य तस्य तेन करणासंभवात्। न च स्तम्भादिस्वरूपोऽपि समारोपव्यवच्छेदोऽनुमानेन क्रियते स्तम्भादेः स्वहेतुभ्य एवोत्पत्तेः। न चासावनुमानस्वरूप एव तेनैव तस्य करणविरोधात्। न चानुमानसन्निधौ तदनुत्पत्तिरेव ततस्तद्व्यवच्छेदः तत्रापि पूर्वोक्तदोषस्य समानत्वात्। किञ्च, समारोपविविक्तं भावान्तरं यदि भाविसमारोपानुत्पत्तिः तच्चानुमानेन प्रतीयते परमार्थसच्च पुनरपि हेतुस्तेनैव व्यभिचारी। अथ न परमार्थसन्न तर्हि तद्ग्राह्यनुमानं प्रमाणमिति कथं तस्य वाधकत्वम्? न च न तद्व्यवच्छेदकरणादनुमानं तद्वाधकमपि तु तदभावाविसंवादादिति वक्तव्यम् तदविषयस्य तदविसंवादकत्वायोगात्। तत आत्मलाभ एव तदविसंवाद इति चेत्, ननु तदात्मलाभोऽपि यद्यनुमानेनात्मनो ज्ञायते पारमार्थिकश्च पुनरप्यनेनैव हेतुर्व्यभिचारी अपारमार्थिकश्चेन्न तद्विषयमनुमानं तद्वाधकम्। न च स्वापादौ तदभावदर्शनावसेयत्वयोः प्रतिवन्धग्रहणादन्यत्रापि दर्शनावसेयत्वं तत्प्रतिवद्धं तज्जनितं चानुमानं पदार्थाभावजनितमिति सिद्धस्तत आत्मलाभोऽविसंवादः यतः साकल्येन प्रतिवन्धग्रहणे प्रतिवन्धस्य ग्राहकं तदासक्तं तत्र च पूर्वप्रतिपादित एव दोषः तदग्रहणे च न तस्मादनुमानस्यात्मलाभनिश्चयः। न च तयोरेकत्र सहभावदर्शनात् सर्वत्र तथाभावः अन्यथेश्वराद्यनुमानमप्यविसंवादकं भवेत्। अपि च, स्वापाद्यवस्थावभासिनो घटादेर्यदि परमार्थसत्त्वाभावो न गृह्यते कथं न साध्यविकलता दृष्टान्तस्य। गृह्यते चेत् तस्य पारमार्थिकत्वे हेतोर्व्यभिचारस्तदवस्थः अपारमार्थिकत्वे दृष्टान्तः साध्यविकलः। अथ न सौगतेन तदभावो गृह्यते अपि तु वहिरर्थवादिनेति न पूर्वोक्तो दोषः, न, तेन प्रमाणेन तदभावग्रहणे सौगतेनापि तद्ग्रहणप्रसङ्गात् प्रमाणस्य क्वचित् पक्षपातासंभवात् प्रमाणमन्तरेण ग्रहणे न तेन हेतोर्व्याप्तिः अभ्युपगममात्रसिद्धस्य व्यापकत्वायोगात् अन्यथा वौद्धाभिमतनाशादिना सुखादेरचेतनत्वसाधनं साङ्ख्यस्य किमित्ययुक्तं भवेत्? तन्न प्रकृतमनुमानं साध्यसाधनयोर्व्याप्त्यग्रहणात् प्रकृतसाध्यसाधनायालमिति न तद्वाधकं युक्तम्। न च प्रत्यक्षानुमानव्यतिरिक्तं प्रमाणान्तरं सौगतस्याभीष्टं यत् तद्वाधकं भवेत् अतः 'सुनिश्चितासंभव-' इत्यादिहेतुर्नासिद्धः। न चापरमार्थसति यथोक्तो हेतुः संभवीति नानैकान्तिकः।

अथ स्वप्नदृष्टे घटादावपरमार्थसति यथोक्तहेतोः सद्भाव इति कथं नानैकान्तिकः? न च तत्र वाधकप्रमाणविषयत्वम् वाध्यत्वस्य क्वचिदप्यसंभवात्। तथाहि-न तावद् वाधकेन ज्ञानस्य प्रतिभासकाले स्वरूपं वाध्यते तस्य परिस्फुटेन रूपेण प्रतिभासनात् नाप्युत्तरकालं क्षणिकत्वेन तदा तस्य स्वयमेवाभावात् नापि तत्प्रमेयस्य प्रतिभासमानेन रूपेण स्वरूपं वाध्यते प्रतिभासनादेव न च प्रतिभासमानरूपसहचारिणा स्पर्शादिरूपेण, तस्य ततोऽन्यत्वात् न चान्याभावेऽन्यस्याभावोऽतिप्रसङ्गात्। न च ज्ञानस्य ज्ञेयस्य वा फलमुत्पन्नमनुत्पन्नं वा वाध्यते उत्पन्नस्य विद्यमानत्वेन वाध्यत्वासंभवात् अनुत्पन्नस्यापि स्वयमेवासत्त्वात्। न च स्वप्नदृष्टे घटादिके उदकाहरणाद्यर्थक्रिया न संभवति तस्या अपि तत्र दर्शनात् "असतः सत्त्वेन प्रतिभासनमस्य" [ ] इति ज्ञापनात् स तेन वाध्यत इति चेत्, न, प्रतिभासमानस्य तज्ज्ञापनासंभवात् जाग्रद्दृष्टघटादावपि तत्प्रसङ्गात्। न च

१–सत्त्वे स–आ० वि०। २–स्य तेन वृ० विना। ३ "अनुमानेन"—वृ० ल० टि०। ४ "तस्यानुमानरूपसमारोपस्य"—वृ० ल० टि०। ५ "समारोप"—वृ० ल० टि०। ६ प्र० पृ० प० ५। ७–हणं त–छ०। ८ "वाह्यार्थवादिना"—वृ० ल० टि०। ९ "न सविद्रूपा सुखादयः विनाशित्वादिभ्य कुम्भवदिति"—वृ० ल० टि०। १० पृ० ४८५ पं० २१। ११–भावो–वृ० ल०। १२–त्पन्नं वा–वृ० ल०। १३ "उदकस्य"—वृ० ल० टि०। १४ "स्वप्नवेदने"—वृ० ल० टि०। १५ "घटादिकोऽर्थः"—वृ० ल० टि०।

'नेदम्' इति तत्र ज्ञानाभावान्न तत्प्रसङ्गः 'नेदम्' इति ज्ञानस्य सत्यपि कचित् झटित्यपसृते भावात् असत्यपि चान्यगतचित्तस्याभावात् । तथाहि-शीघ्रं गच्छतो मरीचिकाजलज्ञाने 'नेदम्' इति प्रत्ययो नोत्पद्यत एव । 'नेदम्' इति प्रत्ययविषयस्यापि च कथं सत्यता ? बाधकाभावादिति चेत्; ननु बाधकं 'नेदम्' इति ज्ञानम् तस्य चाभावोऽसत्यपि विषये भवतीत्युक्तम् । किञ्च, तद्विषयम् अन्यविषयं वा बाधकमभ्युपगम्यते ? न तावत् तद्विषयम् विरोधात्-नहि यत् यद्विषयं तदेव तस्यासत्प्रतिभासनं ज्ञापयतीत्युपपन्नम् । नाप्यन्यविषयम् तेनाप्रतिभासमानस्यान्यस्य तज्ज्ञापनायोगात् अन्यथा घट[1]ज्ञानं पटस्य तद् ज्ञापयेदिति ।

अत्र प्रतिविधीयते-नहि बाधकेन ज्ञानेन स्वरूपम्[2] ज्ञानस्य विषयः फलं वा बाध्यते किन्तु ज्ञानस्यासद्विषयत्वम् अर्थस्य वाऽसत्प्रतिभासनं तेन[3] ज्ञाप्यते यथा शुक्तिकाज्ञानेन रजतविज्ञानस्य रजताकारस्य वा । एतच्च बाध्यबाधकभावमनिच्छताप्यवश्यमभ्युपगन्तव्यम् प्रतिभासाद्वैते स्कन्ध-सन्तानादिविकल्पानां स्वयमेव निर्विषयत्वोपवर्णनात् तदुपवर्णनाऽभावे बाह्यभावानामेकानेकरूपतया सामान्य-सामानाधिकरण्य-विशेषणविशेष्यभावादेः पारमार्थिकस्य भावात् प्रतिभासाद्वैतस्याभाव एव स्यात् । किञ्च, बाध्यबाधकभावप्रतिषेधविधायियुक्त्युपन्यासेन वादिना किं क्रियते इति वक्तव्यम् न किञ्चिदिति चेत्, तदुपन्यासवैयर्थ्यम् । अथ तूष्णींभावो निग्रहः स्यादिति तदुपन्यासस्तर्हि तदुपन्यासेऽप्यसाधनाङ्गवचनं निग्रह[5] एव भवेदिति तदुपन्यासानर्थक्यम् । बाध्यबाधकभावाभावप्रतिपत्तिस्तदुपन्यासप्रयोजनमिति चेत्, न; तत्प्रतिपत्तेर्यथार्थत्वे परमतसिद्धिप्रसक्तेः तस्या अयथार्थत्वे पुनरप्यानर्थक्यम् । समारोपव्यवच्छेदार्थं तदुपन्यास इति चेत् बाध्यबाधकभावाभावेऽपि तद्भावा[6]ध्यवसायसमारोपस्य व्यवच्छेदः स्वरूपापहारश्चेत् तर्ह्यभ्युपगत एव बाध्यबाधकभावः । किञ्च, उदयकाल एव तदपहारे तदप्रतिभास इति न समारोपो नाम इति कस्य निवृत्त्यर्थः शास्त्राद्यारम्भः अन्यदापि स्वयमेव नाशान्न ततस्तन्निवृत्तिः ? अथ शास्त्रादेः प्राक्तनसमारोपक्षणादुत्तरसमारोपक्षणजननासमर्थः क्षणः समुपजायत इति तन्निवृत्तिस्तर्हि बाधकाद् बाध्यनिवृत्तिरपि तथैव संपत्स्यत इति न बाध्यबाधकभावनिराकरणं युक्तिसंगतं स्यात् । न च बाध्यबाधकाभावेऽपि परस्य तद्भावाभिमान इति शास्त्रादिना ज्ञाप्यते 'असत्येवार्थे सदभिमानो बाध्यस्येति बाधकेन ज्ञाप्यते' इत्यस्य स्वयमेवाभ्युपगमप्राप्तेस्तद्विषयातद्विषयबाधकपक्षोक्तदोषस्याप्येवमभ्युपगच्छता स्वयमेवाङ्गीकरणात् । अथ न किञ्चित् शास्त्रादिना क्रियते केवलमलीकाभिमानोऽयं लोकस्य 'शास्त्रेण बाध्यबाधकभावाभावो ज्ञाप्यते तत्समारोपो वा व्यवच्छिद्यते' इति; ननु तदभिमानस्यालीकता तदभावेऽपि तदध्यवसायः तथा चैतत्परिज्ञाने परमतमेवाभ्युपगतं भवेत् । अथ शास्त्राद्युपन्यासोऽपि नाभ्युपगम्यते तर्हि 'बाध्यत्वायोगात्' इत्यादिकं किमिति वक्तव्यम् ? तदपि नास्तीति चेत् उपलभ्यमानस्य कथमसत्त्वम् ? अथोपलभ्यते किन्तु स्वप्नोपलब्धसदृशं तत् । तथाहि-तद्वचनमपरमार्थसत् उपलभ्यमानत्वात् स्वप्नोपलभ्यमानवचोवदित्यतोऽनुमानात् तदसत्त्वम्, असदेतत्, पूर्वोपन्यस्तदोषानुबन्धात् पुनरपि 'स्वप्नोपलभ्यमानवत्' इत्युत्तराभिधाने चक्रकप्रसक्तिरिति किञ्चिच्छास्त्रादिकमभ्युपगच्छता

---

१ "घटादिके"-बृ० ल० टि० । २ "कर्तृभूतम्"-बृ० ल० टि० । ३ "बाधकं कर्मभूतम्"-ल० टि० । ४ "बाधकेन"-बृ० ल० टि० ।

५ "असाधनाङ्गवचनमपजयप्राप्तिरिति व्याहतम्"-अष्टश० का० ७ पृ० ७ पं० ८ । "तदुक्तम्—स्वपक्षसिद्धिरेकस्य निग्रहोऽन्यस्य वादिनः । नासाधनाङ्गवचनं नादोषोद्भावनं द्वयोः" ॥-अष्टस० पृ० ८७ पं० २० । "अत्र कीर्तिराह—द्वाविंशतिधा निग्रहस्थानानि विभज्यन्ते तेषां च प्रतिपदमिदानीं विशेषलक्षणानि वर्ण्यन्त इति न मृष्यामहे । कुतः ? असाधनाङ्गवचनमदोषोद्भावनं द्वयोः । निग्रहस्थानमन्यत् तु न युक्तमिति नेष्यते" ॥-न्यायमञ्ज० आ० १२ पृ० ६३९ पं० ५-९ । सौगताभिमतं पराजयाधिकरणं परीक्षमाणेनाचार्यहेमचन्द्रेण प्रस्तुतटिप्पणोपन्यस्तः "असाधनाङ्गवचन—" इत्यादिकः श्लोकः "यथाह धर्मकीर्तिः" इत्युल्लिख्योद्धृतः प्रमाणमीमांसायाम्—२-१-३४ पृ० १०४ पं० २०-२१ । न्यायदर्शनसमतं पराजयाधिकरणमक्षपादेनेत्थं लक्षितम्—"विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम्"-न्यायद० १-२-१९ । एतदपि निग्रहस्थानलक्षणं "न विप्रतिपत्त्यप्रतिपत्तिमात्रम्" इति सूत्रयताचार्यहेमचन्द्रस्तत्रैव प्रतिक्षिप्तवान् ।

६ तदभा-वा० बा० आ० । ७-धकाभा-बृ० । ८-णादेव न कि-आ० । ९-धकाभा-बृ० ल० ।

बाध्यबाधकभावाभावेऽपि तदभिमानो लोकस्येति प्रतीतिश्चिदावभ्युपगन्तव्यः स इति बाध्यबाधकभावः स्वप्नोपलब्धौ घटादौ सिद्धो न प्रकृतहेतोर्व्यभिचारः । नापि विरुद्धता परमार्थसत्ताभावेन व्याप्त्यसिद्धेः अन्यथाऽपारमार्थिकं स्वसंवेदनमात्रमपि भवेत् तत्रोप्यपरहेतोः पारमार्थिकत्वसाधकस्याभावात् विपर्ययव्याप्तश्च हेतुर्विरुद्धो भवेदिति असिद्ध-विरुद्धाऽनैकान्तिकत्वदोषरहिताद् भवस्यतो हेतोर्जाग्रदवस्थोपलभ्यमानस्य घटादेः परमार्थसत्त्वसिद्धिः । तेन 'संवृतानुमानसाध्या शून्यता यच्च परेण यः कश्चिद्धर्मः पदार्थस्याभ्युपगम्यते स प्रमाणाभावान्न सिध्यति प्रमाणव्यावृत्तौ प्रमेयस्य व्यावृत्तेरभ्युपगमार्हत्वात्' इत्याद्यपि परोक्तं निरस्तं द्रष्टव्यम् । उक्तदूषणप्रकारस्यात्रापि समानत्वात् ।

यच्च प्रतिभासाविशेषप्रतिपादनं कृतम्, तदप्ययुक्तम्, स्वसंवेदनमात्रवत् प्रधानादेरपि सद्भावसिद्धेस्तदभावे स्वसंवेदनस्याप्यभावापत्तेः अन्यथा प्रतिभासाविशेषायोगात् तस्याप्यभावे न किञ्चित् तत्त्वं स्यात् । शून्यताभ्युपगमात् तत्त्वाभावः ससिध्यत एवेति चेत्, न, तदभ्युपगमस्यापि तत्त्वरूपत्वात् । न च सापि निष्प्रमाणिका अभ्युपगन्तुं युक्ता प्रमाणभावे वा कथं शून्यता तस्यैव तत्त्वरूपत्वात् । न चान्यपरिहारेण तस्य शून्यताव्यवस्थापकत्वे प्रतिभासाविशेषसिद्धिः । अथ न शून्यता नाम काचित् यद्व्यवस्थापकं प्रमाणमन्विष्येत अपि तु प्रतिभासोपमत्वं सर्वधर्माणां सेति । उक्तं च—"मायोपमाः सर्वे धर्माः" [ ] इति, असदेतत्, प्रमाणाभावे सर्वधर्माणां मायोपमत्वस्यैवासिद्धेः । यदपि 'प्रतिभासमानस्यैकानेकत्वरूपतयाऽयोगः' तदपि प्रतिभासाभावे असङ्गतम् तत्सद्भावे वा यथा प्रतिभासस्यास्तित्वं तथैकत्वानेकत्वादेरपि धर्मकलापस्यास्तु तन्निषेधकयुक्तिकलापस्य निरस्तत्वात् प्रतिभासस्य च विद्यमानत्वात् इत्यलमतिप्रसङ्गेनेति सिद्धा विज्ञान-शून्यतावादनिषेधेन अर्थनिर्णीतिस्वभावता प्रमाणस्य ।

[स्वार्थनिर्णयस्वभावं ज्ञानमिति प्रमाणलक्षणं प्रतिक्षेप्तुकामेन सौगतेन निर्विकल्पस्यैव प्रत्यक्षत्वस्थापनम्]

अत्राह सौगतः—भवतु स्वार्थनिर्णीतिस्वभावमनुमानम् प्रत्यक्षं तु निर्विकल्पकत्वान्न तन्निर्णयस्वभावम् । तथाहि—यद् यथा अवभाति तत् तथाव्यवहृतिमवतरति यथा विशदमाभासमानं सुखादिसंवेदनम् नामाद्युल्लेखविविक्ततया चाक्षजं संवेदनमाभातीति स्वभावहेतुः नामाद्युल्लेखपरिष्वक्तवपुषः संविदोऽध्यक्षत्वविरोधात् यतः साक्षात्कारिज्ञानमध्यक्षतया लोके प्रसिद्धम् साक्षात्कारित्वं च सन्निहितार्थावभासित्वम् असन्निहिते तदभावात् नामादिकं चासन्निहितत्वात् परोक्षमिति न तद्योजनामवतरीतुमलम् ।

१-धकाभावाभावे-वा० बा० ।-धकभावे-आ० । २ "स्वप्ने उपलब्धिर्यस्येति समास. यद्वा स्वप्नोपलब्धौ यो घटादिस्तत्रासौ"-बृ० ल० टि० । "स्वप्नोपलब्धे [ब्धेः-बृ० टि०] इति पाठान्तरम्"-ल० टि० । ३-थापा-बृ० विना । ४-त्रापि प-वा० बा० । ५ "तेन निरस्तं द्रष्टव्यमिति सटङ्क"—बृ० ल० टि० । ६-वान्न सि-आ० हा० वि० । ७ स्याद्वादर० पृ० ९३ प्र० पं० १०-१३ । "अभ्यधिष्महि च—

शून्ये मानमुपैति चेन्ननु तदा शून्यात्मता तु स्थिता नो चेत् तर्हि तथापि किं न सुतरां शून्यात्मता तु स्थिता ?"—रत्नाकराव० १,१५ पृ० ३२ पं० २५ ।

"विना प्रमाणं परवन्न शून्य स्वपक्षसिद्धेः पदमश्नुवीत । कुप्येत् कृतान्तः स्पृशते प्रमाणमहो । सुदृष्टं त्वदसूयिदृष्टम्"—स्याद्वा० का० १७ पृ० १४४ । ८ पृ० ३७७ पं० १, टि० १ । पृ० ३७१ टि० ८ ।

९ न्यायप्रवेशकारेण "तत्र प्रत्यक्षं कल्पनापोढं यज्ज्ञानमर्थे रूपादौ नामजात्यादिकल्पनारहितं तदक्षमक्षं प्रति वर्तत इति प्रत्यक्षम्" इत्यनेन निर्विकल्पकस्य प्रत्यक्षप्रमाणत्वं सूत्रितम्-न्यायप्र० सू० ५४ पृ० ७ । तदेव धर्मकीर्तिना "तत्र प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तम्" इत्यत्र सूत्रे 'अभ्रान्त'पदनिवेशनेन परिष्कृत्य समर्थितम्-न्यायबि० १-४-पृ० ६ । "यदुक्तं धर्मोत्तरादिना-कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षमिति"—सिद्धिवि० टी० लि० पृ० ५४ पं० ९ ।

एतदेव निर्विकल्पकस्य प्रमाणत्वोपवर्णनं शान्तरक्षितेन प्रत्यक्षलक्षणपरीक्षायां सविस्तरं विविधाक्षेपपरिहारादिना समर्थ्य प्रतिष्ठापितम्-तत्त्वसं० का० १२१२-१२६१ पृ० ३६६-४०४ ।

[वैयाकरणसम्मतं केवलसविकल्पकवादमुपन्यस्य निर्विकल्पकवादिना तस्य दूषणम्]

अत्राह वैयाकरणः[1]—न वाक्संस्पर्शरहिता काचित् प्रतिपत्तिरस्ति शब्दानुविद्धायास्तस्याः प्रतिभासनात् यदि तु तत्संस्पर्शविकला साऽभ्युपगम्येत प्रकाशरूपतापि तस्या हीयेत वाग्रूपता हि शाश्वती प्रत्यवमर्शिनी च तदभावे न तस्याः किञ्चिदपरं रूपमवशिष्यते। तदुक्तम्[2]—

"वाग्रूपता चेद् व्युत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती।
न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी" ॥[3] [वाक्यप० प्र० का श्लो० १२५]

न च निरस्तोल्लेखं स्वसंवेदनं व्यवहारविरचनचतुरमिति[4] सविकल्पमभ्युपगन्तव्यम्।

असदेतत्[5] यतोऽध्यक्षं पुरःसन्निहितमेव भावात्मानमवभासयति तत्रैवाक्षवृत्तेः वाग्रूपता च न पुरःसन्निहितेति न सा तत्र प्रतिभाति। न च व्यापितया पदार्थात्मतया वा अर्थदेशे सन्निहिता वागिति तद्दर्शने साप्यवभाति, वाचामर्थदेशे सन्निधेरयोगात्। तथाहि–यदाऽक्षान्वये संवेदने पुरस्थो नीलादिराभाति न तदा तद्देश एव शब्दात्मा वक्तृमुखदेशस्य तस्यावभासनात्। न चान्यदेशतयोपलभ्यमानोऽन्यदेशोऽभ्युपगन्तुं युक्तः नीलादेरपि तथाभावप्रसक्तेः। अतो वाग्विविक्तस्य[6] नीलादेरवभासनान्नार्थदेशे वाक्सन्निधिरिति न तत्संस्पर्शवत्यक्षमतिः। न च पदार्थात्मता वाचो युक्ता, तत्त्वेनाप्रतिभासनात्। स्तम्भादिर्हि शब्दाकारविविक्तः पुरः प्रतिभाति शब्दोऽप्यर्थविविक्तस्वरूपेण[7] श्रोत्रज्ञानेऽवभातीति न तयोरैक्यम् प्रतिभासभेदतो भेदात् तथाप्यभेदे न क्वचिद् भेदो भवेदित्यध्यक्षं शब्दविविक्तरूपादिविषयं न वाग्रूपतासंसृष्टं तत्र तस्या असन्निधानात्। व्यवहितताया अपि वाचः प्रतिभासे सकलव्यवहितभावपरम्परा प्रतिभासताम् अर्थसन्निधानेऽपि वा वाचो लोचनमतावर्थप्रतिभासे न तस्याः प्रतिभासः तदविषयत्वात् नहि यो यदविषयः स सन्निहितोऽपि तत्र प्रतिभाति यथाऽऽम्ररूपप्रतिपत्तौ तद्रसः अविषयश्च लोचनबुद्धेः शब्द इति। लोचनबुद्धिर्वाऽर्थमनुसरन्ती स्वविषयमेवावभासयति नेन्द्रियान्तरविषयं सन्निहितमपि यथा रसनसमुद्भवा मधुरादिप्रतिपत्तिस्तदेव न परिमलादिकं लोचनप्रभवप्रत्ययेनैव श्रुतिविषयशब्दप्रतिपत्तौ नयनबुद्धिरेव सर्वाक्षविषयग्राहिका इतीन्द्रियान्तरपरिकल्पनावैयर्थ्यम्। शब्दात्मकेऽपि पदार्थेऽभ्युपगम्यमाने श्रुतिरेव शब्दपरिणतिमधिगच्छति लोचनं च रूपविवर्तं पर्येतीत्यभ्युपगन्तव्यम् अन्यथैकमेवाक्षं विषयपञ्चकं विषयीकरोतीति[8] तत्राप्यक्षपञ्चककल्पना विफलतामनुभवेत् ततः सकलमक्षवेदनं वाचकविकलं स्वविषयमेवावलोकयतीति निर्विकल्पकम्। न चार्थसन्निधानाद्[9] वाचः—सन्निधावप्यक्षान्तर वैफल्यप्रसक्तेः—लोचनमतौ यदि नाम न शब्दसन्निधिजनिता शब्दाकारता तथाप्युपादानाद् बोधरूपतैव वाग्रूपतापि वाचकस्मृतिजनिता तत्र भविष्यति यतो यदि स्मरणजनितो वाग्रूपतोल्लेखस्तदा स्पष्टलोचनप्रभवदृशो भिन्न एव भवेत् कारण-विषयभेदात्। तथाहि–लोचनव्यापारानुसारिणी दृग् वर्तमानकालं रूपमात्रं विशदतयाऽवभासयति विकल्पस्तु शब्दस्मरणप्रभवोऽसन्निहितां वाग्रूपतामध्यवस्यति कथं न हेतुविषयभेदात् तयोर्भेदः? अथ वाक्परिष्वक्तं रूपमधिगच्छद् 'रूपमिदम्' इत्येकं संवेदनमध्यवस्यति जन इति कथं न तयोरैक्यम्? नैतत्, यतः 'रूपमिदम्' इति ज्ञानेन वाग्रूपतापन्नाः पदार्था गृह्येरन्, भिन्नवाग्रूपताविशेषणविशिष्टा वा? प्रथमपक्षे लोचनं वाग्रूपतायां न प्रभवतीति तदनुसारिण्यध्यक्षमतिरपि न तत्र प्रवृत्तिमती ततः कथमसावर्थरूपापन्नां वाग्रूपतामधिगन्तुं क्षमेत्यन्यैवाक्षमतिर्नामोल्लेखात्। अथ द्वितीयः पक्षस्तदापि नयनदृग्[10] तद्विषये शुद्ध एव पुरोव्यवस्थिते

---

१ इदं मतं तन्निरसनं च प्रमेयकमलमार्तण्डे समानप्रायं वर्तते–पृ० ११ द्वि० पं० ३–पृ० १२ प्र० पं० ११। अष्टसहस्र्या तु वैयाकरणीयशब्दाद्वैतदर्शन–तत्प्रतिवादपरा चर्चा संक्षिप्ता भङ्ग्यन्तरेण च दृश्यते–पृ० १३० पं० १। २–ते यदुक्तम् वृ० ल० वा० बा०। ३ पृ० ३८० पं० १४, टि० १३। "तथा च वैयाकरणा आहुः" इत्युल्लिख्य श्लोकोऽयमुद्धृतो वर्तते न्यायबिन्दुटीकाटिप्पण्याम्–पृ० २० पं० २–४। न्यायमञ्ज० आ० ९ पृ० ५३२ पं० ११। ४–चनाच–आ०। ५ "सौगत उत्तरमिति"—ल० टि०। ६–क्तानी–आ०। ७–विक्तः स्व–वृ०। ८–ति अत्रा–वृ० वा० बा०। ९ चार्थे स–बा० बा०। चास–वृ०। १०–यनं दृ–आ० हा० वि० विना। ११–दृग् वि–वृ०।

प्रवर्तते न वाचि, तत्र चावर्त्तमाना कथं तद्विशिष्टं स्वविषयमुद्द्योतयितुं समर्था, न हि विशेषणं भिन्नमनवभासयन्ती तद्विशिष्टतया विशेष्यमवभासयति दण्डाग्रहण इव दण्डिनम् । न च यद्यपि वाग्दृशि न प्रतिभाति तथापि स्मृतौ प्रतिभातीति विशेषणमर्थस्य भिन्नज्ञानग्राह्यस्यापि विशेषणत्वोपपत्तेरिति वक्तुं शक्यम् संविदन्तरप्रतीतस्य स्वातन्त्र्येण प्रतिभासनात् तदनन्तरप्रतीयमानविशेषणत्वानुपपत्तिः। यतो नैककालमनेककालं वा शब्दस्वरूपं स्वतन्त्रतया स्वग्राहिणि ज्ञाने प्रतिभासमानं विशेषणभावं प्रतिपद्यते सर्वत्र तस्य तद्भावापत्तेः। न च शब्दानुरक्तरूपाद्यध्यक्षमतिरुदेतीति शब्दस्य विशेषणत्वं रूपादेश्च विशेष्यत्वम् यतो यदि तदनुरक्तता तत्प्रतिभासस्तदा शब्दस्याक्षबुद्धावप्रतिभासनान्न तदनुरक्तता। अथ रूपादिदेशे शब्दवेदनं तदनुरक्तता, तदपि न युक्तम्; निरस्तशब्दसन्निधीनां रूपादीनां स्वज्ञाने प्रतिभासनात्। अथ तत्कालशब्दप्रतिभासस्तदनुरागः, न; नयनदृशि रूपादिव्यतिरिक्तशब्दप्रतिभासाभावात् यतो न तुल्यकालमपि शब्दं लोचनसंविद् अवभासयितुं क्षमा तस्य तदविषयत्वात्। अथ शब्दानुपक्तरूपस्मृतिदर्शनात् तद्रूपस्य तस्य प्राग्दर्शनमुपेयते तर्हि शब्दविविक्तमर्थरूपं प्रत्यक्षमधिगच्छति वाचकं तु स्मृतिरुल्लिखतीति न तत्संस्पर्शमध्यक्षमनुभवतीति निर्विकल्पकमासक्तम् अन्यथा शब्दस्मरणासंभवादध्यक्षाभावो भवेत्। तथाहि-यदि वाक्संसृष्टस्य सकलार्थस्य संवेदनं तथासत्यर्थदर्शने तद्वाक्स्मृतिस्तत्र च तत्परिकरितार्थदर्शनम् न च कश्चिद्वाक्संस्पर्शविकलमर्थमवगच्छति तमन्तरेण च न वाक्स्मृतिः तां चान्तरेण न वागनुपक्तार्थदर्शनमित्यर्थदर्शनाभावो भवेत् ततोऽर्थदर्शनान्निर्विकल्पकमेव तदभ्युपगन्तव्यम्। यदि च वाक्संसृष्टस्यैवार्थस्य ग्रहणं तदाऽगृहीतसंकेतस्य बालकस्य तद्ग्रहणं न भवेत् । अथ तस्यापि 'किम्'इति वागुल्लेखोऽस्तीति तदनुपक्ततद्ग्रहणं सविकल्पकम् नैतद् युक्तम्; तस्य 'किमपि'इति सामान्यस्यैव ग्रहणं भवेन्न विशेषस्येति न विशदावभास्यर्थसंवेदनसंभवः। यदा चाश्वं विकल्पयतो गोदर्शनं परिणमति तदा तद्वागपरिच्छेदात् कथमवबोधस्य शाश्वती वाग्रूपता? न हि तदा गोशब्दोल्लेखस्तदवबोधस्य संभवति तत्संवेदनाभावात् युगपद्विकल्पद्वयानुत्पत्तेश्च। ततोऽध्यक्षमर्थसाक्षात्करणान्न वाग्योजना-

---

१-पत्तेः। आ० हा० वि०। २-स्य सद्भा-भू०। ३ "शब्दस्य लोचनसंविदविषयत्वात्"–बृ० टि०। ४-मर्थस्वरू-भू० वा० बा० भां० मां०। ५ "शब्द–" बृ० टि०। ६-संसृष्ट-बृ० वा० बा० आ०। ७-कश्चिद् वा-भू०। कश्चिद्वा- आ०। ८-संस्पृष्ट-आ०। ९-हणे स-बृ० विना। १०-क्षात्का-वा० बा० भां० मा० विना।

'न वाक्संसर्गरहिता काचित् प्रतिपत्तिरस्ति शब्दानुविद्धायास्तस्याः प्रतिभासनात्' इति वैयाकरणसिद्धान्तस्य निरसनं तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकेऽनेन प्रकारेण दृश्यते—

"तथासति यदाह पर —

"वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती । न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी" ॥

इति तदपास्तं भवति तया विनैव आभिनिबोधिकस्य प्रकाशनादित्यावेदयति

वाग्रूपता ततो न स्याद् योक्ता प्रत्यवमर्शिनी । मतिज्ञानं प्रकाशेत सदा तद्धि तया विना ॥
वैखरी मध्यमा वाचं विनाक्षज्ञानमात्मनः । स्वसंवेदनमिष्टं नोऽन्योन्याश्रयणमन्यथा ॥
पश्यन्त्या तु विना नैतद्व्यवसायात्मवेदनम् । युक्तं न चात्र संभाव्यः प्रोक्तोऽन्योन्यसमाश्रयः ॥
व्यापिन्या सूक्ष्मया वाचा व्याप्तं सर्वं च वेदनम् । तया विना हि पश्यन्ती विकल्पात्मा कुतः पुनः ॥
मध्यमा तदभावे क्व निर्बीजा वैखरी स्वात् । ततः सा शाश्वती सर्ववेदनेषु प्रकाशते ॥
इति येऽपि समादध्युस्तेऽप्यनालोचितोक्तयः । शब्दब्रह्मणि निर्भागे तथा वक्तुमशक्तितः ॥
न ह्यवस्था च भोक्तृस्य सत्याद्वैतप्रसक्तितः । न च तासामविद्यात्वं तत्त्वासिद्धौ प्रसिध्यति ॥
ब्रह्मणो न व्यवस्थानमक्षज्ञानात् कुतश्चन । स्वप्नादाविव मिथ्यात्वात् तस्य साकल्यतः स्वयम् ॥
नानुमानात् ततोऽर्थानां प्रतीतेर्दुर्लभत्वतः । परप्रसिद्धिरप्यस्य प्रसिद्धा नाप्रमाणिका ॥
स्वतः संवेदनात् सिद्धिः क्षणिकानंशवित्तिवत् । न परब्रह्मणो नापि सा युक्ता साधनाद् विना ॥
आगमादेव तत्सिद्धौ भेदसिद्धिस्तथा न किम् । निर्बाधादेव चेत्तत्त्वं न प्रमाणान्तरादृते ॥
तदागमस्य निर्णेतुं शक्यं जातु परीक्षकैः । न चागमस्ततो भिन्नः समस्ति परमार्थतः ॥
तद्विवर्तस्त्वविद्यात्मा तस्य प्रज्ञापकः कथम् । न चाविनिश्चिते तत्त्वे फेनबुद्बुदवद् भिदा ॥
मायेव भत दुष्पारा विपश्चिदिति पश्यति । येनाविद्या विनिर्णीता विद्या गमयति ध्रुवम् ॥
भ्रान्तेर्बीजाविनाभावादनुमात्रैवमागता । ततो नैव परं ब्रह्मास्त्यनादिनिधनात्मकम् ॥

मुपस्पृशतीति निराकृतम् "वाग्रूपता चेद् व्युत्क्रामेत्" इत्यादि लोचनाद्यध्यक्षे वाक्संस्पर्शायोगात् यतः श्रोत्रग्राह्यां वैखरीं वाचं न तावन्नयनजसंवेदनमुपस्पृशति तस्यास्तदविषयत्वात्। नापि स्मृति-

---

विवर्ततार्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः" ।—१,२० पृ० २४० श्लो० ८९-१०४।

१ पृ० ४८९ पं० ५। २-व्यक्ष वा-पृ०।

३ वैखर्यादयस्तिस्रो वाचो वाक्यपदीये इत्थं दर्शिताः—

"वैखर्या मध्यमायाश्च पश्यन्त्याश्चैतदद्भुतम्। अनेकतीर्थभेदायास्त्रय्या वाचः परं पदम् ॥"

का० १ श्लो० १४४ पृ० ५५।

तासामेव सूक्ष्माख्यवाग्भेदसहितानां वाचां लक्षणानि प्रमेयकमलमार्तण्डे प्राचीनपद्यैर्वर्णितानि। स्याद्वादरत्नाकरे वाक्यपदीयटीकायां च तान्येव विस्तरतो व्यावर्णितानि, तत्संवादकप्राचीनपद्यानां व्याख्यापि तत्र स्फुटं कृता। तद्यथा क्रमशः—

"स्थानेषु विवृते वायौ कृतवर्णपरिग्रहा। वैखरी वाक् प्रयोक्तॄणां प्राणवृत्तिनिबन्धना ॥
प्राणवृत्तिमतिक्रम्य मध्यमा वाक् प्रवर्तते। अविभागा तु पश्यन्ती सर्वतः संहृतक्रमा ॥
स्वरूपज्योतिरेवान्तःसूक्ष्मा वागनपायिनी। तया व्याप्तं जगत् सर्वं ततः शब्दात्मकं जगत् ॥

इत्यादि"—पृ० १२ प्र० पं० ९।

"सा चेयं वाक् त्रैविध्येन व्यवस्थिता वैखरी मध्यमा पश्यन्तीति। तत्र येयं स्थान-करण-प्रयत्नक्रमव्यज्यमाना अकारादिवर्णसमुदायात्मिका वाक् सा वैखरीत्युच्यते। तदुक्तम्—

स्थानेषु विधृते वायौ कृतवर्णपरिग्रहा। वैखरी वाक् प्रयोक्तॄणां प्राणवृत्तिनिबन्धना ॥

अस्यार्थः—स्थानेष्विति ताल्वादिस्थानेषु, वायौ प्राणसंज्ञे, विधृते अभिघातार्थं निरुद्धे सति कृतवर्णपरिग्रहेति हेतुद्वारेण विशेषणम् ततः ककारादिवर्णरूपस्वीकारात् वैखरीसंज्ञा वक्तृभिर्विशिष्टायां खरावस्थायां सप्तम्यां भवा वैखरीति निरुक्तेः वाक् प्रयोक्तॄणां सबन्धिनी, यथा तेषां स्थानेषु तस्याश्च प्राणवृत्तिरेव निबन्धनं तत्रैव निबद्धा सा तन्मयत्वादिति।

या पुनरन्तः सङ्कल्प्यमाना क्रमवती श्रोत्रग्राह्यवर्णरूपाभिव्यक्तिरहिता वाक् सा मध्यमेत्युच्यते। तदुक्तम्—

केवलं बुद्ध्युपादानात् क्रमरूपानुपातिनी। प्राणवृत्तिमतिक्रम्य मध्यमा वाक् प्रवर्तते ॥

अस्यार्थः—स्थूलां प्राणवृत्तिं हेतुत्वेन वैखरीवदनपेक्ष्य केवलं बुद्धिरेवोपादानं हेतुर्यस्याः सा प्राणस्थत्वात् क्रमरूपमनुपतति अस्याश्च मनोभूमाववस्थानम्, वैखरी-पश्यन्त्योर्मध्ये भवाद् मध्यमा वागिति।

या तु ग्राह्यभेदक्रमादिरहिता स्वप्रकाशा संविद्रूपा वाक् सा पश्यन्तीत्युच्यते। तदुक्तम्—

अविभागा तु पश्यन्ती सर्वतः संहृतक्रमा। स्वरूपज्योतिरेवान्तःसूक्ष्मा वागनपायिनी ॥

अस्यार्थः—पश्यन्ती यस्यां वाच्यवाचकयोर्विभागेनावभासो नास्ति सर्वतश्च सजातीयविजातीयापेक्षया संहृतो वाच्यानां वाचकानां च क्रमो देशकालकृतो यत्र क्रमविवर्तशक्तिस्तु विद्यते। स्वरूपज्योतिः स्वप्रकाशा वेद्यते वेदकभेदातिक्रमात् सूक्ष्मा दुर्लक्ष्या अनपायिनी कालभेदासंस्पर्शादिति"—१-५-पृ० ४१ द्वि० पं० ३-१८।

"यस्याः श्रोत्रविषयत्वेन प्रतिनियतं श्रुतिरूपं सा वैखरी श्लिष्टव्यक्तवर्णसमुच्चारणप्रसिद्धसाधुभावा भ्रष्टसंस्कारा च दुन्दुभि-वेणु-वीणादिशब्दरूपा चेत्यपरिमितभेदा। मध्यमा त्वन्तः सन्निवेशिनी परिगृहीतक्रमेव बुद्धिमात्रोपादाना सूक्ष्मा प्राणवृत्त्यनुगता प्रतिसंहृतक्रमा सत्यप्यभेदे समाविष्टक्रमशक्तिः। पश्यन्ती तु सा चलाचलाप्रतिबद्धसमाधाना सन्निविष्टज्ञेयाकारा प्रतिलीनाकारा निराकारा च परिच्छिन्नार्थप्रत्यवभासा संसृष्टार्थप्रत्यवभासा च प्रशान्तसर्वार्थप्रत्यवभासा चेत्यपरिमितभेदा। तत्र व्यावहारिकीषु सर्वासु वागवस्थासु व्यवस्थितसाध्वसाधुप्रविभागा पुण्यसंस्कारहेतुः परन्तु पश्यन्त्या रूपमनपभ्रंशमसंकीर्णं लोकव्यवहारातीतम्। तस्या एव वाचो व्याकरणेन साधुत्वज्ञानलभ्येन शब्दपूर्वेण योगेनाधिगम इत्येकेषामागमः। तदुक्तमितिहासे आश्वमेधिके पर्वणि ब्राह्मणगीतासु—(महाभा० पर्व १४ अनुगीतापर्व २ अ० २२ श्लो० २०-२३।)

गौरिव प्रचरत्येका रसमुत्तमशालिनी। दिव्यादिव्येन रूपेण भारती गौः शुचिस्मिता ॥
एतयोरन्तरं पश्य सूक्ष्मयोः स्यन्दमानयोः। प्राणापानान्तरे नित्यमेका सर्वस्य तिष्ठति ॥
अन्या त्वपरिमाणेव विना प्राणेन वर्तते। जायते हि ततः प्राणो वाचमाप्याययन् पुनः ॥
प्राणेनाप्यायिता सैव व्यवहारनिबन्धनम्। सर्वस्योच्छ्वासमासाद्य न वाग् वदति कर्हिचित् ॥
घोषिणी जातनिर्घोषा अघोषा च प्रवर्तते। तयोरपि च घोषिण्या निर्घोषैव गरीयसी ॥ इति।

(आश्वमेधिके पर्वणि वाक्यपदीयटीकायां च पाठान्तरसहितानीमानि पद्यानि वर्तन्ते) पुनश्चाह—

स्थानेषु विवृते वायौ कृतवर्णपरिग्रहा। वैखरी वाक् प्रयोक्तॄणां प्राणवृत्तिनिबन्धनी ॥

विषयां मध्यमां तामवगमयति तामन्तरेणापि शुद्धसंविदो भावात् । संहृताशेषवर्णादिविभागा

केवलं बुद्ध्युपादानक्रमरूपानुपातिनी । प्राणवृत्तिमतिक्रम्य मध्यमा वाक् प्रवर्तते ॥
अविभागा तु पश्यन्ती सर्वतः संहृतक्रमा । स्वरूपज्योतिरेवान्तस्सैषा वागनपायिनी ॥
सैषा सकीर्यमाणाऽपि नित्यमागन्तुकैर्मलैः । अन्त्या कलेव सोमस्य नात्यन्तमभिभूयते ॥
तस्यां दृष्टस्वरूपायामधिकारो निवर्तते । पुरुषे षोडशकले तामाहुरमृतां कलाम् ॥

इति सैषा त्रयी वाक् चैतन्यग्रन्थिविवर्तवदनास्थेयपरिमाणा तुरीयेण भागेन मनुष्येषु प्रत्यवभासते"—का० १ पृ०५६ पं० १-पृ० ५७ पं० ६।

"एतेन—

वाग्रूपता चेद् व्युत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती । न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी ॥

इति वाक्संस्पृष्टस्यैव सकलार्थस्य संवेदनम् इति शाब्दिकमतं निरस्तम् अर्थदर्शने तद्वाक्स्मृतेस्तत्संस्पर्शे तत्संस्पर्शे च तत्संस्पृष्टार्थग्रहणमिति अन्योन्याश्रयात् अगृहीतसंकेतस्य च बालस्य वागसंस्पर्शेनार्थाग्रहणप्रसङ्गात् 'किम्' इति वाक्संस्पर्शे च सामान्यग्रहेऽपि विशेषाग्रहात् । किञ्च, वैखरीं वाचं न नायनं ज्ञानमुपस्पृशति तस्याः श्रोत्रमात्रग्राह्यत्वाभ्युपगमात् । नापि स्मृतिविषया मध्यमाम् तामन्तरेणापि शुद्धसंविदो भावात् । संहृताशेषवर्णादिविभागा पश्यन्ती च वागेव न भवति बोधरूपत्वात् वाचश्च वर्णरूपत्वात् अतो न तद्युक्ता प्रतिपत्तिः अपि तु अविकल्पिकैवेति"—शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० १५५ द्वि० पं० १०-पृ० १५६ प्र० पं० ३।

"उक्तं च—

वैखरी शब्दनिष्पत्तिर्मध्यमा श्रुतिगोचरा । द्योतितार्था च पश्यन्ती सूक्ष्मा वागनपायिनी" ॥

—कुमारसं० स० २ श्लो० १७ टीका।

श्रुतज्ञानभेदान् संख्यापयता विद्यानन्दिस्वामिना स्याद्वाददृष्ट्या द्रव्यभावभङ्ग्या ता एव चतस्रोऽपि वैखर्यादयो वाचो द्रव्य-पर्याय-व्यक्ति-शक्तिप्रकारतया निरूपितास्तत्त्वार्थश्लोकवार्तिके तट्टीकारूपे तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालङ्कारे च—

"चतुर्विधा हि वाग् वैखरी मध्यमा पश्यन्ती सूक्ष्मा चेति"—१, २० पृ० २४० पं० १९।

"स्याद्वादिना पुनर्वाचो द्रव्य-भावविकल्पतः । द्वैविध्यं द्रव्यवाग् द्वेधा द्रव्यपर्यायभेदतः ॥
श्रोत्रग्राह्यात्र पर्यायरूपा सा वैखरी मता । मध्यमा च परैस्तस्याः कृतं नामान्तरं तथा ॥
द्रव्यरूपा पुनर्भाषावर्गणा पुद्गलाः स्थिता । प्रत्ययान्मनसा नापि सर्वप्रत्ययगामिनी ॥
भाववाग् व्यक्तिरूपाऽत्र विकल्पात्मनिबन्धनम् । द्रव्यवाचोभिधा तस्याः पश्यन्तीत्यनिराकृता ॥
वीर्यविज्ञानावृतिच्छेदविशेषोपहितात्मनः । वक्तुः शक्तिः पुनः सूक्ष्मा भाववागभिधीयताम् ॥
तया विना प्रवर्तन्ते न वाचः कस्यचित् क्वचित् । सर्वज्ञस्याप्यनन्तायाः ज्ञानशक्तेस्तदुद्भवः ॥"

—१,२० पृ० २४१ श्लो० १०४-१०९।

"ननु च श्रोत्रग्राह्या पर्यायरूपा वैखरी मध्यमा च याप्युक्ता शब्दाद्वैतवादिभिः यतो नामान्तरमात्रं तस्याः स्यान्न पुनरर्थभेद इति । नापि पश्यन्ती वाग् वाचकविकल्पलक्षणा सूक्ष्मा वा वाक् शब्दज्ञानशक्तिरूपा किं तर्हि स्थानेषु उरःप्रभृतिषु निभिद्यमाने विवृते वायौ कृतवर्णत्वपरिग्रहा वर्णसमापद्यमाना वक्तृप्राणवृत्तिहेतुका वैखरी "वैखरी वाक् प्रयोक्तृणां प्राणवृत्तिनिबन्धना" इति वचनात् । तथा मध्यमा केवलमेव बुद्ध्युपादाना क्रमरूपानुपातिनी वक्तृप्राणवृत्तिमतिक्रम्य प्रवर्तमाना निश्चिता "केवलं बुद्ध्युपादाना क्रमरूपानुपातिनी । प्राणवृत्तिमतिक्रम्य मध्यमा वाक् प्रवर्तते ॥" इति वचनात् । पश्यन्ती पुनरविभागा सर्वतः संहृतक्रमा प्रत्येया । सूक्ष्माऽत्र स्वरूपज्योतिरेवान्तरवभासिनी नित्यावगन्तव्या । "अविभागात्तु पश्यन्ती सर्वतः संहृतक्रमा । स्वरूपज्योतिरेवान्तः सूक्ष्मा वागवभासिनी ॥' इति वचनात् । ततो न स्याद्वादिना कल्पयितुं युक्ताश्चतस्रोऽपि श्रुतस्य वैखर्यादयस्तदनिष्टलक्षणत्वादिति केचित् । तेऽपि न प्रातीतिकोक्तयः । वैखर्या मध्यमायाश्च श्रोत्रग्राह्यत्वलक्षणानतिक्रमात् । स्थानेषु विवृते हि वायुर्वक्तॄणां प्राणवृत्तिश्च वर्णत्वं परिगृह्णत्या वैखर्याः कारणम् । वर्णत्वपरिग्रहस्तु लक्षणम् । स च श्रोत्रग्राह्यत्वपरिणाम एव इति न किञ्चिदनिष्टम् । तथा केवला बुद्धिर्वक्तृप्राणवृत्त्यतिक्रमश्च मध्यमायाः कारणं तु (?) लक्षणं क्रमरूपानुपातित्वमेव च तत्र श्रोत्रग्रहणयोग्यत्वाविरुद्धमिति न निराक्रियते । पश्यन्त्याः सर्वतः संहृतक्रमत्वमविभागत्वं च लक्षणम् । तत्र यदि सर्वथा तदा प्रमाणविरोधः, वाच्यवाचकविकल्पक्रमाविभागयोस्तत्र प्रतिभासनात् कथञ्चित्तु संहृतक्रमत्वं विभागत्वं च तत्रेष्टमेव युगपदुपयुक्तश्रुतविकल्पानामसम्भवाद् वर्णादिविभागाभावाच्चानुपयुक्तश्रुतविकल्पेऽपि सद्भावेन भावश्रुतलक्षणानतिक्रम एव । सूक्ष्मायाः पुनरन्तःप्रकाशमानस्वरूपज्योतिर्लक्षणत्वं कथञ्चिन्नित्यत्वं च नित्योदितानास्तमितज्ञानावरणक्षयोपशमजन्यत्वान्नान्वयापेक्षया ज्ञानाद्यतिरूपाच्च चित्सामान्यात् विशिष्यते"—१,२० पृ० २४१ पं० २३—पृ० २४२ पं० ६।

पश्यन्ती वागेव न भवति बोधरूपता[1](पत्वात्) वर्णपदाद्यनुक्रमलक्षणत्वाद् वाचः न तद्युक्ता[2] प्रतिपत्तिर्विकल्पिका अपि तु निर्विकल्पिकैव[3] श्रुतिस्मृतिविषयवर्णपदानुक्रमोल्लेखशून्यत्वात्। यदि[4] चाविकल्पकं संवेदनं किञ्चिन्नाभ्युपेयते तदा वाक्संस्मरणासंभवाद् विकल्पस्याप्यसंभव एव स्यात्। अथ प्रथमं संवेदनं तदा वाचकस्मृतेरभावादविकल्पकम् तज्जनितवाचकस्मृतिसहकारीन्द्रियप्रभवं त्वभिधानानुरक्तार्थावभासि द्वितीयं सविकल्पकम्, नैतदस्ति; यतः स्मृतिसचिवमपि लोचनं न वाचके[5] तत्संकेतसमयभाविनि प्रवृत्तिमदिति कथं तदविषये स्मृतिदर्शितेऽपि वाचकानुपक्तेऽध्यक्षप्रवृत्तिः यतो न गन्धस्मृतिसहकारिलोचनमविषये परिमलादौ संवेदनं जनयद् दृष्टम् किन्तु सन्निहित एव मलयजरूपे दर्शनं तु तत्सहचारिणि परिमलादौ स्मृतिं जनयतीति न[6] तत् तद्रूपसंविदो रूपं हेतुविषयभेदात् तथात्रापि नयनसंवेदनं रूपमात्रसाक्षात्कारि भिन्नम् तद्दर्शनोपजनितं तु विकल्पज्ञानं वचनां[7]परीतार्थाध्यवसायस्वभावं भिन्नमेवेत्यविकल्पकमध्यक्षं सिद्धम्।

[नैयायिकादिसम्मतं केवलसविकल्पकवादमुपन्यस्य निर्विकल्पकवादिना तस्यापि दूषणम्[8]]

स्यादेतत् यद्यपि[9] वाचो नयनजप्रतिपत्त्यविषयत्वान्न तद्विशिष्टार्थदर्शनमध्यक्षं तथापि द्रव्यादेर्नयनादिविषयत्वात् तद्विशिष्टार्थाध्यक्षप्रतिपत्तिः सविकल्पिका भविष्यति। तथाहि-नियतदेशादितया वस्तु परिदृश्यमानं व्यवहारोपयोगि अन्यथा तदसंभवाद्[10] देशादिसंसर्गरहितस्य च तस्य कदाचिदप्यननुभवात् यच्च देशादिविशिष्टतया नामोल्लेखाभावेऽपि वस्तु संगृह्णाति तत् सविकल्पकम् विशेषणविशेष्यभावेन हि प्रतीतिः कल्पना देशादयश्च नीलादिवद् तदवच्छेदका दर्शने प्रतिभान्तीति न तत्र शब्दसंयोजनापक्षभावी दोषः।

एतदप्यसत्, यतोऽध्यक्षं पुरोवर्ति नीलादिकमवलोकयितुं समर्थम् न तदवष्टब्धं भूतलम् तदनवभासे च कथं तद्विशिष्टमर्थं तदवगन्तुं प्रभुः(भु)? यदपि तदनवष्टब्धं तत्र प्रतिभाति तदपि न तद्विशेषणमिति शुद्धस्यैव सकलस्य प्रतिभासनान्न विशेषणविशेष्यभावग्रहणम्। तथाहि—दर्शने रूपमालोकश्च स्वस्वरूपव्यवस्थितं द्वितयमाभाति न तद्व्यतिरिक्तं काल-दिगादिकमिति कथमप्रतिभासमानं तद्विशेषणं भवति सर्वत्र तद्भावप्रसक्तेः; तेन 'देशादिभिर्विशिष्टस्य सर्वस्यार्थस्य संवेदनम्' इति[11] निरस्तम् विशेषणभूतस्य कस्यचिदप्रतिभासनात्। यत्रापि स्थिराधेयदर्शनादधस्तादाधारमनुमिन्वन्ति तत्रापि नानुमानावसेयमधिकरणमिन्द्रियविज्ञानविषयविशेषणम् नापि तदवसायोऽक्षबुद्धेः स्वरूपमिति न विशेषणविशिष्टप्रतिपत्तिरक्षबुद्धिः। किञ्च, समानकालयोर्वा भावयोर्विशेषणविशेष्यभावम् भिन्नकालयोर्वा अक्षबुद्धिरवभासयति? न तावद् भिन्नकालयोः तयोर्युगपत् तत्राप्रतिभासनात्-यदा हि विशेषणं स्वादिकं पूर्वमवभाति न तदा स्वाम्यादिकं विशेष्यम् यदापि चोत्तरकालं तदवभाति न तदा स्वादिकम् असन्निधानादिति न तद्विशिष्ट[12]तयाऽध्यक्षेण तस्य ग्रहणम्। तथाहि-चक्षुर्व्यापारे पुरोव्यवस्थितश्चैत्र एव परिस्फुटमाभातीति तन्मात्रग्रहणान्न तद्विशिष्टत्वप्रतीतिः। न चासन्निहितमपि विशेषणं स्मरणसन्निधापितमक्षबुद्धिरधिगच्छति स्मरणात् प्रागिव तदुत्तरकालमपि विशेषणासन्निधेस्तुल्यत्वान्न तत्र तदा[13]प्यध्यक्षबुद्धिप्रवृत्तिरित्यपास्तविशेषणस्यार्थस्य साक्षात्करणं युक्तियुक्तम्। नापि तुल्यकालयोर्भावयोर्विशेषणविशेष्यभावमध्यक्षमधिगन्तुं समर्थम् तस्यानवस्थितेः। तथाहि-अविशिष्टेऽपि दण्डपुरुषसंयोगे कश्चिद् दण्डविशिष्टतया पुरुषं 'दण्डी' इति प्रतिपद्यते अपरस्तु तत्रैव पुरुषविशिष्टतया 'दण्डोऽस्य' इति प्रतिपद्यते असङ्केतितविशेषणविशेष्यभावस्तु 'दण्ड-पुरुषौ' इति स्वतन्त्रं द्वयमधिगच्छति वास्तवे तु तस्मिन्

१-धरूप। ता व-वा० वा०।"संहृतागेषवर्णादिविभागा तु पश्यन्ती सूक्ष्मा चान्तर्ज्योतीरूपा वागेव न भवति अनयोरर्थात्मदर्शनलक्षणत्वात्"। संहृत-"नष्ट-"।-वर्णादि-"पद-वाक्य-"।-विभागा-"अर्थदर्शनम्"।-पश्यन्ती "अर्थदर्शनलक्षणा"।-ज्योतीरूपा "आत्मदर्शनलक्षणा"—प्रमेयक० पृ० १२ प्र० पं० ८ तथा टि० २७, २८, २९, ३०, ३१। २ "पश्यन्तीवाचा युक्ता"- वृ० टि०। ३-कल्पकै-वृ०। ४ यदि वावि-वृ० विना। ५-चके संकेत-वा० वा० भा० मां०।-चके तत्सम- वृ०। ६ न तद्रू-वृ० वा० बा० हा० वि० विना। ७-नव्यप-आ० हा० वि०। ८ "एवं शब्दब्रह्मवादिपूर्वपक्षप्रतिक्षेपः कृत.। सम्प्रति नैयायिकान् प्रत्याह"—वृ० टि०। ९-पि न वा-वा० बा० विना। १० "व्यवहार-" वृ० टि०। ११ प्र० पृ० पं० १३। १२ "स्वादि-" वृ० टि०। १३ "उत्तरकालेऽपि"-वृ० टि०।

योग्यदेशस्थप्रतिपत्तॄणां दण्ड-पुरुषरूपयोरिव तुल्याकारतयाऽवभासो भवेत् न चैवम् । तेन दण्डपुरुषस्वरूपमेव स्वतन्त्रमध्यक्षावसेयम् विशेषणविशेष्यभावस्तु कल्पनाविरचित एव । येन हि दण्डोपकृतपुरुषजनितार्थक्रिया प्रागुपलब्धा तदर्थी च स तत्र विशेषणत्वेन दण्डं विशेष्यत्वेन च पुरुषं प्रतिपद्यते प्रधानत्वात् येन च पुरुषोपकृतदण्डेन फलमभ्युपेतं स तत्र दण्डं प्राधान्यात् विशेष्यमध्यवस्यति अपरिगतफलोपकारस्य प्रथमदर्शने स्वरूपमात्रनिर्भासात् ततोऽन्वय-व्यतिरेकाभ्यामवगतसामर्थ्यं द्वयमासाद्य विशिष्टत्वप्रतिपत्तिः प्रागवगते च सामर्थ्ये नेन्द्रियस्य व्यापारः तस्यासन्निहितत्वात् । न च व्यापाराविषये तत् प्रतिपत्तिजननसमर्थम् । न च पुरःसन्निहितेऽर्थे प्रवर्तमानमिन्द्रियं तत्रापि प्रतिपत्तिमुपजनयितुं समर्थम् वर्त्तमानकालालीढनीलादिदर्शनप्रवृत्तस्य चिरातीतभावपरम्परादर्शनप्रवृत्तिप्रसक्तेः सकलातीतभावविषयस्मृतेरध्यक्षता भवेत् तथा स्वगोचरचारिणी स्मृतिरपि स्फुटमर्थं वर्तमानसमयमुद्भासयिष्यतीति सर्वाक्षमतिः स्मृतिर्भवेत् । न च वर्त्तमानमर्थमध्यक्षमेवोद्भासयतीति किं तत्र स्मृत्या? यत्र हि दर्शनानवतारस्तत्र स्मृतिपरिकल्पना फलवती स्पष्टदर्शनावतारे तु वर्तमानसमयभाविनि रूपादौ स्मृतिप्रवृत्तिरसंभविनी विफला चेति न तत्परिकल्पना, नन्वेवमतीते विशेषणादौ स्मृतिरेव प्रवर्तिष्यत इति किं तत्र विशदसंविदवतारेण? सा हि सन्निहितमेवार्थमवतरति न च तदा विशेषणादयः सन्निहितास्ताननवलम्बमाना निरालम्बनैव भवेत् ततो विशुद्धरूपमात्रप्रतिभासादध्यक्षसंविन्निरस्तविशेषणमर्थमवगमयति विशेषणयोजना तु स्मरणादुपजायमाना अपास्ताक्षार्थसन्निधिर्मानसी । न च स्पष्टप्रतिभासाद् वर्तमानार्थग्राहिणीति वक्तव्यम् तामन्तरेणापि स्फुटमर्थप्रतिभासात् । न च स्मृतिमन्तरेणापि यदि विशदतनुरर्थात्मा प्रतिभातीति न तस्य ग्राहिका स्मृतिस्तर्ह्यक्षव्यापारसद्भावे सुखमन्तरेणापि विषयावगतिरस्तीति सुखमपि विषयग्राहि न स्यात् यतो निरस्तबहिरर्थसन्निधयो भावनाविर्भूततनवः सुखादयो नार्थवेदकाः स्वग्रहणपर्यवसितस्वरूपत्वात् तेषाम् अक्षान्वयव्यतिरेकानुविधायिन्यो विशदसंविद एव बहिरर्थावभासिकाः पृथगवसीयन्ते सुखादिभ्यस्ता एव तदवभासिकास्तद्वद् विकल्पोऽपि नार्थसाक्षात्करणस्वभाव इति ।

ननु यदि न पुरःस्थितार्थग्राही विकल्पः कथं ततस्तत्र प्रवृत्तिर्भवेत्? यदेव विशेषणादिकं प्राक् तेनानुभूतं तत्रैव ततः प्रवृत्तिर्भवेत् नहि स्वात्मानमनारूढेऽर्थे प्रवृत्तिविधायि विज्ञानमुपलब्धम् अन्यथा शुक्लमर्थमवतरन्ती संवित्रीलार्थे प्रवर्त्तिका भवेत् । न च निर्विकल्पकमेव संवेदनं वर्तमानेऽर्थे प्रवृत्तिविधायि, विकल्पमन्तरेणापि सर्वत्र प्रवृत्तिप्रसक्तेः । न च सुखसाधनत्वनिश्चयमन्तरेण पुरःप्रकाशनमात्रेण कश्चित् प्रवर्तत इति विकल्प एव पुरोव्यवस्थितार्थग्राही प्रवर्त्तकत्वात् अक्षानुसारितया च स एवाध्यक्षमिति युक्तं पूर्वदृष्ट-नामादिविशेषणग्राही निश्चय इति, एतदप्यसङ्गतम्, धूमग्राह्यध्यक्षव्यतिरिक्ताऽस्पष्टावभास्यनुमानाकारस्येव विशददर्शनभृतोऽर्थाकाराद् व्यतिरिक्तविकल्पमत्युल्लिख्यमानाऽस्पष्टाकारस्य तत्राऽननुभवात् । ततो बहिरर्थग्राहिण्यो विकल्पमतयोऽभ्युपगन्तव्या न पुनस्तदा विकल्पमतिः पूर्वदृष्टविशेषणमात्राध्यवसायिनी अपरा पुरोवर्त्तिविशदार्थावभास्यध्यक्षसंविदपरैव भेदप्रतिभासाभावादिति, असदेतत्; यतो यदि नाम पुरोवर्त्तिनमर्थं विकल्पमतिरुद्द्योतयितुं प्रभवति तथापि न तत्र प्रवृत्तिः प्रवृत्तिविरचनाचतुरार्थक्रियासमर्थरूपानवभासनात् तदवभासने ह्यर्थक्रियार्थिनां प्रवृत्तिर्युक्ता । न चार्थक्रियासम्बन्धं वर्तमानसमयसम्बन्धिन्यर्थे ताः प्रदर्शयितुं समर्थाः तदानीं तस्या असन्निधानात् असन्निधौ च न तत्र सामर्थ्यावगतिः पदार्थस्वरूपमात्रावसायात् । न च तत्स्वरूपमात्रावसायादेव सामर्थ्यावगतिः अतिप्रसङ्गात् । ततः पुरोवर्त्तिनि प्रवर्तमानोऽपि न विकल्पः प्रवर्तकः । न च यतः पूर्वमर्थक्रिया प्रभवन्ती दृष्टा संप्रत्यपि तदर्थक्रियार्थितया तदध्यवसायात् प्रवृत्तिर्भविष्यति, यतो येन प्रागर्थक्रिया निर्वर्तिता तदेवेदं पुरः प्रतिभातीति तन्निर्भासाभावे कुतः सिध्यति? न च कल्पनैव तदध्यवसायिनी तन्निर्भासः यतो न कल्पनाबुद्ध्यध्यवसितं तत्त्वं परमार्थसद्व्यवहारमवतरति प्रत्यक्षप्रतिभातस्यैव तद्व्यवहारावतारात् तदभावे तद-

1-ददर्शनाव-वा० बा० भां० मा० । 2-त्मा न प्र-भा० मां० । 3 पुरोऽवस्थि-वृ० वा० बा० भा० मा० । 4-म्बन्धं प्रव-वा० बा० ।-म्बन्धव-वृ० आ० हा० वि० । 5 "अर्थक्रियासमर्थवस्तु"-वृ० टि० । 6-बुद्ध्यध-वृ० वा० बा० विना । 7-हारात्तद्-आ० वि० ।

भावात् । न चाध्यक्षपुरःस्मरणसहायः प्रथमाक्षसन्निपातवेलायामेव नीलादिरूपतावत् तद्विभासोदयप्रसक्तेः । अतो न कल्पनाध्यक्षविषयस्तत्त्वम् आद्यदर्शनानधिगतत्वात् ।

अथ सहकारिवैकल्यात् यद्यप्याद्यदर्शनावभासि न तत्त्वं तथापि न तन्नास्ति न हि तीक्ष्णांशुकरनिकरोपहतदृशां गर्भगृहाद्यनुप्रवेशानन्तरमप्रतिभासमाना अपि घटादयो भावाः स्वस्थीभूतनेत्राणां न प्रतिभान्ति, न च प्रागप्रतिभासनात् न सन्ति यथा च सहकारिवशात् पूर्वमप्रतिभाता अपि पश्चात् प्रतिभान्ति तथाद्याप्याद्यदर्शनं स्फुटार्थावभासि यद्यपि तत्त्वं नानुभवति स्मरणसहायाक्षप्रभवा तु प्रत्यभिज्ञा तदनु भाविष्यतीति न तत्त्वस्यासत्त्वम् नाप्यक्षान्वयव्यतिरेकानुविधायिनी प्रत्यभिज्ञा न प्रत्यक्षमिति, अत्रोच्यते; यदक्षप्रभवा संविदाद्या न तत्त्वमवभासयति पश्चादपि तदविषयत्वान्नावभासयेत् यथा गन्धमविषयत्वान्नैकत्वे प्रतिपत्तिं विदधाति तथा स्मरणसहकृतमपि न तत्र तां विधास्यति अविषयत्वाविशेषात् न हि परिमलस्मरणसहायमपि लोचनं गन्धे प्रतिपत्तिकृदुपलब्धमिति न तत्त्वग्रहणमध्यक्षात् । किञ्च, किं कुर्वाणा स्मृतिरिन्द्रियस्य सहकारित्वं प्रतिपद्यते? पूर्वापरस्य ढौकनमिति चेत्; ननु विनष्टेऽप्यर्थे स्मृतिरुदयन्ती संप्रति कथं तत्सन्निधापिते पौर्वापर्ये प्रवर्तमानाऽध्यक्षधीः सत्यार्था भवेत्? अथ यदुपरतं वस्तु तद्ग्राहिणी बुद्धिर्न सत्यार्थग्राहिणीति युक्तम् अनुपरतं त्वर्थमवगच्छन्ती कथं सा न सत्यार्था? अयुक्तमेतत्। यतः स्मर्यमाणस्यार्थस्यानुपरतिः कुतोऽवगता? न स्मरणात् व्युपरतेऽपि स्मृतिप्रवृत्तेरित्युक्तत्वात् । न च स्मरणोपनीतपौर्वापर्यस्य दर्शने प्रतिभासनात् तदप्रच्युतिः इतरेतराश्रयदोषप्रसक्तेः । तथाहि-स्मर्यमाणस्यार्थस्यानस्तमयसिद्धेस्तदुपनीते तत्र दर्शनप्रवृत्तिः सिध्यति तत्सिद्धौ च स्मरणोपनीतस्यानस्तमयसिद्धिरिति कथं नेतरेतराश्रयत्वम्? अथ स्मृतिः संप्रति प्रतिभासविषयादर्थाद् भिन्नं विषयमध्यवस्यन्ती निरालम्बना स्यात् प्रतिभासविषयं तमेवार्थमुल्लिखन्ती तु कथमसदर्थविषया? न; दर्शनगृहीतस्यैवार्थमुल्लिखतीत्यत्र प्रमाणाभावात् स्मरणोपनीतैकत्वावभासिन्यध्यक्षमतिः सत्यार्थग्राहिणी सिद्धा । न च पूर्वदर्शनमेव पूर्वरूपसङ्गतमर्थमनुभवदेकत्वे प्रमाणम् यतो यदि पूर्वरूपतामर्थस्याऽऽद्यदर्शनमेवावभासयति तथा सति पूर्वापरैकत्वं तदेवावगमयिष्यतीति तत्र स्मृतिः प्रवर्तमाना व्यर्था । न च तदपि पूर्वरूपतां तस्यावभासयितुं क्षमम् तस्य सन्निहितमात्रविषयत्वात् पूर्वरूपता हि पूर्वदेश-काल-दशासम्बन्धिता पूर्वदेशादीनां च तद्दर्शने अप्रतिभासनात् न तत्संस्पर्शिरूपप्रतिभासस्तत्र संभवी न हि तदप्रतिभासे तत्सम्बन्धिपदार्थरूपप्रतिभासः अन्यथा नीलताऽप्रतिभासेऽपि पीते नीलसम्बन्धिताऽवगतिर्भवेत् । तन्नैकत्वग्राहिण्यध्यक्षमतिः । यच्च 'दृष्टता प्रत्यक्षग्राह्या' इति परैरुच्यते तत्र दृष्टता यदि तद्दृशि प्रतिभानता तदा वर्तमानतैव । अथ पूर्वदृशि प्रतिभातता तदा पूर्वदृशोऽप्रतिभासने कथं तत्प्रतिभाततावभासः संप्रति संवेदने? तत्र हि स्वदृष्टतया सन्निहितं रूपमाभातीति सैव तत्र युक्ता पूर्वदर्शनं तु प्रत्यस्तमितमिति तद्दृष्टतापि व्युपरतैवेति कथं सा वर्तमानदृशि प्रतिभासेत? तदभ्युपगमे वा तद्दृशो निरालम्बनत्वप्रसक्तिः । न च पूर्वदृश्यमानता तत्र व्युपरता दृष्टता तु तदैवोत्पन्नेति कथमसती येन तां प्रतियती प्रत्यक्षमतिर्निरालम्बना भवेत्? यतो यदि दृष्टता तत्र सन्निहिता भवेत् तदा प्रथममागतो नीलादिरूपतामिव तामप्यधिगच्छेत् न चाधिगच्छतीति ज्ञानस्वभावोऽसाधारणतयाऽसौ नार्थस्वरूपमिति कुतोऽध्यक्षावसेया? तथाहि-पूर्वदर्शनमनुसरन्नेव पूर्वदृष्टतां व्यवहारी तत्राध्यारोपयति विस्मरणे तदनध्यवसायात् यच्च स्मृतिरध्यवस्यति स्वरूपं न तद्दर्शनपथोपयुक्तम् आकारभेदात् । न च तद्दर्शन-स्मरणे एकं विषयं बिभृतः 'पूर्वदृष्टं पश्यामि' इत्यध्यवसायात् । यतः किं स्मर्यमाणं दृश्यमानतया रूपं प्रतीयते, आहोस्विद् दृश्यमानं स्मर्यमाणतयेति विकल्पद्वयम् । तत्र यद्याद्यः पक्षस्तथा सति स्मर्यमाणं परिस्फुटतया रूपमाभातीति कथं तस्य परोक्षता? अथ द्वितीयस्तत्रापि दृश्यमानं स्मर्यमाणेन रूपेणावभातीति सर्वं परोक्षं भवेदिति न काचिदध्यक्षमतिः सत्यार्था स्यात् । अतोऽक्षधीर्वर्तमानमेव रूपं प्रत्येति स्मृतिरपि तदसंस्पर्शि परोक्षं रूपमिति न तयोरैक्यम् प्रतिभासभेदस्य सर्वत्र भेदकत्वात् तस्य च विशदाविशदरूपतयावभासमानयोर्दृश्य-स्मर्यमाणयोः सद्भावात् कथं न भेदः?

---

१ च पूर्वसह-भां० मां० । २-धानेपि ते वृ० वा० वा० विना । ३-स्यानु-वृ० । ४-गमे त-वृ० ।
५-रणे' ए-'णे' इत्यस्य शिरसि न्यस्तोऽयं द्विसङ्ख्यासूचकोऽङ्को द्विवचनख्यापनाय प्रतौ निर्दिष्टो भाति ।

किञ्च, यदि शुद्धमेव दर्शनं स्मृतिनिरपेक्षं पूर्वरूपताग्राहि; नन्वेवं भाविरूपताग्राहि प्रथमदर्शनं किं नोपेयते न हि भाविभूतयोरसन्निहितत्वे विशेषः येनैकत्राध्यक्षवृत्तिरपरत्र नेति भवेत्? न च 'पूर्वदृष्टं पश्यामि' इति व्यवसायात् पूर्वरूपे एव दर्शनव्यापारः 'पूर्वमेवेदं मया दृष्टम्' इत्यध्यवसायाद् भाविरूपेऽपि दर्शनव्यापारप्रसक्तेः। अतोऽपाकृतम्-"इदानींतनमस्तित्वं नहि पूर्वधिया गतम्" इति। न च पूर्वदृशा तदा भाविकालताया असन्निधानादग्रहणम् संप्रति दर्शनकाले पूर्वरूपताया अप्यसन्निधेस्ततोऽग्रहणप्रसक्तेः। यदि पुनर्भाविरूपतामप्यध्यक्षमनुभवति 'पूर्वमेवेदं मया दृष्टम्' इति व्यवहृतिदर्शनात् तर्हि प्रथमसंवेदनमेव मरणावधिरूपपरम्परामधिगच्छतीति तदैव मृतो भवेत्। न च मृतिसद्भावे मृतो भवत्युत्पत्तिसमये तु नासाविति कुतोऽयं दोषः यतो यदि तदासौ नास्ति कथमसती सा दर्शने प्रतिभाति? तदप्रतिभासने तु कथं भाविरूपपरिगतो भावोऽवभातो भवेत्? यदेव तत्र वर्त्तमानं रूपमाभाति तदेवाध्यक्षमस्तु न भावि यदि तु तदपि तदाध्यक्षं तदाद्याध्यक्ष एव मृत्युपर्यन्तसकलविषयस्य प्रतिभातस्यास्तमयात् तद्विषया तदुत्तरकालभाविनी सर्वा मतिर्निर्विषया भवेत्। किञ्च, भावि-भूतयोरध्यक्षाविषयत्वे भिन्नमपि तदध्यक्षाविषयं भवेदिति सर्वस्त्रिकालदर्शी भवेदिति "भविष्यंश्चैषोऽर्थो न ज्ञानकालेऽस्तीति न प्रतिभाति" [ ] इति निराकृतं द्रष्टव्यम् भावि-भूतकालतावद् भविष्यतो धर्मादेर्दर्शनकालेऽसतोऽपि प्रतिभासनात्। न चाभिन्नयोर्भावि-भूतरूपयोः प्रतिभासेऽपि भाविधर्मादेर्भिन्नत्वान्न प्रतिभासः भेदेनाध्यक्षप्रतिभासनाविरोधात् दृश्यन्त एव हि भिन्नरूपा घट-पटादयोऽध्यक्षप्रतिभासमादधानास्तन्न भाविभूतरूपताध्यक्षावसेयेति स्मृतिविषयः पूर्वरूपता दर्शनावभासिनोऽर्थस्य भाविरूपता चानुमानावसेया। तेन

"न च स्मरणतः पश्चादिन्द्रियस्य प्रवर्तनम्" ॥
"वार्यते केनचिन्नापि तदिदानीं प्रदुष्यति"।

[श्लो० वा० प्रत्यक्ष० श्लो० २३५-२३६]

इति निरस्तम् यतो यदि स्मरणादूर्ध्वं वर्त्तमानरूपे इन्द्रियस्य प्रवर्त्तनमभिप्रेतं तथासति वर्त्तमानमात्रपरिच्छेदान्न स्मरणोपढौकितैकत्वग्रहः। अथ पूर्वरूपे तत्रापि यथा प्राक् स्मृतेर्दर्शनं पूर्वरूपतायामविषयत्वान्न प्रवर्तते तथा तदुत्तरकालमपि अविषयत्वाविशेषात्। "तदा प्रवर्तने चक्षुषो न दोषः" [ ] इत्यत्रापि यद्यसन्निहिते स्मरणोपढौकिते नयनं प्रवर्तते तर्ह्यविद्यमानविषयत्वात् तदालम्बनं ज्ञानं निर्विषयं भवेदिति कथं न दोषः? तिमिरोपहतदृशोऽप्यसत्यदर्शनमेव दोषः तच्चात्रापि समानमिति कथं न दोषः? अथ वर्तमाने स्मृत्युत्तरकालं तत् प्रवर्तमानमदुष्टं तर्हि नैकत्वप्रतीतिः। न च यदेव वर्तमानं तदेव पूर्वमिति भेदाभावात् तत्त्वग्रहः अभेदस्यासिद्धेः-न हि दृश्यमान-स्मर्यमाणयोरभेदसिद्धिः दृश्यमाने स्मृतेः स्मर्यमाणे च दृशोऽनवतारात्। न च स्मरणोपनीते पूर्वरूपे दोषाभावेऽपीन्द्रियप्रवर्तनं युक्तम् धूमदर्शनोत्तरकालं स्मृत्युपस्थापिते पावकेऽपि दोषाभावादिन्द्रियप्रवृत्तिप्रसक्तेः शक्यं ह्यत्रापि वक्तुम्—

न चापि लिङ्गतः पश्चादिन्द्रियस्य प्रवर्तनम्।
वार्यते केनचिन्नापि तदिदानीं प्रदुष्यति ॥

अथ प्रत्यक्षप्रतिभाताद्धूमात् स्पष्टावभासाद् व्यतिरिक्ता स्मृतिप्रभवानुमितिर्भिन्नाकाराग्निमुल्लिखतीति न तत्र दृगवतारस्तर्हि विगदृगवसेयाद् रूपादस्पष्टतया पूर्वरूपमुल्लिखन्ती स्मृत्युपजनिता प्रतिपत्तिर्न दृगुपदर्शितं रूपमवतरतीत्यभ्युपेयम् ततः स्मृतेः पूर्वमुत्तरकालं वा पौर्वापर्यविविक्तं वर्तमानकालमर्थं दृगवतरतीति नैकत्वग्राहिणी। ततो विकल्पविकलाध्यक्षमतिः सिद्धा एकत्वप्रतिपत्तिस्तु स्मृतिकृतोदया पृथगेव पूर्वापरविविक्तरूपावभासिस्पष्टदृशः।

अथ पौर्वापर्ये दृशोऽप्रवृत्तेर्न तद्ग्रहात् सविकल्पाध्यक्षमतिः जातिगुणक्रियादीनां तु दर्शनविषयत्वात् तद्विशिष्टार्थप्रतिपत्तिः सविकल्पिका भविष्यति, न, जात्यादेः स्वरूपानवभासनात् न हि

१ "मृति"-बृ० टि०। २ "मृति"-बृ० टि०। ३ "यतो मृतेरभावस्तत्र कथं भाविरूपपरिगतो भावो भवेत्"-बृ० टि०। ४-यात्तदु-बृ०। ५-ष्यंश्चैकार्थो बृ० वा० बा० भा० मा० विना। ६ पृ० ३१९ प० ६-७। प्रमेयक० पृ० १७ द्वि० प० १। ७ "परोदिते"-बृ० टि०। ८ "एकत्व-" बृ० टि०।

व्यक्तिद्वैयव्यतिरिक्तवपुर्ग्राह्याकारतां बहिर्विभ्राणा विशददर्शने जातिराभातीति न तद्योजनादध्यक्षमतिः सविकल्पिका । न चाम्र-बकुलादिषु 'तरुस्तरुः' इत्युल्लिखन्ती बुद्धिराभातीति नाऽसती जातिः विकल्पोल्लिख्यमानतयापि बहिर्ग्राह्याकारतया जातेरनुद्भासनात् प्रतीतिरेव तत्रापि तुल्याकारतां वचनं वा बिभर्ति । न च शब्दः प्रतीतिर्वा जातिमन्तरेण तुल्याकारतां नानुभवति 'जातिर्जातिः' इत्यपरजातिव्यतिरेकेणापि गोत्वादिसामान्येषु तयोस्तुल्याकारतादर्शनात् । न च तेष्वप्यपरा जातिः अनवस्थाप्रसक्तेः । अथ तुल्याकारा प्रतिपत्तिर्यदि निर्निमित्ता तदा सर्वदा भवेत् न वा क्वचित् व्यक्तिनिमित्तत्वे आम्रादिष्विव घटादिष्वपि 'तरुस्तरुः' इति प्रतिपत्तिर्भवेत् व्यक्तिरूपताया अत्रापि समानत्वात्, असदेतत्; व्यक्तिनिमित्तत्वेऽपि प्रतिनियतव्यक्तिनिमित्तत्वान्नातिप्रसङ्गः यथा हि ताः प्रतिनियता एव कुतश्चिन्निमित्तात् प्रतिनियतजातिव्यञ्जकत्वं प्रतिपद्यन्ते तथा प्रतिनियतां तुल्याकारां प्रतिपत्तिं तत एव जनयिष्यन्तीति किमपरजातिकल्पनया? यथा वा गुडूच्यादयो भिन्ना एकजातिमन्तरेणापि ज्वरादिशमनमेकं कार्यं निर्वर्तयन्ति तथा आम्रादयस्तरुत्वमन्तरेणापि तत एव 'तरुस्तरुः' इति प्रतिपत्तिं जनयिष्यन्ति नान्य इति व्यर्था तेषु तरुत्वजातिकल्पना । तत्र जातिर्दर्शने कल्पनाज्ञाने वा बहिराकारमाविभ्रती स्वेन वपुषा प्रतिभाति कल्पनाबुद्धावप्यविशदाकारव्यक्तिरूपमन्तःशब्दोल्लेखं वापहाय वर्णसंस्थानव्यतिरिक्तजातिस्वरूपानवभासनात् । तत्राप्रतीयमाना जातिः सती । नापि कस्यचिद् विशेषणमिति न तद्योजनाविधायिनी अध्यक्षमतिरिति न सविकल्पिका । एवं गुण-क्रियादीनामप्यप्रतिभासनादसत्त्वमिति न तद्विशिष्टार्थग्राह्यध्यक्षं सविकल्पकतामनुभवति । अथ निर्विकल्पकत्वेऽध्यक्षेण शुद्धवस्तुग्रहणात् कथं ततो व्यवहृतिः सा हि हेयोपादेययोर्दुःख-सुखसाधनत्वनिश्चये हानोपादानार्था दृष्टा न च निर्विकल्पकमध्यक्षं तन्निश्चयरूपम्, असदेतत्; यतो यद्यपि सविकल्पकमध्यक्षं तथापि कथं तदर्थिनां तत्र ततः प्रवृत्तिः न हि निश्चयमात्रात् फलार्थिनः प्रवर्तन्ते अपि तु तज्जननयोग्यतावसायात् सा चासन्निहितफलानिश्चये न निश्चेतुं शक्या । न च परोक्षं सुखसाधनत्वं निश्चिन्वती मतिरध्यक्षतामनुभवति अनुमितेरप्यध्यक्षताप्रसक्तेः परोक्षनिश्चयरूपताया अविशेषात् । न च निश्चयात्मकेनाध्यक्षेण वस्तु निश्चीयते तत्प्रतिबद्धा च प्रागर्थक्रियोपलब्धा ततः पुरस्थार्थावसायात् तत्र स्मृतिः प्रादुर्भवन्ती तत्राभिलापजननात् प्रवृत्तिमुपजनयति निर्विकल्पकेऽप्यस्य समानत्वात् । तथाहि—प्रत्यक्षप्रतिभाते वस्तुनि पूर्वमर्थक्रियावगतेति तत्स्मरणोत्(णाद)भिलापेन प्रवृत्तिर्भविष्यतीति कः स्व-परपक्षयोर्विशेषः? अथ वस्तुस्वरूपप्रतिभासं दर्शनमर्थक्रियासम्बन्धाननुभवान्न प्रवृत्तिमुपरचयितुं क्षमम् तत्सम्बन्धानुभवे वा सविकल्पकं तद् भवेत् ।

न चाप्रवर्तकस्य प्रामाण्यम्—"प्रामाण्यं व्यवहारेण" [ ] इत्यत्र "व्यावहारिकस्य चैतत् प्रमाणस्य लक्षणमुक्तम्" [ ] इत्यभिधानात्, असदेतत्; यतो न दर्शनं केवलं प्रमाणं क्षणिकत्वादावपि तस्य भावात् किन्तु अभ्यासपाटवादिसव्यपेक्षं यत्रांशे विधिप्रतिषेधविकल्पद्वयं जनयत् पुरुषं प्रवर्तयति तत्रास्य प्रामाण्यमिति निश्चयापेक्षस्य प्रत्यक्षस्य व्यवहारसाधकत्वान्न प्रामाण्यक्षतिः, नन्वेवमपि यदि निश्चये सति प्रवृत्तिस्तदभावे च नेत्यभ्युप-

---

१-ह्यक्ष्यति-आ० हा० वि० ।-ह्याक्ष्यति-वि० स० । २ "शब्द-प्रतीत्यो."-बृ० टि० । ३ शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० १५६ द्वि० पं० ५ । ४-प्रत्तिं त ए-बृ० ।

५ "यथा धात्र्यभयादीना नानारोगनिवर्तने । प्रत्येकं सह वा शक्तिर्नानात्वेऽप्युपलभ्यते ॥
न तेषु विद्यते किञ्चित् सामान्यं तत्र शक्तिमत् । चिराक्षिप्रादिभेदेन रोगशान्त्युपलम्भतः ॥
सामान्येऽतिशयः कश्चिन्न हि क्षेत्रादिभेदतः । एकरूपतया नित्यं धात्र्यादेषु स विद्यते ॥
एवमत्यन्तभेदेऽपि केचिन्नियतशक्तितः । तुल्यप्रत्यवमर्शादेर्हेतुत्वं यान्ति नापरे" ॥

—तत्त्वस० का० ७२३-७२६ पृ० २३९ ।

६-त एव बृ० भां० मा० । ७ "व्यवहृतिः"-बृ० टि० । ८-नि-नि-आ० । ९ "अर्थक्रिया"-बृ० टि० । १०-णाभि-बृ० भा० मा० आ० हा० वि० । ११-ण्यं व्यवहारेण तत्र भा० मा० आ० हा० वि० । १२ पृ० १५ पं० २४ । १३ "दर्शनमात्रस"-बृ० टि० ।

गमस्तर्हि प्रवृत्तिकरणोन्निश्चय एव प्रमाणं भवेत् न च दर्शनगृहीतं नीलं निश्चिन्वन्नुपजायमानो विकल्पो गृहीतग्राहितया अप्रमाणम् यतोऽर्थक्रियासम्बन्धितामुल्लिखन्ती दर्शनावगतस्यार्थस्य कल्पना प्रवृत्तिमारचयति । न च विशदृदृशार्थक्रियासाधकता तस्यावगतेति कथं कल्पना न भिन्नविषया? सर्वत्र च कल्पनैव प्रवृत्तिं विरचयति दर्शनाभावेऽप्यनुमानात् प्रवृत्तिदर्शनाद् दर्शनसद्भावेऽपि क्षणिकादौ व्यवसायाभावात् प्रवृत्तेरभावाद् व्यवहारमुपरचयन्ती मतिः प्रमाणमिति न निर्विकल्पिका[1] सा प्रमाणं किन्तु विकल्पिकैव । ननु न विकल्पस्याप्रामाण्यम् किन्त्वसौ प्रत्यक्षं न भवति अनुमानताभ्युपगमात् । अथ लिङ्गजत्वाभावादपरोक्षमर्थं निश्चिन्वन् कथमनुमानं विकल्पः? नैतत्; यतो नापरोक्षमेवार्थमसौ निश्चिनोति अर्थक्रियासम्बन्धित्वस्य परोक्षस्याप्यध्यवसितेस्तदभावे[2] च प्रवृत्तेरयोगात् । सा च फलसङ्गतिः परोक्षाऽनुमानग्राह्या दृश्यमान इव प्रदेशे परोक्षदहनसङ्गतिः । न च तत्र धूमलिङ्गसद्भावादनुमानावतारेऽपि फलसम्बन्धितायां लिङ्गाभावान्नानुमानप्रवृत्तिः प्रतिभासमानरूपस्यैव लिङ्गत्वात् । तथाहि-उपलभ्यमाने जलरूपे शीतस्पर्शादयस्तत्सहचारिणो यदि निश्चेतुं शक्याः कालान्तरस्थायितया तदा तत्र प्रवृत्तिर्युक्ता रूपप्रतिभासमात्रस्य तु तदैवोदयान्न तदर्था प्रवृत्तिः सङ्गता प्रवृत्तौ वा तदविरतिप्रसक्तिः स्पर्शादीनां चैकसामग्र्यधीनतयोपलभ्यमानं रूपं हेतुः स्थैर्ये चोपलभ्यमानं कालान्तरस्थितौ लिङ्गमिति कथं न निश्चयोऽनुमानम्? न च सम्बन्धस्मरणपक्षधर्मत्वनिश्चयादुपजायमानमनुमानमनुभूयते अत्र तु त्रैरूप्यपर्यालोचनमन्तरेणापि नीलानुभवानन्तरं 'नीलमेतत्' इति निश्चयो झगित्युदेतीति नानुमानतास्य यतो न सर्वदानुमितिस्त्रैरूप्यपर्यालोचनमपेक्ष्य प्रवर्तते अत्यन्ताभ्यासात् कदाचित् सम्बन्धस्मरणानपेक्षलिङ्गस्वरूपदर्शनमात्रादुदयदर्शनाद् धूमोपलम्भादभ्यासदशायामग्निप्रतिपत्तिवत् । अथात्राविनाभावपर्यालोचनं प्रागासीदनवगतसम्बन्धस्य धूमदर्शनादेवाप्रतीतेस्तर्हि मन्दाभ्यासे प्रकृतेऽपि पर्यालोचनमस्त्येव-'एवंजातीये पूर्वमप्यर्थक्रियोपलब्धा इदमप्येवंजातीयं प्रतिभासमानं रूपम्' इति । अभ्यासदशायां तु रूपदर्शनादेव पर्यालोचनमन्तरेणापि झगिति फलयोग्यता प्रतीयते इति व्यवस्थितमेतत्-दृश्यमानं रूपं धर्मि तत्फलयोग्यता साध्या तद्रूपसामान्यं लिङ्गमिति न प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वमपि हेतोः अतो निश्चयः स्वरूपावभासादुदयमासादयन् परोक्षमर्थक्रियायोग्यत्वं निश्चिन्वन्ननुमानमेव । व्यवहारोऽप्यत एव न प्रत्यक्षात् । आह च—

"तद्रूपावेव दृष्टेषु संवित्सामर्थ्यभाविनः ।
स्मरणादभिलाषेण व्यवहारः प्रवर्तते" ॥ [ ]

इति स्मरणादनुमानरूपाद् व्यवहारः प्रवर्तत इत्ययमर्थः ।

नैन्वंन्यगतचेतसोऽभ्यस्ते परिमलादावविकल्पाक्षमतेः प्रवृत्तिदर्शनात् कथं न निर्विकल्पकं प्रवर्त्तकम्? किञ्च, यद्यनुमितिरेव बाह्ये सर्वदा प्रवृत्तिमारचयति तर्हि तत्र नाध्यक्षं प्रमाणमिति

---

१ "सविकल्पिका"- वृ॰ टि॰ । २-भावे प्र-आ॰ हा॰ वि॰ विना । ३ "उत्तरम्"-वृ॰ टि॰ । ४ "जलरूपे"-वृ॰ टि॰ । ५ "अनुमानरूपाभिश्चयात्"-वृ॰ टि॰ । ६ "येन वार्तिककार एवमाह" इत्युल्लिख्य विभिन्नोत्तरार्धकमेतत् पद्यं न्यायबिन्दुटीकाटिप्पण्यामुद्धृतमित्य वर्तते-

"तद्रूपावेव दृष्टेषु संवित्सामर्थ्यभाविन । स्वव्यापारत्वकरणात् स्मरणादित्यादि"-पृ॰ ३१ पं॰ ५-६ ।

"तदुक्तम्" इति कृत्वा इदं पद्य सिद्धिविनिश्चयटीकायामुपन्यस्तमस्ति-लि॰ पृ॰ ५० पं॰ १८ ।

सिद्धिविनिश्चयटीकाया "कारिका विवृण्वन्नाह" इत्युपक्रम्य "'तद्रूपावेव' इत्यादि"प्रतीक निर्दिश्य च व्याख्यातमेतत् पद्यमित्थं दृश्यते-"निर्विकल्पिका दृष्टिस्तद्दृष्टिस्तया सत्या पुनर्ये दृष्टास्तेषु व्यवहार । प्रवृत्तावङ्गीक्रियमाणाया कुत इत्यत्राह-संवित्त्यादि-संवित्तेर्बल सामर्थ्यं तस्माद् या सजातीयस्मृतिस्तया अभिलाष आदिशब्देन द्वेषपरिग्रहस्तस्मादिति"-लि॰ पृ॰ ११८ पं॰ १५-२२ । सिद्धिविनिश्चयटीकाव्याख्यानत एतत् पद्यमित्थ कल्पयितुमुचितं भाति—

तद्दृष्टावेव दृष्टेषु संवित्तिबलभाविन । स्मरणादभिलाषादेर्व्यवहार प्रवर्तते ॥

"यदुक्तम्" इत्युल्लिख्योद्धृतं पद्यमिदं धर्मसंग्रहण्या वर्तते-पृ॰ २६ द्वि॰ पं॰ ७ । पृ॰ १६ पं॰ २६ ।

७ न त्वन्य-वृ॰ विना ।

स्वसंवेदनमात्रमेवैकमध्यक्षं भवेत् तथा च—"रूपादिस्वलक्षणविषयमिन्द्रियज्ञानम् आर्यसत्यचतुष्टयगोचरं योगिज्ञानम्" [ ] इत्यादि चतुर्विधाध्यक्षोपवर्णनमसङ्गतमनुपज्येत । अथ निर्विकल्पकमध्यक्षं नार्थस्यार्थक्रियायोग्यतामधिगच्छति तदभावे न प्रवृत्तिरित्यप्रवर्तकत्वान्न बाह्ये प्रमाणं तर्ह्यनुमानमपि नार्थक्रियासङ्गतिमवभासयति तस्यावस्तुविषयत्वात् तथा च तदपि कथं प्रवर्तकम्? अथ तदध्यवसायितया तस्योत्पत्तेरर्थग्राहित्वाभावेऽपि प्रवर्तकता, असदेतत्; तदध्यवसायित्वस्याप्यनुपपत्तेः । तथाहि-तदध्यवसायित्वं तस्य किं ग्राहकाकारः, उत ग्राह्याकारः इति वक्तव्यम् यदि ग्राहकाकारस्तदा तस्य ग्राहकं स्वरूपं न बाह्यमर्थं सन्निधापयतीति न तदध्यवसायोऽनुमानसाध्यः । अथ ग्राह्याकारः सोऽपि नार्थस्वरूपसंस्पर्शीति कथं तदवगमे बाह्यार्थाऽध्यवसितिरनुमानफलम्? तदेवमनुमितेः स्वसंवेदनमात्रपर्यवसितत्वान्नार्थप्रदर्शनद्वारेण प्रवर्तकता युक्ता । नन्वनुमाने सति प्रवृत्तिर्दृष्टा तदभावे सा न दृष्टेति तत्कार्यासौ निश्चीयते तर्ह्यभ्यासदशायां विकल्पविकले दर्शने सति प्रवृत्तिर्दृष्टा प्रतिपद्योच्चारं तत्र विकल्पनासंवेदनेऽपि पुरःपरिस्फुटप्रतिभासमात्रादेव प्रवृत्त्युपपत्तेस्तत्कार्योऽसौ किं न व्यवस्थाप्यते? अथानुमानादनभ्यासदशायां प्रवृत्तिरुपलब्धेति तदन्तरेण सा कथं भवेत्? न; मन्दाभ्यासेऽनुमानादेव प्रवृत्तिः अभ्यासदशायां तु पर्यालोचनलक्षणानुमानव्यतिरेकेणापि वस्तुदर्शनमात्रादेव समस्तु तथादर्शनात् अन्यथाऽनभ्यासदशायामनुमानात् प्रवृत्तिदर्शनात् सर्वदानुमानस्यैव व्यवहृतिजनकत्वे प्रत्यक्षेण लिङ्गग्रहणाभावतस्तन्निश्चयकृदपरमनुमानमभ्युपगन्तव्यम् तत्राप्यनुमानान्तराल्लिङ्गनिश्चय इति तन्निश्चयकृदपरमनुमानमित्यनवस्थाप्रसङ्गतो न कदाचिद् व्यवहृतिर्भवेत् । ततोऽविकल्पकं दर्शनमभ्यासदशायां व्यवहारकृदभ्युपगन्तव्यमन्यथा पूर्वोक्तप्रकारेणानुमानानवतारात् । न च पौर्वापर्येऽप्रवृत्तिमत् सन्निहितमात्रावभास्यध्यक्षं कथं तादृग्लिङ्गग्रहणक्षमं यतोऽनभ्यासावस्थायामनुमानात् प्राग् व्यवहारः पश्चात्त्वध्यक्षादभ्यासदशायामिति प्रेर्यम्? यतः संवृत्या लिङ्गप्रतिबन्धग्राहि प्रत्यक्षमभिमतम् लोकस्य ह्येवमभिमानः 'तदेव साध्यप्रतिबद्धं लिङ्गमहं पश्यामि' इति तदभिमानाच्च लिङ्गप्रतिबन्धग्राह्यध्यक्षं व्यवहारकृदभ्युपेयते परमार्थपर्यालोचनया तु न प्रत्यक्षानुमानभेदः नापि व्यवहारः संवेदनमात्रत्वात् सर्वप्रपञ्चस्य । स्वसंवेदनं च सकलविकल्पविकलमिति कथं स्वार्थनिर्णयस्वभावं ज्ञानं प्रमाणं सिद्धिमासादयेत्?

[निर्विकल्पकमेवाध्यक्षमिति मतं प्रतिविधाय सविकल्पस्याध्यक्षत्वमुपपाद्य च सिद्धान्तिना स्वार्थनिर्णयस्वभावज्ञानस्य प्रमाणसामान्यलक्षणत्वव्यवस्थापनम्]

अत्र प्रतिविधीयते-'स्वार्थनिर्णयस्वभावं प्रत्यक्षं न भवति' इत्येतत् किं तद्ग्राहकप्रमाणाभावादभिधीयते, आहोस्वित् तद्बाधकप्रमाणसद्भावात्? तत्र न तावदाद्यः पक्षोऽभ्युपगमार्हः स्थिरस्थूलसाधारणस्य स्तम्भादेरर्थस्य बहिरन्तश्च सद्रूव्यचेतनत्वाद्यनेकधर्माक्रान्तस्य ज्ञानस्यैकदा निर्णयात् स्वांशस्वार्थनिर्णयात्मनोऽध्यक्षस्य स्वसंवेदनप्रत्यक्षसिद्धत्वात् तद्ग्राहकप्रमाणाभावोऽसिद्धः । { तथाहि-अन्तर्बहिश्च स्वलक्षणं पश्य(श्यं)ल्लोकः स्थूलमेकं स्वगुणावयवात्मकं ज्ञानं घटादिकं च सकृत्प्रतिपत्त्याध्यवस्यति, न चेयं प्रतिपत्तिरनध्यक्षा विशदस्वभावतयानुभूतेः । न च विकल्पाऽविकल्पयोर्मनसोर्युगपद्वृत्तेः क्रमभाविनोर्लघुवृत्तेर्वा एकत्वमध्यवस्यति जनस्तत्रेत्यविकल्पाऽध्यक्षगतं वैशद्यं

1 बौद्धसम्मतं केवलनिर्विकल्पकप्रामाण्यपक्षं वैयाकरणसम्मतं केवलसविकल्पकप्रामाण्यपक्षं च निराकृत्य निर्विकल्पकसविकल्पकोभयप्रामाण्यं व्यवस्थापयितुं कुमारिलेन चर्चा कृताऽस्ति—श्लो० वा० प्रत्यक्षसू० श्लो० ८६-१४५ ।

सैव चर्चा तदीयानि कानिचित् पद्यान्युपयुज्य वाचस्पतिमिश्रेण सूक्ष्मेक्षिकया हृदयहारिण्या च शैल्या विस्तरमुपनीता दृश्यते-न्यायवा० ता० टी० पृ० १३३-१३७ ।

अत्रत्यः शास्त्रार्थः प्रस्तुतग्रन्थशैल्या क्वचित् क्वचित् शब्दसाम्यमजहदेव संक्षेपेण भङ्ग्यन्तरेण च प्रमेयकमलमार्तण्डे वर्तते-पृ० ८ द्वि० पं० ६—पृ० ११ द्वि० पं० २ ।

मार्तण्डगतश्च स एव शास्त्रार्थः अक्षरशः समादाय पुनरनेकधा पल्लवीकृत्य च वर्णितः स्याद्वादरत्नाकरे दृश्यते-पृ० ७५-८८ आ० । शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० १५६ द्वि० पं० ९- ।

२-पद वृ-आ० हा० वि० । शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० १५६ द्वि० पं० ११ । ३-भाविनोल-पृ० आ० वि० ।

विकल्पे सांशस्वार्थाध्यवसायिन्यध्यारोपयतीति वैशद्यावगतिः एकस्यैव तथाभूतस्वार्थनिर्णयात्मनो विशदज्ञानस्यानुभूतेरननुभूयमानस्याप्यपरनिर्विकल्पकस्य परिकल्पने बुद्धेश्चैतन्यस्यापरस्य परिकल्पनाप्रसङ्ग इति साङ्ख्यमतमप्यनिषेध्यं स्यात्। किञ्च, सविकल्पाविकल्पयोः कः पुनरैक्यमध्यवस्यति? न तावदनुभवो विकल्पेन आत्मन ऐक्यमध्यवस्यति व्यवसायविकलत्वेनाभ्युपगमात् तस्य अन्यथा भ्रान्तताप्रसङ्गात्। नापि विकल्पोऽविकल्पेन स्वस्यैक्यमध्यवस्यति तेनाविकल्पस्याविषयीकरणात् अन्यथा स्वलक्षणगोचरताप्राप्तेः अविषयीकृतस्य चान्यत्राध्यारोपाभावात् न ह्यप्रतिपन्नरजतः शुक्तिकायां रजतमध्यारोपयितुं 'रजतमेतत्' इति समर्थः। न च यथेश्वरादिविकल्पस्तदविषयीकरणेऽप्यध्यवसिततद्भाव उपजायते तथात्राप्यध्यवसिताविकल्पस्वभावो विकल्पः समुपजायत इति स तयोरैक्यमध्यवस्यति, उक्तोत्तरत्वात्। तथाहि–न तावदनुभव एवंरूपमात्मानमवगच्छति तेनास्यार्थस्याविषयीकरणात् 'एतत्'रूपतया तस्यासिद्धेश्च। न हि मरीचिका जलरूपतयाऽध्यवसिता तद्रूपतयाऽसिद्धार्थक्रियोपयोगिन्युपलब्धा एवमनुभवोऽपि विकल्परूपतयाऽध्यवसितस्तथाऽसिद्धो नार्थक्रियोपयोगी नातः किञ्चित् सिध्यति। नापि विकल्पः तस्याऽवस्तुविषयत्वाभ्युपगमात्। यदि पुनर्विकल्पस्तद्रूपमात्मानमध्यवस्येत् तर्हि परमार्थविषयता तस्येति

"विकल्पोऽवस्तुनिर्भासाद् विसंवादादुपप्लवः" [ ]

इति असङ्गतं स्यात्। अत एव न विकल्पान्तरमपि तमध्यवस्येत् तस्यापि तुल्यदोषत्वात्। किञ्च, तयोरैक्यं व्यवस्यतीत्यत्र यदि विकल्पं निर्विकल्पकतया मन्यते व्यवहारी तदा निर्विकल्पकमेव सर्वं ज्ञानमिति विकल्पव्यवहारोच्छेदादनुमानप्रमाणाभावः। अथाविकल्पं विकल्पतया तदा सविकल्पकमेव सर्वं प्रमाणमिति अविकल्पप्रत्यक्षवादो विशीर्येत। यथा हि प्रज्ञाकराभिप्रायेण मणिप्रभायां मणिज्ञानं 'य एव मणिर्मया दृष्टः स एव प्राप्तः' इत्यभिमानिनः प्रत्यक्षं प्रमाणम्—अन्यथाऽभ्यासदशायां भाविनि दृश्य-प्राप्ययोरेकत्वाध्यवसायात् प्रत्यक्षमेव प्रमाणमिति न भवेत् अन्यस्य तन्निबन्धनस्य तत्राप्यभावात्—तथा सर्वं निर्विकल्पं विकल्पत्वेन निश्चित्य सविकल्पकमेव सर्वं ज्ञानमिति यो व्यवहरति तस्य किमिति तदेव न प्रमाणम्? यथा हि दृश्यं प्राप्यारोपात् प्राप्यम् तथाऽविकल्पो विकल्पारोपाद् विकल्पो भवेत् न्यायस्य समानत्वात्। अथ यथा प्राप्यमणिप्रभा-मणिप्रतिभासयोरेकत्वाध्यवसायेऽपि न मणिप्राप्तौ तत्प्रतिभासस्याभावः—अन्यथा मणिः प्रतिभातो न प्राप्तः स्यात्—तथा सविकल्पाविकल्पयोरेकत्वाध्यवसायेऽपि निर्विकल्पकस्य नाभावः, नन्वेवं सांशस्थूलैकस्पष्टप्रतिभासव्यतिरिक्तस्य निरंशक्षणिकपरमाणुप्रतिभासलक्षणनिर्विकल्पकानुभवस्य तदैव निर्णयप्रसक्तिः। अथ विकल्पेनाविकल्पस्य सहस्रांशुना तारानिकरस्येव तिरस्कारान्न तथा निर्णयस्तर्हि विकल्पस्याप्यविकल्पेन तिरस्कारात् प्रतिभासनिर्णयो न स्यात्।

अथ विकल्पस्य बलीयस्त्वादविकल्पस्य च दुर्बलत्वात् तेन तस्य तिरस्कारः, ननु कुतो विकल्पस्य बलीयस्त्वम्? प्रचुरविषयत्वादिति चेत्, न, अविकल्पविषय एव प्रवृत्त्यभ्युपगमात् अन्यथाऽस्य गृही-

---

१–कल्पे स्वांश–बृ० ल० भा० वा० विना। २–स्याप–भा०। ३–कल्पत्वे–ल० विना। "न तावन्निर्विकल्पकम् अध्यवसायविकलत्वात् तस्य अन्यथा भ्रान्तताप्रसङ्गः"–प्रमेयक० पृ० ९ द्वि० पं० ३। "न तावन्निर्विकल्पकम् तस्याध्यवसायशून्यत्वात् इतरथा भ्रान्तत्वप्रसक्तिः"—स्याद्वादर० पृ० ८२ पं० ४ आ०। ४–स्तर्हि–बृ०। ५ एवंस्वरू–आ० हा० वि०। ६ तथावस्तु–भा० मा० विना। ७ "अनुभवरूपम्"–बृ० ल० टि०।

८ "विकल्पोऽवस्तुनिर्भास इत्यस्य विरोध"। अवस्तुनिर्भास "अवस्तुनि निर्भास प्रतिभासो यस्य विकल्पस्य स" इत्यस्य, "ग्रन्थस्य"—प्रमेयक० पृ० ९ द्वि० पं० ४ टि० १६, १७। "तदुक्तम्—विकल्पोऽवस्तुनिर्भासो(सो) विसंवादादुपप्लव"—सिद्धिवि० टी० लि० पृ० ५० प० २२। "यथोक्तम् विकल्पो वस्तुनिर्भासाद्विसंवादादुपप्लव इति"–प्रशस्त० कं० पृ० १९० प० १८। "विकल्पोऽवस्तुनिर्भासात्" इति वचो विरुध्यते"—स्याद्वादर० पृ० ८२ प० ६ आ०। "विकल्पोऽवस्तुनिर्भासाद् विसंवादादुपप्लव। प्रत्यक्षाभ" इति वचनात्"–धर्मसं० पृ० १३४ प्र० पं० १। "तदुक्तम्" इति कृत्वा "विकल्पो वस्तुनिर्भासादसंवादादुपप्लव" इत्युद्धृतं वर्तते सर्वदर्शनसंग्रहे–पृ० ४४ द० २ प० ३३५।

९ "विकल्पान्तरस्य"–बृ० ल० टि०। १० सर्वज्ञा–भा० मा० आ० विना। ११–माणं न बृ० ल०। १२–सकलक्ष–आ० हा० वि०। १३–कल्पिकानु–ल० आ० हा० वि०।–कल्पिका त्वानु–वा० वा० भा० मा०। १४–ना तमोनि– आ०। "भानुना तारानिकरस्येवेति चेत्"—प्रमेयक० पृ० ८ द्वि० पं० १४। "तिग्मभानुना विभावरीभुजंगस्येवेति चेत्"–स्याद्वादर० पृ० ७९ पं० २५ आ०।

तग्राहित्वासंभवात् । निर्णयात्मकत्वात् तस्य तदात्मकत्वमिति चेत्; ननु तस्य किं स्वरूपे निर्णयात्मकत्वम्, उतार्थरूपे ? न तावत् स्वरूपे "सर्वचित्त-चैत्तानामात्मसंवेदनं प्रत्यक्षम्" [न्यायविं० १-१०] इत्यस्य विरोधात् । एवमपि तत्र तस्य निर्णयात्मकत्वे चक्षुरादिज्ञानं स्वपरयोस्तदात्मकं किं न भवेत् ? तथा च स्वार्थाकाराध्यवसायाधिगमश्चक्षुरादिचेतसां सिद्ध इति केन कस्य तिरस्कारः ? तन्न विकल्पः स्वरूपे निर्णयात्मकोऽभ्युपगन्तव्यः । अथाऽर्थे तस्य निर्णयात्मकत्वम्; नन्वेवमेकस्य विकल्पस्य निर्णयानिर्णयस्वभावं रूपद्वयमायातम् तच्च परस्परं तद्वतश्च यद्येकान्ततो भिन्नमभ्युपगम्यते समवायादेरनभ्युपगमात् सम्बन्धासिद्धेः 'बलवान् विकल्पो निर्णयात्मकत्वात्' इत्यस्यासिद्धिः। न च रूपादीनामिव परस्परमेकसामग्र्यधीनतालक्षणः तयोः सम्बन्धः तद्वता चाग्निधूमयोरिव तदुत्पत्तिलक्षण इति वक्तव्यम् स्वाभ्युपगमविरोधात् । किञ्च, यदा विकल्पस्य कारणत्वम् निर्णयाऽनिर्णययोश्च कार्यत्वं तदा विकल्पस्य पूर्वकालत्वं तयोश्चोत्तरकालत्वम् प्रज्ञाकराभिप्रायात् तु विपर्ययोऽपि मरणलिङ्गस्यारिष्टादेस्तत्कार्यतया प्राग्भाविनस्तेनाभ्युपगमात् तथा च भिन्नकालस्य विकल्पस्य न निर्णयानिर्णयात्मकत्वमिति ज्ञानरूपताया अप्यभावः तद्विकलस्य गत्यन्तराभावात् तयोश्च विकल्पस्वभावविकलतया निःस्वभावता । ज्ञानाद् भिन्नयोरनुपलभ्यत्वेन गत्यन्तराभावात् स्वयं तयोरुपलम्भे विकल्पाद् भिन्ने ज्ञाने स्याताम् एवं च यदनिर्णयात्मकं तत् तदेव यच्च निर्णयस्वरूपं तदपि तदेव तथा च निर्विकल्पकस्य पृथगुपलम्भनिर्णयः स्यादिति पूर्वोक्तमेव दूषणं पुनरापतति, निर्णयात्मकेऽपि चक्षुरादिज्ञानमपि तथैव स्यादिति पूर्वोक्त एव दोषः । तत्रापि रूपद्वयकल्पनायां प्रकृतो दोषः अनवस्था च । तन्न परस्परं तद्वतश्च भेदैकान्तो युक्तः । अभेदैकान्तेऽपि तद्द्वयमेव तद्वान् वा भवेत् तथा च न प्रकृतसिद्धिः ।

अथ निर्णयानिर्णयस्वभावयोरन्योन्यं तद्वतश्च कथञ्चित्तादात्म्यं तर्हि यत् स्वात्मनि अनिर्णयात्मकं बहिरर्थे च निर्णयस्वभावं रूपं तत्साधारणमात्मानं प्रतिपद्यते चेद् विकल्पः स्वरूपेऽपि सविकल्पकः प्रसक्तः अन्यथा निर्णयस्वभावतादात्म्यायोगात् । न च स्वरूपमनिश्चिन्वन् विकल्पोऽर्थं निश्चिनोति इतरथाऽगृहीतस्वरूपमपि ज्ञानमर्थग्राहकं भवेदिति न नैयायिकमतप्रतिक्षेपः । न च नैयायिकाभ्युपगमेन परगृहीतस्य स्वगृहीततादोषः भवन्मतेऽपि परनिश्चितस्य स्वनिश्चितत्वप्रसक्तेः । यथा च परगीतमननुभूतत्वान्नात्मनो विषयस्तथा विकल्पस्य स्वरूपमनिश्चितत्वान्नात्मनो विषय इति समानं पश्यामः । न च तस्यापि विकल्पान्तरेण निश्चयः तस्यापि विकल्पान्तरेण निश्चयापत्तेरनवस्थाप्रसक्तेः । न च विकल्पस्वरूपमनुभूतमपि क्षणिकत्वादिवदनिश्चितमर्थनिश्चायकं युक्तम् अनिश्चितस्यानुभवेऽपि क्षणिकत्ववत् स्वयमव्यवस्थितत्वात् अव्यवस्थितस्य च शशशृङ्गादेरिवान्यव्यवस्थापकत्वायोगात् । यथा च विकल्पस्य स्वार्थनिर्णयात्मकत्वं तथा चक्षुरादिबुद्धीनामपि तद्युक्तम् अन्यथा तासां तद्ग्राहकत्वायोगात् । अथ विकल्पस्य बहिरर्थे प्रवृत्तिरेव नास्तीति कथं तन्निर्णयात्मकः ? न हि नीलज्ञानं पीताप्रवृत्तिकं तन्निर्णयात्मकं वक्तुं शक्यम् प्रतिपन्नाभिप्रायवशात् बौद्धैर्बाह्यार्थव्यवसायात्मकत्वं विकल्पस्य परमार्थतो निर्विषयत्वेऽपि व्यावर्ण्यते, तदयुक्तम्; यतः किमिदं विकल्पस्य परमार्थतो निर्विषयत्वम् ? यद्यात्मविषयत्वं तर्ह्यात्मविषयं निर्विकल्पकमपि ज्ञानं निर्विषयमित्यर्थनिर्णयात्मकत्वाद् बलवान् विकल्प इति निर्विकल्पकानुभवस्य निर्णयस्तिरस्कारक इत्यसङ्गतं स्यात् सविकल्पकस्यैव कस्यचिदभावादात्मविषयस्य निर्विकल्पकस्यापि विकल्पवत् सविकल्पकस्यैवं वा भावात् न चैवं कस्यचित् प्रतिपत्तुरभिप्रायः । अथ साधारणस्यास्पष्टस्य स्व-परयोरविद्यमानस्याकारस्य शब्दसंसर्गयोग्यस्य विषयीकरणं निर्विषयत्वम्, न; तस्य तत्र संबन्धाभावतो विषयीकरणासंभवात् तथापि तद्विषयीकरणे सर्व-

---

१ "विकल्पस्य"-वृ० ल० टि० । २ "बलीयस्त्वम्"-वृ० ल० टि० । ३ न्यायबिन्दुसूत्रे 'प्रत्यक्ष'पदं नास्ति । ४ "स्वरूपे"-वृ० ल० टि० । ५ "तस्य विकल्पस्य"-वृ० ल० टि० । ६-सायो धि-वृ० । ७ इति न व-वृ० । ८ "निर्णयानिर्णययो."-वृ० टि० । ९-था भि-वृ० । १० तद्विकलस्य ल० भा० मा० विना । ११ च नि-आ० हा० वि० । १२-था नि-वृ० । १३-त्मके च-ल० वा० वा० विना । १४-रर्थे नि-वृ० । १५-भावरू-आ० हा० वि० । १६-था गृ-वृ० विना । १७-ज्ञानम-वृ० ल० वा० वा० भा० मा० विना । १८-त्वात्मनो वृ० ।-त्वान्न मनो वृ० स० । १९-यात् तु बौ-वृ० वा० वा० भा० मा० । २०-च चाभा-भा० मा० ।

मपि ज्ञानं तथैव स्वविषयं विषयीकुर्यादिति तदुत्पत्त्यादिसम्बन्धकल्पनमनर्थकमासज्येत। न च तादात्म्यलक्षणस्तत्र तस्य सम्बन्धः तदाकारेऽविकल्पकत्वस्य अविकल्पकत्वे वा तदाकारत्वस्य प्रसक्तेः। तदुत्पत्तिसम्बन्धवशात् तेन तद्ग्रहणम् इत्येतदप्ययुक्तम् तदाकारस्य तज्ज्ञानोत्पादकत्वेन स्वलक्षणत्वप्राप्तेस्तज्ज्ञानस्य सविषयताप्रसक्तिदोषात्। न च स्ववासनाप्रकृतिविभ्रमवशादतदुत्पन्नमतदाकारं च तत् तद्विषयीकरोति अक्षसमनन्तरविशेषात् अन्यस्याप्युपजातस्य तथास्वविषयीकरणप्रसक्तेः सर्वत्र तदाकारतदुत्पत्तिप्रतिबन्धकल्पनावैयर्थ्यप्रसक्तेः। अतस्तदाकारविषयीकरणासंभवाद् विकल्प्यार्थाभावतो दृश्य-विकल्प्यावर्थावेकीकृत्य प्रवर्तत इत्ययुक्तमभिधानम्। ततो न बलवान् विकल्प इति कथं तेनाविकल्पतिरस्कार इति अविकल्पकनिश्चयस्तदैव भवेत् न चैवम् अतो नाविकल्पस्य विकल्पेनैकत्वाध्यवसायः। किञ्च, विकल्पेऽविकल्पकस्यैकत्वेनाध्यारोप इति कुतो निश्चीयते? अस्पष्टास्वलक्षणग्राहिणि स्पष्टस्वलक्षणग्राहित्वस्य प्रतीतेस्तदध्यारोपावगतिरिति चेत्; ननु यदि नाम तत्र तत्प्रतीतिः अविकल्पारोपस्तु कुतः? स्पष्टत्वादेस्तद्धर्मस्य तत्र दर्शनादिति चेत् तद्धर्मः स्पष्टत्वादिरित्येतदेव कुतः? तत्र दर्शनादिति चेत्; अत एव विकल्पधर्मोऽप्यस्तु अन्यथाऽविकल्पस्यापि मा भूत्। न च विकल्पव्यतिरेकेणाविकल्पमपरमनुभूयते यस्य स्पष्टत्वादिधर्मः परिकल्पेत एवमपि तत्र तत्परिकल्पने ततोऽप्यपरमननुभूयमानं विशदत्वादिधर्माधारं परिकल्पनीयमित्यनवस्थाप्रसक्तिः। अथ किञ्चिज्ज्ञानं सविकल्पकमपरं निर्विकल्पकं राश्यन्तराभावात् विकल्पस्य चार्थसामर्थ्योद्भूतत्वासंभवान्न विशदत्वादिधर्मयोगः अविकल्पस्यापि तद्योगाभावे विशदत्वादिकं न क्वचिदपि भवेदित्यविकल्पस्यैव तदभ्युपगन्तव्यम्। भवेदेतत् यद्यर्थसामर्थ्यप्रभवत्वेन वैशद्यादेर्व्याप्तिः स्यात् तदभावे तन्न भवेत् न चैवम् अर्थसामर्थ्योद्भूतेऽपि दूरस्थितपादपादिज्ञाने वैशद्यादेरभावात् योगिप्रत्यक्षे चार्थप्रभवत्वाभावेऽपि च भावात्। न च तदप्यर्थसामर्थ्योद्भूतम् तत्समानसमयस्य चिरातीतानुत्पन्नस्य चार्थस्य तद्ग्रहणानुपपत्तेः। तथाहि-प्रागसर्वज्ञः सन् सुगतो विवक्षितक्षणे सर्वज्ञतामासादयंस्तत्समानसमयभाविनां भावानाम्-तज्ज्ञानं प्रत्यजनकत्वात् तेषाम्-ग्राहको न स्यात् एवमुत्तरोत्तरतद्विज्ञानक्षणा अपि स्वसमयार्थग्राहका न भवेयुः चिरतरविनष्टस्य भावकलापस्यासत्त्वेन तदकारणत्वान्न तं प्रति ग्राहकता भवेत् अनुत्पन्नस्य च पदार्थसमूहस्य कारणत्वासंभवात् तं प्रति ग्राहकता तस्य दूरोत्सारितैव। अथ चिरातीतं भावि च तत्कारणमभ्युपगम्यत इति नायं दोषः; नन्वत्राप्यभ्युपगमे येन स्वभावेन तत् तदनन्तरभावि कार्यमुत्पादयति तेनैव यदि सुगतज्ञानमिदानीन्तनकालभावि जनयति तदेकस्वभावत्वान्नित्यादिवत् कार्यक्रमायोगात् पूर्वमेवैतदप्युत्पद्येत। अथ समनन्तरप्रत्ययस्य सुगतज्ञानहेतोरिदानीमेव भावान्न पूर्वमुत्पत्तिः, असदेतत्; यत आलम्बनकारणं चिरातीतसमयभावि तदैव तत्कार्यमुत्पादयितुं प्रभवति समनन्तरप्रत्ययस्त्विदानीमिति विरुद्धकारणसामर्थ्यानुविधायिनः कार्यस्योत्पत्तिरेव न भवेत्। अथान्येन स्वभावेन तर्हि सांशं तत् प्रसज्यत इति तद्ग्राहिणोऽपि ज्ञानस्य सांशकवस्तुग्राहकत्वेन सविकल्पकताप्रसक्तिः। एवं भाविकारणेऽपि वक्तव्यम्। तन्न योगिप्रत्यक्षमर्थसामर्थ्यप्रभवमभ्युपगन्तव्यम् अन्यथा पूर्वोक्तदोषप्रसक्तेः। तच्च तदप्रभवमपि यथा विशदम्—अन्यथा प्रत्यक्षत्वानुपपत्तेः—तथा विकल्पज्ञानमर्थसामर्थ्याप्रभवमपि यदि विशदं भवेत् तदा को विरोधः? विकल्पस्य वैशद्यमेव विरोधः। तदुक्तम्—

"न विकल्पानुबद्धस्य स्पष्टार्थप्रतिभासिता।
स्वप्नेऽपि स्मर्यते स्मार्त्तं न च तत् तादृगर्थदृग्" ॥ [ ]

१-षयं निवि-ल०।-षयं वि-आ०। 'स्वविषयम्' इति पदस्य 'विषयीकुर्यात्' इति क्रियाया व्याप्यत्वेन द्वितीयान्तत्वात् 'सर्वमपि ज्ञानम्' इति पदेन सह नान्वय इति स्थापनाय आ० प्रतौ 'षयं' इत्यस्य शिरसि द्वितीयविभक्तिसूचकोऽङ्को न्यस्त। २-कारे विकल्पकत्वे वा ल० वा० बा० भा० मां० विना। ३-कल्पार्थो-वा० बा० विना। ४-कल्पाव-भा० मा० हा० विना। ५ "अविकल्पक"-वृ० ल० टि०। ६ "सविकल्पके"-वृ० ल० टि०। ७ "तत्र दर्शनादेव"-वृ० ल० टि०। ८-कल्प्येत वृ० सं०। ९ "पदार्थसमूहम्"-वृ० ल० टि०। १० कार्योत्प-आ० हा० वि०। ११ भवति। वृ०। १२ "अर्थाप्रभवम्"—वृ० ल० टि०। १३-त्यक्षानु-वृ०। १४ "तथा चोक्तम्" इत्युल्लिख्योद्धृतोऽयं श्लोको वर्तते सिद्धिविनिश्चयटीकायाम्-लि० पृ० ५५ प० १६। "न विकल्पानुबद्ध"-शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० १५७ द्वि० पं० ३।

इति चेत्; ननु स्वप्नावस्थायां पुरोवर्त्तिहस्त्याद्यवभासमेकं ज्ञानमनुभूयते अपरं तु स्मरणज्ञानम् तत्र पूर्वोल्लेखतयोपजायमानस्य यदि वैशद्यवैकल्यम् नैतावता सर्वविकल्पस्य पुरोवर्त्तिस्तम्भाद्युल्लेखवतो वैशद्याभावः तत्र तस्य स्वसंवेदनाध्यक्षतः प्रतीतेः। न चाविकल्पकं तदिति वक्तव्यम् स्थिरस्थूलपुरोव्यवस्थितहस्त्याद्यवभासिनः स्वप्नदशाज्ञानस्याविकल्पकत्वे अनुमानस्यापि सांशवस्त्वध्यवसायिनो निर्विकल्पकत्वप्रसक्तेर्विकल्पवार्त्ताविरतिरेव स्यात्। अत एव 'प्रथमं निर्विकल्पकं निरंशवस्तुग्राहकं तदर्थसामर्थ्योद्भूतत्वात् तदुत्तरकालभावि तु निर्विकल्पकज्ञानप्रभवमर्थनिरपेक्षं सांशवस्त्वध्यवसायि सविकल्पकमविशदं लघुवृत्तेस्तु निर्विकल्पकज्ञानवैशद्याध्यारोपात् तत्राध्यक्षत्वाभिमानो लोकस्य' इति एतदपि निरस्तं द्रष्टव्यम् विकल्प एव पूर्वोक्तन्यायेन वैशद्योपपत्तेर्निर्विकल्पकस्य च निरंशक्षणिकपरमाणुमात्रावसायिनः कदाचिदप्यनुपलब्धेस्तत्र वैशद्यकल्पनाया दूरापास्तत्वात्।

अथ संहृतसकलविकल्पावस्थायां पुरोवर्तिवस्तुनिर्भासि विशदमक्षप्रभवं ज्ञानमविकल्पकं संवेद्यत एव तथा चाध्यक्षसिद्ध एव ज्ञानानां कल्पनाविरह इति नात्र प्रमाणान्तरान्वेषणमुपयोगि। तदुक्तम्—

"प्रत्यक्षं कल्पनापोढं प्रत्यक्षेणैव सिध्यति" ॥ [ ] इत्यादि।

तथा पुनरप्युक्तम्—

"संहृत्य सर्वतश्चिन्तां स्तिमितेनान्तरात्मना।
स्थितोऽपि चक्षुषा रूपं वीक्षते साक्षजा मतिः" ॥ [ ]

न ह्यस्यामवस्थायां नामादिसंयोजितार्थोल्लेखो विकल्पस्वरूपोऽनुभूयते। न च विकल्पानां स्वसंविदित-

---

१-हस्ताद्य-बृ०। २ "स्वप्नज्ञाने पुरोवर्त्यनेकपावभासरूपतया"—बृ० ल० टि०। ३ "वैशद्यस्य"-बृ० ल० टि०। ४-हस्ताद्य-बृ०। "स्वप्नदशायामपि स्मरणविलक्षणस्य पुरोवृत्तिहस्त्याद्यवभासिनो बोधस्य निर्विकल्पकत्वे अनुमानस्यापि सांशवस्तुग्राहिणस्तथात्वप्रसङ्गे विकल्पवार्त्ताया एव व्युपरमप्रसङ्गात्"—शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० १५७ द्वि० पं० ४-५। ५-रपेक्ष्य सां-बृ० भा० मा०। ६-दनु- भा० हा० वि०। ७ "प्रत्यात्मवेद्यः सर्वेषां विकल्पो नामसंश्रय ॥ इति पश्चिमार्धम्"-बृ० टि०। "प्रत्यात्मवेद्य. सर्वेषां विकल्पो नामसंश्रयः ॥ इति"—ल० टि०।

"यदाह न्यायवादी—

प्रत्यक्षं कल्पनापोढं प्रत्यक्षेणैव सिध्यति। प्रत्यात्मवेद्यः सर्वेषां विकल्पो नामसंश्रयः ॥
संहृत्य सर्वतश्चिन्तां स्तिमितेनान्तरात्मना। स्थितोऽपि चक्षुषा रूपमीक्षते साऽक्षजा मतिः ॥
पुनर्विकल्पयन् किञ्चिदासीद् मे कल्पनेदृशी। इति वेत्ति न पूर्वोक्तावस्थायामिन्द्रियाद् गतौ ॥

इत्यादि, तदपाकृतमवसेयम्"—अनेका० पृ० २०७ पं० ११-१८।

"यदाह न्यायवादी धर्मकीर्तिर्वार्तिके-प्रत्यक्षमित्यादि तदपाकृतमवसेयमिति योग। प्रत्यक्षं प्रस्तुतम् कल्पनापोढमित्येतत् प्रत्यक्षेणैव सिध्यति। कथमित्याह—प्रत्यात्मवेद्यो यस्मात् सर्वेषां प्रमातॄणाम्, विकल्पो नामसंश्रयः शब्दानुविद्ध इत्यर्थः ॥ तथा, संहृत्य सर्वतश्चिन्ता विकल्परूपाम्, स्तिमितेन अन्तरात्मना प्रसन्ननिर्व्यापारेण, स्थितोऽपि सन्, चक्षुषा रूपमीक्षते पश्यति यया बुद्ध्या सा अक्षजा मतिः ॥ ईक्षित्वा पुनर्विकल्पयन् किञ्चित् पश्चात् आसीद् मे कल्पना ईदृशी एवंभूता इति वेत्ति, न पूर्वोक्तावस्थायां चक्षुषा रूपेक्षणलक्षणायाम् इन्द्रियाद् गतौ ॥ इत्यादि यदाह न्यायवादी तद् अपाकृतम् अपास्तमवसेयम्"—अनेका० टी० पृ० २०८ पं० ११-२०।

प्रमेयकमलमार्तण्डे "विकल्पो नामसंश्रयः" इति पाठो वर्तते। नामसंश्रयः "शब्दः संश्रयः कारणं यस्य विकल्पस्य सः"—पृ० ९ द्वि० पं० ८ टि० ३८।

अयं श्लोकः सिद्धिविनिश्चयटीकायामुद्धृतोऽस्ति-लि० पृ० ३१ पं० १९। "यथाह" इति निर्दिश्य वाचस्पतिमिश्र श्लोकस्यास्य पूर्वार्धमुद्धृतवान्-न्यायवा० ता० टी० पृ० १५४ पं० ९-१०। स्याद्वादर० पृ० ८२ पं० १९-२० आ०। शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० १५७ द्वि० पं० ६। ८ सप्तमं टिप्पणं विलोकनीयम्।

"संहृत्य सर्वतश्चित्तं स्तिमितेनान्तरात्मना। स्थितोपि चक्षुषा रूपं स्वं च स्पष्टं व्यवस्यति ॥"
—तत्त्वार्थश्लोकवा० पृ० १८६ श्लो० १४। प्रमेयक० पृ० ९ द्वि० पं० ७। "परेण हि यासौ तदवस्थोपवर्णिता "संहृत्य सर्वत्र चिन्ताम्" इत्यादिना"—सिद्धिवि० टी० लि० पृ० ३४ पं० २५। स्याद्वादर० पृ० ८२ पं० १२-१३ आ०। शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० १५७ द्वि० पं० ८। ९-जितोर्थो-बृ०।

मपि ज्ञानं तथैव स्वविषयं विषयीकुर्यादिति तदुत्पत्त्यादिसम्बन्धकल्पनमनर्थकमासज्येत। न च तादात्म्यलक्षणस्तत्र तस्य सम्बन्धः तदाकारेऽविकल्पकत्वस्य अविकल्पकत्वे वा तदाकारत्वस्य प्रसक्तेः। तदुत्पत्तिसम्बन्धवशात् तेन तद्ग्रहणम् इत्येतदप्ययुक्तम् तदाकारस्य तज्ज्ञानोत्पादकत्वेन स्वलक्षणत्वप्राप्तेस्तज्ज्ञानस्य सविषयताप्रसक्तिदोषात्। न च स्ववासनाप्रकृतिविभ्रमवशादतदुत्पन्नमतदाकारं च तत् तद्विषयीकरोति अक्षसमनन्तरविशेषात् अन्यस्याप्युपजातस्य तथास्वविषयीकरणप्रसक्तेः सर्वत्र तदाकारतदुत्पत्तिप्रतिबन्धकल्पनावैयर्थ्यप्रसक्तेः। अतस्तदाकारविषयीकरणासंभवाद् विकल्प्यार्थाभावतो दृश्य-विकल्प्यावर्थावेकीकृत्य प्रवर्तत इत्ययुक्तमभिधानम्। ततो न बलवान् विकल्प इति कथं तेनाविकल्पतिरस्कार इति अविकल्पकनिश्चयस्तदैव भवेत् न चैवम् अतो नाविकल्पस्य विकल्पेनैकत्वाध्यवसायः। किञ्च, विकल्पेऽविकल्पकस्यैकत्वेनाध्यारोप इति कुतो निश्चीयते? अस्पष्टास्वलक्षणग्राहिणि स्पष्टस्वलक्षणग्राहित्वस्य प्रतीतेस्तदध्यारोपावगतिरिति चेत्; ननु यदि नाम तत्र तत्प्रतीतिः अविकल्पारोपस्तु कुतः? स्पष्टत्वादेस्तद्धर्मस्य तत्र दर्शनादिति चेत्, तद्धर्मः स्पष्टत्वादिरित्येतदेव कुतः? तत्र दर्शनादिति चेत्, अत एव विकल्पधर्मोऽप्यस्तु अन्यथाऽविकल्पस्यापि मा भूत्। न च विकल्पव्यतिरेकेणाविकल्पमपरमनुभूयते यस्य स्पष्टत्वादिधर्मः परिकल्प्येत एवमपि तत्र तत्परिकल्पने ततोऽप्यपरमननुभूयमानं विशदत्वादिधर्माधारं परिकल्पनीयमित्यनवस्थाप्रसक्तिः। अथ किञ्चिज्ज्ञानं सविकल्पकमपरं निर्विकल्पकं राश्यन्तराभावात् विकल्पस्य चार्थसामर्थ्योद्भूतत्वासंभवान्न विशदत्वादिधर्मयोगः अविकल्पस्यापि तद्योगाभावे विशदत्वादिकं न क्वचिदपि भवेदित्यविकल्पस्यैव तदभ्युपगन्तव्यम्। भवेदेतत् यद्यर्थसामर्थ्यप्रभवत्वेन वैशद्यादेर्व्याप्तिः स्यात् तदभावे तन्न भवेत् न चैवम् अर्थसामर्थ्योद्भूतेऽपि दूरस्थितपादपादिज्ञाने वैशद्यादेरभावात् योगिप्रत्यक्षे चार्थप्रभवत्वाभावेऽपि च भावात्। न च तदप्यर्थसामर्थ्योद्भूतम् तत्समानसमयस्य चिरातीतानुत्पन्नस्य चार्थस्य तद्ग्रहणानुपपत्तेः। तथाहि–प्रागसर्वज्ञः सन् सुगतो विवक्षितक्षणे सर्वज्ञतामासादयंस्तत्समानसमयभाविनां भावानाम्–तज्ज्ञानं प्रत्यजनकत्वात् तेषाम्–ग्राहको न स्यात् एवमुत्तरोत्तरतद्विज्ञानक्षणा अपि स्वसमयार्थग्राहका न भवेयुः चिरतरविनष्टस्य भावकलापस्यासत्त्वेन तदकारणत्वान्न तं प्रति ग्राहकता भवेत् अनुत्पन्नस्य च पदार्थसमूहस्य कारणत्वासंभवात् तं प्रति ग्राहकता तस्य दूरोत्सारितैव। अथ चिरातीतं भावि च तत्कारणमभ्युपगम्यत इति नायं दोषः, नन्वत्राप्यभ्युपगमे येन स्वभावेन तत् तदनन्तरभावि कार्यमुत्पादयति तेनैव यदि सुगतज्ञानमिदानीन्तनकालभावि जनयति तदैकस्वभावत्वान्नित्यादिवत् कार्यक्रमायोगात् पूर्वमेवैतदप्युत्पद्येत। अथ समनन्तरप्रत्ययस्य सुगतज्ञानहेतोरिदानीमेव भावान्न पूर्वमुत्पत्तिः, असदेतत्, यत आलम्बनकारणं चिरातीतसमयभावि तदैव तत्कार्यमुत्पादयितुं प्रभवति समनन्तरप्रत्ययस्त्विदानीमिति विरुद्धकारणसामर्थ्यानुविधायिनः कार्यस्योत्पत्तिरेव न भवेत्। अथान्येन स्वभावेन तर्हि सांशं तत् प्रसज्यत इति तद्ग्राहिणोऽपि ज्ञानस्य सांशैकवस्तुग्राहकत्वेन सविकल्पकताप्रसक्तिः। एवं भाविकारणेऽपि वक्तव्यम्। तन्न योगिप्रत्यक्षमर्थसामर्थ्यप्रभवमभ्युपगन्तव्यम् अन्यथा पूर्वोक्तदोषप्रसक्तेः। तच्च तदप्रभवमपि[12] यथा विशदम्–अन्यथा प्रत्यक्षत्वानुपपत्तेः[13]–तथा विकल्पज्ञानमर्थसामर्थ्याप्रभवमपि यदि विशदं भवेत् तदा को विरोधः? विकल्पस्य वैशद्यमेव विरोधः। तदुक्तम्–

"न विकल्पानुबद्धस्य स्पष्टार्थप्रतिभासिता।
स्वप्नेऽपि स्मर्यते स्मार्तं न च तत् तादृगर्थदृक्[14]"॥ [ ]

१–पयं निर्वि–ब०।–पयं वि–आ०। 'स्वविषयम्' इति पदस्य 'विषयीकुर्यात्' इति क्रियाया व्याप्यत्वेन द्वितीयान्तत्वात् 'सर्वमपि ज्ञानम्' इति पदेन सह नान्वय इति ख्यापनाय आ० प्रतौ 'षयं' इत्यस्य शिरसि द्वितीयविभक्तिसूचकोऽङ्को न्यस्त। २–कारे विकल्पकत्वे वा ब० वा० वा० मा० मा० विना। ३–कल्प्यार्थो–वा० वा० विना। ४–कल्पाव–भां० मा० हा० विना। ५ "अविकल्पक"–वृ० ल० टि०। ६ "सविकल्पके"–वृ० ल० टि०। ७ "तत्र दर्शनादेव"–वृ० ल० टि०। ८–कल्प्येत वृ० स०। ९ "पदार्थसमूहम्"–वृ० ल० टि०। १० कार्योत्प–आ० हा० वि०। ११ भवति। वृ०। १२ "अर्थाप्रभवम्"–वृ० ल० टि०। १३–त्यक्षानु–वृ०। १४ "तथा चोक्तम्" इत्युल्लिख्योद्धृतोऽयं श्लोको वर्तते सिद्धिविनिश्चयटीकायाम्–लि० पृ० ९५ पं० १६। "न विकल्पानुबन्धस्य"–शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० १५७ द्वि० पं० ३।

इति चेत्; ननु स्वप्नावस्थायां पुरोवर्त्तिहस्त्याद्यवभासमेकं ज्ञानमनुभूयते अपरं तु स्मरणज्ञानम् तत्र पूर्वोल्लेखतयोपजायमानस्य यदि वैशद्यवैकल्यम् नैतावता सर्वविकल्पस्य पुरोवर्त्तिस्तम्भाद्युल्लेखवतो वैशद्याभावः तत्र तस्य स्वसंवेदनाध्यक्षतः प्रतीतेः । न चाविकल्पकं तदिति वक्तव्यम् स्थिरस्थूलपुरोव्यवस्थितहस्त्याद्यवभासिनः स्वप्नदशाज्ञानस्याविकल्पकत्वे अनुमानस्यापि सांशवस्तव्यवसायिनो निर्विकल्पकत्वप्रसक्तेर्विकल्पवार्ताविरतिरेव स्यात् । अत एव 'प्रथमं निर्विकल्पकं निरंशवस्तुग्राहकं तदर्थसामर्थ्योद्भूतत्वात् तदुत्तरकालभावि तु निर्विकल्पकज्ञानप्रभवमर्थनिरपेक्षं सांशवस्त्वध्यवसायि सविकल्पकमविशदं लघुवृत्तेस्तु निर्विकल्पकज्ञानवैशद्याध्यारोपात् तत्राध्यक्षत्वाभिमानो लोकस्य' इति एतदपि निरस्तं द्रष्टव्यम् विकल्प एव पूर्वोक्तन्यायेन वैशद्योपपत्तेर्निर्विकल्पकस्य च निरंशक्षणिकपरमाणुमात्रावसायिनः कदाचिदप्यनुपलब्धेस्तत्र वैशद्यकल्पनाया दूरापास्तत्वात् ।

अथ संहृतसकलविकल्पावस्थायां पुरोवर्तिवस्तुनिर्भासि विशदमक्षप्रभवं ज्ञानमविकल्पकं संवेद्यत एव तथा चाध्यक्षसिद्ध एव ज्ञानानां कल्पनाविरह इति नात्र प्रमाणान्तरान्वेषणमुपयोगि । तदुक्तम्—

"प्रत्यक्षं कल्पनापोढं प्रत्यक्षेणैव सिध्यति" ॥ [ ] इत्यादि ।

तथा पुनरप्युक्तम्—

"संहृत्य सर्वतश्चिन्तां स्तिमितेनान्तरात्मना ।
स्थितोऽपि चक्षुषा रूपं वीक्षते साक्षजा मतिः" ॥ [ ]

न ह्यस्यामवस्थायां नामादिसंयोजितार्थोल्लेखो विकल्पस्वरूपोऽनुभूयते । न च विकल्पानां स्वसंविदित-

---

१-हस्ताद्य-वृ० । २ "स्वप्नज्ञाने पुरोवर्त्यनेकपावभासरूपतया"—वृ० ल० टि० । ३ "वैशद्यस्य"—वृ० ल० टि । ४-हस्ताद्य-वृ० । "स्वप्नदशायामपि स्मरणविलक्षणस्य पुरोवृत्तिहस्त्याद्यवभासिनो बोधस्य निर्विकल्पकत्वे अनुमानस्यापि साशवस्तुग्राहिणस्तथात्वप्रसङ्गे विकल्पवार्ताया एव व्युपरमप्रसङ्गात्"—शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० १५७ द्वि० पं० ४–५ । ५-रपेक्षं सां-वृ० भा० मां० । ६-दनु-आ० हा० वि० । ७ "प्रत्यात्मवेद्यः सर्वेषां विकल्पा नामसंश्रय. ॥ इति पश्चिमार्धम्"—वृ० टि० । "प्रत्यात्मवेद्य. सर्वेषां विकल्पो नामसंश्रयः ॥ इति"—ल० टि० ।

"यदाह न्यायवादी—

प्रत्यक्ष कल्पनापोढं प्रत्यक्षेणैव सिध्यति । प्रत्यात्मवेद्य. सर्वेषां विकल्पो नामसंश्रयः ॥
संहृत्य सर्वतश्चिन्तां स्तिमितेनान्तरात्मना । स्थितोऽपि चक्षुषा रूपमीक्षते साऽक्षजा मतिः ॥
पुनर्विकल्पयन् किञ्चिदासीद् मे कल्पनेदृशी । इति वेत्ति न पूर्वोक्तावस्थायामिन्द्रियाद् गतौ ॥

इत्यादि, तदपाकृतमवसेयम्"—अनेका० पृ० २०७ पं० ११–१८ ।

"यदाह न्यायवादी धर्मकीर्तिर्वार्तिके–प्रत्यक्षमित्यादि तदपाकृतमवसेयमिति योग. । प्रत्यक्षं प्रस्तुतम् कल्पनापोढमित्येतत् प्रत्यक्षेणैव सिध्यति । कथमित्याह—प्रत्यात्मवेद्यो यस्मात् सर्वेषां प्रमातॄणाम्, विकल्पो नामसंश्रय' शब्दानुविद्ध इत्यर्थ' ॥ तथा, संहृत्य सर्वतश्चिन्तां विकल्परूपाम्, स्तिमितेन अन्तरात्मना प्रसक्तनिर्व्यापारेण, स्थितोऽपि सन्, चक्षुषा रूपमीक्षते पश्यति यया बुद्ध्या सा अक्षजा मतिः ॥ ईक्षित्वा पुनर्विकल्पयन्, किञ्चित् पश्चात् आसीद् मे, कल्पना ईदृशी एवंभूता इति वेत्ति, न पूर्वोक्तावस्थाया चक्षुषा रूपेक्षणलक्षणायाम् इन्द्रियाद् गतौ ॥ इत्यादि यदाह न्यायवादी तद् अपाकृतम् अपास्तमवसेयम्"—अनेका० टी० पृ० २०८ पं० ११–२० ।

प्रमेयकमलमार्तण्डे "विकल्पो नामसंश्रयः" इति पाठो वर्तते । नामसंश्रयः "शब्दः संश्रयः कारणं यस्य विकल्पस्य सः"—पृ० ९ द्वि० पं० ८ टि० ३८ ।

अयं श्लोक. सिद्धिविनिश्चयटीकायामुद्धृतोऽस्ति–लि० पृ० ३१ पं० १९ । "यथाह" इति निर्दिश्य वाचस्पतिमिश्र' श्लोकस्यास्य पूर्वार्धमुद्धृतवान्–न्यायवा० ता० टी० पृ० १५४ पं० ९–१० । स्याद्वादर० पृ० ८२ पं० १९–२० आ० । शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० १५७ द्वि० पं० ६ । ८ सप्तमं टिप्पणं विलोकनीयम् ।

"संहृत्य सर्वतश्चित्तं स्तिमितेनान्तरात्मना । स्थितोपि चक्षुषा रूपं स्वं च स्पष्टं व्यवस्यति ॥"

—तत्त्वार्थश्लोकवा० पृ० १८६ श्लो० १२ । प्रमेयक० पृ० ९ द्वि० पं० ७ । "परेण हि यासौ तदवस्थोपवर्णिता "संहृत्य सर्वत्र चिन्ताम्" इत्यादिना"—सिद्धिवि० टी० लि० पृ० ३४ पं० २५ । स्याद्वादर० पृ० ८२ पं० १२–१३ आ० । शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० १५७ द्वि० पं० ८ । ९-जितोर्थो-वृ० ।

रूपतयाऽननुभूयमानानामपि संभव इति विकल्पविकला सावस्था सिद्धा, असदेतत्; यतस्तस्यामवस्थायां स्थिरस्थूलस्वभावशब्दसंसर्गयोग्यपुरोव्यवस्थितगवादिप्रतिभासस्यानुभूतेः सविकल्पकज्ञानानुभव एव । नहि शब्दसंसर्गप्रतिभास एव सविकल्पकत्वम् तद्योग्यावभासस्यापि कल्पनात्वाभ्युपगमात् अन्यथाऽव्युत्पन्नसंकेतस्य ज्ञानं शब्दसंसर्गविरहात् कल्पनावन्न स्यात् । न च पूर्वकालदृष्टत्वस्य वर्तमानसमयभाविनि संयोजनाच्छब्दोल्लेखाभावेऽप्यसदर्थग्राहितयाऽविशदप्रतिभासत्वात् तत् सविकल्पकम्, पूर्वकालदृष्टत्वस्य पूर्वदर्शनाप्रतीतावपि व्यापकाप्रतीतौ व्याप्यस्येव प्रतीतेरसत्त्वासिद्धेस्तत्सम्बन्धित्वग्राहिणोऽसदर्थताऽसिद्धेर्वैशद्याभावस्य तत्रानुपपत्तेः शब्दसंसर्गयोग्यप्रतिभासस्य विशदतया विकल्परूपस्याप्यध्यक्षतोपपत्तेः शब्दयोजनामन्तरेणापि स्थिरस्थूरार्थप्रतिभासं निर्णयात्मकं ज्ञानमध्यक्षमभ्युपगन्तव्यम् अन्यथा तस्य प्रामाण्यमेवानुपपन्नं भवेत् । तथाहि–यत्रैवांशे नीलादौ विधिप्रतिषेधविकल्पद्वयं पाश्चात्यं तज्जनयति तत्रैव तस्य प्रामाण्यम् तदाकारोत्पत्तिमात्रेण प्रामाण्ये क्षणिकत्वादावपि तस्य प्रामाण्यप्रसक्तेः क्षणक्षयानुमानवैफल्यमन्यथा भवेत् विकल्पश्च शब्दसंयोजितार्थग्रहणं तत्संयोजना च शब्दस्मरणमन्तरेणासंभविनी तत्स्मरणं च प्राक्तत्सान्निध्युपलब्धार्थदर्शनमन्तरेणानुपपत्तिमत् तद्दर्शनं चाध्यक्षतः क्षणिकत्वादाविव निश्चयजननमन्तरेणासंभवि निश्चयश्च शब्दयोजनाव्यतिरेकेण नाभ्युपगम्यत इत्यध्यक्षस्य क्वचिदप्यर्थप्रदर्शकत्वासंभवात् प्रामाण्यं न भवेत् । तस्मात् शब्दयोजनामन्तरेणाप्यर्थनिर्णयात्मकमध्यक्षमभ्युपगन्तव्यम् अन्यथाऽविकल्पाध्यक्षेण लिङ्गस्याप्यनिर्णयात् अनुमानात् तन्निर्णये अनवस्थाप्रसक्तेरनुमानस्याप्यप्रवृत्तितः सकलप्रमाणादिव्यवहारविलोपः स्यात् । अत एव "अश्वं विकल्पयतो गोदर्शनात् न तदा गोशब्दसंयोजना तस्यास्तदाननुभवात् युगपद्विकल्पद्वयानुत्पत्तेश्च निर्विकल्पकगोदर्शनसद्भावस्तदा" [ ] इति निरस्तम् गोशब्दसंयोजनामन्तरेणापि तद्दर्शनस्य निर्णयात्मकत्वात् अन्यथाऽश्वविकल्पनाद् व्युत्थितस्य गवि क्षणिकत्ववत् शब्दस्मरणासंभवतः स्मृतिर्न भवेत् अभ्युपगमनीयं चैतत् अन्यथा गोशब्दस्मरणस्यापि विकल्परूपत्वादपरतच्छब्दस्मरणमन्तरेण तद्योजनारूपस्य तस्यासंभवात् तत्स्मरणमभ्युपगन्तव्यम् तस्यापि चापरतच्छब्दस्मरणमन्तरेण तथाभूतस्यानुपपत्तेरपरतच्छब्दस्मरणमित्यनवस्थानान्न प्रथमशब्दस्मरणमिति न क्वचिद् विकल्पप्रसवो भवेत् । अथापरशब्दस्मरणमन्तरेणापि शब्दस्मरणसंभवान्नानवस्था तर्हि प्रथमशब्दस्मरणं तद्योजनं च व्यतिरेकेणाप्यश्वविकल्पनसमये गोदर्शनस्य निर्णयात्मनः संभवात् कथमस्याविकल्परूपता सिद्धिमुपगच्छेत्? यदपि 'निरंशवस्तुसामर्थ्योद्भूतत्वात् प्रथमाक्षसन्निपातजं निरंशवस्तुग्राहि निर्विकल्पकम्' इति, तदप्यसङ्गतम्; निरंशस्य वस्तुनोऽभावेन तत्सामर्थ्योद्भूतत्वस्य निर्विकल्पकत्वहेतोस्तत्रासिद्धेः । न चैवं यत् निरंशप्रभवं तन्निरंशग्राहि, निरंशरूपक्षणप्रभवस्याप्युत्तररूपक्षणस्य तद्ग्राहित्वादर्शनात् । न च 'ज्ञानत्वे सति' इति विशेषणान्नायं दोषः प्रत्यक्षप्रभवविकल्पस्य ज्ञानत्वेऽपि तद्भावानुपपत्तेः उपपत्तौ वा हिंसाविरतिदानचित्तस्वसंवेदनाध्यक्षप्रभवनिर्णयेन तद्ग्रहणोपपत्तेर्निश्चयविषयीकृतस्य चानिश्चितरूपान्तराभावात्

---

१ "यथा व्यापकाप्रतीतौ व्याप्यप्रतीतिर्नेति वैधर्म्यदृष्टान्तोऽयं तथा पूर्वदर्शनाप्रतीतावपि पूर्वकालदृष्टत्वस्य प्रतीत्यसत्त्वं नेति भाव."–बृ० ल० टि० । २ "प्रत्यक्षज्ञानस्य"–बृ० ल० टि० ।

३ "किञ्च, एवं तस्य प्रामाण्यमेवानुपपन्नं स्यात्, यत्रैव हि पाश्चात्यं विधि–निषेधविकल्पद्वयं तज्जनयति तत्रैव तस्य प्रामाण्यम्, विकल्पश्च शब्दसंयोजितार्थग्रहणम्, तत्संयोजना च शब्दस्मरणाधीना, तच्च सम्बन्धितावच्छेदकप्रकारकसम्बन्धिग्रहरूपार्थधीजन्यमिति, न चेदेवम् गवानुभवाद् गोशब्दसंयोजनावत् क्षणिकत्वानुभवात् क्षणिकत्वशब्दसंयोजनापि स्यात् । एतेन 'अश्वं विकल्पयतो गोदर्शनेऽपि तदा गोशब्दसंयोजनाभावाद् युगपद्विकल्पद्वयानुपपत्तेश्च निर्विकल्पकमेव गोदर्शनम्' इति निरस्तम्, गोशब्दसंयोजनामन्तरेणापि तद्दर्शनस्य निर्णयात्मकत्वात्, अन्यथा तत्स्मरणानुपपत्तेः, समानप्रकारकानुभवस्यैव समानप्रकारकस्मरणहेतुत्वात्, तत्संशयापत्तेश्च तत्प्रकारकनिश्चयस्यैव तत्प्रकारकसंशयविरोधित्वात्; अन्यथा क्षणिकत्वादावपि स्मरणसंशयप्रसङ्गात्"—शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० १५७ द्वि० प० १३ ।

४–कत्वसं–भां० मा० । ५–यतो गोदं–बृ० । ६–नुपपत्ते–बृ० ल० वा० बा० विना । ७–स्तदेतन्नि–बृ० ल० वा० बा० विना । ८–परं त–ल० वा० बा० भां० मां० विना । ९–शब–भां० मां० आ० हा० वि० । १० च नि–बृ० । ११–क्षम–बृ० ल० वा० बा० । १२–नत्वे त–आ० हा० वि० । १३ "प्रत्यक्षग्राहिता–" बृ० टि० ।

स्वर्गप्रापणसामर्थ्यादेरपि तद्गतस्य निश्चयात्[1] तत्र विप्रतिपत्तिर्न भवेत् । अथानुभवस्यैवायं यथावस्थितवस्तुग्रहणलक्षणः स्वभावविशेषो न विकल्पस्य तेनायमदोषस्तर्हि यथा दानचित्तानुभवः स्वसंवेदनाध्यक्षलक्षणस्तद्गतं सद्द्रव्यचेतनादिकं[2] विषयीकरोति तथा स्वर्गप्रापणसामर्थ्यमपि तत्स्वरूपाव्यतिरिक्तत्वात् विषयीकुर्यात् ततश्च सद्द्रव्यचेतनत्वादाविव[3] तत्रापि[4] विवादो न भवेत् । न चासौ[5] नास्तीति शक्यं वक्तुम् चार्वाकादेस्तत्र विप्रतिपत्तिदर्शनात् । तथाहि[6]—"यावज्जीवेत् सुखं जीव" [ ] इत्याद्यभिधानान्न स्वर्गः नापि तत्प्राप्तिहेतुः कश्चिद् भाव इति चार्वाकाः । "नैव दानादिचित्तात् स्वर्गः यदि ततो भवेत् तदनन्तरमेवासौ भवेत् अन्यथा मृताच्छिखिनः केकायितं भवेत् तस्मात् ततो धर्मस्तस्माच्च[7] स्वर्गः" [ ] इति नैयायिकादयः । "इष्टानिष्टार्थसाधनयोग्यतालक्षणौ धर्माधर्मौ[8]" [ ] इति मीमांसकाः । उक्तं च शावरे—"य एव श्रेयस्करः स एव धर्मशब्देनोच्यते[9]" [मीमांसाद० १-१-२ शाव० पृ० ४ पं० १५] अनेन द्रव्यादीनामिष्टार्थसाधनयोग्यता धर्म इति प्रतिपादितं शबरस्वामिना । भट्टोऽप्येतदेवाह—

"श्रेयो हि पुरुषप्रीतिः सा द्रव्यगुणकर्मभिः ।
चोदनालक्षणैः साध्या तस्मादेष्वेव धर्मता ॥
एषामैन्द्रियकत्वेऽपि न तांद्रूप्येण धर्मता ॥
श्रेयःसाधनता ह्येषां नित्यं वेदात् प्रतीयते ।
ताद्रूप्येण च धर्मत्वं तस्मान्नेन्द्रियगोचरः" ॥

[श्लो० वा० सू० २ श्लो० १९१-१३-१४] इति ।

एवमनेकधा विवाददर्शनान्न विवादाभावः स च स्वर्गप्रापणसामर्थ्यस्य दानचित्तादभेदे वस्तुस्वरूपग्राहिणा च स्वसंवेदनाध्यक्षेणानुभवे सद्द्रव्यचेतनत्वादाविव न युक्तः । अथ तच्चित्तादभिन्नं तत्प्रापण-

---

१ निर्णयात् वा० बा० । २-द्रव्यं चे-ल० मां० मां० । ३ "द्रव्यत परमार्थतश्चेतनत्वम्"-वृ० ल० टि० । ४ "स्वर्गप्रापणसामर्थ्येऽपि"- वृ० ल० टि० । ५ "विवाद"-वृ० ल० टि० । ६ "यथाह—

यावज्जीवं सुखं जीवेन्नास्ति मृत्योरगोचर । भस्मीभूतस्य शान्तस्य पुनरागमनं कुतः ॥"—न्यायमञ्ज० आ० ७ पृ० ४६७ पं० २४ ।

"तदेतत् सर्वं बृहस्पतिनाऽप्युक्तम्" इत्युल्लिख्योद्धृते श्लोककदम्बके

"यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत् । भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुत. ॥"

इत्युपन्यस्तवान् सायणमाधव.—सर्वदर्शनसं० पृ० १४ द० १ पं० १२२ । गुणरत्नसूरिरपि लोकायतमतविवेचने परावर्तितपूर्वार्धमेनमेव श्लोकमित्थमुद्धृतवान् "तदुक्तम्" इति कृत्वा—

"यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् तावद्वैषयिकं सुखम् । भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥"—षड्द० स० बृ० वृ० पृ० ३०२ पं० २० ।

७-स्तस्मात् स स्व-आ० हा० वि० ।-स्तन्मते च स्व-वा० बा० । ८-धनायो-आ० हा० वि० । षड्द० सं० बृ० वृ० पृ० २८९ पं० २-११ ।

९ तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ५८३ पं० ११-२० । "यद्यपि गोदोहनादिद्रव्यम्, यागादिक्रिया, नीचैस्त्वादिगुणश्च फलसाधनत्वाद् धर्मशब्देनोच्यते नापूर्वादय इति श्रेयस्करभाष्ये वक्ष्यते, तथापि तेषा फलसाधनरूपेण धर्मत्वात् फलस्य च जन्मान्तरादिभावित्वाद्धर्मस्वरूपेण प्रत्यक्षविषयत्वं न संभवति"—१-१-२ शास्त्रदीपिका पृ० १९ पं० १८ । श्लो० वा० पार्थव्या० पृ० ४८ पं० २२ ।

"य एव श्रेयस्कर स एव धर्मशब्देनोच्यते । कथमवगम्यते ? यो हि यागमनुतिष्ठति तं धार्मिकमिति हि समाचक्षते । यश्च यस्य कर्ता स तेन व्यपदिश्यते यथा पाचको लावक इति । तेन यः पुरुषं नि श्रेयसेन संयुनक्ति स धर्मशब्देनोच्यते । न केवलं लोके, वेदेऽपि "यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्" इति यजतिशब्दवाच्यमेव धर्मं समामनन्तीति श्रेयस्करभाष्ये वक्ष्यत इत्यर्थ."—१-१-२ शास्त्रदीपिका युक्तिस्नेहप्रपूरणीसिद्धान्त० पृ० १९ पं० २९ ।

१० "इन्द्रियगोचररूपतया"-वृ० ल० टि० । पूर्वार्धमस्येत्थम्—"द्रव्य-क्रिया-गुणादीना धर्मत्वं स्थापयिष्यते" ।

त्सामर्थ्यं तद्ग्रहे गृहीतमेव किन्तु स्वसंवेदनस्य "सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनं प्रत्यक्षमविकल्पम्" [ ] इति वचनात् अविकल्पाध्यक्षत्वमिति तद्गृहीतस्याग्रहीतकल्पत्वाद् निश्चयाऽसंभवस्तत्र आह च कीर्तिः–"पश्यन्नपि न पश्यति" [ ] इत्युच्यते, असदेतत्; यतो यदि तत्सामर्थ्यं निर्विकल्पकाध्यक्षविषयत्वात् गृहीतमप्यगृहीतकल्पं तर्हि तच्चित्तमपि तत एव तथा भवेत् अविशेषात् तथा च 'यद् दानादिचित्तं तद् बहुजनसेव्यतानिबन्धनम् यथा त्यागिनरपतिचित्तम् दानादिचित्तं च विवक्षितम्' इत्याद्यनुमानमगमकम्–आश्रयासिद्धत्वादिदोषात्–प्रसज्येत । अथात्र विकल्पोत्पत्तेर्न दोषः, असदेतत्; यतो यद्धेतुको विकल्पश्चित्तवत् तत्सामर्थ्येऽपि भवेत् अथ न, तत्र चित्तेऽपि मा भूत् अविशेषात् । अनुभवाद् विकल्पोत्पत्तिर्नानिमित्तेति चेत् उभयत्र स्यान्न वा क्वचिदप्यनुभवस्याप्यविशेषात् । न च चेतोविकल्पप्रभव एवानुभवः समर्थो न तत्सामर्थ्यविकल्पोत्पत्ताविति वक्तव्यम् यतो येन स्वभावेन तच्चित्तचेतनादिकं स्वसंवेदनाध्यक्षमनुभवति तेनैव चेत् तत्सामर्थ्यं तर्ह्युभयत्रापि विकल्पस्ततः प्रादुर्भवेत् । अथ रूपान्तरेण तर्ह्युभयरूपतैकस्यानुभवस्येत्यविकल्पकैकान्तवादव्याघातः । न चैकेनैव स्वभावेनोभयानुभवेऽपि तत्सामर्थ्ये न विकल्पमुत्पादयत्यनुभवोऽशक्तेरन्यत्र तदुत्पादयति विपर्ययादिति वक्तव्यम्, एकस्य शक्तेतररूपद्वयायोगात् । न चैकत्र शक्तिरेवान्यत्राशक्तिस्तस्येति ईश्वरस्यापि क्रमभाविकार्यविधायिन एकत्र शक्तिरेवापरत्राशक्तिरिति स्वभावभेदो न भवेदिति न नित्यकारणप्रतिक्षेपो भवेत् । अथ नानुभवमात्राद् विकल्पप्रभवः अन्यथा निर्णयात्मकानुभववादिनोऽपि विस्तीर्णप्रघट्टकादौ वर्णपदवाक्यादेः सकलस्य निर्णयात्मनाऽध्यक्षेणानुभवात् स्मरणविकल्पानुदयो न भवेत् । अथात्र दर्शनपाटवाभ्यासप्रकरणाद्यपेक्षा तर्ह्यन्यत्रापि सा तुल्येति, एतदप्यसत्; यतो दर्शनस्य पाटवं सच्चेतनादौ तद्ग्रहणयोग्यता तत्सामर्थ्ये अपाटवं तदग्रहणयोग्यता तच्च दर्शनस्य द्वयस्य च सांशतायामुपपत्तिमदिति कथं न सविकल्पकता? विकल्पजननाजनने तत्पाटवापाटवे अपि नाभ्युपगमनीये सांशतापत्तिदोषादेव । अथाभ्यासादिसहायं दर्शनं विकल्पमुत्पादयति, नन्वेवमपि यदेव सच्चेतनादौ दर्शनं तदेव चेत्, अन्यत्रोभयत्र विकल्पोत्पत्तिर्भवेत् अन्यथा 'नित्यस्यापि सहकारिसचिवमेकदैकत्र यद्रूपं तस्यान्यत्रान्यदा सद्भावेऽपि न तत्कार्यकरणं तदा तत्र' इति तस्य यद् दूषणं तदसङ्गतं भवेत् । किञ्च, यदपरमपेक्ष्य कार्यजनकं क्वचिद् दृष्टं तत् तत्सहकृतं कार्यं

१–वृत्ते प्र–वा० वा० । २ अत्र धर्मकीर्तिकृते न्यायबिन्दौ "सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनम्" इत्येतावदेव सूत्रं दृश्यते–प० १ सू० १० पृ० ११ । ततः "प्रत्यक्षमविकल्पकम्" इत्यंशस्तत्सूत्रटीकानुसारी समुद्धृतो बोद्धव्यः । सा च टीकेयम् वर्तते–"तच्च ज्ञानरूपं वेदनमात्मनः साक्षात्कारि निर्विकल्पकमभ्रान्तं च तस्मात् प्रत्यक्षम्"–पृ० ११ प० १४ । तट्टीकाटिप्पण्यपि यथा–"तत् प्रत्यक्षं स्वसंवेदनरूपं निर्विकल्पकं तत्र शब्दादियोजनाभावात् । कुतः । शब्दे संकेताभावात् । अभ्रान्तं च तद्विज्ञानं स्वरूपेऽविपर्यस्तत्वाद् बाधकाभावाच्चेति"–पृ० ३३ पं० ५–६ । "सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनं प्रत्यक्षं निर्विकल्पकमिति"–सिद्धिवि० टी० लि० पृ० ५१ प० २० ।

३ पृ० २४५ पं० १४–१५ । "अथ क्षणिकत्वादेर्निर्विकल्पकैकवेद्यत्वात् तद् गृहीतकल्पत्वाद् न दोषः," तदाह धर्मकीर्तिः–"पश्यन्नपि न पश्यतीत्युच्यते" इति न दोष इति चेत् । न, तच्चित्तांशेऽपि तथात्वप्रसङ्गात् । तत्र विकल्पोत्पत्तेर्न दोष इति चेत् । न, स्मरणरूपतदनुत्पत्तेरनुत्तरत्वात् । तव विस्तीर्णप्रघट्टकानुभवे सकलवर्णपदाद्यस्मरणवदुपपत्तिरिति चेत् । न, मम विस्तीर्णप्रघट्टकस्थले वर्णादीनां तज्ज्ञानानां च व्यक्तिभेदाद् दृढसंस्कारस्यैव निश्चयस्य स्मृतिजनकत्वेन नियमसंभवात्, तव तु निरंशानुभवस्यांशे विकल्पजननाऽजननस्वभावभेदस्य, शक्तिभेदस्य, पाटवाऽपाटवादेर्वा न संभव इत्युक्तत्वात्; 'एकस्यापि सहकारिसान्निध्येन तद्विकल्पस्यैव जनकत्वं, नान्यविकल्पस्य' इत्यभ्युपगमे स्थिरस्यापि सहकारिसान्निध्याऽसान्निध्याभ्यां कार्यजनकत्वाजनकत्वाभ्युपगमप्रसङ्गात्, कुम्भकारादिसहकृतस्य मृदादेर्घटाद्यन्वय–व्यतिरेकदर्शनवदभ्यासादिसहकृतस्य निर्विकल्पस्य कदापि विकल्पान्वयव्यतिरेकाग्रहणेनाभ्यासादिसहकृतस्याविकल्पस्य विकल्पजनकत्वकल्पनाया अन्याय्यत्वाच्च"–शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० १५८ प्र० पं० ७ ।

४ "स्वर्गप्रापण–" बृ० ल० टि० । ५ "सद्द्रव्यचेतनत्वादिरूपे"–बृ० ल० टि० । ६ "ग्रत्यादे"–बृ० ल० टि । ७ "शक्तिभावात्"–बृ० ल० टि० । ८ "विस्तीर्णप्रघट्टकादौ"–बृ० टि० । विस्तीर्णप्रघट्टकादौ स्मरणविकल्पानुदये"–ल० टि० । ९–स्यान्यदा भां० मां० आ० हा० वि० ।

निर्वर्त्तयतीति युक्तं मृदादिवत् कुम्भकाराद्युपकृतम् । न चाभ्यासादिसहायमविकल्पकं कदाचिद् विकल्पमुपजनयद् दृष्टमिति कथं तस्य सहकारिसाचिव्यस्य विकल्पजनकताभ्युपगमः? । अथ सच्चेतनादिविकल्पमविकल्पकमुत्पादयद् दृष्टमिति तदभ्युपगमः; स्यादेतत् यदि क्रमभाविहेतुफलभूतमविकल्पसविकल्पकं ज्ञानद्वयमवसीयेत न च तदवसीयते सांशैकविकल्पस्वभावस्य सामान्यविशेषात्मकवस्तुग्राहिणः प्रथममेवोपजायमानस्यैकस्यैव निश्चयात् । तथाप्यप्रतीयमानस्य पूर्वकालभाविनोऽपरस्याविकल्पकस्याभ्युपगमे तत्राप्यपरस्य तथाभूतस्याभ्युपगम इत्यनवस्थाप्रसक्तिः ।

यदप्यविकल्पकस्याभ्यासादिसहायविकल्पजनने प्रघट्टकास्मरणं दृष्टान्तत्वेनोपन्यस्तम्, तदप्ययुक्तम्; यतो वर्णादीनां तज्ज्ञानानां च व्यक्तिभेदाद् दृढसंस्काराण्येव निश्चयात्मकान्यपि ज्ञानानि स्मृतिजनकानि नापराणीति प्रतिनियतविषयस्मृतिसंभवान्न सकलप्रघट्टकास्मरणदोषः अनिश्चयात्मकं तु ज्ञानं क्षणिकत्वादाविव न क्वचिद् विकल्पहेतुर्भवेत् इत्युक्तं प्राक् । न च भवत्पक्षे सच्चेतनादिस्वर्गप्रापणशक्त्यादीनां परस्परं तदनुभवानां च भेदः येनेदमुत्तरं समानं भवेत् । तथाहि-सच्चेतनादितत्सामर्थ्ययोरभेदे तदनुभवादेकरूपादुभयत्र संस्कारः स्मरणं वा भवेत् न वा क्वचिदिति अन्यथा अनुभवस्य सांशतापत्तिरिति सविकल्पकत्वं भवेत् । तस्माद् दानचित्तादौ सच्चेतनत्वादिकमनुभूयते न स्वर्गप्रापणसामर्थ्यमित्यभ्युपगन्तव्यम् । अथ तच्चेतसो मूषिकालर्कविषविकारवदनन्तरं फलस्यानुपलम्भाद् अतत्फलसाधर्म्याद्सामर्थ्यसमारोपाद् वा तदनुभवेऽपि न विकल्पः । तदुक्तम्—

"एकस्यार्थस्वभावस्य प्रत्यक्षस्य सतः स्वयम् ।
कोऽन्यो न दृष्टो भागः स्यात् यः प्रमाणैः परीक्ष्यते" ॥ [ ]
"नो चेद् भ्रान्तिनिमित्तेन संयोज्येत गुणान्तरम् ।
शुक्तौ वा रजताकारो रूपसाधर्म्यदर्शनात्" ॥ [ ] इति ।

अत्र च तात्पर्यार्थः—यद् यतोऽभिन्नं तस्मिन्ननुभूयमाने तदनुभूयते, यथा तस्यैव स्वरूपम् अभिन्नं च सच्चेतनादेश्चेतसः स्वर्गप्रापणसामर्थ्यम् तस्य ततो भेदे सम्बन्धासिद्धेः सामर्थ्यादेव तत्प्राप्तेश्चेतसस्तत्प्राप्ति प्रत्यकारकत्वं च भवेत् निरंशस्य च वस्तुनोऽध्यक्षेणानुभवेऽननुभूतापरांशाभावान्न तत्र प्रमाणान्तरप्रवृत्तिः प्रयोजनवती अयं च निश्चयात्मकाध्यक्षवादिनो दोषः निश्चिते विपरीतसमारोपाभावात् निश्चयारोपमनसोर्बाध्यबाधकभावात् अविकल्पदर्शनानुभूते तु वस्तुन्यनिश्चयाद् भ्रान्तिनिमित्तगुणान्तरारोपसंभवात् तद्व्यवच्छेदार्थं प्रमाणान्तरप्रवृत्तिः सप्रयोजनैवेति, एतदप्ययुक्तम्, यतस्तत्सामर्थ्यस्य यत् फलं सच्चेतसां तदेव, उतान्यदिति? प्रथमपक्षे उभयत्र निश्चयाभावः फलादर्शनस्याविशेषात् । द्वितीयपक्षे घट-पटवत् तद्भेदः । यदप्यसामर्थ्यसमारोपात् तन्निश्चयानुत्पत्तिरिति तत्रापि तत्सामर्थ्यानुभवो यद्यनिश्चितोऽप्यस्ति सर्वं सर्वत्रानिश्चितमपि भवेदिति साङ्ख्यमताऽप्रतिक्षेपः । न च तत्सामर्थ्यं तच्चेतसोऽभिन्नमिति तदनुभवे तस्याप्यनुभवः चन्द्रग्रहणेऽपि तदेकत्वाग्रहणतस्तैमिरिकदर्शनेन व्यभिचारात् । तस्यापि ग्रहणमिति चेत्, न; भ्रान्तेरभावप्रसङ्गतः

---

१ "उत्तरम्"-वृ० ल० टि० । २ "निर्विकल्पकस्य"-वृ० टि० । ३ "दृढसंस्काराण्येव स्मृतिजनकानीति योग."-वृ० ल० टि० । ४-त्पक्षे तच्चे-आ० हा० वि० । ५ "स्वर्गप्रापणसामर्थ्यं"-वृ० ल० टि० ।

६ "यथोक्तम्—

तस्माद् दृष्टस्य भावस्य दृष्ट एवाखिलो गुणः । भ्रान्तेः कोऽन्यो न दृष्टः स्यात् यः प्रमाणैः परीक्ष्यते ॥" इति—प्रशस्त० कं० पृ० २०८ पं० ३ ।

"तदुक्तम्" इत्युल्लिख्योद्धृतवानिदं 'एकस्यार्थस्वभावस्य' इत्यादि पद्यं जयन्तभट्ट ।—न्यायमञ्ज० आ० २ पृ० ९३ पं० १४।

"तदुक्तम्" इत्युल्लिख्य श्रीयशोविजयैरिदं पद्यद्वयमुद्धृतं वर्तते शास्त्रवार्तासमुच्चयस्य टीकायाम्-पृ० १५८ द्वि० पं० २-४ ।

७ "स्वर्ग-"वृ० ल० टि० । ८-त्यपका-आ० हा० वि० । ९-मित्तं गु- ल० वा० पा० । १० "चित्ततत्सामर्थ्ययोर्भेद."-वृ० ल० टि० । ११ "चन्द्रैकत्वस्य तैमिरिकदर्शने"-ल० टि० । "चन्द्रैकत्वस्य"-वृ० टि० ।

"कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्" [न्यायबिं० १-४] इत्यत्राभ्रान्तग्रहणानर्थक्यप्रसक्तेर्व्यवच्छेद्याभावात्। चन्द्रग्रहणमपि तत्र नास्तीति चेत्, न, एकत्वाप्रतिपत्तावपि तत्प्रतिभासदर्शनात्। एकस्य द्वित्व-विशिष्टतया तस्य ग्रहणान्मरीचिकाजलज्ञानवद् भ्रान्तं तदिति चेत्, न द्वित्वे यथा विसंवादाभिप्रायात् तद् भ्रान्तं तथा चन्द्रमसि संवादाभिप्रायात् किमिति तत्रा(त्र्या)भ्रान्तं प्रमाणेतरव्यवस्थाया व्यवहार्यनुरोधतः समाश्रयणात् "प्रामाण्यं व्यवहारेण शास्त्रं मोहनिवर्तनम्" [ ] इति भवतैवाभिहितत्वात्। न चैकत्र ज्ञाने भ्रान्तेतररूपद्वयमयुक्तम् व्यवहारिणा तथाश्रयणात् अन्यथैक-चन्द्रदर्शनस्यापि 'चन्द्ररूपे प्रमाणता क्षणिकत्वे अप्रमाणता' इति रूपद्वयं न स्यात् क्षणक्षयेऽपि तत्प्रामाण्ये प्रमाणान्तराप्रवृत्तिर्भवेत्। चन्द्रमस्यप्यप्रमाणत्वे न किञ्चित् क्वचित् प्रमाणं भवेदिति सर्वप्रमाणव्यवहारलोपः। यस्य तु मतं दृश्य-प्राप्ययोरेकत्वे अविसंवादाभिमानिनः प्रत्यक्षं प्रमाणम् इतरस्य तयोर्विवेके सत्यनुभूतेऽपि न प्रमाणम् तस्य चन्द्रदर्शने चन्द्रप्राप्त्यभिमानिनः किमिति चन्द्र-मात्रे तन्न प्रमाणम्? विवेकानध्यवसायिनस्तु यदि तदननुभूतेऽप्येकत्वे प्रमाणं तर्हि यद् यथाव-भासते तत् तथैव परमार्थसद्व्यवहारावतारि यथा नीलं नीलतयावभासमानं तथैव सद्व्यवहारावतारि अवभासन्ते च क्षणिकतया सर्वे भावाः इत्यनुमानमसङ्गतम् हेतोरसिद्धताप्राप्तेः। अथ तं प्रत्येतदनु-मानमेव नोपादीयते तर्हि कं प्रत्येतदुपादेयम्? यस्तयोर्विवेकं मन्यते तं प्रतीति चेत्, न, तं प्रत्यनु-मानानर्थक्यात् तदन्तरेणापि तदर्थनिष्पत्तेः यच्च तं प्रति भाविनि प्रवर्तकत्वादनुमानं प्रमाणं युक्तम् तत् "सर्वचित्त-चैत्तानामात्मसंवेदनं प्रत्यक्षम्" [ ] इति वचनात् स्वरूपेऽभ्रान्तं बहिरर्थे "भ्रान्तिरपि सम्बन्धतः प्रमा" [ ] इति वचनाद् भ्रान्तमित्येकमेव कथं द्विरूपम्? किञ्च, यदि तस्य न प्रत्यक्षं प्रमाणमस्ति कथमनुमानप्रादुर्भावः? अस्ति चेत् तत् किंविषय-मिति वाच्यम्? साधनावभासिजलादिसाधनविषयं प्राप्यावभासि प्राप्यार्थक्रियाविषयमिति चेत्, ननु तदपि जलादिमात्रे प्रमाणम् स्वविषयकार्यजननसामर्थ्यादावप्रमाणम् अन्यथा विवादाभावात् शास्त्रप्रणयनं तदर्थमनर्थकं भवेदिति तदप्यंशेनैव प्रमाणम्। यत् पुनरभ्यधायि 'दृश्य-प्राप्ययोरेकत्वे

---

१ पृ० ४८८ टि० ३।

" तस्माद्यत्कल्पनापोढपदं प्रत्यक्षलक्षणे। भिक्षुणा पठितं तस्य व्यवच्छेद्यं न विद्यते ॥

अभ्रान्तपदस्यापि व्यावर्त्यं न किंचन तन्मतेन पश्याम। ननु तिमिराशुभ्रमणनौयानसंक्षोभाद्याहितविभ्रमं द्विचन्द्रा-लातचक्रचलत्पादपादिदर्शनमपोह्यमस्य परैरुक्तम्। सत्यमुक्तम् अयुक्तं तु कल्पनापोढपदेनैव तद्व्युदाससिद्धेः। तत्रापि निर्विकल्पकं ज्ञानमेकं चन्द्रादिविषयमेव विकल्पास्तु विपरीताकारग्राहिणो भवन्ति यथा मरीचिग्राहिणि निर्विकल्पके सलिलावसायी विकल्प इति। ननु तिमिरेण द्विधाकृतं चक्षुरेकतया न शक्नोति शशिनं ग्रहीतुमिति निर्विकल्पकमपि द्विचन्द्रज्ञानम्। यद्येवं तरङ्गादिमात्स्वरूपितमूषरे मरीचिचक्रं चक्षुषा परिच्छेत्तुमशक्यमिति तत्रापि निर्विकल्पकमुदकग्राहि विज्ञानं किमिति नेष्यते अभ्युपगमे वा सदसत्कल्पनोत्पातादिकृत प्रमाणेतरव्यवहारो न स्यात्। अपि च न बाधकोपनिपातमन्तरेण भ्रान्तताऽवकल्पते ज्ञानानाम्। न च क्षणिकवादिमते बाध्यबाधकभावो दुर्जानाः(?)उपपद्यते इत्यलं विमर्देन।

इति सुनिपुणबुद्धिर्लक्षणं वक्तुकामः पदयुगलमपीदं निर्ममे नानवद्यम्।
भवतु मतिमहिम्नश्चेष्टितं दृष्टमेतज्जगदभिभवधीर धीमतो धर्मकीर्तेः" ॥—

न्यायमञ्ज० आ० २ पृ० ९९ पं० २३-।

२ "शशि"–वृ० टि०। ३ शास्त्रमो–वृ० वि०। तत्त्वार्थश्लो० वा० पृ० १७३ श्लो० ६२।

"नान्तरीयकत्वादेकानुभवोऽन्यानुभवे मानमिति चेत्। न, चन्द्रग्रहणेऽपि तदेकत्वाग्रहणतस्तैमिरिकदर्शनेन व्यभिचारात्, द्वित्वे तस्य भ्रान्तत्वेऽपि चन्द्रेऽभ्रान्तत्वात् प्रमाणेतरव्यवस्थाया व्यवहारिजनापेक्षत्वात् "प्रामाण्यं व्यवहारेण शास्त्रं मोहनि-वर्तनम्" इति स्वयमभिहितत्वात् अन्यथैकचन्द्रदर्शनस्यापि चन्द्ररूपे प्रमाणता क्षणिकत्वे चाप्रमाणता इति रूपद्वयस्याभ्युपगम-विरोधात्"—शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० १५८ द्वि० पं० ६-९। ४–त्ररूपद्व–वृ०। ५–हारिणां त–वा० बा०। ६–रूपेण प्र–वृ० भा० मा०। ७ "चन्द्रदर्शन"–वृ० ल० टि०। ८ शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० १५८ द्वि० पं० १०-। ९ "विसंवादाभिमानिनः"—वृ० ल० टि०। १० "वादिनः"–वृ० ल० टि०। ११ "चन्द्रदर्शनम्"—वृ० ल० टि०। १२ "यथा विवेकानध्यवसायिनश्चन्द्रविषये एकत्वेऽननुभूतेऽपि दर्शनं प्रमाणं तथा क्षणिकत्वेऽप्यननुभूते भविष्यतीति"— वृ० ल० टि०। १३ "विवेकानध्यवसायिनम्"–वृ० ल० टि०। १४ "अनुमानम्"–वृ० टि०। १५ "विवेकप्रति-पत्तारं प्रति"–वृ० ल० टि०। १६ पृ० ५०६ टि० १। १७–रूपे भ्रा–वृ० विना। १८ पृ० ४८१ गतं पञ्चमं टिप्पणमवलोकनीयम्। १९ "विवेकाध्यवसायिनः"–वृ० ल० टि०।

विसंवादबुद्धिं प्रति प्रत्यक्षाभासम्' इति तत्र हस्त्यादिमात्रे तदाभासत्वे वस्तुदर्शनमुच्छिद्येत। अथात्र प्रमाण-तदाभासधर्मद्वयमेकत्राप्यभ्युपगम्यते प्रकृतेऽप्यभ्युपगम्यताम्। अथ तैमिरिकज्ञानेनाप्रतीयमानमेकत्वं तस्येति कथम्? ननु निश्चिते शब्दे अनिश्चिता क्षणिकता तस्येत्यपि कथम्? अनुमानेन तत्रैव निश्चयात् तस्येति एतदन्यत्रापि समानम्। तदेवं निरंशत्वे वस्तुनस्तन्निचग्रहणे तत्सामर्थ्यस्यापि ग्रहणप्रसक्तेर्विवादाभावस्तत्रैव भवेत् न चैवमिति सांशं वस्तु तथाभूतवस्तुग्राहकं प्रमाणमपि सांशं सत् सविकल्पकम्। अपि च, यदि निरंशवस्तुसामर्थ्योद्भूतत्वात् कल्पनापोढमध्यक्षं स्वसंवेदनं तथाभूतवस्तुप्रभवत्वाभावात् संवेदनग्राहि निर्विकल्पकं च न भवेत्। अथ तादात्म्यं तत्र तन्निमित्तम्, न; सच्चेतनादेरिव स्वर्गप्रापणसामर्थ्यादेरपि ग्रहणप्रसक्तेस्तदविशेषात्। अथ न तादात्म्याद् ग्रहणमेवाभिन्नस्य किन्तु तादात्म्यादेव, असदेतत्; तादात्म्यादेव स्वरूपस्य ग्रह इत्यत्र प्रमाणाभावात्। अविकल्पकं दर्शनं प्रमाणमिति चेत्, न, सुषुप्तावस्थायां तत्प्रसङ्गात् तत्रापि चैतन्यसद्भावात् अन्यथा प्रबोधावस्थाविज्ञानमनुपादानम् अचेतनोपादानं वा भवेत्। न च तदनुरूपप्रबोधदर्शनाज्जाग्रद्विज्ञानोपादानं तत् विप्रकृष्टदेशकालस्यापि कारणत्वे तैमिरिकज्ञानस्यापि विप्रकृष्टदेशकालकारणप्रभवत्वसंभवात् निरालम्बनता न भवेत् अतोऽव्यवहितं कारणमभ्युपगन्तव्यम्। न च सुषुप्तावस्थायां विकल्पानुत्पत्तेर्न तत्प्रसङ्गः विकल्पवशात् तादात्म्ये सत्यपि तद्व्यवस्थायां बाह्यार्थेऽपि तत एव तद्व्यवस्थोपपत्तेर्विकल्प एव प्रमाणं भवेत्।

किञ्च, यद्यर्थप्रभवत्वात् ज्ञानमर्थग्राहकं तर्हि इन्द्रियादेरपि तत एव ग्राहकं भवेत् तद्व्यतिरिक्तबाह्यार्थग्राहकत्वं च तस्याभ्युपेयते। तथाहि—"प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थवत् प्रमाणम्" [वात्स्या० भा० पृ० १ पं० १] इत्यत्र भाष्ये प्रमातृ-प्रमेयाभ्यामर्थान्तरमर्थसहकार्यर्थवत् प्रमाणं नैयायिकैर्व्याख्यातम्। तेन न तत्प्रभवत्वं तन्निमित्तम् तदभ्युपगमे वा शब्दज्ञाने शब्दवत् तत्समवायिकारणकर्णशष्कुल्यवच्छिन्ननभोदेशाख्यश्रोत्रेन्द्रिय-तत्समवाययोरपि प्रतिभासः स्यादित्याकाशसमवायविषयानुमानोपन्यासो वैयर्थ्यमनुभवेत् अध्यक्षसिद्धेऽनुमानोपन्यासप्रयासस्य वैफल्यात्। न च समवायविषयाध्यक्षस्याविकल्पकत्वेन तद्गृहीतस्याप्यगृहीतरूपत्वान्नायं दोषः शब्देऽप्यस्य समानत्वात् यतो नैकमेकत्र निर्णयात्मकमपरत्रान्यथेत्येकान्तवादिनो वक्तुं युक्तम्। एवं रूप-तत्सामान्य-समवायेष्वपि वाच्यम्। अथ न कारणमित्येवार्थग्रहः किन्तु योग्यतातः; नन्वेवं किमनिमित्तमर्थस्य ज्ञानं प्रति कारणता परिकल्प्यते? अथ न तद्ग्रहणान्यथानुपपत्तेस्तत्प्रति तत्कारणतापरिकल्पनम् किन्त्वन्वय-व्यतिरेकाभ्याम्-'अर्थे सति तदवभासि ज्ञानमुपलब्धं तदभावे च न' इत्यन्वय-व्यतिरेकनिबन्धनोऽन्यत्रापि हेतुफलभाव इति, असदेतत्; योगिज्ञानस्य सकलातीतानागतपदार्थसाक्षात्कारिणोऽतीतानागततत्पदार्थाभावेऽपि भावाभ्युपगमात्। न च सर्वेऽप्यतीतानागता भावास्तदा सन्ति सर्वभावानां नित्यताप्रसक्तेः। न च तद्विषयं तज्ज्ञानं न भवति 'सदसद्वर्गः कस्यचिदेकज्ञानालम्बनः अनेकत्वात् पञ्चाङ्गुलिवत्' इत्यनुमानविरोधात्। एतेन "यस्य ज्ञाने प्रतिभासस्तस्य तत्र तत्कारणत्वं निमित्तमभिधीयते नत्वप्रतिभासमानस्य समवायादेस्तन्निमित्तः प्रतिभासो भवतु इत्यासञ्जयितुं युक्तम्" [ ] इत्यध्ययनादिमतं निरस्तम् योगिज्ञानेऽकारणस्यापि प्रतिभासप्रतिपादनात्। 'तैजसं चक्षुः रूपादीनां मध्ये रूपस्यैव प्रकाशकत्वात् प्रदीपवत्' तथा 'प्राप्तार्थप्रकाशकं चक्षुः, तैजसत्वात् प्रदीपवत्' इत्येतदप्यत एव निरस्तम् रूपप्रकाशकत्वं हि रूपज्ञानजनकत्वम् तच्च प्रदीपस्यासिद्धम् तस्य रूपैकज्ञानसंसर्गित्वात्। प्रयोगश्चात्र-प्रदीपस्तद्विज्ञानकारणं न भवति विषयत्वात् यो हि यद्विषयो नासौ तत्कारणं यथा त्रिकालाशेषभावविषययोगिज्ञानस्यातीतादिकोऽर्थः तथा च प्रदीपो विषयो यथोक्तरूपज्ञानस्य तस्मान्न कारणमिति तैजसत्वासिद्धौ च चक्षुषः प्राप्तार्थप्रकाश-

१-त्राभ्यु-आ० हा० वि०। २ "द्विचन्द्रज्ञानेनैकत्वमप्रतीतमिति"-वृ० ल० टि०। ३ "द्विचन्द्रदर्शने"-वृ० ल० टि०। ४ "स्वर्गप्रापणसामर्थ्य"-वृ० ल० टि०। ५-स्तत्र भ-वृ० ल० वा० वा०। ६ ग्रहण इ-आ० हा० वि०। ७ "स्वरूपग्रहण"-वृ० ल० टि०। ८ "स्वप्रज्ञानम्"-वृ० ल० टि०। ९-कार्यार्थ-ल० आ० हा० वि०। १० "अर्थप्रभवत्वादर्थग्राहकत्व"-वृ० ल० टि०। ११ "यथा शब्दे"-वृ० ल० टि०। १२ प्रशस्त० कं० पृ० ३९ पं० ५, पृ० ४० पं० ११। न्यायसि० मु० का० ४२। १३-स्याप्यसि-वृ० भा० मा०।

कत्वं दूरोत्सारितमेव। अत एव "नाननुकृतान्वयव्यतिरेकं कारणं नाकारणं विषयः" [ ] इति सौगतमतमप्यपास्तम् । तथाहि–किं कारणं विषय एव, उत कारणमेव विषयः? प्रथमपक्षे रूपादिसंविदां चक्षुराद्यपि विषयो भवेत् तथा च 'यस्मिन् सत्यपि यन्न भवति तत् तदतिरिक्तहेत्वपेक्षं यथा कुलालाभावे सत्यप्यपरकारकसमूहेऽभवन् घटः कुलालापेक्षः सत्यपि च रूपादौ कदाचिन्न भवति रूपादिज्ञानम्' इत्यनुमानोपन्यासो व्यर्थः अध्यक्षत एव चक्षुराद्यधिगतेः । द्वितीयपक्षेऽपि 'भविष्यति रोहिण्युदयः कृत्तिकोदयादतीतक्षपायामिव' इत्यस्यानुमानस्य भावी रोहिण्युदयोऽकारणत्वात् विषयो न स्यात् न हि भावी रोहिण्युदयः कृत्तिकोदयस्य परम्परयापि कारणम् । अथ भावी रोहिण्युदयः प्राग्भाविनः कृत्तिकोदयस्य कारणं प्रज्ञाकराभिप्रायेण कार्यस्य प्राग्भावित्वात् तर्हि 'अभूद् भरण्युदयः कृत्तिकोदयात्' इत्यनुमानमविषयं भवेत्। अथ भरण्युदयोऽपि कृत्तिकोदयस्य कारणं तेनायमदोषः, ननु येन स्वभावेन भरण्युदयात् कृत्तिकोदयस्तेनैव यदि शकटोदयादपि तदा भरण्युदयादिव पश्चात् ततोऽपि भवेत् यथा वा शकटोदयात् प्राक् तथैव भरण्युदयादपि प्राग् भवेत् । अथान्यतरकार्यं कृत्तिकोदयस्तर्ह्यन्यतरस्यैव ततः प्रतीतिर्भवेत् न चैवमिति न युक्तं 'कारणमेव विषयः' इति पक्षाश्रयणम् । अथ कारणं स्वाकाराधायकं विज्ञाने विषय एवेति पक्षः अयमप्ययुक्तः, यतः किं कारणमेव तदाधायकं तत्र, आहोस्वित् तत् तदाधायकमेवेति विकल्पद्वयानतिवृत्तिः । प्रथमविकल्पे केशोन्डुकादिज्ञानं कुतः कारणात् तदाकारमुपजायते? न तावदर्थात् तस्य तत्कारणत्वानभ्युपगमात् अभ्युपगमे वा तस्याभ्रान्ततापत्तेः । न समनन्तरप्रत्ययात् तस्य तदाकारता(ताऽ)योगात् । नेन्द्रियादेः अत एव हेतोः । तन्न कारणमेव तदाधायकमिति पक्षाभ्युपगमः क्षमः । नापि तत् तदाधायकमेवेति पक्षोऽभ्युपगन्तुं युक्तः इन्द्रियस्यापि तदाधायकतापत्तेस्तज्ज्ञानविषयताप्रसक्तेः । अर्थस्य च सर्वात्मना तत्र स्वाकाराधाने ज्ञानस्य जडताप्रसक्तेः उत्तरार्थक्षणवदेकदेशेन तदाधायकत्वे सांशताप्रसक्तेः । समनन्तरप्रत्ययस्य तत्र स्वाकाराधायकत्वान्न जडतापत्तिलक्षणो दोष इति चेत्, न, समनन्तरप्रत्ययार्थक्षणयोः द्वयोरपि स्वाकारार्पकत्वे तज्ज्ञानस्य चेतनाचेतनरूपद्वयापत्तेः । प्राक्तनज्ञानक्षणस्यैव तत्र स्वाकाराधायकत्वे सर्वात्मना तदाधाने तस्य पूर्वरूपताप्रसक्तिरिति कारणरूपतेव स्यात् तथा च पूर्वपूर्वक्षणानामप्येवं प्रसक्तेरेकक्षणवर्त्ती सर्वः सन्तानो भवेदिति प्रमाणादिव्यवहारलोपः ।

किञ्च, तदाकारं तत उत्पन्नं च यदि समनन्तरप्रत्यये न तत् प्रमाणम् तदुत्पत्ति–सारूप्ययोर्व्यभिचार इति नार्थेऽपि तत् प्रमाणं भवेत् । तथा च–

"अर्थेन घटयेदेनां नहि मुक्त्वार्थरूपताम् ।
तस्मात् प्रमेयाधिगतेः प्रमाणं मेयरूपता" ॥ [ ]

---

१ "नाकारणं विषयः इति वचनप्रामाण्यात्"–अनेका० टी० पृ० २०७ पं० १ । स्याद्वादर० पृ० ७६१ पं० १५ आ० । बोधिचर्याव० प्रज्ञापार० पृ० ३९८ पं० १० । प्रमेस० पृ० १७६ द्वि० पं० १२ । स्याद्वा० पृ० १३४ पं० १८ । "तदुक्तम्–नाननुकृतान्वयव्यतिरेकं कारणं नाकारणं विषय"–षड्द० स० वृ० वृ० पृ० ३७ पं० ३ । "'नाननुकृतान्वयव्यतिरेकं कारणं नाकारणं विषयः' इति हि सौगतानां मतम्"–शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० १५१ प्र० पं० ८ ।

२ "ननु प्रज्ञाकराभिप्रायेण भाविरोहिण्युदयकार्यतया कृत्तिकोदयस्य गमकत्वात् कथं कार्यहेतौ नास्यान्तर्भाव इति चेत् कथमेवमभूद् भरण्युदयः कृत्तिकोदयादित्यनुमानम्? अथ भरण्युदयोपि कृत्तिकोदयस्य कारणं तेनायमदोष । ननु येन स्वभावेन भरण्युदयात् कृत्तिकोदयस्तेनैव यदि शकटोदयात् तदा भरण्युदयादिव अतोपि पश्चादसौ स्यात् । यथा च शकटोदयात् प्राक् तथैव भरण्युदयादपि"–प्रमेयक० पृ० ११० प्र० पं० ६–।

३ प्र० पृ० पं० २ । ४ "केशोन्डुकज्ञानस्य"–बृ० ल० टि० । ५–णमेव तत्तदा–भां० मां० । –णमेतत् तदा–भा० । ६–मः नापि ल० वा० बा० भा० मा० विना । ७ शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० १५१ प्र० पं० १० । ८ मुक्त्वार्थे–वा० बा० भा० हा० वि० । "तदुक्तम्" इत्युल्लिख्योद्धृतं पद्यमिदमस्ति सिद्धिविनिश्चयटीकायाम्–लि० पृ० ११९ पं० १ । "अर्थेन घटयत्येना न हि मुक्त्वार्थरूपताम्"–प्रमेयक० पृ० २८ प्र० पं० ७ । प्रमाणमी० पृ० ३३ पं० १७ । स्याद्वा० पृ० १३६ पं० २२ ।

इत्यसङ्गतमभिधानम् । अथ यदाकारं यदुत्पन्नं यदध्यवस्यति तत्र तत् प्रमाणम् नन्वत्रापि यदाकारं यदुत्पन्नं विज्ञानमेवार्थाध्यवसायं जनयति, उत तत् तमेव, आहोस्विज्जनयत्येवेति कल्पनात्रयम् । आद्यकल्पनायां कारणान्तरनिषेधाद् विकल्पवासनापि तत्कारणं न भवेत् एवं च निर्विकल्पकबोधाद् यथा सामान्यावभासी विकल्पस्तथार्थादेव तथाभूताद् भविष्यतीति किमन्तरालवर्तिनिर्विकल्पदर्शनकल्पनया? न चाविकल्परूपताविशेषेऽपि दर्शनादेव विकल्पोत्पत्तिर्नार्थाद् वस्तुस्वाभाव्यादित्युत्तरम् तस्य स्वरूपेणैवासिद्धेः । किञ्च, यथा(थाऽ)विकल्पादर्थादविकल्पदर्शनप्रभवस्तथा दर्शनादपि तथाभूतात् तथाभूतस्यैवाविकल्पस्य प्रसव इति विकल्पवार्ताप्युपरतैव भवेत् । किञ्च, स्थिरस्थूरावभासि स्तम्भादिज्ञानं यद्यविकल्पकं कोऽपरो विकल्पो यस्तज्जन्यो भवेत्? अथ 'स्तम्भः स्तम्भोऽयम्' इत्यनुगताकारावभासि ज्ञानं विकल्पः सामान्यावभासित्वात् तर्ह्याद्यमप्यनेकावयवसाधारणस्थूलैकाकारस्तम्भावभासि विकल्पः किं न भवेत् सामान्यावभासस्यात्रापि तुल्यत्वात्? अस्यापलापेऽपरस्याप्रतिभासनात् प्रतिभासविकलं जगत् स्यात् । न च स्तम्भप्रतिभासात् प्राग् निरंशक्षणिकैकपरमाणुगोचरमविकल्पकं ज्ञानं पुरुषवत् प्रतिभाति तथापि तत्कल्पने पुरुषपरिकल्पनापि भवेदिति न सौगतपक्षस्यैव सिद्धिः । किञ्च, निरंशक्षणिकानेकस्तम्भादिपरमाण्वाकाराद्यनेकं तद् विभर्ति स्वात्मनि तदा सविकल्पकमासज्येत अनेकानुविधानस्य विकल्पनान्तरीयकत्वात् । अथ भिन्नं प्रतिपरमाणु तदिष्यते भवेदेवमविकल्पकं किन्तु एकपरमाणुग्रहणव्यापारवन्नापरपरमाणुग्रहणाय व्याप्रियत इति तेषां परलोकप्रच्यताप्रसक्तिः तद्वेदनैश्च तस्यावेदनमिति तस्याप्यभावः । न चैकैकपरमाणुनियतभिन्नं वेदनमविकल्पकम् अन्यविविक्तैकपरमाणोरर्वाग्दृशि अप्रतिभासनाद् विवादगोचरस्य तज्ज्ञानस्य विकल्पजनकत्वासिद्धेः । तन्न प्रथमः पक्षो युक्तिसङ्गतः । इतश्चायमसङ्गतो यतो येन स्वभावेनाविकल्पकं दर्शनं स्वजातीयमुत्तरं जनयति तेनैव यदि विकल्पं तर्ह्यविकल्पो विकल्पः प्रसज्येत विकल्पो वाऽविकल्पः अन्यथा कारणभेदः कार्यभेदविधायी न भवेत्; स्वभावान्तरेण जनने सांशतापत्तिरिति । अथ तत् तमेव जनयति तथासति धारावाहिनिर्विकल्पसन्ततिर्न भवेत् । अथ तत् तं जनयत्येवेति तृतीयपक्षाश्रयणं तथासति क्षणभङ्गादावपि निश्चय इति न ज्ञानसंततौ सत्त्वसमारोपः । न च रागाद्यस्तन्निबन्धना इति तद्व्यवच्छेदार्थमनुमितिनैरर्थक्यमनुभवेत् । किञ्च, यदि व्यवसायवशात् निर्विकल्पकस्य प्रामाण्यव्यवस्था तर्हि तदुत्पत्तिसारूप्यार्थग्रहणमन्तरेणाध्यवसाय एव प्रमाणं भवेत् । अथ तथाभूतानुभवमन्तरेण विकल्प एव न भवेत्, असदेतत्, तस्य तज्जन्यत्वासिद्धेरुक्तविकल्पदोषानतिक्रमात् । किञ्च, यदि तदाकारार्थाद्दर्शनान्निर्णयप्रभवस्तदा स्वलक्षणगोचरो निर्णयो भवेत् निर्णयवद् वा सामान्यविषयमविकल्पकमासज्येत अन्यथा स्मृतिसारूप्याद् दर्शनस्य सारूप्यसाधनमयुक्तं भवेत् । अथार्थलेशमात्रानुकारि स्मरणं तथापि स्वलक्षणविषयत्वं स्मरणस्य सर्वथा तदनुकारित्वमविकल्पकस्याप्यसिद्धम् अन्यथा तस्य जडतापत्तिरिति प्रतिपादनात् तथा च—"विकल्पोऽवस्तुनिर्भासाद् विसंवादादुपप्लवः" इत्ययुक्ततया व्यवस्थितम् । अथ न लेशतोऽपि परमार्थतस्तदनुकारी विकल्पः प्रतिपन्नभिप्रायवशात् तु तदभिधानमिति न स्वलक्षणगोचरत्वम् निर्विकल्पकस्यापि व्यवहार्यभिप्राय-

---

१ "अथ यदाकारं यदुत्पन्न यदध्यवस्यति तत्र तत् प्रमाणम् । नन्वत्र यदाकारं यदुत्पन्नं विज्ञानमेवाऽर्थाध्यवसायं जनयतीत्यर्थं, उत तमेवेति आहोस्विज्जनयत्येवेति? । आद्ये विकल्पवासनापि तत्कारणं न भवेत् । एवं च निर्विकल्पकबोधाद् यथा सामान्यावभासी विकल्पः, तथाऽर्थादेव तथाभूताद् भविष्यति, इति किमन्तरालवर्तिनिर्विकल्पककल्पनया? । न चाविकल्पताविशेषेऽपि दर्शनादेव विकल्पोत्पत्तिः, नार्थात्, वस्तुस्वाभाव्यादित्युत्तरम्, तस्य स्वरूपेणैवासिद्धेः, 'स्तम्भः स्तम्भोऽयम्' इतिवत् स्थिरैकस्तम्भावगाहिज्ञानस्य सामान्यविषयत्वात्, ऊर्ध्वतासामान्यापलापे तिर्यक्सामान्यस्याप्यपलापाज्जगतः प्रतिभासवैकल्यप्रसङ्गात्, निरंशक्षणिकानेकपरमाण्वाकारस्य तस्य साक्षात्वेनाभ्युपगन्तुमशक्यत्वात्, प्रतिविविक्तपरमाणुतद्भेदस्य तु श्रद्धानत्वात् । किञ्च, यथाऽविकल्पादर्थादविकल्पदर्शनप्रभवः तथा दर्शनादपि तथाभूताद् विकल्पस्यैव प्रभव इति विकल्पकथाऽप्युच्छिन्ना । द्वितीये धारावाहिकनिर्विकल्पकसंततिर्न स्यात् । तृतीयेऽपि अत्यन्तायोगव्यवच्छेदः स्वभावभेदं विना दुर्घट इति न किञ्चिदेतत् । तस्मात् तदुत्पत्तिसारूप्यार्थग्रहणमन्तरेणाप्यध्यवसायस्य प्रामाण्यं युक्तम्, अनाद्यसत्यविकल्पवासनात एव तदुत्पत्त्यभ्युपगमे दर्शनस्याप्यहेतुत्वात् "यत्रैव जनयेदेनां" इत्याद्यभ्युपगमव्याघातात् ।"—शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० १५९ प्र० पं० १३ ।

२ "अर्थाध्यवसायमेव"–वृ० ल० टि० । ३ "अविकल्प"–वृ० टि० । ४ "मतुप्–प्रत्यय"–वृ० टि० । ५ "अपरपरमाणुवेदने."–वृ० टि० । ६ "विज्ञानमेवार्थाध्यवसायं जनयतीत्ययम्"–वृ० ल० टि० । ७–शात् न निवा० वा० । ८–राद्दर्श–ल० । ९–र्णयाप्र–ल० । १० पृ० ५०० पं० १४ टि० ८ ।

वशा[1]त् तदनुकारित्वं न परमार्थतः "सर्वमालम्बने भ्रान्तम्[2]" [ ] इत्यभिधानात्। ननु किमिति[3] न परमार्थतोऽपि तदनुकारि[4] तत्? सामान्यावभासादिति चेत्, नन्व[5]सावपि कुतः? अनाद्यसत्यविकल्पवासनातः नन्वेवं न दर्शनं विकल्पजनकमिति "यत्रैव जनयेदेनां[6] तत्रैवास्य प्रमाणता" [ ] इत्यसङ्गतं वचो भवेत्। न च त[8]द्वासनाप्रबोधविधायकत्वेन तदपि तद्धेतुः इन्द्रियार्थसन्निधानस्यैव तत्प्रबोधहेतुत्वात्। न च वासनाप्रभवत्वेनाक्षजस्य भ्रान्ततैवं भवेत् अर्थस्यापि[9] कारणत्वेनानुमानवत् प्रमाणत्वात्। न च निर्विषयत्वात् व्यवसायस्याप्रामाण्यम् अनुमानस्यापि[10] तत्प्रसक्तेः प्रत्यक्षप्रभवविकल्पवत् तस्याप्यवस्तुसामान्यगोचरत्वात्। न च तद्ग्राह्यविषयस्यावस्तुत्वेऽप्यध्यव[11]सेयस्य स्वलक्षणत्वात् दृश्यविकल्पा(ल्प्या)वर्थावेकीकृत्य ततः प्रवृत्तेरनुमानस्य प्रामाण्यम् प्रकृतविकल्पेऽप्यस्य समानत्वात् अन्यथा "पक्षधर्मतानिश्चयः प्रत्यक्षतः क्वचित्[12]" [ ] इति कथं वचो युक्तं भवेत्? न च गृहीतग्रहणाद् विकल्पोऽप्रमाणम् क्षणक्षयानुमानस्यापि तत्प्रसक्तेः शब्दस्वरूपावभास्यध्यक्षावगतक्षणक्षयविषयत्वात्। न चाध्यक्षेण धर्मिस्वरूपग्राहिणा शब्दग्रहणेऽपि न क्षणक्षयग्रहणम् विरुद्धधर्माध्यासतस्त[13]तस्त[14]द्भेदप्रसक्तेः। प्रज्ञाकराभिप्रायेण तु लिङ्ग-लिङ्गिनोः साकल्येन योगिप्रत्यक्षतो व्याप्तिग्रहणेऽनभ्यासदशायां प्राप्ये भाविन्यनधिगतार्थाधिगन्तृत्वाभावादनुमानं प्रमाणं न भवेत्। अथा[15]निर्णीतमनुमेयं निश्चिन्वत् प्रमाणमनुमानं तर्ह्यनिश्चितं नीलं निश्चिन्वन् विकल्पस्तथाविधः किं न प्रमाणम्? अथ समारोपव्यवच्छेदकरणादनुमानं प्रमाणं तर्हि नीलविकल्पोऽपि तत एव प्रमाणं भवेत्। न च सादृश्यादेव समारोपः—येन तत्रानीलसमारोपो न भवेत्—किन्तु स्वागमाहितविकल्पाभ्यासवासनातोऽपि यथा 'सर्वं सर्वात्मकम्' इति साङ्ख्यस्य ए[16]वं च नीलेऽनीलात्मकत्वसमारोपं व्यवच्छिन्दानो विकल्पः क्षणक्षयानुमानवत् कथं न प्रमाणम्? दृश्यन्ते हि शुक्तिकारज्ज्वादिषु रजत—सर्पादिसमारोपास्तथाभूतविकल्पवशाल्लिङ्गानुसरणमन्तरेणापि निवर्तमानाः।

अथ भवत्वसौ विकल्पः प्रमाणम् न च प्रमाणान्तरम् अनुमाने[17]ऽन्तर्भावात्, न; अनभ्यासदशायां भाविनि प्रवर्तकत्वादनुमानं प्रमाणमिष्टं तच्च निश्चितत्रिरूपाल्लिङ्गादुपजायते निश्चयस्य चानुमानान्तर्भावे त्रैरूप्यनिश्चयोऽप्यनुमानं तदपि निश्चितत्रैरूप्याल्लिङ्गात् प्रवर्तेत इत्यनवस्थानात् अनुमानाप्रवृत्तिरेवेति कुतो विकल्पस्य तत्रा[18]न्तर्भावः? अथ पक्षधर्मान्वयव्यतिरेकनिश्चायकं लिङ्गस्य नानुमानं तर्हि प्रमाणान्तरस्याभावादध्य[19]क्षं निर्णयात्मकं पक्षधर्मत्वादिनिश्चयः सिद्धः। अत एवं 'अनभ्यासदशायामनुमानम् अभ्यासदशायां तु दर्शनमेव प्रमाणं न च तृतीया दशा विद्यते यस्यां विकल्पः प्रमाणं भवेत्' इति निरस्तम् अनभ्यासदशायामनुमानस्यैव तमन्तरेणाप्रवृत्तेस्तदपेक्षस्यैव तस्य प्रमाणत्वात्। न च भवतु प्रत्यक्षानुमानव्यतिरिक्तो विकल्पस्तथापि न तदपेक्षं दर्शनं प्रमाणं स्वत एव तस्य प्रमाणत्वात् अन्यथा विकल्पस्यापि विकल्पान्तरापेक्षया प्रमाणत्वादनवस्था दुष्परिहारा अर्थविषयीकरणाद् विकल्पस्यान्यनिरपेक्षस्य प्रामाण्ये निर्विकल्पकस्यापि तथैव प्रामाण्यं भविष्यतीति किं विकल्पापेक्षयेति वक्तव्यम् यतः संशय-विपर्ययोत्पादकमपि दर्शनमेवं प्रमाणं स्यात् तथा च तत्राप्यर्थक्रियार्थी प्रवर्तेत। अथ जले 'जलमेतत्' इति निर्णयविधायि प्रमाणं तर्हि सिद्धं विकल्पापेक्षणं त[20]स्येति वरं विकल्प एव प्रमाणमभ्युपगतस्तस्यैव प्रवृत्त्यादिव्यवहारसाधकतमत्वात्। यदपि 'अभ्यासदशायां दर्शनमेव विकल्पनिरपेक्षं प्रमाणम्' इति तत्र वक्तव्यं क तत् प्रमाणम्? प्राप्ये

१-शादनु-आ० हा० वि०। २ "सर्वमालम्बने भ्रान्तमिति राद्धान्तात्"-सिद्धिवि० टी० लि० पृ० ५४ पं० १३। ३-ति प-वृ०। ४ "स्वलक्षणानुकारि"-वृ० लं० टि०। ५ "निर्विकल्पकम्"-वृ० लं० टि०। ६ "विकल्प"-वृ० लं० टि०। ७ "यत्रैव जनयेदेताम्"-प्रमेयक० पृ० १० द्वि० प० ५। "अत्रापर सौगत प्राह-यत्रैव जनयेदेनां तत्रैवास्य प्रमाणतेति धर्मोत्तरस्य मतमेतत्"—सिद्धिवि० टी० लि० पृ० ९१ पं० १६। शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० १५१ द्वि० प० ६। ८ "दर्शनम्"-वृ० टि०। ९-पि कार-वा० वा०। १० "अनुमानस्यापि"-वृ० लं० टि०। ११-वसायस्य आ० हा० वि०। शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० १५१ द्वि० पं० १२। "न च तद्ग्राह्यस्य सामान्यरूपत्वेऽप्यध्यवसेयस्य स्वलक्षणरूपत्वाद् दृश्यविकल्प्यावर्थावेकीकृत्य तत प्रवृत्तेरनुमानस्य प्रामाण्यं प्रकृतविकल्पेऽप्यस्य समानत्वात्"-प्रमेयक० पृ० ११ प्र० पं० १०। स्याद्वादर० पृ० ८८ पं० ६ आ०। १२ पृ० ७६ पं० २३-२४। १३ "धर्मिण"-वृ० लं० टि०। १४ "क्षणक्षय"-वृ० लं० टि०। १५ शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० १६० प्र० पं० १-। १६ एव च आ० हा० वि०। १७ "अनुमाने"-वृ० लं० टि०। १८ "सामानाधिकरण्यमेतत्"-वृ० लं० टि०। १९-चमन-आ० हा० वि०। २० "दर्शनस्य"-वृ० लं० टि०।

भाविनि रूपादाविति चेत्, तस्याविषयीकरणे तेनायुक्तम् अन्यथा नीलज्ञानं पीते प्रमाणं स्यात् विषयीकरणे भाविविषयत्वं तस्यैव भवेत् तथा च "वर्तमानावभासि सर्वं प्रत्यक्षम्" [ ] इति विरुध्येत । अथ वर्त्तमानविषयमपि भाविनि प्रवृत्तिविधानात् प्रमाणम्, न, अविषयीकृते प्रवर्तकत्वासंभवात् प्रवर्तकत्वे वा शाब्दमपि सामान्यमात्रविषयं विशेषे प्रवृत्तिं विधास्यतीति न मीमांसकमतप्रतिक्षेपो युक्तः । यदि वा(चा)विषयेऽपि कुतश्चिन्निमित्ताद् ज्ञानं प्रवर्तकं तर्हि प्रत्यक्ष-पृष्ठभाविसामान्यमात्राध्यवसायिविकल्पस्य विशेषे प्रवर्तकत्वं भविष्यतीति न युक्तम् 'दृश्य-विकल्प-(ल्प्य)योरर्थयोरेकीकरणं तत्र प्रवृत्तिनिमित्तम्' इत्यभिधानम् । तत्र प्राप्ये तत् प्रमाणम् । दृश्य-प्राप्ययोरेकत्वे तत् प्रमाणमिति चेत् कुत एतत्? व्यवहारिणां तत्राविसंवादाभिप्रायात् अविसंवादि च ज्ञानं प्रमाणम् । तदुक्तम्—"प्रमाणमविसंवादिज्ञानम् अर्थक्रियास्थितिरविसंवादनम्" [ ] इति चेत्; ननु तदेकत्वं कस्य विषयः? दर्शनस्येति चेत्, न; तस्य सामान्यविषयतया सविकल्पकत्वप्रसक्तेः । विकल्पस्येति चेत्, न; अभ्यासदशायां विकल्पस्यानभ्युपगमात् । कथं च दृश्य-प्राप्ययोरेकत्वं विकल्पस्यैव विषयो नाविकल्पस्य एकत्वस्यायोगादिति चेत् कथं विकल्पविषयः? अवस्तुविषयत्वात् तस्येति चेत् दर्शनस्य को विषयः? दृश्यमानक्षणमात्रमिति चेत् ननु यदि तत् सञ्चितपरमाणुस्वभावं तत्र दर्शने प्रतिभाति तदा तस्य सविकल्पकत्वमिति प्राक् प्रतिपादितम् । विविक्तैकैकपरमाणुरूपं चेत् सर्वशून्यताप्राप्तेर्न काचिदभ्यासदशा यस्यां दर्शनं प्रमाणं विकल्पविकलं भवेत् । यथा चानेकपरमाण्वाकारमेकं ज्ञानं तथा दृश्य-प्राप्ययोर्घटादिकमेकमिति तद्विषयं परमार्थतोऽभ्यासदशायां सविकल्पकमध्यक्षं किमिति नाभ्युपगम्यते? अथाशक्यविवेचनत्वाच्चित्र-प्रतिभासाप्येकैव बुद्धिः घटादिकस्तु चित्रो नैकस्तद्विपर्ययात्; ननु किमिदं बुद्धेरशक्यविवेचनत्वम्? यदि सहोत्पत्तिविनाशौ तदन्यानुभवो वा तदभ्युपगम्यते तदैकक्षणभाविसन्तानान्तरज्ञानेषु भिन्न-रूपतयोपगतेष्वपि तस्य भावादित्यनैकान्तिको हेतुः । अथ सन्तानान्तराण्यपि नाभ्युपगम्यन्ते कथमवस्थाद्वयाभ्युपगमः? व्यवहारेण तदभ्युपगमे तथैव सन्ताननानात्वोपगमादनैकान्तिकत्वं तदवस्थमेव । न च प्रतिभासाद्वैतवादोपगमात् तान्यपि पक्षीक्रियन्त इति नानैकान्तिकः एकशास्त्र-प्रभवत्वहेतोरपि विपक्षविषयपक्षीकरणादनैकान्तिकत्वाभावप्रसक्तेः । न चात्राऽऽमताप्राह्यध्यक्षेण पक्षबाधनान्न पक्षीकरणसंभवः प्रकृतेऽपि युगपद्भाविनां नानाचित्तसंतानानां भेदावभासिस्वसंवेदनाध्यक्षेण बाधनादस्य समानत्वात् । अथानन्यवेद्यत्वमशक्यविवेचनत्वम् तदपि सुखादिभिः क्रमेणैकसन्तानभाविभिर्व्यभिचारि । अथैषामपि पक्षीकरणम्; नन्वेवं परिणाम्यात्मसिद्धेः 'यद् यथावभासते' इत्याद्यनुमानमयुक्तम् हेतोरसिद्धताप्राप्तेः । अथ भेदाभेदात्मकत्वेन प्रतिभासनं तदभिमतं तर्हि दृश्य-प्राप्ययोरपि तदस्तीति कथं नैकत्वम्? अथ नीलादिप्रतिभासानां नैकत्वं चित्रप्रतिभासात् न नानात्वं तदात्मकस्य वा तद्ग्राहकस्याभावात् सर्वविकल्पातीतं तु तत्त्वमिति अत्रापि यद्येकत्वस्यैकान्तेन निषेधः साध्यस्तदा सिद्धसाध्यता अन्यथा चित्रप्रतिभासाभावात् । कथञ्चिदेकत्वस्य तु निषेधेऽसिद्धश्चित्रप्रतिभासादिति हेतुः यतः पीतादीनां नीलप्रतिभासेनाविषयीकरणे सन्तानान्तरवदभावस्तथापि भावे न सन्तानान्तरनिषेधः तेषां च क्षणक्षयसाधने ग्राह्यग्राहकभाव इति न सर्वविकल्पातीतं तत्त्वं विषयीकरणे तदाकारेणापि तद्ग्राहकाभावात् नापि नानात्वमित्यस्य विरोधः स्वपरग्राहकस्यैव तद्ग्राहकत्वात् सर्वथा तदाकारत्वे नीलमात्रं पीतमात्रं भवेदिति न चित्र-प्रतिभासः कथञ्चित् तदाकारत्वे सिद्धं सविकल्पदर्शनम् । अथ सर्वविकल्पातीते तत्त्वे इदमप्यवक्तव्यम् तर्हि न परस्यापि परतो गतिः किन्तु "स्वरूपस्य स्वतो गतिः" [ ] इत्ये-

---

१ "भाविरूपादे."–बृ० ल० टि० । २ तस्य भ–बृ० ल० बा० बा० । ३–क्षदप्रभा–आ० हा० वि० । ४ विशेषप्रवर्तक–बृ० ल० विना । ५ पृ० १५ पं० २३ । ६ "विकल्पस्य"–बृ० ल० टि० । ७ अशक्यविवेचनत्वं तन्निराकरणं च प्रमेयक०मार्तण्डे भङ्ग्यन्तरेण चर्चितं दृश्यते–पृ० २१ प्र० पं० ६ । ८ "प्रथमपक्षे दूषणमेतत्"–बृ० ल० टि० । ९ "प्रत्यक्षबाधस्य"–बृ० ल० टि० । १०–विचेतन–बृ० । ११ "एकसन्तानसुखादीनाम्"–बृ० ल० टि० । १२ पृ० ४८८ पं० २२ । १३ "अशक्यविवेचनत्वम्"–बृ० ल० टि० । १४–रणेऽत–बृ० । १५ "नानात्व"–बृ० ल० टि० । १६–कल्पं द–ल० आ० ।

तदपि न वक्तव्यम् तथा च विज्ञानाद्वैतमपि कुतः? न चान्यग्रहणविमुखज्ञानसंवेदनादेवमुच्यते अन्यत्राप्यस्य समानत्वात् । तदेवं चित्रप्रतिभासमभ्युपगच्छता चित्रमेकं ज्ञानमभ्युपगन्तव्यमिति अभ्यासदशायामपि व्यवसायात्मकमध्यक्षं सिद्धिमासादयेत् ।

यदपि 'यद्यर्थग्रहणं व्यवसायोऽविकल्पे तथा नामकरणमथ जात्यादिविशिष्टार्थग्रहणं तत् प्रत्यक्षेऽसंभवि' इत्युच्यते, तदपि निरस्तं द्रष्टव्यम्, अर्थग्रहणस्य विकल्पस्वभावनान्तरीयकत्वात् । यदि ह्येकैकपरमाणुनियतभिन्नदर्शने तन्नाम क्रियेत तदा स्यादेतत् न चैवम् स्थूलैकप्रतिभासाभावप्रसक्तेः । यदपि 'जात्यादिविशिष्टग्रहणं प्रत्यक्षेऽसंभवि' तदपि सदृशपरिणामसामान्याभ्युपगमे सिद्धम् तथाभूतस्य तस्याध्यक्षे प्रतिभाससंवेदनात् तथाभूतस्यापि तस्य निराकरणे "नो चेद्भ्रान्तिनिमित्त–" इत्यादेस्तथा "अर्थेन घटयेदेनाम्" इत्यादिश्चाभिधानमसङ्गतं भवेत् । तथाहि–शुक्तिका–रजतयोः कथञ्चित् सदृशपरिणामाभावे रूपसाधर्म्यदर्शनाभावाद् अन्यथाऽतिप्रसङ्गात् । अथ मरीचिकासु यथा जलाभावेऽपि तद्दर्शनं तथा तयोर्भविष्यति न च तयोस्तद्दर्शनं सत्यम् तत्परिणामस्य परमार्थतस्तत्राभावात् इतरेतराश्रयदोषप्रसक्तेः । तथाहि–तत्परिणामस्य परमार्थतस्तयोः सत्त्वे तद्दर्शनस्य सत्यता ततश्च तत्परिणामस्य पारमार्थिकत्वमिति व्यक्तमितरेतराश्रयत्वमिति चेत्, असदेतत्; सर्वभावेष्वेवमव्यवस्थाप्रसङ्गात् । तथाहि–स्वसंवेदनमविकल्पमध्यक्षं तथाप्रतीतेर्यदि सिद्धिमासादयति तत एव सदृशपरिणामोऽपि सेत्स्यति अनवगतसम्बन्धस्यापि खण्डमुण्डादिषु समानप्रत्ययोत्पत्तेः तस्य भ्रान्तत्वे संवेदनेऽपि तत्प्रसक्तेः । अथ सत्येव स्वसंवेदने तद्दर्शनमिति[11] न भ्रान्तम्, न; इतरेतराश्रयदोषप्रसक्तेः । तथाहि–स्वसंवेदनस्य सत्यत्वे तद्दर्शनमभ्रान्तम् अतश्च तत्सत्यत्वमिति कथं नेतरेतराश्रयदोषः? अथ बाधकासद्भावान्नायं दोषः सदृशपरिणामस्य किं बाधकमिति वक्तव्यम्? विशेषेभ्यस्तस्य भेदे सम्बन्धासिद्धिः अभेदे विशेषा एव न तत्सद्भाव इति बाधकमिति चेत्, न; एकान्तभेदाभेदपक्षस्य तत्रानिष्टेस्त एव विशेषाः कथञ्चित् परस्परं समानपरिणतिभाज इत्यस्मदभ्युपगमात् । न च चित्रैकविज्ञानवत् समानासमानपरिणतेरेकत्वविरोधः 'यदेवाहमद्राक्षं तदेव स्पृशामि आस्वादयामि जिघ्रामि' इति प्रतीतेर्गुणगुणिनोरेकत्वप्रतीतेः । न च यदेव रूपं दृष्टं तदेव कथं स्पृश्यते इन्द्रियविषयसंकरप्रसक्तेरिति वक्तव्यम् चक्षुर्ग्राह्यतास्वभावस्यैकस्य स्पर्शनादिविषयतास्वभावाविरोधात् । तथाहि–दूरादिदेशं सहकारिणमासाद्यैकोऽपि भूरुहोऽविशदतयेन्द्रियजे प्रत्यये प्रतिभाति स एव निकटादिदेशसचिवो विशदतयेत्युपलब्धम् । न चाविशदं दर्शनमवस्तुविषयम् तस्य वस्तुविषयतया प्रतिपादितत्वात् । न च चक्षुःप्रभवे प्रत्यये रूपमेव चकास्ति नापरस्तद्वानिति वक्तव्यम् यतोऽत्रापि स्तम्भव्यपदेशार्हं रूपं किमेकं प्रतिभाति, उतानेकाऽनंशपरमाणुसञ्चयमात्रम्? प्रथमपक्षेऽधोमध्योर्ध्वात्मकैकरूपवद्[15]रसाद्यात्मैकस्तम्भप्रसिद्धिः । द्वितीयपक्षेऽपि किमेकमनेकपरमाण्वाकारं चक्षुर्ज्ञानम्, उतैकैकपरमाण्वाकारमनेकम्? प्रथमपक्षे रूपाद्या[16]त्मैकवस्तुसिद्धिप्रसक्तिः चित्रैकज्ञानवत् । द्वितीयेऽपि विविक्तज्ञानपरमाणुप्रतिभासस्यासंवेदनात् सकलशून्यताप्रसक्तिरिति प्रतिपादितम् एतेन क्रियावतोऽपि भावस्याध्यक्षविषयता प्रतिपादिता । न चैकस्य देशाद् देशान्तरप्राप्तिहेतुः क्रिया न केनचित् प्रमाणेनावसातुं शक्येति वक्तव्यम् पूर्वपर्यायग्रहणपरिणामममुञ्चताऽध्यक्षेणोत्तरपर्यायग्रहणात् यथा स्तम्भादावधोभागग्रहणमत्यजतोर्ध्वादिभागग्रहस्तेन[17] अन्यथा सकलशून्यतेत्युक्तत्वात् । यदपि–

---

१ "परब्रह्मग्रहणसम्मुखज्ञानसंवेदनात् परतो गतिरित्येवम्"–बृ० ल० टि० । 'ग्रह' इत्यङ्कितं पदं ल० टि० नास्ति । २–हणव्य–बृ० । ३ "अविकल्पेऽपि वस्तुग्रहणस्य मतत्वान्नाममात्रेण भेद"–बृ० ल० टि० । ४–भावानन्तरीयकत्वात् आ० हा० वि० ।–भावानान्तरीयकत्वात् ल० । ५ क्रियते त–बृ० ल० वा० बा० विना । ६ पृ० ५०७ पं० १८ । ७ पृ० ५१० पं० २७ । ८–धर्म्याद–बृ० । ९ "इह किमपि कूटं सभाव्यते"–बृ० ल० टि० । अत्र 'रूपसाधर्म्यदर्शनाभावाद् भ्रान्तिर्न स्यात् अन्यथातिप्रसङ्गात्' एतादृशपाठकल्पनया कूटत्वं शक्यं परिहर्तुम् । १० "रजत"–बृ० ल० टि० । ११ "शुक्तिकायाम्"–बृ० ल० टि० । १२–ति भ्रा–ल० । १३–सक्तिः आ० हा० वि० । १४–यमस्य बृ० । १५–द्यात्मकै–भा० मा० । १६–द्यात्मकैक–बृ० । १७ "प्रत्यक्षेण"–बृ० ल० टि० ।

"विशेषणं विशेष्यं च सम्बन्धं लौकिकीं स्थितिम्।
गृहीत्वा संकलय्यैतत् तथा प्रत्येति नान्यथा" ॥ [ ]

इत्युक्तम् तदपि निरस्तं द्रष्टव्यम्; चित्रपतङ्गस्येवैकानेकात्मनो वस्तुनः प्रथमतयैव प्रतिभासनात् एवंकल्पनाया दूरापास्तत्वात्। यदपि—

"संकेतस्मरणोपायं दृष्टं सङ्कलनात्मकम्।
पूर्वापरपरामर्शशून्ये तच्चाक्षुषे कथम्" ॥ [ ]

इत्यभिधानम्, तदप्यसङ्गतम्; संकेतकालानुभूतशब्दस्मरणमन्तरेणापि व्यवसायात्मकस्य ज्ञानस्याक्षप्रभवस्य प्रतिपादनात् अन्यथा विकल्पानुत्पत्तेरित्युक्तत्वात्। तस्मात् पुरोवर्तिस्थिरस्थूलस्वगुणपर्यायसाधारणस्तम्भादिप्रतिभासस्याक्षप्रभवस्य निर्णयात्मनः स्वसंवेदनाध्यक्षतोऽनुभूतेः स्वार्थनिर्णयात्मकमध्यक्षं सिद्धम्। न चेदं मानसम् एतद्व्यतिरेकेण निरंशैकपरमाणुग्राहिणोऽविकल्पस्य कदाचिदप्यननुभवात्। यदि चायं स्तम्भादिप्रतिभासो मानसो भवेत् विकल्पान्तरतोऽस्य निवृत्तिर्भवेत् न चैवम् क्षणक्षयित्वमनुमानान्निश्चिन्वतोऽश्वादिकं वा विकल्पयतस्तदैवास्य प्रतिभाससंवेदनात्। ततोऽध्यक्षप्रमाणसिद्धत्वान्न सविकल्पकत्वे साधकप्रमाणाभावः। तथानुमानादपि सविकल्पकत्वमध्यक्षस्य नासिद्धम्। तथाहि—यद् ज्ञानं यद्विषयीकरोति तत् तन्निर्णयात्मकतया अनुमानमिवाग्न्यादिकम् विषयीकरोति च स्वार्थमध्यक्षमिति। न चास्याध्यक्षबाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तत्वेन कालात्ययापदिष्टत्वम् पक्षस्य चाध्यक्षबाधः साध्यविपरीतार्थोपस्थापकाध्यक्षस्य निषिद्धत्वात्। न च स्वार्थविषयीकरणं विज्ञानस्यासिद्धम् प्राक् तस्य प्रसाधितत्वात्। अतो नासिद्धो हेतुः। न च सपक्षावृत्तित्वादसाधारणानैकान्तिकः स्वार्थनिर्णयात्मकत्वेन प्रसिद्धेऽनुमाने अस्य वृत्तिनिश्चयात्। न चानुमानस्याप्यर्थविषयीकरणमन्तरेण तन्निश्चयस्वरूपता संभवति समारोपव्यवच्छेदकत्वादेः प्रामाण्यनिमित्तस्य तत्र निषिद्धत्वात् तदन्तरेण प्रामाण्यस्यैवायोगात्। न च निर्णयात्मकार्थविषयीकरणयोरनुमाने साहचर्यदर्शनेऽपि विपर्यये बाधकप्रमाणाभावतः संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वादनैकान्तिकः तदुत्पत्तिसारूप्यादेर्निर्णयस्वभावताव्यतिरिक्तस्यैकान्तवादे अर्थविषयीकरणनिबन्धनस्य विज्ञानेऽसंभवात् तदसंभवस्य च प्राक् प्रतिपादितत्वात्। ततो न सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकोऽपि। अत एव न विरुद्धः विपक्षवृत्तेरेव विरुद्धत्वात्। ततोऽसिद्धविरुद्धानैकान्तिकादिदोषविकलाद् भवत्यतः साधनाद् विवक्षितसाध्यसिद्धिरिति न तत्साधकप्रमाणाभावान्निर्णयात्मकाध्यक्षाभावः।}

नापि तद्बाधकप्रमाणसद्भावात् तस्यैवासिद्धेः। तथाहि—तद्बाधकमध्यक्षम् अनुमानं वा प्रकल्प्येत प्रमाणान्तरानभ्युपगमात्। न तावदध्यक्षं तद्बाधकं संभवति अविकल्पप्रसाधकस्य तस्य तद्बाधकत्वात् न च निरंशक्षणिकैकपरमाणुसंवेदनं स्वसंवेदनाध्यक्षतः सिद्धमिति प्राक् प्रतिपादितमिति नाध्यक्षं तद्बाधकम्। नाप्यनुमानं तद्बाधकं संभवति अध्यक्षाप्रवृत्तौ तत्पूर्वकस्य तस्यापि तत्राप्रवृत्तेः। यदपि 'यद् यथा प्रतिभाति तत् तथा सद्व्यवहृतिमवतरति' इत्यादि निर्विकल्पकाध्यक्षप्रसाधकमनुमानमुपन्यस्तं तत्रापि प्रत्यक्षानुमाननिराकृतत्वं पक्षदोषः नामादिविशेषणोल्लेखविविक्ततया नाक्षमतिरुद्भातीति हेतोरसिद्धता च जातिगुणक्रियाद्यनेकविशेषणविशिष्टस्थिरस्थूराकारस्तम्भादिविषयाक्षजप्रत्ययस्यैकानेकस्वभावस्य विशेषणविशिष्टतया स्वसंवेदनाध्यक्षतो निर्णयात् अस्य च प्राक् प्रसाधितत्वात्। यदपि 'विशेषणपरिष्वक्तवपुषः संविदोऽध्यक्षत्वविरोधात्' इत्युक्तम् तदपि प्रलापमात्रम्; स्वसंवेदनाध्यक्षप्रसिद्धे स्वरूपे विरोधायोगात् अन्यथाऽतिप्रसङ्गात्। यदपि 'सन्निहितमर्थमवतरत्यध्यक्षं नामादिकं च विशेषणमसन्निहितमिति न तद्योजनामवतरीतुं क्षमम्' इति तत्रापि यदि सन्निहितमर्थमध्यक्षमवतरेत् पक्ष्ममूलपरिष्वक्तमञ्जनादिकं सन्निहितं किं नावतरेत्? अथ यत् प्रतिभास-

---

१ अष्टस० पृ० ११९ पं० १०। २ "विशेषणं विशेष्यं च" इत्यादिकल्पनायाः" वृ० ल० टि०। ३ दृष्टसङ्कु- आ० ह्रा० वि० विना। ४-नाद्यथा आ० ह्रा० वि० विना। ५-स्थूरस्व-वृ० धा० वा०। ६-हिणो वि-वृ० विना। ७ "स्वार्थविषयत्वादिति हेतोः"-वृ० ल० टि०। ८-स्य वा-वृ०। ९-त्वादन्त-वृ० ल०। १०-प्यादिनि-आ० ह्रा० वि०। ११ "अनुमानस्य"—वृ० ल० टि०। १२ पृ० ४८८ पं० २२। १३ पृ० ४८८ पं० २३। १४ पृ० ४८८ पं० २५।

योग्यं वस्तु तदेवावतरेत्; ननु स्तम्भादिकं व्यवहितमपि योग्यम् अञ्जनादिकं त्वतिसन्निहितमप्ययोग्यमित्येतदेव कुतः? स्तम्भादेः प्रतिभासनात् तत् तत्र योग्यं नेतरत् विपर्ययादिति चेत्, न; इतरेतराश्रयदोषप्रसक्तेः। तथाहि–प्रतिभासनात् स्तम्भादि योग्यं ततश्च तत्प्रतिभासनमिति कथं नेतरेतराश्रयत्वम्? अथ न योग्यतातस्तत्प्रतिभासनव्यवस्था किन्तु तत्प्रतिभासनात् तद्योग्यता व्यवस्थाप्यते तर्हि तत्प्रतिभासनं कुतो व्यवस्थाप्यम्? स्वसंवेदनादिति चेत्; ननु यत्प्रतिभासः संवेद्यते तत् तत्र योग्यमितरच्चायोग्यमिति व्यवस्थायां तत्सन्निधानासन्निधाने क्वोपयोगिनी? एवं च यद्यसन्निहितस्यापि नामादिविशेषणस्याध्यक्षमतौ प्रतिभासः को विरोधोऽध्यक्षत्वेन? विरोधे वा चिरातीतभविष्यदर्थराशेरसन्निहितस्य बुद्धसंवेदने प्रतिभासनाध्यक्षताविरोधस्तस्यापि भवेत्। अथ विशदत्वात् तज्ज्ञानस्य नाध्यक्षताविरोधः तद् विशेषणविशिष्टार्थावभासिन्यप्यध्यक्षज्ञाने समानम्। एतेन 'उपाधीनामुपाधिमतः पूर्वकालत्वे उपाधिमद्ग्राहिणा ज्ञानेनासन्निहितत्वेनाग्रहणाच्च तद्विशेषणविशिष्टार्थग्राहिण्यध्यक्षमतिर्विशदा संभवति' इति प्रत्युक्तम् बुद्धज्ञानेऽप्यनेन न्यायेन वैशद्याभावतोऽनध्यक्षतापत्तेः। न चासन्निहितस्यापि विशेषणस्याध्यक्षप्रतिभासे सकलस्याप्यसन्निहितस्य प्रतिभासप्रसक्तिः यतो यस्यैवाऽसन्निहितस्यापि प्रतिभासः संवेद्यते तदेव तत्र प्रतिभातीत्यभ्युपगन्तव्यम् अन्यथा अनन्तरातीतार्थक्षणस्याध्यक्षप्रतिभासे चिरतरातीतस्याप्यतीततया प्रतिभासप्रसक्तिरित्यनाद्यतीतजन्मपरम्पराप्रतिभासस्त्वर्वाग्दृगध्यक्षं भवेत्। यच्च 'वाचोऽव्यापितयाऽपदार्थात्मतया च नार्थदेशे सन्निधिरिति तद्दर्शने न सा प्रतिभाति' इति तत् सिद्धमेव साधितम्। यच्च 'व्यवहितायास्तु वाचः प्रतिभासे निखिलातीतार्थपरम्परा प्रतिभासताम्' इति तदसङ्गतम् न ह्येकस्य व्यवहितस्य प्रतिभासे अतीतक्षणवत् सकलस्य व्यवहितस्य चिरातीतक्षणस्येव प्रतिभासः संभवीत्युक्तत्वात्। यच्च 'समनन्तरप्रत्ययाद् बोधरूपतेव वाग्रूपताऽपि वाचकस्मृतिसन्निहितोदया भविष्यति' इति तद्युक्तमेव। यच्च 'हेतुविषयभेदादक्षस्मृतिप्रभवसंवेदनस्मरणयोर्भेदप्रसक्तिः' इति, तदसङ्गतमेव, चक्षूरूपालोकमनस्कारप्रभवस्य यथा रूपज्ञानस्य हेतुभेदेऽप्येकसामग्रीप्रभवत्वादभेदस्तथा विशिष्टशब्दस्मरणमनस्कारसचिवसामग्रीप्रभवस्य 'रूपम्' इत्युल्लेखवतो विशदस्यैकतया प्रतीयमानस्य किमिति भेदो भवेत्? यथा हि चक्षुषो रूपग्रहणप्रतिनियमः बोधाच्चिद्रूपता आलोकाद् विशदतेत्याद्यनेकधर्माक्रान्तस्य रूपज्ञानस्यैकरूपतया प्रतिभासनादेकता तथा विशिष्टाच्छब्दस्मरणमनस्काराद् 'रूपम्' इति विशिष्टोल्लेखाक्रान्तस्यैकतया प्रतीयमानस्य बोधविशेषस्यैकरूपता युक्तिसङ्गतैव सामग्र्यन्तर्गतकारणभेदेऽपि सामग्रीलक्षणस्य कारणस्याभिन्नत्वात्। यदपि 'तदस्थवाग्रूपताविशिष्टा वा अर्थमात्रा गृह्यन्ते वाग्रूपतापन्ना वा' तत्पक्षद्वयमप्यनभ्युपगमान्निरस्तम् विशिष्टशब्दवाच्यतया तु विशिष्टक्षयोपशमसव्यपेक्षेन्द्रियजप्रतिपत्त्याऽर्थमात्रा गृह्यन्ते एव तद्वाच्यत्वं चार्थमात्राणां कथंचिदनन्यभूतो निजो धर्म इति प्रतिपादितं शब्दप्रामाण्यं व्यवस्थापयद्भिः केवलं तद्वाच्यताप्रतिपत्तिस्तासां मतिः श्रुतं वा? इत्यत्र विचारः स च यथास्थानं निरूपयिष्यते। अक्षप्रभवा तु 'रूपमिदम्' इति प्रतिपत्ती रूपशब्दवाच्यताविशिष्टार्थग्राहिण्येका स्वसंवेदनाध्यक्षतोऽनुभूयत एव अस्या अपलापे स्वसंवेदनमात्रस्याप्यपलापप्रसक्तेः शून्यतामात्रमेव स्यात्। न च शब्दगोचरोऽर्थ इन्द्रियाविषयः सामान्यविशेषात्मनस्तस्याक्षप्रभवप्रतिपत्तौ प्रतिभासनात्। न च प्रतिभासमानस्याविषयत्वम् अतिप्रसङ्गात्। यच्च 'न संविदन्तरप्रतीतोऽर्थः संविदन्तरप्रतीतस्य विशेषणम्' तद्युक्तमेव विशिष्टशब्दवाच्यताविशेषणस्य रूपस्य 'रूपमिदम्' इत्येकप्रतीतिविषयत्वाभ्युपगमात्। अत एव 'केयं तदनुरक्तता' इति विकल्पत्रये यद् दोषाभिधानं तदनभ्युपगमादेव निरस्तम्। यदपि 'यदि नामपरिणद्धस्य सकलार्थस्य संवित् तदार्थसंवेदनमेव न भवेत्' इति दोषाभिधानम् तदप्यनभ्युपगमान्निरस्तम् नहि शब्दानुविद्धार्थप्रतिपत्तिरेव सविकल्पिका तथाभ्युपगमे सविकल्पप्रतिपत्त्युत्पत्तिरेव न भवेदित्युक्तं प्राक्। 'अगृहीतसंकेतस्य पुंसोऽर्थप्रतिपत्तिर्निर्विकल्पिका' तथा 'अश्वं विकल्पयतो गोप्रतिपत्तिः गोशब्दोल्लेखविकला' इति, अत्रापि प्रतिविहितमेव। यदपि

१–भासार्वा–आ० हा० वि०। २ पृ० ४८९ पं० ९—। ३ पृ० ४८९ पं० १६—। ४ मतिश्रु–वृ० भा० मा० विना। ५ पृ० ४९० पं० ४। ६ पृ० ४९० पं० ७–९। ७ पृ० ४९० पं० १३। "नाम्ना परिणद्धः संबद्ध वाक्संसृष्ट इति भावः."–वृ० ल० टि०। ८ पृ० ४९० पं० १७। ९ पृ० ४९० पं० १९।

"धाम्रृपता चेद् व्युत्क्रामेत्" इत्यादि दोषाभिधानम् तदपि सिद्धसाध्यतया निरस्तम् । यच्च 'समानकालयोर्वा भावयोर्विशेषणविशेष्यभावमिन्द्रियप्रतिपत्तिरधिगच्छति भिन्नकालयोर्वा' इति पक्षद्वयेऽपि दोषाभिधानम् तदप्यसङ्गतम् यत्र हि समानासमानकालविशेषणविशिष्टोऽर्थः अबाधिताकाराक्षजप्रतिपत्तौ प्रतिभाति सा तद्ग्राहिकाऽभ्युपगम्यते नाऽन्येति कुतोऽतिप्रसङ्गदोषावकाशः? यथा च स्तम्भाकारोत्पन्नैकपरमाणुग्रहणप्रवृत्तं संवेदनं भिन्नदेशं परमाण्वन्तरमवभासयति—अन्यथा प्रतिभासविरतिप्रसङ्गात्—तथा विशेषणग्रहणप्रवृत्तं भिन्नकालविशेष्यावभासि तदभ्युपगन्तव्यम् अन्यथा विशेषणविशिष्टार्थावभासाभावो भवेदित्युक्तं प्राक् । न च विशेषणविशेष्यभावस्यानवस्थानान्न समानकालयोरपि तयोस्तद्भावप्रतिपत्तिः अनेकधर्मकलापाक्रान्तस्य वस्तुनो विशिष्टसामग्रीप्रभवप्रतिपत्त्या प्रतिनियतधर्मविशिष्टतया ग्रहणात् । न चार्वाग्दृग्दर्शने अशेषधर्माध्यासितवस्तुस्वरूपप्रतिभासः कस्यचित् कथञ्चित् कयाचित् प्रतिपत्त्या यथाक्षयोपशमं ग्रहणात् । न च तत्प्रतिपत्त्याऽगृह्यमाणस्यात्यन्तिकस्ततो भेदः असत्त्वं वा क्षणिकत्वादेरपि नीलप्रतिपत्त्याऽप्रतीयमानस्य तथात्वप्रसक्तेरित्युक्तत्वात् । यदपि 'पुरोवर्त्तिनि रूपे प्रवृत्तमक्षं यद्यतीते विशेषणादौ प्रतिपत्तिमुपजनयति अतिचिरमुपगतास्तु पदार्थपरम्परास्वपि प्रतिपत्तिमुपजनयेत्' तदप्ययुक्ताभिधानम् यतो यदेव ह्यक्षमतौ परिस्फुटमवभाति तत्रैवाक्षं प्रतिपत्तिमुपरचयतीति व्यवस्थाप्यते अन्यथैकस्तम्भपरिणत्यापन्नैकपरमाणुग्रहणज्ञानजननप्रवृत्तमक्षं तदपरपरमाणुग्रहणज्ञानजननवत् सकलपदार्थग्राहिज्ञानजननेऽपि प्रवर्तेत भेदाविशेषात् भवदभ्युपगमेनानन्तरातीतक्षणग्रहणज्ञानजननप्रवृत्तं वा सकलातीतक्षणग्रहणज्ञानजनने वा प्रवर्तेत अतीतत्वाविशेषात् । अथ यदेव तज्ज्ञाने प्रतिभाति तज्जनन एव तस्य व्यापारः परिकल्प्यते तदितरत्राऽपि समानम् । न च विशेषणादयस्तदाऽसन्निहिता एवैकान्ततो येन तान् प्रति प्रत्यक्षबुद्धिर्निरालम्बना भवेत् निरन्वयक्षणक्षयस्य निषिद्धत्वात् कथञ्चिदनुगतस्य च प्रसाधितत्वात् । यदपि 'सुखादिव्यतिरिक्तस्याक्षप्रभवसंवेदनस्यार्थावभासकत्वं प्रतिपादितम्' तदपि सिद्धसाधनमेव । यच्च 'सुखादिवद् विकल्पोऽपि नार्थसाक्षात्करणस्वभावः' इति, अत्र यद्यविशेषेण विकल्पमात्रमभिधीयते तदा सिद्धसाध्यता । अथ प्रकृतो विकल्पस्तदाऽसिद्धम् तमन्तरेणापरस्यार्थसाक्षात्कारिणोऽविकल्पस्याभावात् । यदपि 'यदि नाम पुरोवर्तिनमर्थं विकल्पमतिरुद्योतयति तथाप्यर्थक्रियासमर्थरूपापरिच्छेदान्न तत्र प्रवृत्तिमारचयितुं क्षमा' इति, तदप्ययुक्तम्; अर्थक्रियासमर्थरूपस्य तस्या एव परिच्छेदकत्वेन प्रवर्तकत्वात्—अन्यथा प्रवृत्तेरभावप्रसङ्गात्—तामन्तरेण कस्यचित् प्रत्ययस्य तद्रूपपरिच्छेदकत्वेन प्रवर्तकत्वायोगादिति प्रतिपादनात् । अत एव 'यदि नयनप्रसरमनुसरन्ती प्रथमा मतिर्न तत्त्वं प्रत्येति पश्चादपि नैव प्रत्येष्यति स्मरणसहायस्यापि लोचनस्याविषयतयैकत्वे प्रतिपत्त्यजनकत्वात्' इत्यादि सर्वं प्रतिक्षिप्तम् स्थिरस्थूरार्थावभास्यक्षप्रभवसंवेदनस्य प्राप्तिपर्यवसानफलनिसित्तस्य स्वसंवेदनाध्यक्षतः प्रसिद्धेस्तथापि तत्त्वस्याक्षप्रतिपत्त्यविषयत्वे संवेदनस्य स्वसंवेदनाध्यक्षविषयताऽपि न भवेत् । अबाधितप्रतिपत्तिविषयत्वादिकं च सर्वमन्यत्रापि समानम् ।

अथ स्वसंवेदनं संवेदनाभावे न दृष्टमिति तत् तद्विषयम् संवेदनं तु विपर्ययान्न तद्विषयम्; ननु किं क्षणिकनिरंशैकपरमाण्वाकारसंवेदनाभावे तन्न दृष्टम् उत तद्विपरीतसंवेदनाभावे? यद्याद्यः पक्षः स न युक्तः सर्वदा तदभाव एव तस्य दृष्टेः । अथ द्वितीयस्तदा विपर्ययासिद्धिः । यथा स्थिरस्थूराकारसंवेदनाभावेऽभवत् स्वसंवेदनं तद्विषयं सिध्यति तथा स्थिरस्थूरार्थाभावेऽभवत् संवेदनं किं न तद्विषयं सिध्यति येन लोचनाविषयत्वं तत्त्वस्य भवेत्? यथा च पूर्वदेशदशादर्शनानामग्रहणेऽपीदानीन्तनदर्शनेन स्वग्राह्यस्य तद्विवेकः प्रतीयते तथा तेन तस्य तैर्संस्पृष्टता किमिति नावगम्यत इति न युक्तं पूर्वदर्शनाद्यप्रतीतौ तद् दृष्टतादिकं तस्य न प्रत्येतुं शक्यमित्याद्यभिधानम् । यदि च प्राप्याप्रतीतावपि दृश्यदर्शनेन स्वग्राह्यस्य तदेकत्वं प्रतीयते—अन्यथा तस्याविसंवादकत्वा-

१ पृ० ४९१ पं० १ । २ पृ० ४९३ पं० २६— । ३ "आत्यन्तिकभेद"—बृ० ल० टि० । ४ पृ० ४९४ पं० ७ । ५—वर्तते सें—आ० हा० वि० । ६—वर्तते च—आ० हा० वि० । ७ "विशेषणेऽपि"—बृ० टि० । ८ पृ० ४९४ पं० १९ । ९ पृ० ४९४ पं० २१ । १० पृ० ४९४ पं० ३२ । ११ "सविकल्पमतिम्"—बृ० ल० टि० । १२—त्तस्य वि—बृ० ल० विना । १३ पृ० ४९५ पं० ८ । १४ "एकत्वस्य"—बृ० ल० टि० । १५ "पूर्वदेशदशादि"—बृ० ल० टि० ।

योगात् प्रामाण्यं न स्यात्-किमित्यर्थक्रियाऽदर्शने तत्समर्थरूपाऽप्रतिपत्तिर्येन प्रकृतविकल्पात् प्रवृत्तिर्न भवेत् । यदपि 'स्मर्यमाणस्यार्थस्य सत्त्वासिद्धेस्तद्वृत्तिस्मृत्यनन्तरभाविनोऽध्यक्षस्य सत्यता' इत्यादीतरेतराश्रयत्वं प्रेरितं तत् स्वसंवेदनेऽपि समानम् । तथाहि-संवेदनस्य सत्यत्वे तत्स्वसंवेदनस्य सत्यवेदिता तस्याश्च तत्सत्यतेति कथं नेतरेतराश्रयत्वम् ? 'यथा च लिङ्गनिश्चयाद् विशदतनोरनुमितिरविशदावभासा पृथगवसीयते न तथा प्रकृतविकल्पात् पृथगविकल्पिका मतिः कदाचिदप्यनुभूयते' इति तत् सत्यमेव, निरंशक्षणिकैकपरमाण्ववभासस्यासत्त्वप्रतिपादनात् । यदपि "न चापि लिङ्गतः पश्चादिन्द्रियस्य प्रवर्तनम्" इत्यादि प्रत्यंगि(प्रत्यग्गि)रयोपन्यस्तम् तत् सर्वमयुक्ततया स्थितम् । यदपि 'जात्यादेरभावात् तद्विशिष्टार्थप्रतिपत्तिः सविकल्पिका न संभवति' इति, तदपि प्रतिक्षिप्तत्वान्न पुनः प्रतिसमाधानमर्हति । यच्च 'फलयोग्यता परोक्षेति नाध्यक्षमतिर्निश्चयात्मिका तत्र प्रवर्तते' इति, तदपि प्रतिविहितमेव । यच्च 'दर्शनपरिणत्यनवर्गतं फलसम्बन्धित्वमवगच्छन्ती कथं न भिन्नविषया' इति, तत् सिद्धमेव साधितम् तद्व्यतिरेकेण दर्शनपरिणतेरविकल्पिकाया अभावात् । यदपि 'रूपदर्शनाल्लिङ्गात् परोक्षार्थक्रियायोग्यताध्यवसायानुमानमुदयमासादयद् व्यवहृतिमुपजनयति' इति, तदप्ययुक्तम्, फलजननयोग्यतायाः परोक्षत्वासिद्धेः । प्रतिभासमानरूपस्य चानिश्चितस्य लिङ्गत्वायोगादनुमानात् तन्निश्चये अनवस्थाप्रतिपादनात् अध्यक्षतस्तन्निश्चये च सिद्धं निर्णयात्मकमध्यक्षम् । यदपि 'अनिश्चयात्मकमध्यक्षमभ्यासदशायां प्रवृत्तिमुपरचयद् दृष्टम्' तदप्यसङ्गतम्, शब्दोल्लेखशून्यस्यापि सावयवैकरूपार्थाधिगतिस्वभावस्य सविकल्पकतया व्यवस्थापनात् तमन्तरेणाभ्यासदशायामपि प्रवृत्त्यनुपपत्तेः । यत् पुनः सर्वदाऽनुमानात् प्रवृत्त्यभ्युपगमे लिङ्गग्रहणाभावतोऽध्यक्षेणाऽनवस्थादूषणमभ्यधायि तद् युक्तमेव । यदपि 'पौर्वापर्येऽप्रवृत्तमध्यक्षं कथं तादृग्लिङ्गग्रहणे क्षमम्' इति पूर्वपक्षमुत्थाप्य[12] 'लोकाभिमानादेवाऽध्यक्षं लिङ्गग्राहि व्यवहारकृच्च तत्त्वतस्तु स्वसंविन्मात्रत्वान्न प्रत्यक्षानुमानभेदः' इत्युत्तराभिधानम्, तदप्यसङ्गतम्, प्रत्यक्षानुमानभेदस्यापारमार्थिकत्वे स्वसंवेदनमात्रस्याप्यपारमार्थिकत्वप्रसक्तेः सर्वशून्यतापत्तिरिति निर्विकल्पकत्वादिव्यवहारो दूरापास्त एव स्यात् । न च शून्यतैवास्त्वित्यभिधानं युक्तिसङ्गतम् प्रमाणमन्तरेण तदभ्युपगमस्याप्यघटमानत्वात् इत्युक्तत्वात्[14] । तदेवं सकलबाधकापाये साधकप्रमाणविषयत्वात् सविकल्पकमध्यक्षं सिद्धमिति व्यवस्थितं प्रमाणं स्वार्थनिर्णीतिस्वभावज्ञानमिति ।

अत्र च स्वस्य ग्रहणयोग्योऽर्थः स्वार्थ इत्यस्यापि समासस्याश्रयणाद् व्यवहारिजनापेक्षया यस्य यथा यत्र ज्ञानस्याविसंवादस्तस्य तथा तत्र प्रामाण्यमित्यभिहितं भवति तेन संशयादेरपि धर्मिमात्रापेक्षया न प्रामाण्यव्याहतिः । एतेन "प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तम्"[15] इति प्रत्यक्षलक्षणं सौगतपरिकल्पितमयुक्ततया व्यवस्थापितम् ।

[३ प्रमाणविशेषनिरूपणम्]

[प्रत्यक्षम्]

[प्रत्यक्षे निरूपयितव्ये पूर्वं सौगतमतविरोधितया नैयायिकसम्मतस्य प्रत्यक्षलक्षणस्योपन्यासः]

तत्राऽऽहुर्नैयायिकाः—मा भूत् सौगतपरिकल्पितं निर्विकल्पकमध्यक्षं प्रमाणम् "इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्" [न्यायद-१-१-४] इत्येतल्लक्षणलक्षितं तु प्रत्यक्षं प्रमाणम् । अस्यार्थः—इन्द्रियं द्रव्यत्वकरणत्वानियताधिष्ठानत्वातीन्द्रियत्वे सत्यपरोक्षोपलब्धिजनकत्वात् चक्षुरादि मनःपर्यन्तम् तस्यार्थः परिच्छेद्य इन्द्रियार्थः । "पृथिव्यादिगुणाः[16]

१-पाम्र-वृ० ल० वा० बा० । २ "स्वसंवेदनसत्यवेदिताया"-वृ० ल० टि० । ३ "सविकल्पसंवेदनम्"-वृ० ल० टि० । ४-स्वस्य स-आ० हा० वि० । ५ पृ० ४९६ पं० २१ । ६ पृ० ४९६ पं० २९ । ७ यच्च यद्दर्श-आ० । पृ० ४९८ पं० २ । ८-गातिफल-वा० बा० । ९ पृ० ४९८ पं० २२ । १० पृ० ४९९ पं० १३— । ११ तदयु-हा० वि० । पृ० ४९९ पं० १५ । १२ पृ० ४९९ पं० १८ । १३ पृ० ४९९ पं० २०— । १४ पृ० ४८८ पं० ११, टिप्पन ७ । १५ पृ० ४८८ टि० ९ । १६ "गन्ध-रस-रूप-स्पर्श-शब्दाः पृथिव्यादिगुणास्तदर्थाः"-न्यायद० १-१-१४ ।

रूपादयस्तदर्थाः" [ ] इति तदर्थलक्षणत्वात् अर्थ इति लक्ष्यनिर्देशः तदर्थत्वं लक्षणं तदर्थत्वं चेन्द्रियार्थत्वम्। ननु 'तदर्थाः' इत्येतावदेवास्तु तदर्थलक्षणं पृथिव्यादिगुणग्रहणं तु न कर्त्तव्यम्, न; तदर्थत्वेन लक्षणेन ये संगृहीतास्तेषां विभागार्थं पृथिव्यादिगुणग्रहणम्। तथा चोक्तमुद्योतकरैः—"पृथिव्यादिग्रहणेन त्रिविधं द्रव्यमुपलब्धिलक्षणप्राप्तं गृह्यते गुणग्रहणेन सर्वो गुणोऽसदाद्युपलब्धिलक्षणप्राप्त आश्रितत्व-विशेषणत्वाभ्याम्" [ ] एवं च पृथिव्यादिगुणग्रहणं लक्ष्यविभागसूत्रोपलक्षणार्थम्; नन्वेवमपि रूपादिग्रहणं व्यर्थं गुणग्रहणेन संगृहीतत्वात्, न, विशेषलक्षणप्रतिपादनार्थत्वात्। तथा च प्रतिपादितम्-पृथिव्यादिगुणस्य सतश्चक्षुर्ग्राह्यत्वमेव यस्य तद्रूपं 'चक्षुर्ग्राह्यं यत् तद् रूपम्' इत्यभिधीयमाने घटादावतिप्रसक्तिस्तन्निवृत्त्यर्थमवधारणम् तथापि रूपत्वेऽतिप्रसङ्गः तन्निवृत्त्यर्थं पृथिव्यादिगुणग्रहणम् एवं रसादिष्वपि। "एकादिव्यवहारहेतुः सङ्ख्या" [प्रशस्त० भा० पृ० १११ पं० २] इत्यादिविशेषलक्षणं वैशेषिकमतप्रसिद्धं सर्वत्र द्रष्टव्यम्। नन्वेवं रूपादीनामपि विशेषलक्षणं न वाच्यं तत्रैव प्रसिद्धत्वात्, न; अविप्रतिपत्तिज्ञापनार्थत्वात् रूपादयो हि बहुभिर्विषयत्वेन संप्रतिपन्ना इति पञ्चानामपि लक्षणाभिधानम् पुरुषस्य चैतेऽतिशयेनासक्तिहेतवः एतावत्त्वत्रोपयुज्यते इन्द्रियविषयभूतोऽर्थः अर्थशब्देनाभिप्रेतः नार्थमात्रम्। तेन सन्निकर्षः प्रत्यासत्तेरिन्द्रियस्य प्राप्तिः तस्य च व्यवहितार्थानुपलब्ध्या सद्भावः सूत्रकृता प्रतिपादितः तत्सद्भावे च सिद्धे पारिशेष्यात् तत्संयोगादिकल्पना; परिशेषश्चेन्द्रियेण सार्द्धं द्रव्यस्य संयोग एव युतसिद्धत्वात् १। गुणादीनां द्रव्यसमवेतानां संयुक्तसमवाय एव अद्रव्यत्वे सति अत्र समवायात् २। तत्समवेतेषु संयुक्तसमवेतसमवाय एव अन्यस्यासंभवात् प्राप्तेश्च प्रसाधितत्वात् ३। शब्दे समवाय एवाकाशस्य श्रोत्रत्वेन व्यवस्थापितत्वात् शब्दस्य च गुणभावात् गुणत्वेन चाकाशलिङ्गत्वादाकाशसमवायित्वं निश्चितमिति समवाय एवेत्युक्तम् ४। शब्दत्वे समवेतसमवाय एव परिशेषात् ५। समवायाभावयोश्च विशेषणविशेष्यभाव एव परिशेषात् ६। लक्षणस्य च त्रैविध्यात् कथमेतल्लक्षणं व्यवच्छिनत्तीत्यन्यव्यवच्छेदार्थमिन्द्रियार्थसन्निकर्षः कारणमित्यभिधीयते कारणत्वेऽप्यसंभविदोषाशङ्कापरिजिहीर्षयाऽन्याननुयायि कारणवचनं न त्वन्यानुयायिकारणनिवृत्तिः एवंभूतस्य इन्द्रियार्थसन्निकर्षस्यैव कारणत्वाभिधानम् नत्वन्तःकरणेन्द्रियसम्बन्धस्य तस्याऽव्यापकत्वात् अव्यापकत्वं तु सुखादिज्ञानोत्पत्तावसंभवात्। अथ 'निकर्ष'ग्रहणमेवास्तु 'सं'ग्रहणं व्यर्थम्, न; संशयादिज्ञान-

---

१ लक्षणनि-वा० बा०। २ "अत्र चोद्देशक्रमसारिता अर्था लक्ष्यतया प्रतिपत्तव्याः तेषां च लक्षणं तदर्था इति। तदिति अनन्तरलक्षितानीन्द्रियाणि परामृशति। तेषामिन्द्रियाणामर्था इन्द्रियैरर्थ्यमानत्वमर्थानां लक्षणम्"-न्यायवा० ता० टी० पृ० २२४ पं० १७-२०। तदर्थत्वं चेन्द्रिया-बृ० ल०। ३ तदर्थत्वं पञ्चेन्द्रिया-वा० बा०।

४ "पृथिव्यादिग्रहणेन पृथिव्यप्तेजांसि बाह्यकरणग्राह्याणि अपदिश्यन्ते, गुणग्रहणेन च सर्वं आश्रितो गुण इति सङ्ख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्वाऽपरत्व-स्नेह-वेग-कर्मसामान्यविशेषा अनाश्रितश्च समवायस्तद्धर्मत्वाद् गुण इति" —न्यायवा० पृ० ७२ पं० २१-२४। न्यायवा० ता० टी० पृ० २२५ पं० १७—।

५ "गन्ध-रस-रूप-स्पर्श-शब्दास्तर्हि पृथङ् न वक्तव्या गुणग्रहणेन ग्रहणात्। पृथिव्यादिगुणास्तदर्था इति सूत्रे वक्तव्यम्। लघु चैवं भवतीति स एवार्थः सेत्स्यतीति। न कर्तव्यम्; गन्ध-रस-रूप-स्पर्श-शब्दानां पृथगभिधानमिन्द्रियविशेषनियमज्ञापनार्थम्। इन्द्रियाणि गन्ध-रस-रूप-स्पर्श-शब्देषु तत्सामान्येषु नियतानि अन्यत्रानियतानि। तत्र पृथिव्यप्तेजांसि द्वीन्द्रियग्राह्याणि, शेषश्च गुणराशिः सत्ता-गुणत्वे च सर्वेन्द्रियग्राह्ये समवायोऽभावश्च तथा"—न्यायवा० पृ० ७३ पं० १-७। न्यायवा० ता० टी० पृ० २२५ पं० २३।

६ "चक्षुर्ग्राह्यत्वमेवेति"-बृ० ल० टि०। ७-भूतोऽर्थश-भां० मां० विना। ८-कर्ष प्र-वा० बा०। ९ "पृथक्"-बृ० ल० टि०। न्यायवा० पृ० ३१ पं० १-। न्यायवा० ता० टी० पृ० १०९ पं० ४-। न्यायमञ्ज० पृ० ७२ पं० २३। प्रशस्त० कं० पृ० १९५ पं० ९-। १० "इन्द्रियादिना"-बृ० ल० टि०। ११ "द्रव्ये इन्द्रियसंयुक्ते गुणानाम्"—बृ० ल० टि०। १२ "रूपत्वादिषु"—बृ० ल० टि०। १३ "समवायोऽभावश्च विशेषणविशेष्येण ज्ञायते"-बृ० ल० टि०। १४ च त्रैविध्यात् वा० बा०। अत्रायमभिप्रायो भाति—कारणगर्भत्वेन कार्यगर्भत्वेन स्वरूपगर्भत्वेन च लक्षणस्य त्रैविध्यं न्यायगतलक्षणमीमांसायां प्रसिद्धम्। तद्यथा—कपालमयत्वादि जलाहरणादि कम्बुग्रीवादि च यथाक्रमं कारणगर्भम् कार्यगर्भम् स्वरूपगर्भं च घटस्य लक्षणं भवितुमर्हति। अन्यश्चेदभिप्रायो ग्रन्थकारस्य स्यात् तर्हि पर्यालोचकैरनुसन्धेयः। १५-ल्लक्षणव्य-भां० मां० आ०। -ल्लक्ष्यं व्य-बृ०। -ल्लक्ष्म व्य-वा० बा०। १६ नन्वन्या-भां० वा० विना। १७-नुनया-वा० बा०।

निवृत्त्यर्थत्वात् 'सं'शब्दोपादानस्य । तथाहि-सम्यग् निकर्षः संनिकर्षः सम्यक्त्वं तु तस्य यथोक्तविशेषणविशिष्टफलजनकत्वेन, नैतत्, अव्यभिचारादिपदोपादानवैयर्थ्यप्रसक्तेस्तदर्थस्य 'सं'शब्दोपादानादेव लब्धत्वात्, न, अव्यभिचारादिविशेषणोपादानमन्तरेण तत्सम्यक्त्वस्य ज्ञातुमशक्तेः कारणस्य ह्यतीन्द्रियस्य सम्यक्त्वमसम्यक्त्वं वा सम्यगसम्यक्कार्यद्वारेणैव निश्चीयत इति तत्फलविशेषणार्थमव्यभिचार्यादिपदोपादानं कारणसाधुत्वावगमाय न व्यर्थम् । नन्वेवमपि 'सं'शब्दोपादानानर्थक्यम् अव्यभिचारादिपदोपादानादेव तत्फलस्य विशेषितत्वात्, न; 'सं'ग्रहणस्य सन्निकर्षषट्कप्रतिपादनार्थत्वात् एतदेव सन्निकर्षषट्कं ज्ञानोत्पादे समर्थं कारणं न संयुक्तसंयोगादिकमिति 'सं'ग्रहणाल्लभ्यते । नन्वेवमपीन्द्रियग्रहणानर्थक्यम्, न, अनुमानव्यवच्छेदार्थत्वात् । तथाहि-'अर्थसन्निकर्षादुत्पन्नम्' इत्यभिधीयमानेऽनुमाने प्रसङ्ग इतीन्द्रियग्रहणमिन्द्रियविषयेऽर्थे सन्निकर्षाद् यदुत्पद्यते ज्ञानं तत् प्रत्यक्षमनुमानादिभ्यो व्यवच्छिनत्ति न चानुमानिकमिन्द्रियसम्बन्धादिन्द्रियविषये समुत्पद्यत इति । तथाप्यर्थग्रहणमनर्थकमिति चेत्, न, स्मृतिफलसन्निकर्षनिवृत्त्यर्थत्वात् । तथाहि-आत्माऽन्तःकरणसम्बन्धात् स्मृतिरुपजायत इति तज्जनकस्यापि प्रत्यक्षत्वं स्यादसत्यर्थग्रहणे न चेन्द्रियार्थसन्निकर्षजा स्मृतिः अतीतस्याऽपि स्मर्यमाणत्वात् तस्य च तदाऽसत्त्वात् । उत्पत्तिग्रहणं कारकत्वज्ञापनार्थम् । ज्ञानग्रहणं सुखादिनिवृत्त्यर्थम् ।

१-कर्षः २ स-आ० । २ "कर्तृभूतम्"—बृ० टि० । ३ स्मृतिस-बृ० । ४-हणं न आ० । ५ "बीजादिवत् कारकोऽर्थसन्निकर्षं दीपादिवद् व्यञ्जक"—बृ० टि० ।

६ "अथ ज्ञानग्रहणं किमर्थं? सुखादिव्यवच्छेदार्थम् । इन्द्रियार्थसन्निकर्षात् सुखदुःखे अपि भवतः तद्व्युदासार्थमाह ज्ञानमिति" ।—न्यायवा० पृ० ३६ पं० २२—।

"पृच्छति अथ ज्ञानेति । प्रत्यक्षसमाख्यातलक्ष्यानुवादेन लक्षणे विधीयमाने ज्ञायत एवैतज् ज्ञानमिति, लोके साक्षात्कारिज्ञानहेतो प्रत्यक्षत्वादिति भावः । उत्तर सुखादिव्युदासार्थम् । तदेव हि लक्षणवाक्यमुच्यते यस्य लक्ष्यानपेक्षोऽतिव्याप्त्यव्याप्तिव्युदासो लक्षणपदेभ्य एव प्रतीयते । लक्ष्यानुरोधेन तु लक्षणव्यवस्थापनेऽन्योन्याश्रयत्वमगतिर्वेति भाव ।

सुखादीनां विज्ञानाभिन्नहेतुजत्वेन विज्ञानत्वादसत्य व्यावर्तनमिति चेत् । न । अभिन्नहेतुजत्वासिद्धे । न खलु यैव चन्दनस्पर्शज्ञानस्योत्पत्तौ सामग्री सैव सुखस्यापीति, अस्ति हि शीतार्त्तस्यापि चन्दनेन्द्रियसंयोगाच्छीतस्पर्शज्ञानमिति तद्वदेवास्य सुखमपि भवेत् । अवान्तरसामग्रीभेदेऽपीन्द्रियार्थमनस्कारजत्वाज् ज्ञानजातीयत्वमिति चेत् । न । किञ्चित्कारणभेदेऽपि कार्यभेदस्यानाकस्मिकत्वोपपत्ते. । तदर्थत्वात् कारणभेदानुसरणप्रयासस्य । न चोपादानाभेदादभेद इति युक्तम् । भिन्नानामपि ज्ञानानामेकसमनन्तरप्रत्ययोपादानत्वस्य भवद्भिरभ्युपगतत्वात् । अपि चोपादानाभेदश्च कुतश्चित् कारणभेदात् कार्य्यभेदश्चेति को विरोध. । अत एवास्माकमभेदेऽप्युपादानस्य पिठरस्योष्ण्यापराधस्य च वह्निसंयोगस्य पूर्वरूपादिप्रध्वंसानां कारणानां भेदाद् भिन्नजातीया जायन्ते गन्धरूपरसस्पर्शा इति सिद्धान्तः । तस्मादर्थप्रवणेभ्यो ज्ञानेभ्यस्तदप्रवणतया भिन्नजातीया सुखादयो यथास्वमनुकूलवेदनीयत्वादिभिर्लक्षणैरन्योन्यमपि भेदवन्तस्तीव्रसंवेगितया प्रमित्सानपेक्षमानसप्रत्यक्षवेदनीया इति रमणीयम्" ।

न्यायवा० ता० टी० पृ० १२३ पं० २—।

"अथवा सुखादिव्यावृत्त्यर्थं ज्ञानपदोपादानम् । इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं हि सुखमपि भवति तत्र तज्जनकं कारकचक्रं प्रमाणं मा भूद् ज्ञानजनकमेव प्रमाणं यथा स्यादिति ज्ञानग्रहणम् ।

अत्र शाक्याश्चोदयन्ति न ज्ञानपदेन सुखादिव्यवच्छेद कर्तुं युक्त. शक्यो वा सुखादीनामपि ज्ञानस्वभावत्वात् । ज्ञानस्यैवामी भेदा सुखं दु खमिच्छा द्वेष प्रयत्न इति । कारणाधीनो हि भावानां भेदो भवितुमर्हति समानकारणानामपि तु भेदेऽभिधीयमाने न कारणकृतं पदार्थानां नियतं रूपमिति तदाऽऽकस्मिकत्वप्रसङ्ग । तदुक्तम् ।

तदतद्रूपिणो भावास्तदतद्रूपहेतुजा. । तत्सुखादि किमज्ञानं विज्ञानाभिन्नहेतुजम् ॥ इति ।

तस्माज् ज्ञानरूपा सुखादय तदभिन्नहेतुजत्वादिति तदिदमनुपपन्नम् । प्रत्यक्षविरुद्धत्वाद्धेतो. । सुखादि संवेद्यमानमानन्दादिरूपतयाऽनुभूयते ज्ञानं विषयानुभवस्वभावतयेति प्रत्यक्षसिद्धभेदत्वात् कथमभेदे अनुमानं क्रमते । अत एव इदमपि न वचनीयम् । एवमेवेद संविद्रूपं हर्षविषादाद्यनेकाकारविवर्तं पश्याम. तत्र यथेष्टं सञ्ज्ञा क्रियन्तामिति । संविदो विषयानुभवस्वभावतयैव प्रतिभासात् सुखादेश्च विषयानुभवस्वभावानुस्यूतत्वाप्रतिभासात् । ज्ञानमेव विषयग्रहणरूपं प्रकाशते न सुखं दु ख धा । यस्तु सुखज्ञानं दु खज्ञानमिति प्रतिभासः स ज्ञानस्वभावभेदकृत एव संशयज्ञानं विपर्ययज्ञानमितिवत् । उक्तमत्र संशय-

न च तुल्यकारणजन्यत्वात् ज्ञान-सुखादीनामेकत्वमिति तन्निवृत्त्यर्थं ज्ञानग्रहणं न कार्यम् तुल्यकारणजन्यत्वस्यासिद्धत्वात् । वक्ष्यति च चतुर्थेऽध्याये—"एकयोनयश्च पाकजाः"[1] [४-१-५ वात्स्या० भा०]। न च तेषामेकत्वमिति व्यभिचारः । प्रत्यक्षविरोधश्च सुप्रसिद्ध एव । तथाहि-आल्हादादिस्वभावाः सुखादयोऽनुभूयन्ते ग्राह्यतया च ज्ञानं त्वर्थावगमस्वभावं ग्राहकतयाऽनुभूयत इति ज्ञान-सुखाद्योर्भेदोऽध्यक्षसिद्ध एव। विशिष्टादृष्टकारणजन्यत्वात् सुखादेः सुखादिजात्युत्पाद्यत्वाच्च न भिन्नहेतुजत्वमसिद्धं ज्ञान-सुखाद्योः अतो बोधजनकस्य ज्ञापनार्थं युक्तं ज्ञानग्रहणम्।

अव्यपदेश्यग्रहणमप्यतिव्याप्तिनिवृत्त्यर्थम्[4] व्यपदेशः शब्दः तेन इन्द्रियार्थसन्निकर्षेण चोत्पादितमध्यक्षम्-शाब्देऽनन्तर्भावात्-स्यात् तन्निवृत्त्यर्थमव्यपदेश्यपदोपादानम्। नन्विन्द्रियविषये शब्दस्य

विपर्ययादौ विषयानुभवस्वभावत्वमनुस्यूतमवभाति संशयो हि विषयग्रहणात्मकोऽनुभूयते अनिश्चितं तु विषयं गृह्णाति विपर्ययोऽपि विषयग्रहणात्मक एव विपरीतमसन्तं वा विषयं गृह्णाति न तु विषयग्रहणस्वभावं सुख दुःखं चानुभूयते । अन्य एवायं ग्राह्यैकस्वभाव आन्तरो धर्मः सुखदुःखादिरिति घटज्ञानवद्विषयतयैव ज्ञानं भिनत्ति न स्वभावभेदेन संशयवदिति । तत्रैतत् स्यात् स्वप्रकाशत्वात् सुखादेर्न ग्राह्यैकस्वभावत्वम् । अतश्च ग्राह्यग्रहणोभयस्वभावत्वाज् ज्ञानमेव तदिति । मैवं वोच । प्रकाशत्वं ज्ञानेऽपि प्रतिक्षिप्तं प्रतिक्षेप्स्यते तत् कुतः सुखादौ भविष्यति । न हि ग्रहणस्वभावं कश्चित् सुखमनुभवति ज्ञानवदिति । नन्वस्य प्रकाशत्वानभ्युपगमे सुखादेरुत्पादानुत्पादयोरविशेषात् सर्वदा सुखित्व न कदाचिद्वा स्यादिति । नैतदेवम् । उत्पन्नमेव सपदि सुखं गृह्यते ज्ञानेनेति कथमनुत्पन्नान्न विशिष्यते । प्रत्युत स्वप्रकाशसुखवादिनामेष दोषः स्वप्रकाशस्य दीपादेः सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात् । क्वचित् सन्ताने स्वप्रकाशसुखोत्पादात् तेनैव स्वप्रकाशेन सुखेनान्योऽपि सुखी स्याद्यस्यापि सुखं नोत्पन्नमिति । किंच किमेकमेव ज्ञानं सर्वसुखदुःखाद्यशेषाकारभूषितमिष्यते उत किंचित् सुखात्मकं किंचिद् दुःखात्मकं ज्ञानमिति । आद्ये पक्षे सर्वाकारखचितज्ञानोपजननादेकस्मिन्नेव क्षणे परस्परविरुद्धसुखदुःखादिधर्मप्रबन्धवेदनप्रसङ्गः । उत्तरस्मिंस्तु किंचित् सुखज्ञानं किंचिद्दुःखज्ञानमिति यत्किंचिदसुखदुःखचितं विषयानुभवस्वभावमपि ज्ञानमनुभूयमानमेषितव्यमेव । तच्च न स्वच्छम् अपि तु केनचिद् घटादिना विषयेणोपरक्तमन्वयव्यतिरेकाभ्यां च घटाद्युपजननापायेऽपि बोधस्वभावमनुवर्त्तमानं प्रतीयते । तदिदानीं सुखज्ञानमप्यनुभूयमानं सुखेन विषयभावजुषा घटादिनेवोपरज्यते इति गम्यते न स्वरूपेणैव सुखात्मकं ततो भिन्नरूपस्य बोधमात्रस्वभावस्य ज्ञानस्यान्यदा दृष्टत्वादिति । तस्मान्न बोधरूपा सुखादयः । अभिन्नहेतुजत्वादिति चायमसिद्धो हेतुः समवायिकारणस्यात्मनः असमवायिकारणस्यात्मनःसंयोगस्य अभेदेऽपि निमित्तकारणस्य सुखत्वज्ञानत्वादेर्भिन्नत्वात् । ननु सुखोत्पादात् पूर्वमनाश्रयं सुखत्वसामान्यं कथ तत्र स्यात् । कथापि सुखहेतुभिः कारकैः संसर्गः असंसृष्टं च कथं कारकं स्यात् । उच्यते । सर्वसर्वगतानि सामान्यानि साधयिष्यन्ते इति सन्ति तत्रापि सुखत्वादीनि योग्यतालक्षण एव चैषां सुखहेतुभिः कारकैः संसर्गः धर्माधर्मवत् । धर्माधर्मौ हि सर्वस्य प्राणिनां सुखदुःखहेतोः जायमानस्य शाल्यादेः कार्यस्य कारणं तयोश्च तत्कारणैः बीजक्षितिसलिलादिभिः सह योग्यतैव संसर्गः एवं सुखत्वादीनामपि स्यात् । तस्मान्निमित्तकारणभेदाद् भिन्नानि ज्ञानसुखादीनि कार्याणि ।

> निमित्तकारणान्यत्वमपि कार्यस्य भेदकम् । विलक्षणा हि दृश्यन्ते घटादौ पाकजा गुणाः ॥
> अपि च ज्ञानमिच्छन्ति न सर्वं ज्ञानपूर्वकम् । सुखदुःखादि सर्वं तु विषयज्ञानपूर्वकम् ॥
> विषयानुभवोत्पाद्या यत्रापि न सुखादयः । तत्रापि तेषामुत्पत्तौ कारणं विषयस्मृतिः ॥

क्वचित्तु सङ्कल्पोऽपि सुखस्य कारणतां प्रतिपद्यते । तस्मात् सर्वं सुखादि ज्ञानपूर्वकमेव । ज्ञानमपि ज्ञानपूर्वकमेवेति चेद् उपरिष्टान्निराकरिष्यमाणत्वात् । न हि गर्भादौ मदमूर्छाद्यनन्तरं वा ज्ञानमुपजायमानं ज्ञानान्तरपूर्वकं भवतीति वक्ष्यामः । तेन सुखादीनां वैलक्षण्योपपादनात् सुखादिव्यवच्छेदस्य सिद्धत्वात्" । न्यायमञ्ज० आ० २ पृ० ७४ पं० ११—।

1 "एकप्रत्यनीकाः पृथिव्यां श्यामादयोऽग्निसंयोगेनैकेन एकयोनयश्च पाकजा इति"—पृ० ३६६ पं० १६ ।

"व्यभिचारादहेतुः ॥ एकप्रत्यनीकाश्च रूपादय एकाग्निसंयोगविरोधिनः न चैषामेकत्वमिति अनैकान्तिकम् । एकयोनित्वादेकं रागादयः शब्दवदित्यप्यनेनैव प्रत्युक्तम् । एकयोनयो रूपादयो न चैषामेकत्वमिति"। न्यायवा० पृ० ४५० पं० १६।

"एकयोनयो हि रूपादयो न चैषामेकत्वं, यदि पुनस्तत्र रूपादीनां परस्परभेदसिद्धये कश्चित् कारणभेद आस्थीयते स रागादिष्वपि समान इति भावः"। न्यायवा० ता० टी० पृ० ५८९ पं० ४।

2 "ज्ञानस्य ज्ञानजात्युत्पाद्यत्वात्"—बृ० ल० टि० । 3 "परः"—बृ० टि०। 4 अव्यपदेश्यपदकृत्यचर्चा भाष्य-वार्तिक-तात्पर्यटीकासु उत्तरोत्तरमधिकतया विविधतया च कृता दृश्यते—१-१-४ वात्स्या० भा० पृ० २० पं० ९। न्यायवा० पृ० ३६ पं० २४। न्यायवा० ता० टी० पृ० १२७ पं० ६ । जयन्तस्तु तां सर्वामपि चर्चां सगृह्य, समीक्ष्य चातिपल्लवयाचकार—न्यायमञ्ज० आ० २ पृ० ७७ पं० २१-पृ० ८० पं० ६।

सामान्यविषयत्वेन व्यापारासंभवादिन्द्रियस्य च स्वलक्षणविषयत्वान्नोभयोरेकविषयत्वमिति न तज्जन्यमेकं ज्ञानं संभवति, न, तयोर्भिन्नविषयत्वस्य "व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः" [न्यायद० २-२-६५] इत्यत्र निषेत्स्यमानत्वात् तद्भावभावित्वाच्चोभयजन्यत्वं ज्ञानस्यावगतमेव। तथाहि–चक्षुर्गोशब्दव्यापारे सति 'अयं गौः' इति विशिष्टकाले ज्ञानमुपजायमानमुपलभ्यत एव तद्भावभावित्वेन चान्यत्रापि कार्यकारणभावो व्यवस्थाप्यते तच्चात्रापि तुल्यमिति कथं नोभयजं ज्ञानम्? न चान्तःकरणानधिष्ठितत्वदोषश्चक्षुषः तेनाधिष्ठानात् शब्दस्य च प्रदीपवत् करणत्वात्। न च ग्राह्यत्वकाले शब्दस्य करणत्वमयुक्तम् श्रोत्रस्यैव तदा करणभावात् शब्दस्य तु तदा ग्राह्यत्वमेव गृहीतस्य चोत्तरकालमन्तःकरणाधिष्ठितचक्षुःसहायस्यार्थप्रतिपत्तौ व्यापार इति भवत्युभयजं 'गौः' इति ज्ञानम्। न चास्य प्रमाणान्तरत्वं युक्तम् उभयविलक्षणत्वात् शाब्देऽव्यपदेश्यविशेषणस्याभावात् प्रत्यक्षे च भावादस्य शाब्दत्वात्। न च शब्देनैव यज्जन्यते तच्छाब्दमिति शाब्दलक्षणे नियमः अपि च शब्देन यज्जनितं तच्छाब्दम् अस्ति च प्रक्रान्ते एतद्रूपमिति कथं न शाब्दम्? न चैतन्नास्ति न चाप्रमाणम् अव्यभिचारित्वादिविशेषणयोगात्। न चानुमानम् पक्षधर्मत्वाद्यभावात्। प्रत्यक्षमप्येतन्न भवति शब्देनापि जन्यत्वात्। नाप्युपमानम् तल्लक्षणविरहात्। पारिशेष्यात् शाब्दम्। ननु शाब्दमपि न युक्तम् इन्द्रियेणापि जनितत्वात्, न, शब्दस्यात्र प्राधान्यात् प्राधान्यं च तस्य प्रभूतविषयापेक्षया यतोऽसौ न क्वचिद् व्याहन्यते–तथा च प्रत्यपादि भाष्यकृता–"यावदर्थां वै नामधेयशब्दाः" [१-१-४ वात्स्या० भा०] इति। न त्वेवमिन्द्रियं तस्य स्वर्गादौ प्रतिहन्यमानत्वात्। तस्मात् प्राधान्याच्छब्देनैव व्यपदेशः।

व्यपदेशकर्मतापन्नज्ञाननिवृत्त्यर्थमव्यपदेश्यमिति विशेषणमिति केचित् प्रतिपन्नाः। तथाहि–इन्द्रियार्थसन्निकर्षादुपजातस्य ज्ञानस्य शब्देनाऽनभिधीयमानस्य प्रत्यक्षत्वम् अयुक्तमेतत् प्रदीपेन्द्रियसुवर्णादीनामभिधीयमानत्वेऽपि प्रत्यक्षत्वानिवृत्तेः। न च ज्ञानस्याभिधीयमानत्वे करणत्वव्याहतिः शक्तिनिमित्तत्वात् कारकशब्दस्य। न ह्यभिधीयमानार्थोऽन्यत्र तदेव परिच्छित्तिं न विदधाति। न चायं न्यायो नैयायिकैर्नाभ्युपगतः "प्रमेया च तुलाप्रामाण्यवत्" [न्यायद० २-१-१६] इत्यत्र प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्। फलविशेषणपक्षेऽप्यभिधीयमानस्य स्वकारणव्यवच्छेदकत्वमस्त्येव। शब्दब्रह्मनिवृत्त्यर्थमेतदिति, एतदप्ययुक्तम्, अप्रकृतत्वात्। शब्दप्रमेयत्वेऽपीन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नत्वे ज्ञानस्य संभवति किमनेन विशेषणेन कृत्यम्? तथाहि–इन्द्रियविषयभूतेन रूपेण शब्देन वा जनितं ज्ञानमिति कोऽत्र प्रत्यक्षत्वे विशेषः? सर्वथा लक्षणं युक्तिमदेव विशेषणं चातिव्याप्त्यादिदोषनिवृत्त्यर्थं लक्षणे उपादेयम् न परपक्षव्युदासार्थम्।

इन्द्रियार्थसन्निकर्षादुपजातं शब्देन चाजनितं व्यभिचारिज्ञानं न प्रत्यक्षव्यवच्छेदकमित्यव्यभिचारिपदोपादानम्। इन्द्रियजत्वं च मरीचिषूदकज्ञानस्य तद्भावभावित्वेनावसीयते। मरीच्यालम्बन-

---

१ "प्रत्यक्ष–शाब्दोभयविलक्षणत्वं च न प्रमाणान्तर इत्याह"–बृ० टि०। "प्रत्यक्ष–शब्दोभयलक्षणत्वेन प्रमाणान्तरता गौरिति ज्ञानस्य नाभिधेया कुत इत्याह"–ल० टि०।

२ भाष्ये तु "यावदर्थं वै नामधेयशब्दाः"–इति पाठोऽस्ति। न्यायवा० ता० टी० पृ० १२५ पं० १४। ३ "प्रमेयता च तुलाप्रामाण्यवत्"–न्यायवा० पृ० १९३। "यथा तुला किल कलयति प्रमाणता तथा प्रमेयतामपि तुलान्तराश्रयणेन"–बृ० ल० टि०। ४ "सामग्रीप्रमाणतापक्षे न केवलम्"–बृ० ल० टि०। ५ अव्यपदेश्यपदस्य शब्दब्रह्मनिवृत्तिपरता व्याख्यातुकामेन वाचस्पतिमिश्रेण "तत्र नामरहितमविकल्पकं नास्तीति ये विप्रतिपद्यन्ते तन्मतमपाचिकीर्षुरुपन्यस्यति भाष्यकारः" इत्यादिना वैयाकरणीयः शब्दब्रह्मवाद उपन्यस्तः अनन्तरं च सा निवृत्तिपरता "अयमभिसन्धिः–सामानाधिकरण्येन शब्दात्मकत्वं रूपादीनामभिधीयमानं शब्दब्रह्मात्मत्वं वोच्यते श्रूयमाणगौरित्यादिपदभेदात्मत्वं वा" इत्यादिना सविस्तरं दर्शिता–न्यायवा० ता० टी० पृ० १२५ पं० १२ तथा पृ० १२७ पं० ९। ६–क्षणमुपा–आ० हा० वि०। ७–न चाज–बृ० विना। ८ "विशेषकम्"–बृ० ल० टि०। भाष्यादिषु 'अव्यभिचारि' पदस्यैतत् व्यावर्त्यं दर्शितमस्ति–वात्स्या० भा० पृ० २० पं० २०–। न्यायवा० पृ० ३७ पं० ६। न्यायवा० ता० टी० पृ० १३ पं० २२–१३२ पं० १४। न्यायमञ्ज० आ० ३ पृ० ८८ पं० ७–पृ० ९० पं० ६। ९ "इन्द्रिय"–बृ० ल० टि०।

त्वमपि तत एवावसीयते मरीचिदेशं प्रति प्रवृत्तेश्च। पूर्वानुभूतोदकविषयत्वे तु तद्देशैव प्रवृत्तिर्भवेन्न मरीचिदेशे। भ्रान्तत्वान्न तद्देशे प्रवर्तत इति चेत् य एवाभ्रान्तः स उदकस्मरणादुदकदेश एव प्रवर्तते अयं तु भ्रान्त इति अयुक्तमेतद् भ्रान्तिनिमित्ताभावात्। इन्द्रियव्यापार एव तन्निमित्त इति चेत् अयुक्तमेतत् तत एवेन्द्रियजत्वसिद्धेः। न च स्मृतिर्बाह्येन्द्रियजा दृष्टा इदं तु बाह्येन्द्रियजमिति न स्मृतिः। ननु कथमुदकज्ञानस्यालम्बनं मरीचयोऽप्रतिभासमानाः? उक्तमेतत् तेषु सत्सु भावादस्य। ननु यद्येतद् अनुदके उदकप्रतिभासं भवत्यन्यत्र किमिति न भवेत्? न भवत्यन्यस्योदकेन सारूप्याभावात् तस्मादुदकसरूपा मरीचय एव देशकालादिसव्यपेक्षा उदकज्ञानं जनयन्ति। तथाहि-सामान्योपक्रमं विशेषपर्यवसानम् 'इदमुदकम्' इत्येकं ज्ञानं तस्य सामान्यवानर्थः स्मृत्युपस्थापितविशेषापेक्षो जनकः तिरस्कृतस्वाकारस्यागृहीताकारान्तरस्य सामान्यविशिष्टस्य वस्तुनो विपर्ययजनकत्वे तथाविधस्येन्द्रियेण सम्बन्धोपपत्तेः कथं नेन्द्रियार्थसन्निकर्षजो विपर्ययः? नन्वस्य शब्दसहायेन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वेन नाव्यभिचारिपदव्यवच्छेद्यत्वम् अव्यपदेश्यपदेनैव निरस्तत्वात्, न; प्रथमाक्षसंनिपातजस्य शब्दस्मरणनिमित्तस्येन्द्रियार्थसन्निकर्षप्रभवस्याशब्दजन्यस्याव्यभिचारिपदापोह्यत्वाभ्युपगमात्। अभ्युपगमनीयं चैतत् अन्यथोदकशब्दस्मृतेरयोगात् "यत्सन्निधाने यो दृष्टस्तोद्दृष्टेस्तद्ध्नो स्मृतिः" [ ] इति न्यायात्। न च तरङ्गायमाणवस्तुसन्निधाने उदकशब्दस्य दृष्टिः किन्तूदकसन्निधान एव अतो मरु-जङ्गलादौ देशे क्वचिद्दूरस्थस्य निदाघसमये तरङ्गायमाणवस्तुनः सामान्यविशिष्टस्य दर्शनम् तदनन्तरं तत्सहचरितोदकत्वानुस्मरणम् तस्मात् सामान्यवत्ताध्यारोपितोदकग्रहणम् तत उदकशब्दानुस्मृतिः ततोऽप्यनुस्मृतोदकसहायादिन्द्रियार्थसन्निकर्षात् 'उदकम्' इति ज्ञानम् अतो यत् पूर्वमुदकशब्दस्मृतेर्निमित्तं तत् इन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वेनाव्यभिचारिपदापोह्यमिति केचित् संप्रतिपन्नाः।

अपरे तु स्मर्यमाणशब्दसहायेन्द्रियार्थसन्निकर्षजमप्यव्यभिचारिपदापोह्यमेव मरीचिषु 'उदकम्' इति शब्दोल्लेखवज्ज्ञानं मन्यन्ते अव्यपदेश्यपदव्यवच्छेद्यं तु यत्र प्रथमत एवेन्द्रियसन्निकृष्टेऽर्थे संकेतानभिज्ञस्य श्रूयमाणाच्छब्दात् 'पनसोऽयम्' इति ज्ञानमुत्पद्यते तत्र शब्दस्यैव तदवगतौ प्राधान्यात् इन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य तु विद्यमानस्यापि तदवगतावप्राधान्यात् तदेवाव्यपदेश्यपदव्यवच्छेद्यं न पुनरवगतसमयस्मर्यमाणशब्दसचिवेन्द्रियार्थसन्निकर्षप्रभवम् तत्र तत्सन्निकर्षस्यैव प्राधान्याद् वाचकस्य च तद्विपर्ययात्। ननु सामग्र्यां कस्य व्यभिचारः कर्तुः, करणस्य, कर्मणो वा? तत्र स्वाकारसंवरणेनाकारान्तरेण ज्ञानजननात् कर्मणो व्यभिचारः कर्तृ-करणयोस्तु तथाविधकर्मसहकारित्वाददोषाविति मन्यन्ते। भवत्वयं व्यभिचारः न त्वेतन्निवृत्त्यर्थमव्यभिचारिपदोपादानमर्थवत् अनिन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वादेव तन्निवृत्तिसिद्धेः। नहि ज्ञानरूपतेन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वे तत्र सिद्धे तस्माद् यद् अतस्मिंस्तदित्युत्पद्यते तद् व्यभिचारिज्ञानम् तद्व्यवच्छेदेन 'तस्मिंस्तत्' इति ज्ञानमव्यभिचारिपदसंग्राह्यम्। नन्वेवमपि ज्ञानपदमनर्थकम् अव्यभिचारिपदादेव ज्ञानसिद्धेः व्यभिचारित्वं हि ज्ञानस्यैव तद्व्यवच्छेदार्थमव्यभिचारित्वमपि तस्यैवेति ज्ञानपदमनर्थकम्, न, इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नस्याज्ञानरूपस्यापि सुखस्याव्यभिचारात् तन्निवृत्त्यर्थं ज्ञानपदमर्थवत्। किं पुनः सुखं व्यभिचारि?

---

1 "तद्भावभाविताता."-बृ॰ ल॰ टि॰। 2 "पर."-बृ॰ ल॰ टि॰। 3 "पर"—बृ॰ ल॰ टि॰। 4 "शब्दः"—बृ॰ ल॰ टि॰। 5 "वस्तु"—बृ॰ ल॰ टि॰। 6 "जङ्गलो निर्जले देशे" इत्यादि—हैम॰ अनेका॰ ३,६४४। 7-वन्नाध्या-बृ॰। 8-कारं सं-आ॰ हा॰ वि॰। 9 "व्यभिचारः"-बृ॰ टि॰। 10 "तथाहि-मरीचिकायां जलज्ञानस्येन्द्रियार्थसन्निकर्षो नास्ति तद्धि जलं परिच्छिनत्ति न च जलं तत्र विद्यते येन स्वार्थसन्निकर्षः स्यात् तेन तन्निवृत्तयेऽव्यभिचारिपदं न कार्यमिति"-बृ॰ ल॰ टि॰। 11 "पर."—बृ॰ ल॰ टि॰।

"व्यभिचाराव्यभिचारौ हि ज्ञानस्य धर्मौ न सुखादेः अतस्तदुपादानात् तद्धर्मयोगि ज्ञानं लभ्यत एव किं ज्ञानग्रहणेन। नैतदेवम्। सुखस्यापि सव्यभिचारस्य दृष्टत्वात्। किं पुनः सुखं व्यभिचारवद् दृष्टम्? यदेतत् 'परदाराभिमर्शादिनिषिद्धाचरणसंभवं सुखं तद् व्यभिचारि। ननु सुखस्य कीदृशो व्यभिचारः? ज्ञानस्यापि कीदृशो व्यभिचारः? अतस्मिंस्तथाभावः सुखस्यापि अतस्मिंस्तथाभाव एव। किं परपुरन्ध्रिपरिरम्भसंभवं सुखं सुखं न भवति? किं शुक्तिकायां रजतज्ञानं ज्ञानं न भवति? ज्ञानं तु तद् भवति किन्तु मिथ्या। इदमपि सुखं भवति किन्तु मिथ्या। ननु न सुखं मिथ्या तदपि हि आनन्दस्वभावमेव।

यत् परयोपिति । ननु कस्तस्य व्यभिचारः ? ज्ञानस्य क इति वाच्यम् ? अतस्मिंस्तदिति भावः स सुखेऽपि समानः । किं पराङ्गनोत्पन्नं सुखं न भवति ? मरीचिषूदकज्ञानं किं न ज्ञानम् ? अथातस्मिंस्तदितिभावाद् ज्ञानत्वेऽपि तद् व्यभिचारि असुखसाधने पराङ्गनादौ सुखस्य भावात् समानं व्यभिचारित्वमिति सुखनिवृत्त्यर्थं ज्ञानपदमर्थवत् । एतच्च केचिद् दूषयन्ति—नहि तापादिस्वभावं पराङ्गनायां सुखमुत्पद्यते अपि त्वाल्हादस्वरूपम् यथा स्वललनायाम् सुखसाधनत्वादेव चासक्तिहेतुत्वादधर्मोत्पादकत्वेन तस्या भाविनि काले दुःखसाधनत्वम् । न च यस्यैकदा दुःखजनकत्वं तस्य सर्वदा तद्रूपत्वमेव अन्यथा पावकस्य निदाघसमये दुःखजनकत्वाच्छिशिरेऽपि तज्जनकत्वमेव स्यात् एवं देशाद्यपेक्षयापि न नियतरूपता भावानाम् । उक्तं च भाष्यकृता—"सोऽयं प्रमाणार्थोऽपरिसङ्ख्येयः" [वात्स्या० भा० पृ० १ पं० १२] इति । ततो व्यभिचाराभावान्न सुखनिवृत्त्या ज्ञानपदोपादानमर्थवत् । न चैवमनर्थकमेवैतत् धर्मिप्रतिपादनार्थत्वादस्य ज्ञानपदोपात्तो हि धर्मी इन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वादिभिर्विशेष्यते अन्यथा धर्म्यभावे काऽव्यभिचारादीन् धर्मांस्तत्पदानि प्रतिपादयेयुः ? न च विशेषणसामर्थ्याद्धर्मिणः प्रतिलम्भ इति वक्तव्यम् तथाभ्युपगमे 'प्रत्यक्षं प्रत्यक्षम्' इत्येव वक्तव्यं शेषस्य सामर्थ्यलभ्यत्वात् । यथोक्तविशेषणविशिष्टं संशयज्ञानं भवति 'व्यभिचारिप्रतियोगि अव्यभिचारि' इति कृत्वा न चैतत् प्रत्यक्षव्यवच्छेदकम् न चास्येन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वं नास्ति तद्भावितया तज्जन्यत्वस्य तत्र सिद्धेः अतस्तद्व्यवच्छेदार्थं व्यवसायात्मकपदोपादानम् । व्यवसीयते अनेनेति व्यवसायो विशेष उच्यते विशेषजनितं व्यवसायात्मकम् संशयज्ञानं तु सामान्यजनितत्वान्नैवम् अथवा निश्चयात्मकं व्यवसायात्मकम् संशयज्ञानं त्वनिश्चयात्मकम् अत एव विपर्ययाद् भिन्नम् व्यवस्यति व्यवसायः अन्यपदार्थव्यवच्छेदेनैकपदार्थालम्बनत्वमस्य तद्विपरीतस्तु संशयः ।

[निर्विकल्पकस्यैव प्रत्यक्षत्वमामनतां सौगतानां नैयायिकसम्मते विकल्पप्रामाण्ये प्रतिक्षेपः]

ननु च विकल्परूपत्वान्न व्यवसायात्मकस्येन्द्रियार्थजत्वम् कथमस्य प्रत्यक्षफलता ? न च व्यवसायात्मकस्याप्यध्यक्षता जैनमतानुसारेण व्यवस्थापनीया तेनाने(ने)कान्तात्मकस्य वस्तुनोऽङ्गीकृतत्वात् भवतस्त्वेकान्तवादिनस्तद्युक्तितः तद्व्यवस्थापनासंभवात् । कुतः पुनर्विकल्पस्यानर्थजत्वम् ? शब्दार्थप्रतिभासस्वभावत्वात् । नहि विकल्पोऽर्थसामर्थ्यापेक्षः समुपजायते निर्विकल्पकं त्वर्थसन्निधानापेक्षं तत्सामर्थ्यसमुद्भूतत्वात् प्रत्यक्षं प्रमाणम् । तदुक्तम्—"यो ज्ञानप्रतिभासमन्वयव्यतिरेकावनुकारयति" [ ] इत्यादि । अथ शब्दार्थप्रतिभासित्वेऽपि किमिति विकल्पानां नार्थजत्वम् ? रूपादेरर्थस्य स्वलक्षणत्वेन व्यावृत्तरूपत्वात् शब्दार्थत्वानुपपत्तेः विकल्पप्रतिभास्याकारस्य तु तद्व्यतिरिक्तस्यार्थत्वानुपपत्तेः सदसद्रूपस्य नित्यत्वासत्त्वाभ्यां तस्य ज्ञानजनकत्वनिषेधात् अनुगतस्य चाशब्दार्थत्वात् स्वलक्षणस्य च सर्वतो व्यावृत्ततयाऽनुगतत्वासंभवादनर्थजा विकल्पाः ।

यथैवं शुक्तिकाया रजतज्ञानमपि न मिथ्या तदपि विषयानुभवस्वभावमेव । ननु विषयानुभवस्वभावमपि तद् ज्ञानं विषयं व्यभिचरति । सुखमपि तर्हि इदमानन्दस्वभावमपि विषयं व्यभिचरत्येव । किमसुखसाधनेन तद् जनितम् ? ज्ञानमपि किमज्ञानसाधनेन जनितम् ? ननु ज्ञानं ज्ञानसाधनेन जनितमसत्येन प्रत्यक्षबाधितेन रजतादिना । सुखमपि सुखसाधनेन जनितमसत्येन तु शास्त्रबाधितेन परवनितादिना । किं परवनितादि न सत्यम् ? तत्रापि ज्ञानजनकं सत्यम् असत्यं प्रत्यक्षबाधितत्वात् । परवनिताद्यपि सुखसाधनमसत्यं शास्त्रबाधितत्वात् । ननु शास्त्रेण किमत्र बाध्यते ? ज्ञानेऽपि प्रत्यक्षेण किं बाध्यते ? विषयो मिथ्येति स्थाप्यते । शास्त्रेणापि सुखस्य हेतुर्मिथ्येति स्थाप्यते । किं स विषयः सुखहेतुर्न भवति ? यथा त्वेष विषयः कलुषस्य ज्ञानस्य हेतुस्तथा सोऽपि कलुषस्य कटुविपाकस्य सुखस्य हेतुरिति तथाविधं सुखमपि व्यभिचारि भवत्येवेति अलमतिकेलिना"—न्यायमञ्ज० आ० २ पृ० ७६ पं० १८—।

१-त्वाच्छिशि-ल० वा० बा० । २-नपदोपपत्तो हि वृ० ।-नपदोत्पत्तौ हि ल० वा० बा० । ३ "संशये"—वृ० टि० । "संशय"—ल० टि० । ४ वात्स्या० भा० पृ० २१ पं० ५ । न्यायवा० पृ० ३७ पं० १६—। न्यायवा० ता० टी० पृ० १४४ पं० ३—। न्यायमञ्ज० आ० २ पृ० ९० पं० ७ । ५-त्मकमसंश-आ० हा० वि० । ६ "'ननु च' इत्यादेरुत्तरं कुत इत्यादिना निगदति"-वृ० टि० । ७ "पर." वृ० टि० । ८-भासस्या-ल० । ९-नकत्वानि-आ० हा० वि० । १० "यत् सत् तत् तावत् परेण नित्यमिष्टम् नित्यस्य च हेतुता नास्ति असतोऽपि न हेतुता निरुपाख्यत्वात्"-वृ० टि० ।

इतोऽप्यक्षार्थजा न भवन्ति अक्षार्थसन्निपातवेलायां प्रथमत एव तेषामनुद्भूतेः यदि हि तदुद्भवास्ते स्युः स्मृतिमन्तरेणानुभवत उत्पद्येरन्। न चार्थोपयोगेऽपि तामन्तरेण उत्पद्यन्ते। तदुक्तम्—

"अर्थोपयोगेऽपि पुनः स्मार्त्तं शब्दानुयोजनम्।
अक्षधीर्यद्यपेक्षेत सोऽर्थो व्यवहितो भवेत्" ॥ [ ]

यो हि यज्जन्यः स तदापात एव भवत्यविकल्पवत् न भवन्ति च तदापातसमये विकल्पा इति नार्थजन्यत्वं तेषां स्मृतिव्यवहितत्वात्। न चार्थस्य स्मृत्याऽव्यवधानं तस्यास्तत्सहकारित्वादिति वाच्यम् यतो यद्यर्थस्य ज्ञानजनकत्वं तदा तज्जनने किमित्यसौ स्मृत्यपेक्षः? न च तया विना ज्ञानस्योत्पत्तिस्तत्रार्थस्तज्जनकः। न च तदपेक्षस्य तस्य तज्जनकत्वं तस्यास्तत्र व्यतिरिक्ताव्यतिरिक्तोपकारजनकत्वेनाकिञ्चित्करत्वात्। तदुक्तम्—

"यः प्रागजनको बुद्धेरुपयोगाविशेषतः।
स पश्चादपि तेन स्यादर्थापायेऽपि नेत्रधीः" ॥ [ ]

अपि च, जात्यादिविशेषणविशिष्टार्थग्राहिविकल्पज्ञानम् न च जात्यादीनां सद्भावः तत्त्वेऽपि तद्विशिष्टग्रहणं बहुप्रयाससाध्यमध्यक्षं न भवति। उक्तं च—

"विशेषणं विशेष्यं च सम्बन्धं लौकिकीं स्थितिम्।
गृहीत्वा संकलय्यैतत् तथा प्रत्येति नान्यथा" ॥ [ ]
"संकेतस्मरणोपायं दृष्टसङ्कलनात्मकम्।
पूर्वापरपरामर्शशून्ये तच्चाक्षुषे कथम्?" ॥ [ ] इति।

अतोऽर्थसन्निधानाभावेऽपि भावान्नार्थप्रभवा विकल्पाः। अथ मा भूवन् राज्यादिविकल्पा अर्थप्रभवाः इदंताविकल्पास्त्वर्थमन्तरेणानुद्भवन्तः कथं नार्थप्रभवाः? तदुक्तम्—"नान्यथेदंतया" [ ] इति चेत्, न; इदंताविकल्पानामपि वस्तुप्रतिभासित्वासंभवात् न हि शब्दसंसर्गयोग्यार्थप्रतिभासिनो विकल्पा वस्तुनिश्चायका अन्यथा शब्दप्रत्ययस्याध्यक्षप्रतीतितुल्यता भवेत्। उक्तं च—

"शब्देनाव्यापृताक्षस्य बुद्धावप्रतिभासनात्।
अर्थस्य दृष्टाविव तदनिर्देशस्य वेदकम्" ॥ [ ] इति।

तन्नार्थाक्षप्रभवत्वं व्यवसायस्येति प्रत्यक्षत्वमयुक्तम्।

[नैयायिकैः सौगताक्षेपस्य प्रतिविधानम्]

अत्र नैयायिकाः प्रतिविदधति–किमिदं विकल्पत्वं परस्याभिप्रेतम्? किं शब्दसंसर्गयोग्यवस्तुप्रतिभासित्वम्, आहोस्विदविद्यमानार्थग्राहित्वम्, किं विशेषणविशिष्टार्थावभासित्वम्, उताकारान्तरानुपकवस्त्ववभासकत्वम्? तत्र यद्याद्यः पक्षस्तदा वक्तव्यम् किमिदं शब्दसंसर्गयोग्यार्थप्रतिभासित्वं विकल्पत्वं पारिभाषिकम् उत वास्तवम्? यदि पारिभाषिकम् तदा न युक्तम् परिभाषाया

---

१ अष्टस० पृ० १२२ पं० २। तत्त्वोप० लि० पृ० ५१ पं० १२। सिद्धिवि० टी० लि० पृ० ७६ पं० १८। न्यायवा० ता० टी० पृ० १३६ पं० २१। न्यायमञ्ज० आ० २ पृ० ९२ पं० २३। २ अष्टस० पृ० १२२ पं० १०। तत्त्वोप० लि० पृ० ५१ पं० ९। सिद्धिवि० टी० लि० पृ० ३५ पं० ११। न्यायवा० ता० टी० पृ० १३७ पं० १। न्यायमञ्ज० आ० २ पृ० ९२ पं० १९।

तात्पर्यटीकायां तु–"दक्षापायेऽपि नेत्रधीः" इति पाठमाश्रित्य "अन्धानामपि रूपसाक्षात्कारप्रसङ्गः" इति भावो वर्णितो दृश्यते।

३ "सद्भावेऽपि"–भू० ब० टि०। ४ सिद्धिवि० टी० लि० पृ० ३१ पं० १। न्यायवा० ता० टी० पृ० १३७ पं० ९। न्यायमञ्ज० आ० २ पृ० ९३ पं० ३। पृ० ५१५ पं० १ टि० १।

५ "दृष्टसङ्कल्पनात्मकम्। पूर्वापरपरामर्शशून्यं तच्चाक्षुषं कथम्–"न्यायमञ्ज० आ० २ पृ० ९३ पं० ७। पृ० ५१५ पं० ५।

६ "तत्रैतत् स्यात्। द्विविधा विकल्पाः छात्रमनोरथविरचिताः इदन्ताग्राहिणश्च नीलमित्यादयः तत्र पूर्वे मा भूवन् प्रमाणं कस्तेष्वर्थनिरपेक्षजन्मसु प्रामाण्येऽभिनिवेशः। इदन्ताग्राहिणां त्वर्थाविनाभूतत्वात् कथं न प्रामाण्यमिति"—न्यायमञ्ज० आ० २ पृ० ९३ पं० ९। ७ पृ० २६८ पं० १७ टि० ११।

अत्रानवतारात्। अथ वास्तवम् तदपि न, प्रमाणाभावात्। भवतु वा तस्य तद्रूपत्वं तथापि कथमनध्यक्षत्वम्? अथार्थसामर्थ्योद्भूतत्वात् तस्येत्युक्तम् विकल्पानां च तदसंभवान्नाध्यक्षता; ननु नीलादिज्ञानवच्छब्दार्थप्रतिभासित्वेऽपि कथं नार्थप्रभवत्वं तेषाम्? स्वलक्षणातिरिक्तशब्दार्थस्याभावान्न तत्प्रभवत्वं तेषामिति चेत्, नन्वेवमसदर्थग्राहित्वं कल्पनात्वं प्रसक्तम् तच्च सामान्यादेः सत्त्वप्रतिपादनान्निरस्तम् जातिविशिष्टस्यार्थस्य शब्दार्थत्वेन प्रतिपादनात् तदवभासिनो ज्ञानस्य कथमसदर्थविषयत्वेन कल्पनात्वं भवेत्? न चार्थाभावेऽपि विकल्पानामुत्पत्तेर्नार्थजत्वम् अविकल्पस्याप्यर्थाभावेऽपि भावादनर्थजत्वप्रसक्तेः। अथ तदध्यक्षं प्रमाणमेव नाभ्युपगम्यते तर्हि विकल्पानामप्ययं न्यायः समानः तेऽप्यसदर्था अध्यक्षप्रमाणतया नाभ्युपगम्यन्ते असदर्थत्वं च विकल्पाविकल्पयोर्बाधकप्रमाणावसेयम् तच्च यत्र न प्रवर्तते तस्य कथमसदर्थता? एतेन द्वितीयो विकल्पः प्रतिविहितः। अथ विशेषणविशिष्टार्थग्राहित्वं कल्पनात्वम् तदा किं तथाभूतार्थाभावात् तद्ग्राहिणो ज्ञानस्य विकल्पकत्वम्, आहोस्विद् विशेषणविशिष्टार्थग्राहित्वेनैवेति वक्तव्यम् आद्यविकल्पे सिद्धसाध्यता असदर्थग्राहिणः प्रत्यक्षप्रमाणत्वेनानभ्युपगमात्। न च द्वितीयपक्षादस्य पक्षान्तरत्वम् द्वितीयपक्षस्य च प्रतिविधानं विहितमेव। अथ द्वितीयः पक्षोऽभ्युपगम्यते सोऽपि न युक्तः नीलादिज्ञानस्यापि अप्रत्यक्षत्वप्रसक्तेः। अथास्य न विशेषणविशिष्टार्थग्राहिता, ननु विशेषणविशिष्टार्थग्राहकत्वेनाध्यक्षत्वस्य को विरोधो येन तद्ग्राहिणोऽध्यवसायस्यानध्यक्षता? अथ विशेषणविशिष्टार्थग्राहित्वे विचारकत्वमध्यक्षविरुद्धम् अर्थसामर्थ्योद्भूतस्य विचारकत्वायोगात्, असदेतत्; विशेषणविशिष्टार्थावभासिनस्तस्याविकल्पवत् विचारकत्वायोगात् स्मरणाद्यनुसंधान(संधान)समर्थस्य प्रमातुरेव विचारकत्वात् कथं विशेषणग्रहणादिसामग्रीप्रभवस्य तस्याप्रत्यक्षता? विशिष्टसामग्रीप्रभवस्यास्याप्रत्यक्षत्वे चक्षूरूपालोकमनस्कारसापेक्षस्याविकल्पस्याप्रत्यक्षताप्रसक्तिः। न च विशेषणादिसामग्र्यनपेक्षत्वादस्य प्रत्यक्षता प्रतिनियतस्वसामग्र्यपेक्षस्य विशेषणविशिष्टार्थावभासिनोऽपि प्रत्यक्षत्वाविरोधात् अन्यथा रूपज्ञानस्यालोकाद्यपेक्षस्याध्यक्षत्वे रसज्ञानं सामग्र्यन्तरसापेक्षमनध्यक्षं स्यात् विभिन्नस्वभावसामग्रीसापेक्षत्वात्। न च विशेषणविशिष्टार्थग्रहणे विशेषणविशेष्यसम्बन्धलौकिकस्थितीनां परामर्शः यतो विशेषणविशेष्यतत्सम्बन्धानां न स्वतन्त्राणां विशिष्टार्थग्रहणात् प्रागवभासः अपि तु चक्षुरादिव्यापारे स्वतन्त्रनीलग्रहणवत् विशेषणविशिष्टार्थग्रहणं सकृदेव, केवलं तत्र 'अयम्' इति प्रतिभासो विशिष्टार्थग्रहणस्यान्यथाऽसम्भवात् कथ्यते। न च यथावस्थितवस्तुग्रहणं कल्पना अतीतादिग्रहणवत्। न च जात्यादित्रयस्याभिन्नस्य भेदाध्यवसायः दण्ड-शब्दयोर्भिन्नयोरभेदाध्यवसायो वा कल्पनाद्वयस्याप्यसंभवात्। तथाहि—न जात्यादित्रयस्य वस्तुनोऽव्यतिरेकादसत्त्वाद्वाऽभेदे भेदाध्यवसायः द्वयोरप्यनुपपत्तेः न हि जात्यादेरभेदे असत्त्वे वा तद्व्यवच्छिन्नवस्तुग्रहणसंभवः असतोऽभिन्नस्य वा अवच्छेदकत्वानुपपत्तेः। न च तत्प्रतिभासेऽपि प्रतिभासविषयस्य द्विचन्द्रादेरिव प्रमाणबाधितत्वात् तत्प्रतिभासोऽप्रमाणम् यतो न द्विचन्द्रादेरिव जात्यादेः किञ्चिद् बाधकम् वृत्तिविकल्पादेस्तद्बाधकस्य निषेधात्। तन्न जात्यादित्रयस्याभिन्नस्य भेदप्रतिभासः कल्पना। नापि[11] दण्ड-शब्दयोरभेदाध्यवसायः यदि तत्राभेदप्रतिपत्तिस्तदैकप्रतिभासेऽ[12]वच्छेदकावच्छेद्यभावेन ग्रहणं न भवेत् किं हि[13] तदपेक्ष्याव[14]च्छेदकमवच्छेद्यं वा अर्थान्तरापेक्षत्वात् तयोः। तथाहि—दण्डस्य दण्डिनं प्रति व्यवच्छेदकत्वेन प्रतिभासो नैकत्वेन एवं वाचकस्याऽपि वाच्यप्रतिपत्तौ द्रष्टव्यम्। वाचकावच्छिन्नवाच्यप्रतिभासाभ्युपगमवादिनामेतन्मतम् येषां तु तटस्थ एव वाचकः वाच्यप्रतिपत्तौ वाचकत्वेन प्रतिभातीति मतं तेषामभेदाध्यवसायो दूरापास्त एव। अपि च, एवंवादिना तिरस्कृतस्वाकारस्याकारान्तरानुपक्तस्यार्थस्य ग्रहणं कल्पनेति चतुर्थपक्ष एवाभ्युपगतो भवेत्। न चायमभ्युपगमः सौगतानां युक्तः स्वसिद्धान्तविरोधात्। तथाहि—अविकल्पकमेतद्विज्ञानं भ्रान्तमध्यक्षाभासमभ्रान्तपदव्यवच्छेद्यं सौगतसमये प्रसिद्धम्। तथा च—

---

१ "प्रत्यक्षस्य"—बृ० ल० टि०। २ पृ० ५२५ पं० २७। ३ प्र० पृ० पं० ११। ४—ग्राहित्वे—आ०। ५—तस्य तस्य वि—ल० भा० मा०। ६—हणावि—भा० मां०। ७ "वैधर्म्ये—"बृ० ल० टि०। ८—यव—बृ० आ० हा० वि०। ९ "विशिष्ट—"बृ० ल० टि०। १०—भासक—आ० हा० वि०। ११—पि पिण्ड—ल०। १२—स्तदेक—वा० बा० भा० मा० विना। १३ तदापे—बृ० आ० हा० वि०। १४—पेक्षाव—आ० हा० वि०।

"भ्रान्तिसंवृतिसंज्ञानमनुमानानुमानिकम् ।
स्मार्ताभिलापिकं चेति प्रत्यक्षाभं सतैमिरम्" ॥ [ ]

इत्यत्र 'स्मार्ताभिलापिकं चेति' 'इति' शब्दपरिसमापिताद् विकल्पवर्गात् पृथक् 'सतैमिरम्' इत्यनेनाविकल्पस्यैवंजातीयकस्य प्रत्यक्षाभासत्वं प्रतिपादितम् । कल्पनात्वे चास्याऽभ्रान्तपदोपादानमेतद्व्यवच्छेदार्थं प्रत्यक्षलक्षणे न युक्तियुक्तं स्यात् । तन्न चतुर्थपक्षाभ्युपगमोऽपि न्यायोपपन्न इति नार्थसामर्थ्यानुद्भूतत्वादप्रत्यक्षता विकल्पानाम् । यच्च 'अर्थोपयोगेऽपि' इत्यादिदूषणमक्षजत्वे तेषां प्रतिपादितम् तदप्यसङ्गतम्; यतो यथा निर्विकल्पोत्पादकसामग्र्यन्तर्भूताश्चक्षुरादयः सहकारिणोऽन्योन्यसव्यपेक्षा अपि कार्योत्पादनेनैव परस्परतो व्यवधीयन्ते-तज्जननस्वभावत्वात् तेषां-तथा सविकल्पोत्पादका अपि । न चान्त्यावस्थाप्राप्तं निर्विकल्पोत्पादकं चक्षुरादिकमन्यनिरपेक्षमेव स्वकार्यनिर्वर्तकमन्यसन्निधिस्तु तत्र स्वहेतुनिबन्धनो नोपालम्भविषय इति वक्तव्यम् "न वै किञ्चिदेकं जनकम्" [ ] इत्यादेर्विरोधप्रसक्तेः । अतश्चक्षुरादिवन्न स्मृत्याऽर्थस्य व्यवधानम् । न च क्षणिकत्वात् स्मृतिकाले अर्थस्यातीतत्वात् तया तस्य व्यवधानं क्षणिकत्वस्यास्मान् प्रत्यसिद्धत्वात् स्फटिकसूत्रे निराकरिष्यमाणत्वाच्च । यदपि अर्थस्य स्मृतिसापेक्षत्वे दूषणमभ्यधायि-'यः प्रागजनकः'-इत्यादि, तदप्यसङ्गतम्; उपयोगाविशेषस्यासिद्धत्वात् । तथाहि-भावानां द्विविधा शक्तिः प्रतिनियतकार्यजनने एका स्वरूपशक्तिरपरा सहकारिस्वभावा । तत्र प्राक्स्मरणात् स्वरूपशक्तिः केवला न कार्यं जनयति, यदा तु समासादितसहकारिशक्तिः स्वरूपशक्तिर्भवति तदा कार्यमाविर्भावयत्येव । न च स्वरूपशक्तेः सहकारिशक्त्या व्यतिरिक्तोऽव्यतिरिक्तो वा कश्चिदुपकारः क्रियते किन्तु संभूय ताभ्यामेकं कार्यं निष्पाद्यते । तथाहि-अन्त्यावस्थाप्राप्तक्षणवत् सहकर्तृत्वमेव सर्वत्र सहकारार्थो न त्वतिशयाधानमिति क्षणभङ्गभङ्गे विस्तरेण प्रतिपादयिष्यते । यदपि 'विशेषणं विशेष्यं च' इत्यादि दूषणमभिहितम् तथा, 'सङ्केतस्मरणोपायम्' इत्यादि च तदपि प्रागेव निरस्तम् । यदपि 'विकल्पाध्यक्षयोरेकविषयत्वे प्रतिभासभेदो न स्यात् दृश्यते च तदुक्तम्—'शब्देनाव्यापृताक्षस्य' इत्यादि तदप्यसङ्गतम्; शब्दाक्षप्रभवप्रतिपत्त्योर्विषयभेदस्य प्रसाधितत्वात् । शब्दजप्रतिपत्तौ शब्दावच्छेदेन वाच्यस्य कैश्चित् प्रतिभासोपगमात् कारणभेदादेकविषयत्वेऽपि प्रतिभासभेदस्य च कैश्चिदभ्युपगमान्नैकान्तेन तयोर्भिन्नविषयता । तत्र व्यवसायात्मकं विकल्परूपत्वादनक्षार्थजम् । व्यवसायस्य ज्ञानरूपत्वाद् ज्ञानग्रहणं न कार्यमिति चेत्, न; धर्मिनिर्देशार्थं ज्ञानपदोपादानस्य दर्शितत्वात् । व्यवसायात्मकग्रहणं तु धर्मनिर्देशार्थमिति न पुनरुक्तम् ।

[केषांचित् न्यायसूत्रीयप्रत्यक्षलक्षणे प्रतिक्षेपः]

ननु फल-स्वरूप-सामग्रीविशेषणत्वेनासंभवान्नेदं लक्षणम् । तथाहि-प्रत्यक्षफलविशेषणत्वे इन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वादिषु ज्ञान-प्रत्यक्षशब्दयोः सामानाधिकरण्यानुपपत्तिः फलप्रमाणाभिधायकत्वेन, ज्ञानं हि फलं प्रत्यक्षं तत्साधकतमत्वात् प्रमाणमिति कथं तयोः सामानाधिकरण्यम् ? न च एवंभूतं फलं यतस्तत् प्रत्यक्षम्, 'यतः' इत्यस्याश्रुतत्वात् । तन्न फलविशेषणपक्षः ।

अथैतद्दोषपरिजिहीर्षया स्वरूपविशेषणपक्षः समाश्रीयते सोऽप्ययुक्तः एतद्विशेषणविशिष्टस्य प्रत्यक्षनिर्णयस्याकारकस्य प्रत्यक्षत्वप्रसक्तेः, न चाकारकस्यासाधकतमत्वात् प्रत्यक्षत्वं युक्तम् । अथ कारकत्वं विशेषणमुपादीयते तथापि संस्कारजनके प्रसङ्गः । अथैवंविशिष्टमुपलब्धिसाधनं यत् तत् प्रत्यक्षम् । नन्वेवमप्यश्रुतपरिकल्पनाप्रसक्तिः । सामान्यलक्षणानुवादद्वारेण विशेषलक्षणविधानान्नाश्रुतकल्पनेति चेत्, न; एवमपि द्वितीयलिङ्गदर्शनेऽविनाभावस्मृतिजनके गोत्ववदर्थदर्शने च सङ्केत-

---

१-क्षाभासित्वं वा० बा० ।-क्षावभासित्वं मां० मो० । २ "कल्पनापोढपदेनैव व्यवच्छिन्नत्वात्"—बृ० ल० टि० । ३ पृ० ५२५ पं० ३ । ४ पृ० १२ पं० ५ । ५ स्फुटि-वा० बा० मां० मो० विना । "स्फटिकेऽप्यपरापरोत्पत्तेः क्षणिकत्वाद् व्यक्तीनामहेतुः"—न्यायद० ३-२-१० । ६ पृ० ५२५ पं० १० । ७ पृ० ५२५ पं० १४ । ८ पृ० ५२५ पं० १६ । ९ "शब्दविशिष्टतया"—बृ० ल० टि० । १०-त् कार-वा० बा० मो० मां० विना । ११ पृ० ५२४ पं० १० । १२ "ज्ञान"—बृ० ल० टि० । १३ "प्राप्नोति स्वरूपविशेषणपक्षे"—बृ० ल० टि० । १४ "स हि संस्कारं जनयन् कारक एवेति प्राप्नोति अस्य प्रत्यक्षता"—बृ० ल० टि० ।

स्मृतिजनके प्रसङ्गः। तन्निवृत्त्यर्थमर्थोपलब्धिजनकत्वाध्याहारे विपर्ययज्ञानजनके प्रसङ्गः। विपर्ययज्ञानं हि सारूप्यज्ञानादुपजायते यथोक्तविशेषणविशेषितात् तस्य चार्थोपलब्धित्वमिन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वप्रतिपादनात् सूत्रकारस्याभीष्टमेव । अथ तद्व्यावृत्तये अव्यभिचारिविशिष्टोपलब्धिजनकत्वाध्याहारस्तथापि संशयज्ञानजनके प्रत्यक्षत्वप्रसक्तिः । अथ तन्निवृत्तये व्यवसायात्मकार्थोपलब्धिजनकत्वाध्याहारस्तथाप्यनुमाने प्रसङ्गः यस्मात् प्राक् प्रतिपादिताशेषविशेषणाध्यासितं विशिष्टोपलब्धिजनकं च परामर्शज्ञानमध्ययनादिभिरभ्युपगम्यत इति तस्यानुमितिफलजनकस्याध्यक्षताप्रसक्तिः । अथेन्द्रियार्थसन्निकर्षजोपलब्धिजनकस्येत्यध्याहारस्तथाप्युभयजज्ञानजनकस्य प्रत्यक्षताप्रसक्तिः यस्मादिन्द्रियजस्वरूपज्ञानात् केनचिद् 'देवदत्तोऽयम्' इति शब्द उच्चारिते इन्द्रियशब्दव्यापाराद् 'देवदत्तोऽयम्' इति सङ्केतग्रहणसमये ज्ञानमुत्पद्यते यथोक्तविशेषणविशिष्टमिति तज्जनकस्य स्वरूपज्ञानस्य प्रत्यक्षताप्रसक्तिः । तन्निवृत्त्यर्थमव्यपदेश्यपदाध्याहार इति चेत् तर्ह्यश्रुतस्य द्वितीयसूत्रस्य कल्पनाप्रसक्तिः । सत्यामप्यश्रुतसूत्रकल्पनायामव्याप्त्यतिव्याप्त्योरनिवृत्तिः तुला-सुवर्णादीनामबोधरूपाणामप्रत्यक्षत्वप्राप्तेः सन्निकर्षेन्द्रियादीनां च । न च सन्निकर्षस्य प्रामाण्यं सूत्रकृता नेष्टं "सन्निकर्षविशेषात् तद्ग्रहणम्" [ ] इति वचनात् ग्रहणहेतोश्च प्रामाण्यम् । न च कर्म-कर्तृरूपता तस्येति कर्म-कर्तृविलक्षणस्य ज्ञानजनकत्वात् कथं न तस्य प्रामाण्यम्? एवमिन्द्रियाणामपि प्रमाणत्वं सूत्रकृतोऽभिमतम् "इन्द्रियाणि अतीन्द्रियाणि स्वविषयग्रहणलक्षणानि" [ ] इति वचनात् । न च प्रमाणसहकारित्वात् तेषां प्रमाणत्वम् अन्यस्येन्द्रियात् प्रागुपग्राहकस्योपग्राहिणोऽभावात् भावेऽप्यज्ञानरूपत्वात् तस्य न प्रमाणता भवेदित्यव्याप्तिस्तदवस्थैव । प्रदीपादीनां चाज्ञानात्मकत्वेऽपि प्रमाणत्वं प्रसिद्धं लोके तथा सुवर्णादेः—"प्रमेया च तुलाप्रामाण्यवत्" [न्यायद० २-१-१६] इति-प्रामाण्यं प्रतिपादितं सूत्रकृता । सूत्रस्य चार्थः—यथा सुवर्णादि परिच्छिद्यते तदा तुला प्रमाणम् प्रमाणं चानुमानमागमपूर्वकम् दशपलादिज्ञानस्यानिन्द्रियार्थसन्निकर्षपूर्वकत्वात् तदभावश्च वस्त्रादिव्यवहितेऽपि भावात् तथा प्रमेयं च यदा सुवर्णादिना तुलान्तरं मितेनानुमीयते तदा सुवर्णादिद्रव्यं प्रत्यक्षं प्रमाणमिन्द्रियार्थसन्निकर्षजज्ञानजनकत्वात् इन्द्रियार्थसन्निकर्षजं च पञ्चपलरेखादिज्ञानं तद्भावभावित्वात् अत इन्द्रियादिसहकारि तत् सुवर्णादि पञ्चपलरेखादिज्ञानमुत्पादयत् प्रत्यक्षं प्रमाणम् । सुवर्णवदिन्द्रियार्थजज्ञानमुत्पादयन्तः सर्व एव भावाः प्रत्यक्षप्रमाणतामाविशन्ति । स्मृति-संशय-विपर्ययादीनां चेन्द्रियार्थसन्निकर्षेण सह व्यापारे विशिष्टफलजनकत्वेन प्रत्यक्षतापद्यते । तथाहि-संशय-विपर्यययोरपि बाह्ये विषये स्वालम्बने स्वावच्छेदकत्वेनेन्द्रियार्थसन्निकर्षेण सह व्यापारादात्मप्रत्यक्षवादिनां चात्मनो विशेषणत्वेन विशिष्टप्रतीतिजनकत्वेन प्रत्यक्षत्वात् । न च तयोः सूत्रोपात्तविशेषणयोगिता सन्दिग्धविपर्ययस्वभावत्वात् । अतिव्याप्तिरपि यदेन्द्रियार्थसन्निकर्षाल्लिङ्गाद् गतिमदिन्द्रियं प्रतिपद्यते तदा सकलसूत्रोपात्तविशेषणयोगात् सन्निकर्षलक्षणलिङ्गालम्बनस्य ज्ञानस्य तथाविधफलजनकस्य प्रत्यक्षताप्रसङ्गात् । एतच्च 'इन्द्रियस्यार्थः' इति समासाश्रयणे दूषणं द्रष्टव्यमिति स्वरूपविशेषणपक्षे अनेकदोषापत्तिः ।

अथ ज्ञानप्रामाण्यवादिभिर्निर्णयस्य प्रामाण्यमिष्यत एवेति नानिष्टप्रेरणावकाशः । तथाहि-तत्सद्भावे विषयाधिगतिरिति लोकस्याभिमानः यच्च तथाविधविषयाधिगमे करणं तत् प्रमाणम् । निर्णये च सति तदधिगतिरिति स एव प्रमाणम् अत एव नाश्रुतसूत्रान्तरकल्पनादोषानुषङ्गोऽपि, नैतत् सारम्; यतो निर्णये सति योऽयं विषयाधिगत्यभिमानः स किं साधकतमत्वान्निर्णयस्य उत

---

१ "विपर्ययज्ञानस्य"—वृ० ल० टि० । २ "अनुमानजनके प्रसङ्ग इत्यर्थ"—वृ० ल० टि० । ३ "सन्निकर्षस्य"—वृ० ल० टि० । ४ "यदि हि इन्द्रियात् प्राक् किञ्चिदन्यदपि भवेत् तदा इन्द्रियं तस्य सहकारि कुर्यात् । न च किञ्चित् प्रसिद्धं तदा तदुपग्राह्यस्याभावात्"—वृ० ल० टि० । ५ "गुरुत्वपरिमाणज्ञानसाधनं तुला प्रमाणम् ज्ञानविषयो गुरुद्रव्यं सुवर्णादि प्रमेयम् । यदा सुवर्णादिना तुलान्तरं व्यवस्थाप्यते तदा तुलान्तरप्रतिपत्तौ सुवर्णादि प्रमाणम् तुलान्तरं प्रमेयमिति" इत्यादि—वात्स्या० भा० पृ० ११३ पं० ८-११ । न्यायवा० पृ० १९३ पं० ८-११ । न्यायवा० ता० टी० पृ० ३६४ पं० २१-पृ० ३६५ पं० ८ । ६-नु यथा भा० मा० । ७ "तुला"—वृ० ल० टि० । ८ यथा सु-भा० मा० । ९-रमेतेना-वृ० स० । १० "तुलायास्तु प्रमेयत्वम्"—वृ० ल० टि० । ११-त्वादित इ-भा० वा० । १२-सानाश्रय-वृ० ल० विना । १३-यावग-वृ० ।

विषयाधिगतिस्वभावत्वादिति सन्देहः विशेषहेत्वभावात् साधकतमत्वे च सिद्धे तत्प्रामाण्यावगतिः। अथ विषयाधिगतिस्वभावत्वेनैव निर्णयस्य विषयाधिगत्यभिमानो न साधकतमत्वेनेति[1] भवतोऽपि विशेषहेत्वभावः, न; अबोधस्वभावानामप्यर्थोपलम्भनिमित्तानां भावे विषयाधिगति[2]सिद्धेः तथा च 'धूमाज् ज्ञातोऽग्निः' इति व्यपदिशंल्लोक उपलभ्यते नाग्निज्ञानादिति एवं चक्षुषः प्रदीपादेश्चान्धकारे विषयाधिगतिनिमित्तताव्यपदेशो[3] लोकप्रसिद्ध इति परिच्छेदेऽबोधस्वभावस्य तज्जनकस्य साधकतमत्वात्प्रार्थज्ञानस्य प्रमाणता । अथापि स्यात् साधकतमज्ञानजनकत्वेनापि धूमादीनां तथाव्यपदेशः संभवीति[4] न तेषां ततः साधकतमत्वसिद्धिः तथा च धूमसद्भावेऽपि विषयाधिगतिरित्यभिमानाभावात् सति[5] त्वर्थज्ञाने प्रत्येकशस्तेषामभावेऽपि[6] भावाद् विषयाधिगत्यभिमाने[7] अनन्तरवृत्तमर्थज्ञानमेव साधकतमम् न विषयाधिगतौ ज्ञानस्य साधकतमता विषयाधिगतिस्वरूपत्वात् तस्य न च किञ्चिद्वस्तु[8] स्वरूपे साधकतमं[9] तद्विशेषाभिधानं च प्रमाणपदम् अथ स्वविषये सव्यापारप्रतीततामुपादाय फलस्यैव[10] प्रमाणतोपचारः । उक्तं च—

"सव्यापारप्रतीतत्वात् प्रमाणं फलमेव सत्"[11] । [ ] तथा,
"सव्यापारमिवाभाति व्यापारेण स्वकर्मणि" । [ ] इति

चेत्, न; मुख्यसद्भावे उपचारपरिकल्पनात् । बौद्धपक्षे तु न मुख्यं साधकतमत्वं क्वचिदपि सिद्धमिति नोपचारः असन्मते तु धूमादीनां साधकतमत्वं विशिष्टावगतिहेतुत्वात् ज्ञानस्य तु न तद् युक्तं तस्य तत्स्वभावत्वात्[12] अभिमानवशात् तस्य साधकतमत्वे प्रमाण-फलयोर्भेदः प्रसज्यते स च भवतोऽनिष्टः। यच्च 'धूमादिभावेऽपि विषयाधिगतेरभावात् तद्भावे[13] च भावात्' इत्युक्तम्, तदसंगतम्; यतो नैव ज्ञानसद्भावे काचित् तज्जन्या विषयाधिगतिः धूमादिसद्भावे तु तस्याः सद्भावोऽनन्तरमुपलभ्यत एव अतो धूमाद्येव साधकतमम् अभिमानस्तु[14] ज्ञानानन्तरमुपजायमानो धूमादिभावेऽप्यनुपजायमानो ज्ञानस्य न साधकतमत्वं प्रकाशयति अपि त्वर्थाधिगमस्वरूपताम् । तथाहि—अर्थाधिगतावर्थोऽधिगत इत्यभिमानः प्रभवति न तु धूमादिभावे । अतो विषयाधिगत्यभिमानस्यानेन प्रकारेण भावान्न तदवगतौ साधकतमत्वं ज्ञानस्येति निर्णयेऽव्यक्तताप्रसक्तिभेरणा तदवस्थैव । किञ्च, सुप्तावस्थोत्तरकालं[15] घटादिज्ञानोत्पत्तौ यद्यबोधरूपं तज्जनकं प्रमाणं नेष्यते तदा प्रागपरज्ञानस्याभावात् कस्य तत् फलं भवेत् ? घटत्वसामान्यज्ञानस्य घटज्ञानं फलमिति चेत् ननु घटत्वज्ञाने किं प्रमाणम् ? तदेवेति चेत् एकस्य प्रमाण-फलताप्रसक्तिः । अभ्युपगम्यत एवेति चेत् न, विशेष्यज्ञानेऽपि तत्प्रसङ्गात् । न च विशेष्यज्ञानोत्पत्तौ विशेषणज्ञानस्य प्रमाणत्वं दृष्टमिति ततस्तद्भिन्नमभ्युपगम्यत इति वक्तव्यम् इन्द्रियार्थसन्निकर्षानन्तरं घटत्वादिसामान्यज्ञानस्य दर्शनात् तत्र सन्निकर्षस्य प्रमाणत्वप्रसक्तेः । अज्ञानत्वान्नेति चेत् न, विशेषणज्ञानं विशेष्यज्ञानोत्पत्तौ ज्ञानत्वाद् विशेष्यविषयत्वेन प्रमाणं स्यात् न च तदिष्यते विशेषणविशेष्यालम्बनभिन्नज्ञानवादिभिः अतो यथा विशेषणज्ञानस्य विशेष्यज्ञानोत्पत्तौ प्रामाण्यं तथा सन्निकर्षस्यापि विशेषणज्ञानोत्पत्तौ तदभ्युपगन्तव्यम् । तथाहि—सन्निकर्षः प्रमाणं विशिष्टज्ञानोत्पत्तौ कारणत्वात् विशेषणज्ञानवत् । ज्ञानत्वात् प्रमाणत्वाभ्युपगमेऽकारकाणां निर्णयादीनां प्रमाणत्वं स्यात्-न च स्वसंवेद्यत्वेन तेषामजनकानामपि प्रमाणत्वम् अर्थान्तरफलवादित्वहानिप्रसङ्गात् । न च नैयायिकैरनर्थान्तरभूतं बौद्धैरिव फलमभ्युपगम्यते तदभ्युपगमे वा तत्पक्षनिरासादयमपि निरस्त एव अतो ज्ञानप्रमाणवादिनः सुषुप्तावस्थोत्तरकालं घटत्वादिज्ञानाभावप्रसक्तेर्घटादिज्ञानस्याप्यभावप्रसङ्ग इत्यशेषस्य जगत आन्ध्यापत्तिः । न च सुषुप्तावस्थायां ज्ञानसद्भावान्नायं दोषः असंवेद्यमानस्य तदवस्थायां तस्य सद्भावासिद्धेः । न च जाग्रत्प्रत्ययेन तत्सद्भावोऽवसीयते तस्य तत्प्रतिबन्धासिद्धेः । तत्कार्यत्वात् तत्प्रतिबन्ध इति चेत् न, वैशेषिकैः सर्वस्य ज्ञानस्य

१–ति भाव–बृ० ल० वा० बा० विना । २–गते सि–बृ० । ३ "विषयाधिगतिनिमित्तताख्यः"—बृ० ल० टि० । ४–भवतीति. बृ० आ० हा० वि० । ५ सन्निकर्षज्ञाने वा० बा० विना । ६–भावेपि भावेपि-भा– वा० बा० । ७–त्यभिधाने आ० हा० वि० । ८ "ज्ञानस्य"—बृ० ल० टि० । ९ "साधकतम"—बृ० ल० टि० । १० "प्रत्यक्षज्ञानस्य"—बृ० ल० टि० । ११ न्यायमञ्ज० आ० २ पृ० ७० पं० १६ । १२ "अवगतिस्वभाव–" बृ० ल० टि० । १३ अत्र 'तत्'पदं यदि धूमादिपरं तदा 'तदभावे च' इति पाठ संभाव्यते, यदि च 'तत्' ... तदा यथाश्रुतमेव सम्यक् । १४ "विषयाधिगमरूपः"—बृ० ल० टि० । १५ सुषुप्ता–भां० मां० ।

ज्ञानपूर्वकत्वानभ्युपगमात् विशेष्यज्ञानादीनामेव विशेषणज्ञानादिपूर्वकत्वं नान्येषां प्रतिबन्धाभावात्। बोधरूपता प्रतिबन्ध इति चेत् न, अबोधस्वभावादपि बोधस्योत्पत्त्यविरोधादन्यथा अधूमस्वभावा-दग्नेर्धूमोत्पत्तिर्न भवेत् । तस्य तज्जननस्वभावत्वाददोष इति चेत् न, इतरत्राप्यस्य समानत्वात् । तथाहि-अबोधात्मिका कारणसामग्री बोधजननस्वभावत्वात् तं जनयिष्यतीति न प्रतिबन्धः । तस्मादबोधात्मकस्यापि प्रमाणत्वमभ्युपगन्तव्यमित्यव्यापकत्वं लक्षणदोषः । तन्न स्वरूपविशेषण-पक्षोऽपि युक्तिसंगतः ।

नापि सामग्रीविशेषणपक्षः तत्रास्यौपचारिकत्वात् । तथाहि-सामग्रीविशेषणपक्षे इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षोत्पन्नमित्युपपन्नमिति व्याख्येयम् तच्चायुक्तम् उत्पत्तिशब्दस्य स्वरूपनिष्पत्तौ प्रसिद्धत्वात्। तथा ज्ञानशब्दोऽपि सामग्रीविशेषणपक्षे ज्ञानजनकत्वात् 'सामग्र्यं ज्ञानम्' इति व्याख्येयम् एवम-व्यभिचारि व्यवसायात्मकं च सामग्र्यम् तथाविधफलजनकत्वात् अव्यपदेश्यमपि तच्छब्देन सहा-व्यापारात् । तदेवं सूत्रोपात्तविशेषणयोगित्वं सामग्र्यस्य तथाविधफलजनकत्वेन न स्वत इति न युक्तस्तत्पक्षोऽपि ।

[नैयायिकैः फलविशेषणपक्षाश्रयेण प्रतिक्षेपप्रदस्य प्रत्यक्षसूत्रोक्तलक्षणस्य समर्थनम्]

तर्ह्यनर्थकं सूत्रम्, न, फलविशेषणपक्षस्योपपत्तेः। ननु तत्रापि 'यतः' इत्यध्याहारोऽस्त्येव दोषः, न; तावन्मात्रेण सकलदोषविकलाभिमतपक्षसिद्धेः। अतस्तथाविधं ज्ञानं यतो भवति तत् प्रत्यक्षमिति सकलदोषविकलं प्रत्यक्षलक्षणं सिद्धम्। नन्वेतस्मिन्नपि पक्षे ज्ञानस्य प्रामाण्यं न लभ्यते इष्टं च तस्य प्रामाण्यम्—"यदा ज्ञानं प्रमाणं तदा हानादिबुद्धयः फलम्" [१-१-३ वात्स्या० भा०] इति वचनात्, नैष दोषः, ज्ञानस्याप्येवंविधफलजनकत्वेन प्रमाणत्वात् । तथा चानुभवज्ञानवंशजायाः स्मृतेः 'तथा

---

१ "इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्-[न्यायद० १-१-४]

प्रत्यक्षमिति लक्ष्यनिर्देश इतरल्लक्षणम् । समानासमानजातीयव्यवच्छेदो लक्षणार्थः । समानजातीयं प्रमाणतया अनु-मानादि, विजातीयं प्रमेयादि ततो व्यवच्छिन्नं प्रत्यक्षस्य लक्षणमनेन सूत्रेणोपपाद्यते-।

अत्र चोदयन्ति—इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नत्वादिविशेषणैः स्वरूपं वा विशिष्यते, सामग्री वा, फलं वा ? तत्र स्वरूपवि-शेषणपक्षे यद् एवंस्वरूपं ज्ञानं तत् प्रत्यक्षमिति तत्स्वरूपस्य विशेषितत्वात् फलविशेषणानुपादानाच्च लक्षणमव्याप्ति-अतिव्याप्ति-भ्यामुपहतं स्यात् । अव्याप्तिस्तावद् अतथाविधस्वरूपस्य बोधस्य इन्द्रियादेश्च निर्मलफलजनकतया लब्धप्रमाणभावस्यापि प्रामाण्यं नोक्तं भवेत् । अतिव्याप्तिश्च तथाविधस्वरूपस्यापि ज्ञानस्याकारकस्य वा संस्कारकारिणो वा स्मृतिं जनयतो वा संशय-मादधानस्य वा विपर्ययमुत्पादयतो वा प्रमाणत्वं प्राप्नोति फलस्याविशेषितत्वात् । तद्विशेषणाभिधाने पुनरश्रुतसूत्रान्तराध्याहा-रप्रसक्तिः अव्याप्तिश्च तदवस्थेति न स्वरूपविशेषणपक्षः।"—न्यायमञ्ज० आ०-२ पृ० ६५ पं० ४-। २ "नापि सामग्री-विशेषणपक्षः तत्र हीन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमिति इन्द्रियार्थसन्निकर्षोपपन्नं सामग्र्यमिति व्याख्यातव्यम् । अव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं ज्ञानमिति च तज्जनकत्वादुपचारेण तथा साकल्यं वर्णनीयमिति क्लिष्टकल्पना" ।—न्यायमञ्ज० आ० २ पृ० ६५ पं० १७-। ३-न स्व-बृ० छ० ।

४ "फलविशेषणपक्षोऽपि न संगच्छते ज्ञान-प्रत्यक्षयोः फल-करणवाचिनोः सामानाधिकरण्यप्रसङ्गात् । प्रमाणलक्षण-प्रस्तावात् प्रत्यक्षं प्रमाणमुच्यते तच्च करणमिति वर्णितम् । ज्ञानं तु तदुपजनितं फलमिति कथमैकाधिकरण्यं तस्मात् पक्षत्रयस्यापि अयुक्तियुक्तत्वात् पक्षान्तरस्यापि असंभवादयुक्तं सूत्रमिति । अत्रोच्यते-स्वरूप-सामग्रीविशेषणपक्षौ तावद् यथोक्तदोषोपहतत्वान्नाभ्युपगम्येते । फलविशेषणपक्षमेव समन्यामहे । तत्र च यद् वैयधिकरण्यं चोदितं तद् 'यतः'-शब्दाध्याहारेण परिहरिष्यामः । अत एवं यद् विशेषणविशिष्टं ज्ञानाख्यं फलं भवति तत् प्रत्यक्षमिति सूत्रार्थः । इत्थं च न क्वचिद् अव्याप्तिरतिव्याप्तिर्वा न काचित् क्लिष्टकल्पना 'यत'शब्दाध्याहारमात्रेण निरवद्यलक्षणोपवर्णनसमर्थसूत्रपदसंगति-संभवात् । ननु समानाधिकरणे एव ज्ञान-प्रत्यक्षपदे कथं न व्याख्यायेते किं 'यत'शब्दाध्याहारेण ? उच्यतेऽत्र करणस्य प्रमाणत्वाद् ज्ञानस्य च तत्फलत्वात् फल-करणयोश्च स्वरूपभेदस्य सिद्धत्वात् । तदत्र—

प्रमाणतायां सामग्र्यास्तज्ज्ञानं फलमिष्यते । तस्य प्रमाणभावे तु फल(लं) हानादिबुद्धयः ॥" इत्यादि—न्यायमञ्ज० आ० १ पृ० ६५ पं० २१—। ५ ज्ञानं न य-बृ० ।

६ "यदा संनिकर्षस्तदा ज्ञानं प्रमितिः यदा ज्ञानम् तदा हानोपादानोपेक्षाबुद्धयः फलम्"—वात्स्या० भा० पृ० १७ पं० २१।

"सर्वं च प्रमाणं स्वविषयं प्रति भावसाधनं प्रमितिः प्रमाणमिति । विषयान्तरं प्रति करणसाधनं प्रमीयते अनेनेति

चायम्' इत्येतद् ज्ञानमिन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वाद् प्रत्यक्षं फलं तत्स्मृतेस्तु प्रत्यक्षप्रमाणता, सुखदुःखसम्बन्धस्मृतेस्त्विन्द्रियार्थसन्निकर्षसहकारित्वात् 'तथा चायम्' इति सारूप्यज्ञानजनकत्वेनाध्यक्षप्रमाणता सारूप्यज्ञानस्य च 'सुखसाधनोऽयम्' इत्यानुमानिकफलजनकत्वेनानुमानप्रमाणता। न च सुखसाधनत्वज्ञानमिन्द्रियार्थसन्निकर्षजं शक्तेरसंन्निहितत्वात् शक्तिर्हि सहकारिकारणान्तरसान्निध्यम् तच्चासन्निहितमिति नाध्यक्षप्रमाणफलं सुखसाधनत्वज्ञानमिति केचित्। अपरे तु याह्येऽप्यर्थे विशेष्याकृष्टमसन्निहिते विशेषणे मनः प्रवर्तते इति मनोलक्षणेन्द्रियार्थसन्निकर्षजमध्यक्षप्रमाणफलमेतज् ज्ञानमिति सम्प्रतिपन्नाः। नन्वेवमप्यव्यापकं लक्षणम् आत्मसुखादिविषयज्ञानस्याप्रत्यक्षफलत्वात् तच्च मनसोऽनिन्द्रियत्वात् अनिन्द्रियत्वं तु मनस इन्द्रियसूत्रे अपरिपठितत्वात् प्रत्यक्षफलता च तद्विषयज्ञानस्याभ्युपगम्यते, असदेतत्; मनस इन्द्रियधर्मोपेतत्वेनेन्द्रियत्वात् अधिगतानधिगतविषयग्राहकत्वमिन्द्रियधर्मः स च मनसि विद्यत एव, तेनेन्द्रियधर्मोपेतस्य सर्वस्यैव प्रत्यक्षसूत्रे इन्द्रियग्रहणेनावरोधः। ततः प्रत्यक्षसूत्र एवेन्द्रियत्वं मनसः सिद्धम् तत्सिद्धौ च नाव्याप्तिर्लक्षणदोषः। इन्द्रियसूत्रे च मनसोऽपाठः तत्सूत्रस्य नानात्वे इन्द्रियाणां लक्षणपरत्वात् सूत्रशब्देन हि जात्यपेक्षया सूत्रसमूह एवोच्यते तेन लक्षणसूत्रसमूहोद्देशार्थं तत्सूत्रम्। तथा च जिघ्रत्यनेनेति घ्राणं भूतं गन्धोपलब्धौ कारणम् 'घ्राणम्' इत्यभिधीयमाने सन्निकर्षे प्रसङ्गः तन्निवृत्त्यर्थं 'भूतम्' इति भूतस्वभावत्वं विशेषणम्। एवं चष्टे अनेनेति चक्षुः रूपोपलब्धौ कारणम् सन्निकर्षे प्रसङ्गस्तन्निवृत्त्यर्थं भूतग्रहणं सम्बन्धनीयम् प्रदीपे प्रसङ्गस्तन्निवृत्त्यर्थमिन्द्रियाणामिति वाच्यम् एवं त्वगादिष्वपि योज्यम्। एवं च सूत्रपञ्चकमेतल्लक्षणार्थं प्रत्येकमिन्द्रियाणां न पुनर्विभागार्थम् आदिसूत्रोद्दिष्टस्य भेदवतो विभागाभ्युपगमात् विभक्तविभागे चानवस्था विभागार्थं वा बाह्यानामित्यध्याहारः कार्यः स्वलक्षणसामर्थ्यात्। मनसस्तु तदनन्तरं लक्षणानुपदेशो वैधर्म्यात् तच्च तस्याभूतस्वाभाव्यात् भूतस्वाभाव्येनेन्द्रियाणि व्यवच्छिद्यन्ते "भूतेभ्यः" [न्यायद० १-१-१२] इति वचनात् न तु मनस एतल्लक्षणमस्ति अत एव सर्वविषयत्वं मनसः न त्विन्द्रियाणि बाह्यानि सर्वविषयाणि तन्त्रयुक्त्या वा मनसोऽनभिधानम् परमतमप्रतिषिद्धमनुमतमिति हि तन्त्रयुक्तिः। न चैवं घ्राणादीनामप्यनभिधानं प्रसज्यते घ्राणादेरप्यनभिधाने स्वमतस्यैवाभावात् परमतमिति व्यपदेशासंभवात्। अस्ति च "युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्" [न्यायद० १-१-१६] इति वचनात् मनसोऽभिधानमिन्द्रियत्वेन इन्द्रियानन्तरं त्वनभिधानं वैधर्म्यादित्युक्तम्। तन्नाव्याप्तिदोष इति स्थितम्।

प्रमाणम्। यदि भावसाधनः प्रमाणशब्दः किं फलम् विषयस्याधिगतत्वात्। उक्तं फलं हानादिबुद्धय इति। ज्ञाते तद्भावात् ज्ञाते खल्वर्थे त्रिधा बुद्धिर्भवति हेयो वा उपादेयो वा उपेक्षणीयो वेति। केचित् तु सन्निकर्षमेव प्रत्यक्षं वर्णयन्ति न तन्यायं प्रमाणाभावात्–सन्निकर्ष एव प्रमाणमिति न प्रमाणमस्ति। उभयं तु युक्तं परिच्छेदकत्वात्–उभयं परिच्छेदकम्–सन्निकर्षो ज्ञानं च। एकान्तवादिनस्तु दोष इति"—न्यायवा० पृ० २९ पं० १–। न्यायवा० ता० टी० पृ० १०२ पं० ८–पृ० १०५ पं० ११।

"तस्मात् सुष्ठूक्तं यदा ज्ञानं प्रमाणं तदा हानादिबुद्धयः फलमिति। तदेवं फलविशेषणपक्षे 'यत.' शब्दाध्याहारेण धाचकं सूत्रम् यत इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नत्वादिविशेषणविशेषितं ज्ञानाख्यं फलं भवति तत् प्रत्यक्षमिति"—न्यायमञ्ज० आ० २ पृ० ७२ पं० ४–।

१–ध्यक्ष फ–वा० बा० विना। २ सर्वस्यैव भां० मां०। ३–नाविरोधः ल० वा० बा० भा० हा० वि०। ४–वत्वं च वि–वृ०। ५–भागे वा–वृ०। ६ "मनस"—वृ० ल० टि०। ७ "घ्राण–रसन–चक्षुस्–त्वक्–श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः" इति सूत्रम्। न्यायवा० पृ० ६९–। न्यायवा० ता० टी० पृ० २२१–। न्यायमञ्ज० आ० ८ पृ० ४७६–। ८ प्र० पृ० पं० १९। ९ "आत्मादिषु सुखादिषु च प्रत्यक्षलक्षणं वक्तव्यम् अनिन्द्रियार्थसन्निकर्षजं हि तदिति इन्द्रियस्य वै सतो मनस इन्द्रियेभ्यः पृथगुपदेशो धर्मभेदात् भौतिकानीन्द्रियाणि नियतविषयाणि सगुणानां चैषामिन्द्रियभाव इति, मनस्त्वभौतिकं सर्वविषयं च नास्य सगुणस्येन्द्रियभाव इति। सति चेन्द्रियार्थसन्निकर्षे सन्निधिमसन्निधिं चास्य युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिकारणं वक्ष्यामः (अ० १ आ० १ सू० १६) इति। मनसश्चेन्द्रियभावात् न वाच्यं लक्षणान्तरमिति। तन्त्रान्तरसमाचाराच्चैतत् प्रत्येतव्यमिति। परमतमप्रतिषिद्धमनुमतमिति हि तन्त्रयुक्तिः"—वात्स्या० भा० पृ० २१ पं० १४–।

"इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमित्येवमादिलक्षणमात्मादिषु सुखादिषु च नास्ति मनसोऽनिन्द्रियत्वादव्यापकमेतत् प्रत्यक्षलक्षणमिति। कथं पुनरिन्द्रियं मनो न भवति? इन्द्रियसूत्रेऽपठितत्वात्। परिपठितानि घ्राणादीनीन्द्रियाणि। न च तेषु मनः

पठितम् । तस्मान्मनो नेन्द्रियम् । पृथक् चानभिधानान्नास्ति मनस इन्द्रियत्वे प्रमाणं ततश्च नेन्द्रियं मनः । न चैवं प्रत्यक्षाः सुखादयो भविष्यन्तीति । प्रत्यक्षाश्चैते नानुमानिकाः लिङ्गाभावात् । न हि लिङ्गमन्तरेणानुमेयार्थो गम्यते । नाप्यन्यत् प्रमाणं प्रतिपादकमस्ति सुखादीनाम् । न च तेषामनुमेयत्वम् । न चान्या गतिरस्ति । तस्मात् कर्तव्यं सुखादीनां प्रत्यक्षेण ग्रहणोपसंख्यानमिति । कश्चैवमाह न प्रत्यक्षाः सुखादय इति ? इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यप्रत्यक्षवाद्याह । नैष दोषः । मनस इन्द्रियत्वादिन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं सुखादिज्ञानमिति । यत्तु सूत्रेऽनभिधानं तद्वैधर्म्यात् । किं तद्वैधर्म्यं ? सर्वविषयत्वासर्वविषयत्वे । सर्वविषयं मनोऽसर्वविषयाणीतराणि । सर्वविषयं तु मनः स्मृतिकारणसंयोगाधारत्वात् आत्मवत् सुखग्राहकसंयोगाधिकरणत्वात् समस्तेन्द्रियाधिष्ठातृत्वाच्च आत्मवत् । भौतिकाभौतिकत्वं तु न, विरोधात् । न हि भौतिकं मनो नाप्यभौतिकमिति । कार्यधर्मावेतौ भौतिकत्वमभौतिकत्वं च । न च कार्यं मनः । तस्माच्च भौतिकं नाप्यभौतिकमिति । श्रोत्रे चासम्भवः यदि भौतिकत्वाभौतिकत्वलक्षणाद् वैधर्म्यादपरिपाठः सूत्रे मनसः, श्रोत्रमपि सूत्रे न पठितव्यं तर्हि, न हि श्रोत्रं भौतिकं नाप्यभौतिकमिति । स्वार्थे प्रत्ययविधानमिति चेत् । न । प्रत्ययवैयर्थ्यात् । स्यादेषा बुद्धिः स्वार्थिक एष प्रत्ययो भूतमेव भौतिकमिति । तच्च न । प्रत्ययवैयर्थ्यात् । न हि भौतिकमित्यनेन कश्चित्तद्धितार्थो लभ्यते । तस्माद् व्यर्थमेतत् स्वार्थे प्रत्ययविधानमिति । यत्पुनरेतत् पृथगभिधानं नास्तीति । न नास्ति युगपज्ज्ञानानुपपत्तेरिति । युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गमित्युच्यते । तेन च प्रतिपादितमेतन्मनसः करणत्वमिति सगुणानामिन्द्रियभावो वैधर्म्यमित्येतदप्ययुक्तम् । श्रोत्रानभिधानप्रसङ्गादेव । तस्मात् सर्वविषयत्वासर्वविषयत्वमेव वैधर्म्यमित्येतदेव ज्यायः । तन्त्रान्तरसमाचाराच्च । तन्त्रान्तरे मन इन्द्रियमिति पठ्यते । तच्चेह न प्रतिषिध्यते । अप्रतिषेधादुपात्तं तदिति च । शेषाभिधानवैयर्थ्यात् । शेषाण्यपीन्द्रियाणि तैः परिपठितानि तस्मात् तान्यपि न वक्तव्यानि यद्यप्रतिषेधादुपादानं स्यादिति । न । तन्त्रयुक्त्यनवबोधात् । न भवता तन्त्रयुक्तिः परिज्ञायते । परमतमप्रतिषिद्धमनुमतमिति हि तन्त्रयुक्तिः । न च यस्य स्वमतपरिग्रहो नास्ति तस्य स्वमतं परमतं वा भिद्यते । भवता च परमतानुरोधेन सर्वं स्वमतं निवार्यत इति । तन्निवारणात् स्वमतं परमतमित्येतदेव न स्यात् । तस्मादस्ति मन इन्द्रियं चेति । तदुपपन्नमिन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं सुखादिज्ञानमिति व्यापकं लक्षणम्"—न्या.वा० पृ० १८ पं० १–।

"अव्यापकत्वेन लक्षणाक्षेपपरं भाष्यमात्मादिष्वित्यादि, तद्व्याचष्टे । इन्द्रियार्थेति । दर्शयति । कथं पुनरिति । परिहरति । इन्द्रियेति । मा भूदिन्द्रियसूत्रे पाठः, तदि बाह्येन्द्रियलक्षणमान्तरं च मन इत्यत आह । पृथक् चेति । न च सुखादौ प्रमाणान्तरमस्ति, तस्मात् पारिशेष्यात् सिद्धं प्रत्यक्षत्वमित्याह । प्रत्यक्षाश्चेति । ननु नैते प्रमेयाः, स्वसंवेदनसिद्धत्वात्, तत् किमत्र प्रमेयार्थेन प्रमाणेनेत्यत आह । न च तेषामिति । नन्वुक्तं स्वसंवेदनतया न प्रमाकर्मभाव एषामित्यत आह । न चान्या गतिरिति । संवेदनत्वेन हि तेषां स्वसंवेदनता न चैते संवेदनमित्युक्तमधस्तादिति भावः । आक्षेपमुपसंहरति । तस्मादिति । भाष्ये चात्मादिषु सुखादिष्विति नित्यानित्याभिप्रायं वर्गद्वयमात्मसुखदुःखादयो नित्या अनित्याश्च सुखदुःखादय इति । तदिदमुक्तं दिग्नागेन ।

'न सुखादिप्रमेयं वा मनो वाऽस्तीन्द्रियान्तरम् ।'

इति न तत् सम्भवति । घ्राणादिसूत्रेण विभागपरेण निषेधादिति भावः ।

समाधिभाष्यमिन्द्रियस्य वै सत इति । तद्व्याचिख्यासुर्गूढाभिप्रायः पृच्छति । कथैवमिति । आक्षेप्तुरुत्तरमिन्द्रियार्थेति । समाधाता आह । नैष दोष इति । आक्षेप्तुराशयबीजमुद्भाव्य दूषयति । यत्तु सूत्र इति । नेदं विभागपरं घ्राणादिसूत्रमपि तु लक्षणपरं, तत्र चेन्द्रियमपि मनो न लक्षितं वैधर्म्यादित्यर्थः । वैधर्म्यमाह । वैधर्म्यमिति । तत्र प्रमाणयति । सर्वविषयमिति । वैधर्म्यान्तरं दूषयति । भौतिकेति । कार्यस्य हि विशेषौ भौतिकत्वाभौतिकत्वे, भूतकार्यं भौतिकं यद् भूतकार्यं न भवति तद् भौतिकं न भवति । भूतकार्यत्वप्रतिषेधश्च तदन्यकार्यत्वं गमयति । विशेषनिषेधस्य शेषाभ्यनुज्ञानहेतुत्वात् । इतरथा अकार्यमेवोच्येत न त्वभौतिकम् । तस्मादकार्यस्य मनसोऽभौतिकत्वं कार्यधर्मो विरुद्धमित्यर्थः । अपि च वैधर्म्यान्मनोवत् श्रोत्रमपि न वक्तव्यमित्याह । श्रोत्रे चेति । शङ्कते । स्वार्थ इति । भूतानि हि घ्राणादीनि श्रोत्रान्तानि मनस्तु न भूतमिति वैधर्म्यमित्यर्थः । निराकरोति । तच्च नेति । दर्शयिष्यति हि वार्तिककारो यथा स्वार्थिको न कश्चिदपि प्रत्यय इत्यर्थः । आक्षेपहेतुमनुभाषते । यत्पुनरिति । दूषयति । तन्नास्तीति । तदनेन सति चेन्द्रियार्थसन्निकर्षे इत्यादि भाष्यं व्याख्यातम् । यच्चापरं वैधर्म्यं घ्राणादिभ्यो मनस उक्तं भाष्यकारेण तत्सिंहावलोकितेन दूषयति । सगुणानामिति । घ्राणादीनि यथा स्वस्वगुणेन गन्धादिना बाह्यं गन्धादि बोधयन्ति नैवं स्वगुणेन शब्देन श्रोत्रं बाह्यं शब्दं बोधयति, तन्मनोवत् श्रोत्रमपि घ्राणादिसूत्रे न पठितव्यमित्यर्थः । भाष्योक्तेषु मध्येऽभिमतं वैधर्म्यमुपसंहरति । तस्मादिति । भूतत्वाभूतत्वलक्षणं वैधर्म्यं न भौतिकत्वाभौतिकत्वग्रहणेन शक्यमित्यवधारणाभिप्रायः । ननु युगपज्ज्ञानानुत्पत्तेर्ज्ञानकारणं मनोऽस्तीत्यवगम्यते न पुनरस्येन्द्रियत्वमपि, तद्भावानवगमे च नेन्द्रियार्थसन्निकर्षजं सुखादिज्ञानं शक्यं वक्तुमित्यत आह । तन्त्रान्तरेति । तन्त्र्यते व्युत्पाद्यते अनेन तत्त्वमिति तन्त्रं शास्त्रम् । तदनेन मनसश्चेत्यादि भाष्यं व्याख्यातम्, यद् दूषितं दिग्नागेन ।

[नैयायिकैर्विन्ध्यवासीयप्रत्यक्षलक्षणस्य निराकरणम्]

"श्रोत्रादिवृत्तिरविकल्पिका"[ ] इति विन्ध्यवासिप्रत्यक्षलक्षणमनेनैव निरस्तम्। यथा ह्यविकल्पिका शाक्यदृष्टयाऽध्यक्षमतिः प्रमाणं न भवति तथा विन्ध्यवासिपरिकल्पिताऽपि सा

'अनिषेधादुपात्तं चेदन्येन्द्रियरुतं वृथा ।'

तद् दूषयितुमुपन्यस्यति । न शेषेति । तद् दूषयति । न तन्त्रयुक्तीति । सर्वस्य तन्त्रान्तरे लोके च सिद्धत्वादवक्तव्यतायां स्वमतमपि नास्ति । वचनलिङ्गं हि मतज्ञानं न चाननुमते निषेधमात्रं शक्यं कर्त्तुमभावस्य भावनिरूपणाधीननिरूपणत्वादिति भावः । सिद्धमर्थमुपसंहरति । तस्मादिति । प्रकृतमुपसहरति । तदिति"—न्यायवा० ता० टी० पृ० १४६ पं० १—।

१ साङ्ख्यकारिकाप्रमुखेदानींतनोपलभ्यमानसाङ्ख्यदर्शनग्रन्थेषु प्रत्यक्षलक्षणमित्थं दर्शितमस्ति—

"प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम्"—साङ्ख्यका० ५।

"विषयं विषयं प्रति योऽध्यवसायो नेत्रादीनामिन्द्रियाणां पञ्चानां रूपादिषु पञ्चसु तत् प्रत्यक्षं प्रतिपत्तिरूपं दृष्टाख्यम्"—माठर० पृ० १२ पं० १०–।

"××× विषयं विषयं प्रति वर्तते इति प्रतिविषयम् । वृत्तिश्च सन्निकर्षः । अर्थसन्निकृष्टमिन्द्रियमित्यर्थः । तस्मिन् अध्यवसायः तदाश्रित इत्यर्थः । अध्यवसायश्च बुद्धिव्यापारो ज्ञानम् उपात्तविषयाणामिन्द्रियाणां वृत्तौ सत्यां बुद्धेस्तमोऽभिभवे सति यः सत्त्वसमुद्रेकः सोऽध्यवसाय इति वृत्तिरिति ज्ञानमिति चाख्यायते । इदं तत् प्रमाणम्—साङ्ख्य० कौ० पृ० २४ पं० ११—।

"यत् संबद्धं सत् तदाकारोल्लेखि विज्ञानं तत् प्रत्यक्षम्"—साङ्ख्यद० १–८९।

"संबद्धं भवत् संबद्धवस्त्वाकारधारि भवति यद् विज्ञानं बुद्धिवृत्तिस्तत् प्रत्यक्षं प्रमाणमित्यर्थः"—साङ्ख्यप्र० भा० पृ० ६५ पं० १६–।

"तत्र प्रत्यक्षं तावत् श्रोत्रादिपञ्चकं लोकोचितशब्दादिगुणग्राहकम्"—साङ्ख्यस० साङ्ख्यतत्त्ववि० पृ० २७ पं० ५।

यद्यपि टीकाकृन्निर्दिष्टमिदं साङ्ख्यसंमतं प्रत्यक्षलक्षणं पूर्वनिर्दिष्टसाङ्ख्यग्रन्थेषु न क्वाप्युपलभ्यते तथाप्यन्ये समालोचकाष्टीकाकृन्निर्दिष्टं 'श्रोत्रादिवृत्तिरविकल्पिका' इति शब्दानुपूर्वमिवाऽविकलतया विकलतया वोद्धृत्यैतल्लक्षणं समालोचितवन्तः । तद्यथा—

"तथा, श्रोत्रादिवृत्तिरविकल्पिका एतदपि प्रत्युक्तम्"—इत्यादि तत्त्वोप० लि० पृ० ७७ पं० १०–पृ० ८१ पं० ५।

"तथा, श्रोत्रादिवृत्तिरिति । किं कारणम् ? पञ्चपदपरिग्रहेण प्रत्यक्षलक्षणमुक्तं यत्रान्यतरपदपरिग्रहो नास्ति तत् प्रत्यक्षाभासमिति"—न्यायवा० पृ० ४३ पं० १०–।

"वार्षगण्यस्यापि लक्षणमयुक्तमित्याह—श्रोत्रादिवृत्तिरिति । पञ्चानां खल्विन्द्रियाणामर्थाकारेण परिणतानामालोचनमात्रं वृत्तिरिष्यते, सा च संशयादिव्यापकत्वादलक्षणमिति"—न्यायवा० ता० टी० पृ० १५५ पं० १९–।

"श्रोत्रादिवृत्तिरपरैरविकल्पिकेति प्रत्यक्षलक्षणमवर्णि तदप्यपास्तम् ।
साम्यान्न यस्य न च सिध्यति बुद्धिवृत्त्या प्रधानमात्मन इति प्रतिपादितं प्राक्" ॥
—न्यायमञ्ज० आ० २ पृ० १०० पं० १३–।

"ईश्वरकृष्णस्तु प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टमिति प्रत्यक्षलक्षणमवोचत् । तदपि न मनोज्ञम् । अनुमानादिज्ञानानामपि विषयाध्यवसायस्वभावत्वेनातिव्याप्तेः । यत्तु राजा व्याख्यातवान् प्रतिराभिमुख्ये वर्तते तेनाभिमुख्येन विषयाध्यवसायः प्रत्यक्षमिति तदपि अनुमानादावस्त्येव" इत्यादि—न्यायमञ्ज० आ० २ पृ० १०९ पं० ४–१४।

"श्रोत्रादिवृत्तिरध्यक्षमित्यप्येतेन चिन्तितम् । तस्या विचार्यमाणाया विरोधश्च प्रमाणतः" ॥ ३६ ॥ × × ×

"न च प्रमाणतो विचार्यमाणा श्रोत्रादिवृत्तिः साङ्ख्यानां युज्यते" इत्यादि—तत्त्वार्थश्लो० वा० पृ० १८७ पं० २६–३२।

"एतेनेन्द्रियवृत्तिः प्रमाणमित्यभिदधानः साङ्ख्यः प्रत्याख्यातः" इत्यादि—प्रमेयक० पृ० ६ प्र० पं० ७–१४।

"तथाहि–श्रोत्रादिवृत्तिः प्रत्यक्षमिति साङ्ख्याः प्रत्यक्षलक्षणमाचक्षते" इत्यादि—स्याद्वादर० पृ० ३४३ पं० १–४ आ०।

"श्रोत्रादिवृत्तिरविकल्पिका प्रत्यक्षमिति वृद्धसाङ्ख्याः" ××× "प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्ट(ष्टम्) इति प्रत्यक्षलक्षणमितीश्वरकृष्णः" इत्यादि—प्रमाणमी० पृ० ३९ पं० ७–१७।

२ "आचार्येण कुमारिलेन शान्तरक्षितेन कमलशीलेन हरिभद्रेण च स्वस्वग्रन्थे विन्ध्यवासिनो नाम निर्दिष्टम् । तद्यथा—

"संदिह्यमानसद्भावचक्षुर्बोधात् प्रमाणता । विशेषदृष्टमेतच्च लिखितं विन्ध्यवासिना" ॥—श्लो० वा० अनु० श्लो० १४३ पृ० ३९३ । तत्त्वसं० का० १४४५ पृ० ४२२ ।

प्रमाणं न युक्ता। न च सांख्यदर्शनकल्पितस्य श्रोत्रादेः पदार्थस्य सिद्धिः सत्कार्यवादसिद्धौ तत्पदार्थव्यवस्थितेः तस्य च निषिद्धत्वात्। किञ्च, श्रोत्रादीनां वृत्तिस्तेभ्यो यद्यव्यतिरिक्ता तदा श्रोत्रादिकमेव तच्च सुप्तमत्ताद्यवस्थास्वपि विद्यत इति तदाप्यध्यक्षप्रमाणप्रसक्तिरिति सुप्तादिव्यवहारोच्छेदः। अथ व्यतिरिक्ता तेभ्यो वृत्तिस्तदा वक्तव्यम् किमसौ तेषां धर्ममात्रम् आहोस्विदर्थान्तरम्? यद्याद्यः पक्षस्तदा वृत्तेस्तैः सम्बन्धो वक्तव्यः यदि तादात्म्यं तदा श्रोत्रादिमात्रमेवासाविति पूर्वोक्तो दोषः। अथ समवायस्तदाऽयुतसिद्धिप्रसक्तिरिति व्यापिश्रोत्रादिसद्भावे सति नियतदेशा वृत्तिरभिव्यज्यत इति प्लवते। अथ संयोगस्तदार्थान्तरप्रसक्तिरिति न तद्धर्मो वृत्तिर्भवेत्। अथार्थान्तरं वृत्तिस्तदा नासौ वृत्तिः अर्थान्तरत्वात् पटादिवत्। अथार्थान्तरत्वेऽपि प्रतिनियतविशेषसद्भावात् तेषामसौ वृत्तिः; नन्वसौ विशेषो यदि श्रोत्रादिविषयप्राप्तिस्वरूपस्तदेन्द्रियार्थसन्निकर्षोऽभिधानान्तरेण प्रतिपादितो भवेत्। स च यद्यव्यभिचारादिविशेषणविशिष्टार्थोपलब्धिजनकः प्रत्यक्षं प्रमाणमभिधीयते तदा असत्पक्ष एव समाश्रितो भवेत्। अथ तथाभूतोपलब्ध्यजनकः न तर्हि प्रमाणमसाधकतमत्वात्। अथार्थाकारपरिणतिः श्रोत्रादीनां वृत्तिस्तदापि वक्तव्यम्-किमसौ परिणतिः श्रोत्रादिस्वभावा, उत धर्मः, आहोस्विदर्थान्तरमिति? पक्षत्रयेऽपि च पूर्ववद्दोषाभिधानं विधेयम्। न च श्रोत्रादीनां विषयाकारपरिणतिः परपक्षे संभविनी परिणामस्य व्यतिरिक्तस्याव्यतिरिक्तस्य चासंभवादिति प्रतिपादितत्वात्। प्रतिनियताध्यवसायस्तु श्रोत्रादिसमुत्थोऽध्यक्षफलम् न पुनरध्यक्षं प्रमाणमसाधकतमत्वात्। विशिष्टोपलब्धिनिर्वर्तकत्वेनाध्यक्षत्वेऽस्मन्मतमेव समाश्रितं भवेत्। तन्न सांख्यमतानुसारिपरिकल्पितमप्यध्यक्षलक्षणमुपपन्नम्।

[नैयायिकैर्जैमिनीयसूत्रोक्तप्रत्यक्षलक्षणस्य निरासः]

जैमिनिपरिकल्पितमपि प्रत्यक्षलक्षणम् "सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत् प्रत्यक्षम्" [मीमांसाद० १-१-४] इति संशयादिषु समानत्वात् वार्तिककारप्रभृतिभिर्निरस्तमेव। यैरपि—

"एतच्च यथोक्तं प्रत्यक्षदृष्टसम्बन्धमनुमानं विशेषतोदृष्टमनुमानमित्येवं विन्ध्यवासिना गदितम्"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ४२३ पं० २२। "सारूप्यं सादृश्यं विन्ध्यवासीष्टम्"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ६३६ पं० ७।

"यदेव दधि तत् क्षीरं यत् क्षीरं तद्दधीति च। वदता रुद्रिलेनैव ख्यापिता विन्ध्यवासिता"॥

—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० २२ पं० २६।

"देहभोगेन नैवास्य भावतो भोग इष्यते। प्रतिबिम्बोदयात् किन्तु यथोक्तं पूर्वसूरिभिः"—शास्त्रवा० स्त० ३, श्लो० २७।

"पूर्वसूरिभिः विन्ध्यवास्यादिभिः"—शास्त्रवा० स्याद्वादक० पृ० १०९ प्र० पं० ८। आचार्यहेमचन्द्र-यादवप्रकाशौ तेनं 'व्याडि' इति नाम्नापि प्रत्यभिज्ञापयतः—

"अथ व्याडिर्विन्ध्यवासी नन्दिनीतनयश्च सः"—अभिधान० ३, श्लो० ५१६। "विन्ध्ये वसति विन्ध्यवासी"—अभिधान० टी०।

"अथ व्यालिर्विन्ध्यवासी नन्दिनीनन्दनोऽपि च"—वैजय० श्लो० १५८ पृ० ९६।

१ पृ० २९६ पं० ८। २ इदं विन्ध्यवासिप्रणीतप्रत्यक्षलक्षणनिराकरणं शब्दशः प्रमेयकमलमार्तण्डे वर्तते—पृ० ६ प्र० पं० ७-१४। तदेव चाक्षतः साम्येन स्याद्वादरत्नाकरेऽपि दृश्यते—पृ० ७३ पं० ४ आ०। ३ "श्रोत्रादिभिः सह"—भू० लं० टि०। ४ प्र० पृ० पं० २। ५-पातिश्रो-वृ० बा० बा० आ० हा० वि०।-णतश्रो-लं०। ६ प्र० पृ० पं० ३-४। ७ पृ० २९७ पं० २-३०।

८ "सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत् प्रत्यक्षम् अनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात्" इति सूत्रम्। सोपपत्तिकमेतत् मीमांसाश्लोकवार्तिकादितोऽवगन्तव्यम्—श्लो० वा० पृ० १३३-२०७ श्लो० १-२५४। शास्त्रदीपिका पृ० ३५ पं० १६-पृ० ४३ पं० ११।

९ "तथा, सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत् प्रत्यक्षम् तदपि प्रत्युक्तम्" इत्यादि—तत्त्वोप० लि० पृ० ७३ पं० १४-पृ० ७७ पं० ९।

"सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत् प्रत्यक्षमिति एतदपि संशयाद्युत्पत्तिनिमित्तत्वादलक्षणमिति। तथा चोक्तं प्रत्यक्षसूत्रं वर्णयद्भिरिति"—न्यायवा० पृ० ४३ पं० ६-। "जैमिनिप्रत्यक्षलक्षणं दूषयति-सत्संप्रयोग-इति" इत्यादि—न्यायवा० ता० टी० पृ० १५५ पं० ९-११।

"सम्यगर्थे च संशब्दो दुष्प्रयोगनिवारणः"। [श्लो० वा० सू० ४ प्रत्यक्ष० श्लो० ३८]

इत्यादिना तल्लक्षणं व्याख्यातम् तेषामपि प्रयोगस्यातीन्द्रियत्वात् सम्यक्त्वं न विशिष्टफलमन्तरेण ज्ञातुं शक्यम् फलविशेषणत्वेन च न किञ्चित् पदं श्रूयत इति न कार्यद्वारेणापि तत्सम्यक्त्वावगतिः। बुद्धिजन्मनः प्रमाणत्वं तु न सम्भवत्येव बुद्धेर्ज्ञातृव्यापारलक्षणायाः पूर्वमेव प्रमाणत्वनिषेधात्। यैस्तु "नेदं प्रत्यक्षलक्षणविधानं किन्तु लोकप्रसिद्धप्रत्यक्षानुवादेन प्रत्यक्षस्य धर्मं प्रत्यनिमित्तत्वविधानम्"[3] [ ] इति व्याख्यातं तैरपि वाच्यम् कतरस्य प्रत्यक्षस्य धर्मं प्रत्यनिमित्तत्वं विधीयते?[4]

"सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत् प्रत्यक्षम्" इत्यादिना जयन्तकृतं जैमिनिप्रत्यक्षलक्षणसमालोचनमत्रत्यया सर्वथा चर्चया समानप्रायं वर्तते—न्यायमञ्ज० आ० २ पृ० १०० पं० १७–पृ० १०८ पं० २५।

तदेव च तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक–स्याद्वादरत्नाकर–प्रमाणमीमांसादितोऽपि क्रमेण समवगन्तव्यम्–पृ० १८७ श्लो० ३७। पृ० ३४१ पं० ११–पृ० ३४२ पं० २५ आ०। १–१–२० पृ० ३७ पं० १६–पृ० ३९ पं० ७।

१ श्लोकवार्तिके "प्रयोग इन्द्रियाणां च व्यापारोऽर्थेषु कथ्यते"–इत्युत्तरार्धम्।

"सम्यगर्थे च संशब्दो दुष्प्रयोगनिवारणः। दुष्टत्वाच्छुक्तिकायोगो वार्यतामक्षजेक्षणात्"—न्यायमञ्ज० आ० २ पृ० १०१ पं० ३।

"वार्यते रजतेक्षणात्"—स्याद्वादर० पृ० ३४२ पं० ६ आ०, प्रमाणमी० पृ० ३८ पं० ११।

२ पृ० २० पं० १। प्रमेयक० पृ० ६ प्र० पं० १५—पृ० ७ द्वि० पं० १४।

३ पृ० ४८ पं० १७–। "भवदासेनैतत् सूत्रं द्विधा कृत्वा सत्संप्रयोगे इत्येवमादि तत् प्रत्यक्षमित्येवमन्तं प्रत्यक्षलक्षणपरम् अनिमित्तमित्यादि च तस्य धर्मं प्रत्यनिमित्तत्वपरं व्याख्यातम् तदुपन्यस्य दूषयति"—श्लो० वा० पार्थसा० पृ० १३३ पं० १५–पृ० १३४ पं० ९। "अत्र भाष्यकारेणैतत् सूत्रं सकलमेव प्रत्यक्षस्यानिमित्तत्वकथनपरत्वेन व्याख्यातम्, वृत्त्यन्तरे तु सत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत् प्रत्यक्षमित्येतावत् प्रत्यक्षलक्षणपरत्वेन व्याख्यातम् अवशिष्टं तु तस्य धर्मं प्रत्यनिमित्तत्वेन। तदस्य लक्षणपरत्वे परोद्भावितं दूषणमनूद्य परिहरति"—शास्त्रदीपिका युक्तिस्नेहप्रपूरणीसिद्धान्त० पृ० ३५ पं० ३६–। गं० श्लो० वा० पृ० ६९ टि० १२।

४ "कतरस्य प्रत्यक्षस्य धर्मं प्रत्यनिमित्तत्वं प्रतिपाद्यते किमस्मदादिप्रत्यक्षस्य योगिप्रत्यक्षस्य वा। तत्रास्मदादिप्रत्यक्षस्य तथात्वे सर्वेषामविवाद एवेति किं तन्नियता श्रमेण। योगिप्रत्यक्षस्य तु भवतामसिद्धत्वात् कस्य धर्मं प्रत्यनिमित्तत्वप्रतिपादनम्।

एवं च धर्मिणोऽभावादाश्रयासिद्धता स्पृशेत्। विद्यमानोपलम्भत्वप्रत्यक्षत्वादिसाधनम्॥

परप्रसिद्ध्या तत्सिद्धिरिति चेत्केयं प्रसिद्धिर्नाम। प्रमाणमूला तद्विपरीता वा। आद्ये पक्षे प्रमाणस्यापक्षपातित्वात् परस्येव तवापि तत्सिद्धिर्भवतु। अप्रमाणमूलत्वे तु न कस्यचिदप्यसौ प्रसिद्धिः।

योगिज्ञानं परेषां यत्सिद्धं तदनुभाषणे। प्रतिज्ञापदयोरेव व्याघातस्ते प्रसज्यते॥

परैर्हि धर्मग्राहि योगिज्ञानमभ्युपगतम् अतस्तदनुभाषणे धर्मग्राहकं न धर्मग्राहकमिति उक्तं स्यात्।

परसंसिद्धमूलं च नानुमानं प्रकल्पते। उक्तं भवद्भिरेवेदं निरालम्बनदूषणम्॥

साध्यसिद्धिर्यथा नास्ति परसिद्धेन हेतुना। तथैव धर्मिसिद्धत्वं परसिद्ध्या न युज्यते॥

तत्रैतत्स्यात् प्रसङ्गसाधनमिदं प्रसङ्गश्च नाम परप्रसिद्धेन परस्यानिष्टापादनमुच्यते। परस्य च विद्यमानोपलम्भनं सत्सम्प्रयोगजन्यं च प्रत्यक्षं प्रसिद्धम्। अतस्तेनैव धर्मेण हेतुना धर्मानिमित्तत्वं तस्योपपद्यते इति को दोषः। नैतदेवम्।

प्रसङ्गसाधनं नाम नास्त्येव परमार्थतः। तद्धि कुड्यं विना तत्र चित्रकर्मेव लक्ष्यते॥

न हि नभःकुसुमस्य सौरभासौरभविचारो युक्तः। अथापि किं न एतेन भवत्विदं प्रसङ्गसाधनम्।

तदत्रापि न तु व्याप्तिप्रतीतिरिह मादृशाम्। न धर्मग्राहि सर्वेषां प्रत्यक्षमिति वेत्ति कः॥

मत्प्रत्यक्षमक्षमं धर्मग्रहणे इति भवाञ्च जानीते त्वत्प्रत्यक्षमपि न धर्मग्राहीति नाहं जाने अन्यस्य प्रत्यक्षमीदृशमेवेत्युभावप्यावां न जानीवहे।

त्वया तु यदि सर्वेषां प्रत्यक्षं ज्ञातमीदृशम्। तर्हि त्वमेव योगीति योगिनो द्वेक्षि किं वृथा॥

प्रामाणिकस्थितिं तस्मादित्थं श्रोत्रिय! बुध्यसे। परोक्तेऽतीन्द्रिये ह्यर्थे मा वादीर्दूषणं पुनः॥

प्रमाणसिद्धे हतशक्तिदूषणं प्रमाणशून्येऽपि वृथा तदुद्यमः।

तिरस्य चोद्यव्यसनं तु मृग्यतामतीन्द्रिये वस्तुनि साधनं पुनः॥

स चेत् पर्यनुयुक्तः सन् वक्तुं शक्नोति साधनम्।

ओमिति प्रतिपत्तव्यं नो चेन्नास्त्येव तस्य तत्"—न्यायमञ्ज० आ० २ पृ० १०२ पं० ८–।

किमस्मदादिप्रत्यक्षस्य, उत योगिप्रत्यक्षस्येति? तत्र यद्याद्यः पक्षः स न युक्तः सिद्धसाध्यताप्रसक्तेः। द्वितीयपक्षोऽप्ययुक्तः योगिप्रत्यक्षस्य स्वमतेनासिद्धत्वात्। न चासिद्धस्यानिमित्तत्वविधानम् अन्यथा खरविषाणादेरपि तं प्रत्यनिमित्तत्वविधिर्भवेत्। न च योगिप्रत्यक्षं परेणाभ्युपगतमिति तं प्रति तस्य तदनिमित्तत्वं साध्यत इति वक्तव्यम् यतो यदि प्रमाणतस्तत् तेनाभ्युपगतं तदा प्रमाणप्रसिद्धस्य भवतोऽपि प्रसिद्धत्वात् कथं तस्य तदनिमित्तत्वं साध्येत तन्निमित्ततयैव योगिप्रत्यक्षस्य प्रमाणप्रसिद्धत्वात्? अथाप्रमाणतस्तत् तेनाभ्युपगतं तदा प्रमाणाभावादेव नासावभ्युपगम इति कथं ततस्तस्य-तदनिमित्तत्वसिद्धिः? अत एवातीन्द्रियं वस्त्वनङ्गीकुर्वता परप्रतिपन्ने वस्तुन्यतीन्द्रियेऽसौ प्रमाणं प्रष्टव्यः—स चेत् तत् तत्र ब्रूते तदा तद्वस्त्वङ्गीकर्तव्यम्। अथ न ब्रूते तदा तस्य प्रमाणाभावादेवासिद्धिः न तदुक्तप्रमाणप्रतिषेधात् न ह्यतीन्द्रिये वस्तुनि प्रमाणं प्रतिषेधविधायि प्रवर्तितुमुत्सहते धर्म्यसिद्धत्वादिदोषैराघ्रातत्वात्। अथापि स्यात् भवेदेष दोषः स्वतन्त्रसाधनपक्षे नत्विदं स्वतन्त्रसाधनम् अपि तु प्रसङ्गसाधनम् तच्च स्वतोऽप्रसिद्धेऽपि वस्तुनि परप्रसिद्धेन परस्यानिष्टापादनमिति परैरभ्युपगतं यथा सामान्यादिनिषेधे, एतदप्ययुक्तम्; दृष्टान्तस्याप्यसिद्धेः। यथा च सामान्यादिनिषेधे न प्रसङ्गसाधनं प्रवर्तते तथा नैयायिकैः प्रतिपादितं सामान्यादिपरीक्षायाम्। किञ्च, प्रसङ्गसाधनानुपपत्तिरत्र, यतः प्रसङ्गः सर्वोऽपि विपर्ययफल इति पूर्वं प्रसङ्गः प्रदर्शनीयः। स च कथं प्रदर्श्यत इति वक्तव्यम्? अथ योगिप्रत्यक्षं धर्मग्राहकं न भवति विद्यमानोपलम्भनत्वात्, न, हेतोरसिद्धत्वात्। अथ तत्सिद्ध्यर्थं हेत्वन्तरोपादानम्। तथाहि-विद्यमानोपलम्भनं योगिप्रत्यक्षं सत्संप्रयोगजत्वात्, न, अस्याप्यसिद्धत्वात्। अथैतत्सिद्धये हेत्वन्तरमुपादीयते-विवादास्पदं सत्संयोगजं प्रत्यक्षत्वात् तच्छब्दवाच्यत्वाद्वा अस्मदादिप्रत्यक्षवदिति दृष्टान्तः सर्वत्र वक्तव्यः। धर्मादिग्राहकत्वे वा धर्मादेरसत्त्वान्न विद्यमानोपलम्भकत्वमिति विपर्ययः अविद्यमानोपलम्भनत्वे च न सत्संयोगजम् असत्संयोगजत्वे वा न प्रत्यक्षम् नापि तच्छब्दवाच्यम् ननु भवत्येवंप्रसङ्गपूर्वको विपर्ययः तस्य त्वनेन किं सद्भावो निषिध्यते, उत प्रत्यक्षत्वम्? आद्ये विकल्पे धर्म्यसिद्धता हेतूनामित्युक्तम्। द्वितीयेऽपि तस्य प्रमाणान्तरत्वप्रसक्तिः विशेषप्रतिषेधस्य शेषाभ्यनुज्ञानलक्षणत्वात्। स्यादेतत् विशेषप्रतिषेधे धर्मिण एव प्रतिषेधः तस्य तद्रूपतयैवाभ्युपगमात् न च धर्म्यसिद्धत्वादिहेतुदोषः 'यदि' अर्थस्याभ्युपगमात्, असदेतत्, व्याप्तौ सत्यां प्रसङ्गपूर्वकस्य विपर्ययस्य प्रवृत्तेः। न च प्रत्यक्षत्वस्य तच्छब्दवाच्यत्वस्य वा सत्संप्रयोगजत्वेन व्याप्तिसिद्धिः क्वचित् संजाता। अथ प्रसङ्गसाधनवादिनि तत्सिद्धिस्तथापि दोषः—न हि यत् तेन न गृह्यते तदन्येनापि न गृह्यत इति व्याप्तिसिद्धिः। तथाहि—यथा प्रसङ्गसाधनवादिचक्षुर्नातिदूरस्थविषयग्राहि सम्पात्यादेर्गृध्रराजस्य तु चक्षुष्केऽपि चक्षुर्योजनशतव्यवहितावभासि श्रूयते रामायणादौ। न च कादम्बर्यादेरिव काव्यत्वादस्याप्रमाणतेति न तन्निबन्धना वस्तुव्यवस्था भारतेऽपि प्रमाणभूते अस्यार्थस्य संसूचनात्। स्वरूपार्थप्रतिपादकत्वेऽपि च भारतादीनां प्रमाणता सिद्धैव। यद्याप्तप्रणीतत्वे निश्चयस्तदा वृषदंशचक्षुश्चक्षुष्केऽपि तच्छब्दवाच्यत्वेऽपि वा भिन्नस्वभावं दृष्टं तद्वत्

---

१ पृ० १११ पं० ३–१४। २ पूर्वं प्र–बृ० हा० विना। ३ तद्धिस्सि–आ०। तसिस्सि–वा० बा०। ४ सम्पत्या–वा० बा०। सम्पत्त्या–भा० मा०। सम्पातिनामा च गृध्रराजो योजनशतव्यवहितामपि दशरथनन्दनसुन्दरीं ददर्शेति श्रूयते रामायणे—न्यायमञ्ज० आ० २ पृ० १०३ पं० २३। ५ तु चक्षुचक्षुष्टेऽपि वा० बा०। तु चक्षुष्केऽपि ल०। ६ गृध्रराजस्य सविस्तरवर्णनार्थं द्रष्टव्यम्—रामाय० अरण्य० स० १४ श्लो० १–२६।

७ "सखा दशरथस्यासीज्जटायुररुणात्मजः। गृध्रराजो महावीरः संपातिर्यस्य सोदरः॥
स ददर्श तदा सीतां रावणाङ्कगतां स्नुषाम्। सक्रोधोऽभ्यद्रवत् पक्षी रावणं राक्षसेश्वरम्॥
अथैनमब्रवीद् गृध्रो मुञ्च मुञ्चेति मैथिलीम्। ध्रियमाणे मयि कथं हरिष्यसि निशाचर!॥
न हि मे मोक्ष्यसे जीवन् यदि नोत्सृजसे वधूम्। उक्त्वैवं राक्षसेन्द्रं तं चकर्त नखरैर्भृशम्॥
पक्षतुण्डप्रहारैश्च बहुशो जर्जरीकृतम्। चक्षार रुधिरं भूरि गिरिः प्रस्रवणैरिव" ॥ इत्यादि—

महाभा० वनप० अ० २८० श्लो० १–५।

८–स्तथा बृ–बृ० विना। ९ "वृषदंशो मार्जारः" अमर० सिंहादिवर्ग० २,६। अभिधान० ४,३६७। "तथाहि—योजनशतव्यवहितमन्धकारान्तरितं वा नास्मदादिलोचनगोचरतामुपयाति सम्पातिवृषदंशदृशोस्तु विषयो भवत्येव"।—न्यायमञ्ज० आ० २ पृ० १०४ पं० ५।

योगिप्रत्यक्षं भविष्यति एवं प्रतिवादिप्रत्यक्षेऽपि साध्यसाधनयोर्व्याप्तिनिषेधो द्रष्टव्यः । अथ गृध्र-वृषदंशचक्षुषोरेतत्स्वभावत्वेऽपि रूपग्रहणप्रतिनियमः न हि ते रसादौ कदाचित् प्रवर्तन्ते तथा योगिप्रत्यक्षस्यापि स्वविषय एवातिशयो भविष्यति । तदुक्तम्—

"यत्राप्यतिशयो दृष्टः" इत्यादि । तथा,

"येऽपि सातिशया दृष्टाः प्रज्ञामेधादिभिर्नराः" । इत्यादि च ।

एवमेतत् किन्तु द्विविधं प्रत्यक्षम् बाह्येन्द्रियजम् मानसं च । तत्र पूर्वस्यातीतादिग्राहकत्वनिषेधे रसादिग्राहकाणामिव इतरेतरविषयाग्रहणे सिद्धसाध्यता । मानसस्य त्वतीतादिरपि विषयः तस्य सर्वविषयत्वात् । तथाहि—वादि-प्रतिवादिनोर्मानसं स्पष्टाभं स्मार्तमतीतार्थग्राहि विज्ञानं सिद्धम् एवमनागतार्थाध्यवसायि मानसं वादि-प्रतिवादिनोस्तथाविधं द्रष्टव्यम् । तस्य चाभूतार्थस्यापि स्पष्टाभता भावनाप्रकर्षात् काम-शोक-भयादिज्ञाने प्रतिपादिता । यत् पुनर्भूतार्थं प्रमाणद्वयपूर्वकं भावनाप्रकर्षसमुद्भूतं तत् संवादात् प्रमाणम् विशदत्वाच्च प्रत्यक्षम् संभाव्यते च तथाविधं प्रत्यक्षं योगिनाम् यथाऽस्मदादीनां प्रातिभम्—'श्वो मे भ्राता आगन्ता' इत्यनागतार्थग्राहकम् । न च सन्दिग्धस्वभावताऽस्य निश्चितत्वेनोत्पादाद् बाधकाभावाच्च विपर्यस्तताऽपि । अथ सर्वा प्रतिभा सत्यार्था न सिद्धेति न प्रमाणं प्रातिभं तर्हीन्द्रियजमपि सर्वं न सत्यार्थं सिद्धमिति तदप्यप्रमाणं भवेत् । अथ मा भूत् प्रमाणं यद्बाध्यते इतरं तु (इतरत् तु) प्रमाणम् प्रातिभेऽपि समानमेतत् । अथ प्रतिभाया न प्रमाणफलता अर्थजत्वानुपपत्तेः । तथाहि-कर्मशक्तिः कर्तृकरणसहकृता क्रियानिर्वर्तिका कर्तृकरणशक्तिरिव कर्मशक्तिसहकृता । न चासती स्वरूपेणानागता वर्तमानकालकर्तृ-करणाभ्यां सह कर्मशक्तिः स्वकार्ये व्याप्रियते । नापि कर्तृकरणशक्तिर्वर्तमानसमयसम्बन्धिनी भाविकर्मशक्त्या तदा विद्यमानया सह स्वकार्ये व्याप्रियत इति कथमनागतार्थविषयार्थजा प्रतिभा? ततो न प्रमाणफलं सेति, अयुक्तमेतत्; असमानकालत्वेऽपि प्रतिभाविषयस्य कर्तृकरणव्यापारसमानकालतोपपत्तेः । तथाहि-करणं प्रतिभाजनकं न वर्तमानसमयवस्तुपरिच्छेदकं किन्त्वनागतस्य तेनानागते वस्तुनि करणस्य व्यापाराद् वस्तुनश्च तेन रूपेण सत्त्वात् कथं प्रतिभा निर्विषया? यदि च सा भाविभावविषयं ज्ञानं निर्विषयं तर्हि चोदनाजनितं ज्ञानं वाक्यप्रभवं वाक्यकाले कार्यस्यार्थस्यासत्त्वान्निर्विषयमासज्येत । अथ वर्तमानार्थग्रहणस्वभावोऽध्यक्षस्यैव न शब्दादेः । उक्तं च—

"सम्बद्धं वर्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिना" । [श्लो० वा० प्रत्यक्ष० श्लो० ८४]

तथा—

"एष प्रत्यक्षधर्मश्च वर्तमानार्थतैव या" ॥ [श्लो० वा० निरा० श्लो० ११४]

"सन्निकृष्टार्थवृत्तित्वं न तु ज्ञानान्तरेष्वयम्" । [श्लो० वा० निरा० श्लो० ११५] इति,

---

१ पृ० ४९ पं० १२ । तत्त्वसं० का० ३३८७ पृ० ८८६ । न्यायमञ्ज० आ० २ पृ० १०४ पं० ३ । २ पृ० ४९ पं० १० । "प्रज्ञामेधाबलैर्नराः"—तत्त्वसं० का० ३१६० पृ० ८२५ । "प्रज्ञामेधाबलैर्नृणाम्"—न्यायमञ्ज० आ० २ पृ० १०४ पं० ६ । ३-कर्षात् का-बृ० ल० ।

४ "अपि चानागतं ज्ञानमस्मदादेरपि क्वचित् । प्रमाणं प्रातिभं श्वो मे भ्राताऽऽगन्तेति दृश्यते ॥

नानर्थजं न संदिग्धं न बाधविधुरीकृतम् । न दुष्टकारणं चेति प्रमाणमिदमिष्यताम् ॥

क्वचिद्बाधकयोगश्चेदस्तु तस्याप्रमाणता । यत्रापरेद्युरभ्येति भ्राता तत्र किमुच्यताम्" ॥

न्यायमञ्ज० आ० २ पृ० १०६ पं० १३—।

५-शक्तिः स्वक-वा० वा० । ६-शक्तिरेव वा० वा० । ७ "मनोलक्षणम्"-बृ० ल० टि० । ८ च भा-भां० मां० विना ।

९ "सम्बद्धं वर्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिना । सामान्यं वा विशेषो वा भाग्यं नाऽतोऽत्र कल्प्यते" ॥ श्लो० वा० । न्यायकु० लि० पृ० २४ द्वि० पं० १० । "सन्निहितं वर्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिना"-सिद्धिवि० टी० लि० पृ० ४१३ पं० ४ ।

१० "तस्योत्पत्तौ कथञ्चित् स्युः पृथिव्यादीनि कारणम् । एष प्रत्यक्षधर्मश्च वर्तमानार्थतैव या" ॥ श्लो० वा० ।

११ ननु ज्ञा-बृ० ल० ।

"सन्निकृष्टार्थवृत्तिश्च न तु ज्ञानान्तरेष्वियम् । कथमुत्पादयेज् ज्ञानं तत्राऽसंश्लेषकृतोऽन्वियम्" ॥ श्लो० वा० ।

१२ "वर्तमानार्थतारूपः प्रत्यक्षधर्मः"-बृ० ल० टि० ।

असदेतत्; मनोविज्ञानस्यातीतानागतार्थग्रहणे व्याघाताभावात् चक्षुरादिप्रभवप्रतिपत्तीनां तु युक्त एव वर्तमानार्थग्रहणलक्षणो धर्मः[1] न तु मानसस्य अन्यथा चोदनाजनितस्यापि स स्यादित्युक्तम्।

नन्वेवमपि भाविरूपता भावस्य सावधिः प्रागभावः न च भिन्नकालत्वाद् वस्त्ववस्तुनोः सम्बन्ध इति कथं तस्य भाविरूपता? अत्र केचिदाहुः—न तयोरसम्बन्धितां विशेषणविशेष्यतया प्रतिपत्तेः, नैतत्; न हि सम्बन्धपूर्वको विशेषणविशेष्यभावः किं तर्हि भाविता भावस्योच्यते? बुद्धौ प्रतिभासमानस्याकारस्य कुतश्चिन्निमित्तात् प्रागभावविशेषणता तच्च निमित्तं भोजनादिकार्यं भ्रातृकृतम् तद् भ्रातुरनागतस्य नोपपद्यत इत्यनागमनकाल एव कार्येण बुद्ध्युपस्थापितस्य भ्रातुः श्वस्तनागमनविशिष्टतां प्रतिपद्यते[4]। सद्व्यवहारनिबन्धनं च सत्त्वम् तच्च विधिप्रतिभास एव अतो विधिप्रतिभासस्वभावत्वान्न निर्विषया प्रतिमा। मा भूत्रिर्विषयत्वं तस्याः तेन त्वर्थेन सह सन्निकर्ष इन्द्रियस्य वाच्यः इन्द्रियार्थासन्निकर्षजस्य प्रत्यक्षत्वानुपपत्तेः। अत्र केचित् प्रतिसमादधति—'श्वो मे भ्राताऽत्र देशे आगन्ता' इति प्रतिभोत्पादाद् देशादेश्चेन्द्रियेण संयोगात् तद्विशेषणत्वाच्च श्वस्तनागमनविशिष्टस्य भ्रातुः संयुक्तविशेषणभावः सन्निकर्षः। एतत् परे नाऽनुमन्यन्ते विशेषणविशेष्ययोरेकविषयत्वात्न भ्रात्रा विशेषणेन चक्षुरादेः सन्निकर्षः तदभावाद् विशेषणाग्रहणे कथं विशेष्यबुद्धिः? अपि च, श्वस्तनागमनविशिष्टभ्रातृज्ञानं प्रतिभा न देशादिज्ञानम् न चेन्द्रियस्य तेन कश्चित् सम्बन्धः। अत एव आर्षमपि ज्ञानं न प्रतिमा। यतः—

"ऋषीणामपि यद् ज्ञानं तदप्यागमपूर्वकम्"। [वाक्यप० प्र० का० श्लो० ३०]

अनेनोपायजत्वमार्षस्य दर्शयति उपायश्च सन्निकर्ष-लिङ्ग-शब्दस्वभावः आगमग्रहणस्य प्रदर्शनार्थत्वात्। नापि धर्मविशेषात् सन्निकर्षं विनापि प्रतिभायाः समुद्भवः यतो धर्माधर्मयोः फलजनकत्वं साधनजनकत्वेनैव यथा सुखादौ जन्ये शरीरादेर्जननम् एवं प्रतिभाया अपि धर्मविशेषजन्यत्वे केनचिदिन्द्रियार्थसन्निकर्षादिना साधनेन धर्मविशेषजनितेन भाव्यम्। अत एव सिद्धदर्शनमपि न प्रतिमा रथ्यापुरुषस्यापि भावात्। अनियतनिमित्तप्रभवत्वेनाप्रमाणं प्रतिभेति यत् कैश्चिदभ्यधायि तन्नैयायिकैर्निराक्रियत एव मनसस्तन्निमित्तत्वेन तत्र तत्र प्रतिपादनात्। नाप्यस्या लिङ्ग-शब्दप्रभवत्वम् तदभावेऽपि भावात्। उपमानजत्वाशङ्का दूरोत्सारिता अतः प्रत्यक्षं प्रतिमा। यद्येवं तदुत्पत्तावक्षं वक्तव्यम् किमत्रोच्यते मनसः सन्निहितत्वात् तस्य विशिष्टार्थग्रहणे विशेषणविशेष्यभावः सन्निकर्षः नियामकत्वेन पूर्वं प्रदर्शितः यथा प्रत्यभिज्ञानोत्पत्तौ स्मर्यमाणप्रतीयमानानुभवविशेषणं वस्तु तस्या विषयः न चैतावति बाह्येन्द्रियव्यापार इति मानसं प्रत्यभिज्ञानम् तद्वत् प्रातिभमपि[13]।

---

१ "वर्तमानार्थताख्य' प्रत्यक्षधर्मः"–बृ० ल० टि०।

२ "ननु भाविततया ग्रहणमघटमानम् भावित्वं हि नाम सावधि प्रागभाव अभावस्य च भावेन भ्रात्रा सह कः सम्बन्ध'। वस्त्ववस्तुनोर्विरोधात्। तदेतदसम्यक्। तद्धयसंबन्धस्य तत्र प्रागभावो न तु धर्मिणः। स हि विद्यते एव प्रागभावतः। स च कुतश्चिद्भोजनोत्कण्ठादे कारणात् स्मरणपदवीमुपारूढः श्वस्तनागमनविशिष्टत्वेन प्रतिभातीति प्रातिभस्य स एव जनक इति। तस्मादनर्थजत्वाभावात् प्रमाणं प्रातिभम्"–न्यायमञ० आ० २ पृ० १०६ पं० १३—।

३–एता बृ०। ४–ते सिद्धयव्यव–भा० मा०। ५ "सन्निकर्षाभावात्"—बृ० ल० टि०। ६–चा वि–ल० बा० बा०।–चादवि–आ० हा० वि०। ७ "भ्रात्रा"–बृ० ल० टि०।

८ "न चागमादृते धर्मस्तर्केण व्यवतिष्ठते। ऋषीणामपि यद् ज्ञानं तदप्यागमहेतुकम्"॥ वाक्यप०।

न्यायमञ० आ० २ पृ० १०७ पं० ८।

९ "उपायस्य"–बृ० ल० टि०। १० "यथा सुखादेर्धर्मविशेषजन्यत्वे शरीरादेर्धर्मविशेषजनितस्य भावस्यैति"–बृ० ल० टि०। ११–त्वेन प्र–बा० बा०। १२–भावे भा–बृ० आ० हा० वि०। १३ प्रशस्तपादभाष्ये तत्त्वसङ्ग्रहपञ्जिकायां च प्रातिभस्य वर्णनमित्थं दृश्यते—

"आम्नायविधातॄणामृषीणामतीतानागतवर्तमानेष्वतीन्द्रियेष्वर्थेषु धर्मादिषु ग्रन्थोपनिबद्धेष्वनुपनिबद्धेषु चात्ममनसोः संयोगाद् धर्मविशेषाच्च यत् प्रातिभं यथार्थनिवेदनं ज्ञानमुत्पद्यते तदार्षमित्याचक्षते। तत् तु प्रस्तारेण देवर्षीणाम् कदाचिदेव लौकिकानां यथा कन्यका ब्रवीति श्वो मे भ्राताऽऽगन्तेति हृदयं मे कथयतीति"।

अन्वाद्यभावो बाह्यार्थाभ्युपगमे मनसः स्वातन्त्र्येण पूर्वं निराकृतः। एवं मानसस्य प्रत्यक्षस्याविद्यमानोपलम्भकस्य सद्भावान्न प्रसङ्गसाधने व्याप्तिसिद्धिः । तथा सर्वस्यैव स्थपत्यादेः क्रियमाणवस्तुग्रहणं प्रत्यक्षं सिद्धमेव । किञ्च, कथं जैमिनीयाः स्थिरग्रहणवादिनो वर्त्तमानविषयमेव प्रत्यक्षं संचक्षते? स्थिरग्रहणं हि वस्तुन एवं भवति यदि वर्तमानविशिष्टस्यैवातीतानागतकालविशिष्टग्रहणम् अन्यथा स्थिरग्रहणाभावः। तथा चोक्तम्—

"रजतं गृह्यमाणं हि चिरस्थायीति गृह्यते"[2] [ ]

ततः परस्परव्याहतार्थाभिधानात् यत्किञ्चिदेतत् । तदेवं न प्रत्यक्षस्यातीन्द्रियार्थग्रहणनिषेधः पूर्वोक्तनीत्या, संभाव्यते चातीन्द्रियार्थग्रहणमध्यक्षस्य। यथा तत् संभवति तथा सर्वज्ञसिद्धौ[3] प्रतिपादितमिति न पुनरुच्यते।

किञ्च, सत्संयोगजत्वाद् यदि विद्यमानोपलम्भनत्वमुच्यते तत्र 'सता सीदता साधुना सद्भिर्वा' इत्येतान् पक्षान् व्युदस्याभिमतपक्षस्थापनं कृतम्-सति सम्प्रयोगे, प्रयोगश्च द्विधा प्रदर्शितः— अर्थेष्विन्द्रियाणां व्यापारः योग्यता वा न तु नैयायिकाभ्युपगत एव संयोगादिः । स द्विविधोऽप्यतीतानागतादिलक्षणेऽर्थे अन्तःकरणस्य चोदनाया इव कार्येऽर्थे न वार्यते । अथाविद्यमाने कथं करणव्यापारः? करणत्वेनाभ्युपगतायाश्चोदनाया अपि कथं कार्येऽर्थे? ततो नान्तःकरणस्य विशेषः तत्प्रमेयस्य त्रिकालावच्छिन्नत्वात् भाविरूपस्यापि वा तद्रूपत्वेन सतो वर्तमानत्वापत्तिः । तथा चोक्तं व्यासेन—

"अवश्यं भाविनं नाशं विद्धि सम्प्रत्युपस्थितम्।
अयमेव हि ते कालः पूर्वमासीदनागतः" ॥ [ ]

यत् पुनः कार्यं कालत्रयापरामृष्टं शशशृङ्गप्रख्यं तत्र कथं प्रेरणाख्यकरणव्यापारः? अथाबाधितप्रतीतिजनकत्वेन प्रेरणायास्तत्र व्यापारस्तर्ह्यन्तःकरणेऽप्येतत् तुल्यम् । ततोऽविद्यमानोपलम्भनस्य मानसाध्यक्षस्य सद्भावान्न प्रसङ्गसाधने व्याप्तिसिद्धिरिति न प्रथमा व्याख्या।

द्वितीयव्याख्याने तत्संतोर्व्यत्ययेऽपि च न संशयज्ञानव्युदासः । तत्र ह्ययमर्थो व्यवतिष्ठते यद्विषयं विज्ञानं तेनैव संप्रयोगे इन्द्रियाणां प्रत्यक्षम् प्रत्यक्षाभासं त्वन्यसंप्रयोगजमिति। तत्र संशयज्ञानं सम्यग्ज्ञानवत् यत्प्रतिभासि तेनैव संयोगे भवति । ननु उभयालम्बनत्वादुभयप्रतिभासि संशयज्ञानम् न चोभयात्मकेनेन्द्रियसम्बन्धः यद्यपि नोभयात्मकेन तेनेन्द्रियसम्बन्धस्तथापि तत्त्वतः सामान्यवान् पुरोऽवस्थितो धर्मी प्रतिभाससमानान्यतरविशेषाश्रयः अतो यत् प्रतिभाति तेन सहेन्द्रियस्य संयोगे संशयज्ञानमुदेति न चैतद्व्यवच्छेदाय किञ्चित् पदमुपात्तमिति[12] नैतल्लक्षणात् तद्व्युदास[13] इति न जैमिनीयमपि[14] प्रत्यक्षलक्षणमनवद्यम्। चार्वाकैस्तु प्रत्यक्षमपि न तत्त्वतः प्रमाणमभ्युपगम्यत इति न तद्विचारणप्रयासः सफल इत्यक्षपादविरचितमेव प्रत्यक्षलक्षणमनवद्यमिति नैयायिकाः।

"इन्द्रियलिङ्गाद्यभावे यदर्थप्रतिभानं सा प्रतिभा प्रतिभैव प्रातिभमित्युच्यते तत्र भवद्भिः । तस्योत्पत्तिरनुपपन्ना कारणाभावादित्यनुपयोगे सति इदमुक्तम् धर्मविशेषादिति। विशिष्यते इति विशेषो धर्म एव विशेषो धर्मविशेषः विद्यातपःसमाधिजः प्रकृष्टो धर्मस्तस्मात् प्रतिभोदय । तत्तु प्रस्तारेण बाहुल्येन देवर्षीणा भवति कदाचिदेव लौकिकानामपि यथा कन्यका ब्रवीति श्वो मे भ्राताऽऽगन्तेति हृदयं मे कथयतीति । न चेदं संशयः उभयकोटिसंसर्शाभावात् न च विपर्ययः संवादादतः प्रमाणमेव"—प्रशस्तकं० पृ० २५८ पं० १—।

"प्रातिभं तु ज्ञानमार्षं यथा श्वो मे भ्राताऽऽगमिष्यतीति"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ८० पं० २१।

१ "सूत्रधारादे"-वृ० ल० टि०। २ "यथाह भट्टः-रजतं गृह्यमाणं हि चिरस्थायीति गृह्यते इति"—न्यायमञ्ज० आ० ७ पृ० ४६२ पं० १७। ३ पृ० ५३-६१। ४ यदऽवि-मां मां० विना। ५ अर्थेन्द्रि-आ०हा० वि०। ६-ना इ-मां० मां०। ७ "व्यापार इति योग."—वृ० ल० टि०। ८ "वर्तमान."-वृ० ल० टि०। ९-थमव्या-मां० मां०। १०-त्सतोव्य-वा० बा०। ११-त्ययोऽ-मां मां०। १२ "जैमिनीये."-वृ० ल० टि०। १३ "संशयज्ञान-" वृ० ल० टि०। १४-यप्रत्यक्षलक्षणमप्यनव-मां० मां०।

[सिद्धान्तिना न्यायसूत्रीयप्रत्यक्षलक्षणस्य खण्डनम्]

[प्रसङ्गादिन्द्रियाणां प्राप्याप्राप्यकारित्वचर्चा]

असदेतत् तदभ्युपगमेनेन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नत्वादेरघटमानत्वात् । तथाहि-इन्द्रियं यदि चक्षुर्गोलकादिकमवयविरूपमभ्युपगम्यते तदा तस्य स्वविषयेण व्यवहितदेशेन पर्वतादिना सन्निकर्षोऽसिद्धः । न ह्यत्यन्तव्यवहितयोर्हिमवद्विन्ध्ययोरिव चक्षुर्गोलक-तदर्थयोः सन्निकर्षः संयोगादिलक्षणः सिद्धः । न चावयविलक्षणं गोलकादि वस्तु सिद्धम् तद्ग्राहकाभिमतप्रमाणस्य निषिद्धत्वात् । न च तदाधारः संयोगादिकः सम्बन्धः समस्ति पराभ्युपगतस्य तस्य निषिद्धत्वात् निषेत्स्यमानत्वाच्च । योऽपि कथंचित् पदार्थाव्यतिरिक्तः संश्लेषलक्षणः काष्ठ-जतुनोरिव सम्बन्धः प्रसिद्धः सोऽपि व्यवहितेन पर्वतादिना स्वविषयेण सह चक्षुर्गोलकस्यानुपपन्नः तत्प्रसाधकप्रमाणाभावात् । अथास्ति तत्प्रसाधकं प्रमाणम् । ननु तत् किं प्रत्यक्षम्, उतानुमानम्? न तावत् प्रत्यक्षमत्र विषये प्रवर्तितुमुत्सहते न हि 'देवदत्तचक्षुस्तद्विषयेण पर्वतादिना सम्बद्धम्' इत्यस्मदादेरध्यक्षप्रभवा प्रतिपत्तिः । अथानुमानं तत्सन्निकर्षप्रसाधनाय प्रवर्तते । ननु किं तदनुमानमिति वक्तव्यम् ? अथ 'चक्षुः प्राप्तार्थप्रकाशकम् बाह्येन्द्रियत्वात् त्वगादिवत्' इत्येतदनुमानं तत्सन्निकर्षप्रसाधनम्, न, चक्षुर्गोलक-तदर्थयोरध्यक्षेणैवासन्निकृष्टयोः प्रतिपत्तेरध्यक्षबाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तत्वेनास्य हेतोः कालात्ययापदिष्टत्वात् अवयविलक्षणस्य च चक्षुषोऽसिद्धेराश्रयासिद्धश्च हेतुः । अत एव स्वरूपासिद्धश्च न ह्यविद्यमानस्यावयविनो बाह्येन्द्रियत्वमुपपन्नम् 'त्वगादिवत्' इति निदर्शनमपि साध्यसाधनविकलम् । अथ चक्षुःशब्देनात्र तद्रश्मयोऽभिधीयन्त इति न प्रागुक्तदोषावकाशः, न, तेषामसिद्धेः इतरथाऽस्यानुमानस्य वैफल्यापत्तेराश्रयासिद्धो हेतुः । अथात एवानुमानात् तत्सिद्धेर्नायं दोषः, न, इतरेतराश्रयदोषप्रसक्तेः । तथाहि-तद्रश्मिसिद्धावाश्रयासिद्धत्वदोषपरिहारः तस्मिंश्च सत्यतो हेतोस्तत्सिद्धिरिति व्यक्तमितरेतराश्रयत्वम् अत एव स्वरूपासिद्धिरपि हेतोः तेषामसिद्धौ तदाश्रयबाह्येन्द्रियत्वासिद्धेः । यदि पुनर्गोलकाद् बहिर्भूता रश्मयश्चक्षुःशब्दवाच्या अर्थप्रकाशकास्तर्हि गोलकस्याञ्जनादिना संस्कार

---

१ "अवयवि"-बृ० ल० टि० । २ "चक्षुर्विषय"—बृ० ल० टि० । ३ साङ्ख्य-नैयायिक-वैशेषिक-जैमिनीयाः सर्वेषां बहिरिन्द्रियाणां प्राप्यकारित्वं मन्यन्ते । बौद्धास्त्वग्-घ्राण-रसनानां प्राप्यकारित्वम् चक्षुः-श्रोत्रयोरप्राप्यकारित्वं च स्वीकुर्वते । जैनास्तु त्वग्-घ्राण-रसन-श्रोत्राणां प्राप्यकारित्वम् चक्षुषोऽप्राप्यकारित्वं च साधयन्ति । तदेवं साङ्ख्य-नैयायिक-वैशेषिक-जैमिनीय-बौद्ध-जैनतर्कग्रन्थेषु प्राप्यकारित्वाप्राप्यकारित्वविषयो वादः सविस्तरं चर्चितो दृश्यते । अत्र च तत्तद्ग्रन्थीयतद्वादस्थलप्रदर्शनमात्रं क्रियते क्रमेण—

साङ्ख्यद० १, ८७ पृ० ६२ पं० २१-। मुक्ताव० पृ० २९३ पं० १-२९४ ।

न्यायद० ३,१, ३३—५३ पृ० २५८—२७४ । न्यायवा० पृ० ३३ पं० १५—३६ पं० २१ तथा पृ० ३८ पं० ४—३८५ पं० ६ । न्यायवा० ता० टी० पृ० ११६ प० १८-१२३ पं० १ तथा पृ० ५२० पं० २१-५२६ पं० ११ । न्यायमञ्ज० आ० ८ पृ० ४७७ पं० २५-४८० पं० २० ।

प्रशस्त० कं० पृ० २३ पं० ४- ।

१, १, १३ शाबरभा० पृ० १९-२० । श्लो० वा० पृ० १४६-१४९ तथा पृ० ७४०-७८१ । शास्त्रदी० अधि० ६ पृ० १३३-१४० ।

स्फुटार्थअभि० पृ० ८४-९४ ।

प्रज्ञाप० १५, पृ० २९८ प्र० पं० ६-१० । आवश्यकनि० गा० ५ । विशेषाव० भा० गा० २०४-२ पृ० १२२-१२७ तथा गा० ३३६-३४० पृ० १९९-२०० । १, १९ तत्त्वार्थभाष्यव्याख्या पृ० ८७ पं० २३— । राज पृ० ४७ पं० ३३-४८ प० ३२ । तत्त्वार्थश्लो० वा० पृ० २२९ श्लो० १-२३६ श्लो० ९८ । न्यायकु० द्वि० पृ० द्वि० प० ११- ४२ । प्रमेयक० पृ० ५९ प्र० पं० ११- ६२ प्र० पं० ५ । २, ३ स्याद्वादर० पृ० ३१८ पं० ३४१ आ० । २, ५ रत्नाकराव० पृ० ५१ पं० २२- ६० श्लो० ९३ ।

अन्तरिन्द्रियस्य मनसस्तु प्राप्यकारित्वं पुष्णाति सांख्यवेदान्तप्रक्रिया न पुनस्तद्भिन्नदर्शनप्रक्रिया ।

४ "त्वगिन्द्रियलक्षणावयविनोऽसत्त्वात्, प्राप्तार्थप्रकाशकत्वं बाह्येन्द्रियत्वं च नेष्यते अवयविनोऽभावात्"-बृ० ल० टि०

उन्मीलनादिकश्च व्यापारो वैयर्थ्यमनुभवेत् । अथ गोलकाश्रयास्त इति तन्निमीलने असंस्कारे वा तेषामपि स्थगनमसंस्कृतिश्चेति विषयं प्रति गमनं तत्प्रकाशनं च न स्यात् अतस्तदर्थं तदुन्मीलनं तत्संस्कारश्च न वैयर्थ्यमनुभवेत् तर्हि गोलकानुपक्कामलादेः प्रकाशकत्वं तेषां स्यात् न हि प्रदीपः स्वलग्नं शलाकादिकं न प्रकाशयतीति दृष्टम् । यैरपि 'गोलकान्तर्गतं तेजोद्रव्यमस्ति तदाश्रितास्ते' इत्यभ्युपगतं तेषामपीदं दूषणं समानम् न हि काचकूपिकान्तर्गताः प्रदीपादिरश्मयस्ततो निर्गच्छन्त-स्तद्योगिनमर्थं न प्रकाशयन्ति । तदेवं रश्मीनामसिद्धेर्न ते चक्षुःशब्दाभिधेयाः । अथ रसनादयो बाह्येन्द्रियत्वात् प्राप्तार्थप्रकाशका उपलब्धाः बाह्येन्द्रियं च चक्षुः ततस्तदपि प्राप्तार्थप्रकाशकम् न च गोलकस्य बाह्यार्थप्राप्तिः सम्भविनीति पारिशेष्यात् तद्रश्मीनां तत्प्राप्तिरिति रश्मिसिद्धिः, न, अत्या-सन्नमलाञ्जनशलाकादेः प्रकाशप्रसक्तेः। किञ्च, यदि गोलकान्निर्गत्य बाह्यार्थेनाभिसम्बध्य तद्रश्मयोऽर्थं प्रकाशयन्ति तर्ह्यर्थं प्रत्युपसर्पन्तस्त उपलभ्येरन् रूप-स्पर्शविशेषवतां तैजसानां वह्न्यादिवत् सता-मनुपलम्भे निमित्ताभावात् न चोपलभ्यन्त इत्युपलब्धिलक्षणप्राप्तानामनुपलम्भादसत्त्वम्। अनुद्भूत-रूप-स्पर्शत्वादनुपलभ्यास्त इति चेत् किं पुनरनुद्भूतरूप-स्पर्शं तेजोद्रव्यमुपलब्धं येनैवं कल्पना भवेत्? अथ दृश्यते सतोरपि तैजसरूप-स्पर्शयोर्नीर-हेम्नोरनुद्भूतिः, न; स्वर्ण-तप्तोदकयोस्तेजस्त्वा-सिद्धेः दृष्टानुसारेण चानुपलभ्यमानभावप्रकल्पनाः प्रभवन्ति अन्यथा रात्रौ भास्करकराः सन्तोऽपि नोपलभ्यन्ते अनुद्भूतरूपस्पर्शत्वान्नायनरश्मिवदित्यपि कल्पनाप्रसक्तेः। अथ यद्यपि नायना रश्मयोऽ-ध्यक्षतो न प्रतीयन्ते तथाप्यनुमानतः प्रतीयन्ते अनुमानं च तेजोरश्मिवत् चक्षू रूपादीनां मध्ये रूपस्यैव प्रकाशकत्वात् प्रदीपकलिकावदिति तद्रश्मिसत्त्वप्रतिपादकम् नैवं भास्करकरसत्त्वप्रतिपादकं क्षपा-यामनुमानमस्ति, न; निशायां बहुलान्धकारायां वृषदंशचक्षुर्बाह्यालोकसव्यपेक्षमर्थप्रकाशकं चक्षुष्ट्वात् दिवा पुरुषचक्षुर्वदित्यस्यानुमानस्य रात्रौ तत्सत्त्वप्रतिपादकस्य भावात् । अथ वृषदंशादेश्चाक्षुषं तेजोऽस्तीत्यर्थसिद्धेर्न किञ्चिद् भास्करज्योतिषाऽनुद्भूतरूपेण प्रकल्पितेन तर्हि मनुष्यादीनामपि तदस्तीति किमुद्भूतरूपेण बाह्यतेजसा तेषां कृत्यम्? अथ यद् यथा दृश्यते तत् तथाऽभ्युपगम्यत इति मनुष्यादीनां नायनं सौर्यं च तेजो विज्ञानकारणं दृश्यते ततस्तथैव तत् कल्प्यते क्षपायां मार्जारादेर्नायनमेव दृश्यते अतस्तदेव तत्कारणं प्रकल्प्यते न सौर्यम् भवेदेवं यदि तथादर्शनं स्यात् यावता यथा रात्रौ भास्करकरादर्शनं तथा दिवा चाक्षुषरश्म्यदर्शनम् यथा वा दिवा भास्करकराव-भासनं तथा क्षपायां वृषदंशनेत्रालोकावलोकनम् विशेषस्त्वयम्-एकदा भास्कररश्मयोऽन्यदा नाय-नास्तेऽनुमेया इति। अथान्धकारावष्टब्धनिशीथिनीसमयेऽपि भास्करकरसंभवे नक्तंचराणामिव नराणामपि रूपदर्शनं स्यात्, न; सन्तोऽपि तदा तत्करा न नराणां रूपदर्शनजननप्रत्यलाः यथा त एव वासरे उलूकादीनाम् भावशक्तीनां विचित्रत्वात्। तस्मादनुपलम्भात् क्षपायां यथा न भास्कर-करास्तथा नायना रश्मयोऽन्यदेति स्थितम् । यदपि परेणात्रोक्तम् 'दूरस्थितकुड्यादिप्रतिफलिता-नामन्तराले गच्छतां प्रदीपरश्मीनां सतामप्यनुपलम्भदर्शनान्नानुपलम्भात् तदभावसिद्धिः' इति, तदप्यनेनैव निरस्तम्; रविरश्मीनामपि क्षपायामभावासिद्धिप्रसक्तेः। किञ्च, योगिन आत्ममनःसंयोगो यदा सदसद्वर्गालम्बनमेकं ज्ञानं जनयति तदा सकलसदसद्वर्गस्तस्य चेन्न सहकारी तर्हि "अर्थवत् प्रमाणम्" [वात्स्या० भा० पृ० १] इत्यत्र "अर्थः सहकारी यस्य विशिष्टप्रमितौ प्रमातृप्रमेयाभ्या-मर्थान्तरं तदर्थवत् प्रमाणम्" [ ] इति विरुध्यते। सहकारी चेदसौ देशाद्यन्तरितोऽपि तर्हि तत्कुड्यादेः प्रभासुरतयोत्पत्तौ प्रदीपो देशव्यवहितोऽपि सहकारीति नान्तराले तद्रश्मिसिद्धिः। ततो न तैरनुपलम्भव्यभिचारः अत एव नाप्यनुमानम् उदकं तेज उखादिव्यवहितमप्युष्णस्पर्शं जनयिष्यतीति नोदके उष्णस्पर्शोपलम्भादनुद्भूतभास्वररूपस्य तेजसः सिद्धिः। यदपि चक्षुः स्वरश्मि-सम्बद्धार्थप्रकाशकं तैजसत्वात् प्रदीपवदित्यनुमानम् अनेन किं चक्षुषो रश्मयः साध्यन्ते उतान्यतः सिद्धानां ग्राह्यार्थसम्बन्धस्तेषां साध्यत इति? आद्ये पक्षे तरुणनारीनयनानां दुग्धधवलतया भासुर-

---

१-षः प्रल-वृ० भां० हा० वि०। २-सम्बध्य वृ० ल० विना। ३ बहला-वृ० भा० हा० वि०। ४ "चाक्षुषं तेजः"-वृ० ल० टि०। ५ "भास्करसम्बन्धिना"-वृ० ल० टि०। ६-च रूप-ल० बा० बा०। भां "रवि-" वृ० ल० टि०। ८ "दिने"-वृ० ल० टि०। ९-कुड्यादि-भा० मा० विना। १०-ज्ञानं न ज-ज्ञान० बा० भां० मा० विना। ११-प्युपलब्धं रूप-भां०। -प्युपलब्ध रूप-भां०।

रश्मिरहितानामध्यक्षतः प्रतीतेरध्यक्षबाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तत्वेन कालात्ययापदिष्टो हेतुः । अथ यदध्यक्षग्रहणयोग्यं साध्यमध्यक्षत एव तत्र नोपलभ्यते तत्र तद्बाधः कर्मणः यथाऽनुष्णोऽग्निः सत्त्वादिति न चाध्यक्षग्रहणयोग्या नायना रश्मयः सदा तेषामदृश्यत्वात्, न; पृथिव्यादिद्रव्येऽपि तेषां साध्यत्वप्रसक्तेः । तथाहि-रश्मिवन्तो भूम्यादयः सत्त्वात् प्रदीपवदित्यनुमातुं शक्यत्वात् यथैव हि तैजसत्वं प्रदीपे रश्मिवत्तया व्याप्तमुपलब्धं तथा सत्त्वमपि । अस्याऽन्यथाऽपि संभावना न तैजसत्वस्येति कुतो विभागः? अथ भूम्यादेस्तत्साधनेऽध्यक्षबाधः, न, दुग्धधवलक्षावलालोचनानामपि तत्साधने तद्विरोधः समानः । अथ वृषदंशचक्षुषोऽध्यक्षतो वीक्ष्यन्ते रश्मय इति कथं तद्विरोधः? ननु यदि तत्र त ईक्ष्यन्तेऽन्यत्र किमायातम्? तत एवान्यत्र तत्साधने हेम्नि पीतत्वप्रतीतौ रजते पीतत्वप्रसङ्गः प्रमाणबाधनमुभयत्र तुल्यम् । अथ तत्र तत्प्रतीतेर्नान्यत्र सत्त्वेन ते साध्यन्ते अपि त्वनुमानतः तत् तु दृष्टान्तमात्रम्; नन्वत्र 'नेत्रत्वात्' इति यदि हेतुः 'तैजसत्वात्' इत्यस्याऽऽनर्थक्यम् अत एव प्रकृतसिद्धेः अध्यक्षबाधा चात्रापि तदवस्थैव 'तैजसत्वात्' इत्यस्य हेतुत्वे प्रदीपदृष्टान्तेनैवार्थसिद्धेर्वृषदंशनेत्रनिदर्शनमनर्थकम् । न च तस्य तैजसत्वं परं प्रति सिद्धमिति तत्साधनविकलता तदपेक्षया दृष्टान्तदोषः । न च रश्मिवत्त्वाद् बिडाललोचनस्य तैजसत्वं सिद्धम् मण्यादीनामपि तत्प्रसक्तेः । न च रश्मिवत्त्वान्मण्यादीनामपि तैजसत्वम् मूलोष्णप्रभाया एव तैजसत्वात् अन्यथा तरुणतरुकिसलयानामपि तैजसत्वं स्यात् । न च नारीनयनानां तैजसत्वं सिद्धमित्यसिद्धो हेतुः । न च रश्मिवत्त्वादेव तेषां तत् साध्यते इतरेतराश्रयदोषप्रसक्तेः—सिद्धे भास्वरप्रभावत्त्वे तैजसत्वसिद्धिस्ततश्च भास्वरप्रभावत्त्वसिद्धिरिति कथं नेतरेतराश्रयदोषः? अथ तैजसं चक्षू रूपादीनां मध्ये रूपस्यैव प्रकाशकत्वात् प्रदीपवदित्यतोऽनुमानात् तैजसत्वसिद्धेर्नेतरेतराश्रयदोषः । नन्वत्र भास्वररूपोष्णस्पर्शतेजोद्रव्यसमवेतगोलकस्वभावं कार्यद्रव्यं यदि 'चक्षुः'शब्दवाच्यं तस्य तैजसत्वसाधने अध्यक्षविरोधः तद्विपरीतरूपस्पर्शाधारतयाऽध्यक्षतः प्रतिपत्तेः । तथाहि-अबला-पारावत-बलीवर्दादीनां चक्षुषो धवल-लोहित-नीलरूपतयोष्णस्पर्शविकलतया चाध्यक्षतः प्रतिपत्तिः सिद्धैव । न च गोलकव्यतिरिक्तं चक्षुस्तद्ग्राहकप्रमाणाभावात् सिद्धमित्याश्रयासिद्धः स्वरूपासिद्धश्च, रूपस्यैव प्रकाशकत्वादिति हेतुरनैकान्तिकश्च तुहिनकरकरनिकरेण तस्य रूपस्यैव प्रकाशकत्वेऽप्यतैजसत्वात् । न चास्यापि पक्षीकरणाददोषः व्यभिचारविषयस्य पक्षीकरणादैकान्तिकत्वे सर्वत्रानैकान्तिकहेत्वभावप्रसक्तेः । न चैवं जलानलयोर्विशेषगुणसङ्करात् भेदः सिध्येत् । न च तन्निकरान्तर्गतं तेजस्तत्रापि रूपप्रकाशकमिति न व्यभिचारः प्रदीपेऽप्यन्यस्य तदन्तर्गतस्य तत्प्रकाशकस्य प्रकल्पनात् दृष्टान्तासिद्धिप्रसक्तेः । प्रत्यक्षबाधोभयत्र चक्षूरूपसम्बन्धेन रूपस्यैव प्रकाशकेन च व्यभिचारः । न चासौ रसादेरपि प्रकाशकः इन्द्रियान्तरपरिकल्पनावैफल्यप्रसक्तेः । रूपप्रकाशकत्वं च रूपज्ञानजनकत्वम् तच्च नीलरूपेऽपि विद्यते अन्यथा "अर्थवत् प्रमाणम्" [वात्स्या० भा० पृ० १] इत्यत्रार्थसहकारित्वं तस्य न स्यादिति तेन व्यभिचारः । अथ द्रव्यत्वे सति करणस्य रूपादीनां मध्ये रूपस्यैव प्रकाशकत्वादिति विशेषणान्न सम्बन्ध-रूपाभ्यामनेकान्तः । ननु यथा सम्बन्धादेरद्रव्यादेरप्यतैजसस्य रूपज्ञानजननं तथा चक्षुषोऽपि किं न स्यात्? न च 'अदर्शनात्' इत्युत्तरम् असर्वदर्शिदर्शननिवृत्तेर्भावानिवर्तकत्वात् । प्रदीपवदिति दृष्टान्तस्यापि रूपप्रकाशकत्वासिद्धेः साधनविकलता दृष्टान्तस्य । न च

१-द्बाधकः क-वृ० ल० बा० बा० विना । २ "पक्षस्य"—वृ० ल० टि० । ३-धने तु त-वृ० आ० हा० वि० । ४ "वृषदंशनेत्रे"—वृ० ल० टि० । ५ "रश्मिप्रतीतेः"—वृ० ल० टि० । ६ "नारीनयनानां तैजसत्वम्"—वृ० ल० टि० । ७ भास्कर-भा० मां० । ८-त्तिस्तथा सि-भा० मां० । ९-णादनैका-वृ० बा० बा० । १० "अयमभिप्रायः—यथा न हिमकरकरा रूपप्रकाशकाः किन्तु तदन्तर्गतमन्यदेव तेजो रूपप्रकाशकम्"—ल० टि० । "अयमभिप्राय —यथा न हिमकरकरा रूपप्रकाशका किन्त्वन्यदेव तेषु अन्तर्गतं रूपं तेज तत् तत्प्रकाशकमिति"—वृ० टि० । ११ "हिमकरनिकर"—वृ० ल० टि० । १२ "दीपेऽपि वक्तुं शक्यम्—न दीपो रूपप्रकाशकः किन्तु तदन्तर्गतमन्यदेव तेजो रूपप्रकाशकम्"—वृ० ल० टि० । १३ "सन्निकर्षो हि चक्षूरूपसम्बन्धरूप स च रूपप्रकाशकोऽपि ते-(न तै-)जसतामनुभवति"—वृ० ल० टि० । १४ "न च तैजसत्वं रूपप्रकाशकत्वेऽपि"—वृ० ल० टि० । १५-रूपे वि- वृ० आ० हा० वि० विना ।

प्रदीपे सति प्रतिनियतप्राणिनां रूपदर्शनसंभवात् तस्य रूपप्रकाशकत्वम् अञ्जनादिसंस्कृतचक्षुषां तदभावेऽपि रूपदर्शनसद्भावात्। न च यदन्तरेणापि यद् भवति तत् तत्कार्यम् इतरत् तत्कारणम् अन्वयव्यतिरेकनिबन्धनत्वात् तद्भावस्य। अथ प्रदीपे सति यद् दर्शनं तत् तदभावे[1] न भवति यत्तु तदभावे भवति न तत् तत्रापि तत्सदृशम्। न चान्यस्य व्यभिचारे अन्यस्यासौ[2] अतिप्रसङ्गात्, असदेतत्, यतो यादृशमेव रूपदर्शनमालोके संस्कृतचक्षुषाम् तदभावेऽपि तादृशमेव तद्भेदानवधारणात्। तथा[3] हि तद्भेदकल्पने न किञ्चित् कस्यचिद् वस्तुनः[4] सदृशमिति सौगतमतानुप्रवेशः स्यात्। रूप-प्रदीपयोश्च सहोत्पन्नयोर्युगपद्दर्शने प्रदीपवत् रूपस्यापि प्रदीपप्रकाशकत्वाद् रूपं तैजसं भवेत् अन्यथा न प्रदीपोऽपि तैजसः स्यात् तज्जनकत्वाविशेषात् तयोः[5]। न चान्यदा[6] प्रदीपस्यैव रूपप्रकाशकत्वोपलब्धेः स एव तदापि प्रकाशकोऽन्यदाऽप्यञ्जनादिसंस्कृतचक्षुषां तदभावेऽपि[7] रूपदर्शनसद्भावात् तस्य[8] तत्प्रकाशकत्वासिद्धेः। अथ तस्मिन् सति कदाचित् कस्यचित् रूपदर्शनात् तस्य तत्प्रदर्शकत्वं तर्हि नक्तंचराणां संतमसे रूपदर्शनात् तदभावे[9] च तदभावात्[10] हेतुफलभावस्य सर्वत्र तन्निबन्धनत्वात् तमोऽपि रूपप्रकाशकत्वात् प्रदीपवत् तैजसं भवेत्। अन्यथा हेतोर[11]नेनै[12]व व्यभिचारः स्यात्।

[अनुषङ्गात् तमसो भावाभावत्वप्रक्रमः]

आलोका[13]भाव एव तम इति चेत्, न; आलोकस्यापि तमोऽभावरूपताप्रसक्तेः। आलोकस्य तरतमादिरूपतयोपलम्भात् नाभावरूपतेति चेत् न, तमस्यप्यस्य समानत्वात्। यथा चालोकः प्रतिभासविषयस्तथा तमोऽपि तद्विषयः। न चालोकप्रतिभासाभाव एव तमःप्रतिभासः इतरत्राप्यस्य समानत्वात्। न च चक्षुर्व्यापाराभावेऽपि तत्प्रतिभाससंवेदनादालोकप्रतिभासाभाव एव तमःप्रतिभासः प्रतिनियतसामग्रीप्रभवविज्ञानावभासित्वात् प्रतिनियतभावानां तमसस्तदतत्प्रभवविज्ञानावभासित्वात् आलोकस्य च तद्विपर्ययात् यद्वा आलोकस्याप्यचक्षुर्जे सत्यस्वप्नज्ञाने प्रतिभासनात् तमोज्ञानाभावरूपता भवेत्। अथालोकस्य रूपप्रतिपत्तौ हेतुभावान्नाभावरूपता तर्हि तमसोऽपि नक्तंचररूपप्रतिपत्तौ हेतुभावो विद्यत इति नाभावरूपता भवेत्। तदेवमालोकस्य वस्तुत्वे तमसोऽपि तद[14]स्त्विति तेन हेतो[15]र्व्यभिचारः। भवतु वा आलोकाभाव एव तमस्तथापि व्यभिचारापरिहारः तदभावस्यातैजसस्यापि तत्प्रकाशकत्वात्[16]। अथ तमोऽभावेऽपि रूपदर्शनान्न तस्य तत्प्रकाशकत्वं तर्हि नक्तंचराणामालोकाभावेऽपि रूपदर्शनादालोकस्यापि न तत्प्रकाशकत्वं भवेत्। अथास्मदादीनां

---

१ "दीपाभावे"—वृ० ल० टि०। २ "व्यभिचार."–वृ० ल० टि०। ३ अत्र 'तथापि' पाठ सम्यक् स्यात्। ४-स्तुतः स-वृ० ल०। ५ "प्रदीप-रूपयो."–वृ० ल० टि०। ६ "आलोकाभावे"–वृ० ल० टि०। ७ "दीप-" वृ० ल० टि०। ८-स्य प्र-वृ० आ० हा० वि०। ९ "तम-" वृ० ल० टि०। १० "रूपदर्शन-" वृ० ल० टि०। ११ "रूपप्रकाशकत्वादित्यस्य"–ल० टि०। १२ "तमसा"–ल० टि०।

१३ तमसः स्वरूपे मतद्वयम्–केचित् तमो भावरूपं मन्यन्ते केचित्त्वभावरूपम्। तत्र जैना. पुद्गलपरिणामतया, भर्तृहरिप्रमुखवैयाकरणा अणुपरिणामतया, साङ्ख्या' प्रकृतिपरिणामतया मीमांसकाश्च अभावस्य पदार्थान्तरत्वाभावेन च तमसो भावरूपता प्रतिपन्ना। नैयायिक-वैशेषिकौ तु तमसस्तेजोऽभावरूपत्वेन अभावरूपता स्वीकृतवन्तः। तमोभावाभावचर्चाविषयाणि तत्तद्ग्रन्थस्थलानि यथा—५, २४ राजवा० वा० १९, २०, २१ पृ० २३३। ५, २४ तत्त्वार्थभाष्यव्याख्या पृ० ३६३ पं० ६– ३६४ पं० १६। प्रमेयक० पृ० ६५ प्र० पं० २-। ५, ८ स्याद्वादर० पृ० ८४९ पं० १९—८६७ पं० ९ आ०। २, २१ रत्नाकराव० पृ० ६४–७२। स्याद्वा० का० ५ पृ० १६ पं० ७–२१।

"अणवः सर्वशक्तित्वाद् भेदसंसर्गवृत्तयः। छायाऽऽतपतमःशब्दभावेन परिणामिनः ॥
स्वशक्तौ व्यज्यमानाया प्रयत्नेन समीरिताः। अभ्राणीव प्रचीयन्ते शब्दाख्याः परमाणवः ॥"
—वाक्यप० प्र० का० श्लो० १११–११२।

न्यायवा० ता० टी० पृ० ३४५ पं० ४—१६। प्रशस्त० कं० पृ० ९ पं० १– १० पं० ८।

१४ "वस्तुत्वम्"–वृ० टि०। १५ "'रूपादीनां मध्ये रूपस्यैव प्रकाशकत्वात्' इत्यस्य"–वृ० ल० टि०। १६ "नक्तंचरादीनां रूपप्रकाशकत्वात्"–वृ० ल० टि०।

किमित्यालोकाभावे रूपदर्शनं न भवति? भवत्येव कथमन्यथान्धकारसाक्षात्करणम्? घटरूपदर्शनं किं नेति चेत् बहलतमोव्यवधानात् तीव्रालोकतिरोहितात्परूपवत् । प्रदीपोपादानं तु तस्य व्यवच्छेदार्थम् । अत एवान्यत्रोक्तम्–

"तमोनिरोधे वीक्षन्ते तमसानावृत्तं(वृतं) परम् ।
घटादिकम्" [ ] इत्यादि ।

प्रदीपस्य च घटरूपव्यवधायकतमोऽपनेतृत्वे 'तैजसं चक्षू रूपादीनां मध्ये रूपस्यैव प्रकाशकत्वात् प्रदीपवत्' इति साधनविकलत्वाद् दृष्टान्तस्य निरस्तं द्रष्टव्यम् ।

न चान्यत एव तस्य रश्मयः सिद्धाः केवलमनेन प्राप्तार्थप्रकाशकत्वं तेषां साध्यत इति वक्तव्यम् तत्सद्भावप्रतिपादकस्य प्रमाणस्याभावात् । अथ यद्यप्राप्तार्थप्रकाशकं चक्षुः अविशेषेण सर्वं प्रकाशयेत्, न, भावानां नियतशक्तित्वात् । यतो य एव यत्र योग्यः स एव तत् प्रकाशयति अन्यथा संयुक्तसमवायाविशेषाच्चक्षुर्यथा कुवलयरूपं प्रकाशयति तथा तद्गन्धमपि प्रकाशयेत् तथा चेन्द्रियान्तरवैफल्यम् । अथ योग्यताऽभावान्न तत् तद्गन्धमवभासयति तर्हि योग्यताऽभावात् प्राप्त्यभावेऽपि नातिव्यवहितमतिसन्निकृष्टं वा तद्रूपं प्रकाशयतीति सर्वत्र योग्यतैवाश्रयणीया नापरं सम्बन्धप्रकल्पनेन कृत्यम् 'रश्मयो वा कुतो न लोकान्तमुपयान्ति'? इति प्रेरणायां परेणाप्ययोग्यतैव तत्र इतरत्र तु योग्यता प्रतिविधानत्वेन वक्तव्या । तथा, यस्य कारणाद् भिन्नमेव कार्यं तस्य भेदाविशेषात् सर्वं सर्वस्मात् कुतो नोत्पद्यत इति चोद्ये योग्यतातो नापरमुत्तरमिति सैवात्राप्यभ्युपगमनीया । किञ्च, यदि प्राप्तार्थप्रकाशकं चक्षुः स्फटिकाद्यन्तरितवस्तुप्रकाशकं न स्यात् तद्रश्मीनां विषयं प्रति गच्छतां स्फटिकादिना प्रतिबन्धात् । न च तैस्तस्य ध्वस्तत्वाद्यमदोषः तद्व्यवहितवस्तुदर्शनसमये स्फटिकादेर्व्यवधायकस्यादर्शनप्रसङ्गात् तदुपरि व्यवस्थापितस्य चाधारविनाशात् पातप्रसक्तेश्च न हि परमाणवो दृश्याः कस्यचिदाधारभूता वा अवयविकल्पनावैयर्थ्यप्रसक्तेः । अन्यस्यावयविन आशूत्पत्तेरदोषश्चेत्, न, तदा तद्व्यवहितस्यादर्शनप्रसक्तेः । तथा च यदा व्यवधायकदर्शनं न तदा व्यवहितदर्शनम् यदा च व्यवहितदर्शनं न तदा व्यवधायकदर्शनमिति प्रसज्येत । न चैवम् युगपद् द्वयोर्दर्शनात् । अथाशूत्पत्तेर्निरन्तरं व्यवहितप्रतिपत्तिविभ्रमस्तर्हि तदभावस्यापि आशुवृत्तेरभावप्रतिपत्तिविभ्रमस्तथा किं न भवेत्? भावपक्षस्य बलीयस्त्वादिति चेत्, न, भावाभावयोः परस्परं स्वकार्यकरणं प्रत्यविशेषात् । किञ्च, कलुषजलाद्यावृतस्यार्थस्य किं न ते प्रकाशकाः स्फटिकादेरिव जलादेरपि भेदे तेषां सामर्थ्याप्रतिघातात्? न च जलेन ते प्रतिहन्यन्ते स्वच्छजलेनापि तेषां प्रतिघातात् तद्व्यवहितस्याप्यप्रकाशनप्रसङ्गात् । अथ तेषां तत्र प्रकाशनयोग्यता तर्हि तत एव तेऽप्राप्तमप्यर्थं प्रकाशयिष्यन्तीति व्यर्थं संयुक्तसमवायादिसन्निकर्षप्रकल्पनम् । अपि च, समवायसम्बन्धनिषेधे चक्षुषो घटरूपेण संयुक्तसमवायप्रतिबन्धस्याभावात् तद्रूपाप्रकाशकत्वात् कथं नासिद्धो हेतुः 'रूपादीनां मध्ये रूपस्यैव प्रकाशकत्वात्' इति? अथ 'इह तन्तुषु पटः' इति बुद्धिः सम्बन्धनिबन्धना तद्बुद्धित्वात् 'इह कुण्डे दधि' इति बुद्धिवत् इत्यतोऽनुमानात् समवायसिद्धेः न संयुक्तसमवायसम्बन्धाभावः, न, 'इह'बुद्ध्या सम्बन्धमात्रसाधने घट–तद्रूपयोः कथञ्चित्तादात्म्यसम्बन्धाभ्युपगमात् सिद्धसाध्यताप्रसङ्गात् । अथ कथञ्चित्तादात्म्यसम्बन्धः तद्बुद्धिनिमित्तत्वेन न प्रतिपन्न इति कथमतोऽसौ साध्यस्तर्हि समवायेऽप्येतत् समानम् । तथापि ततस्तत्साधनेऽन्यत्र कः प्रद्वेषः? अथ घट–तद्रूपयोः कथञ्चित्तादात्म्यसम्बन्धो विरोधान्नेष्यते तर्हि भावाभावयोः कथञ्चित्तादात्म्याभावे समवायादेरसंभवादसम्बन्धः स्यात् तथा च अभावेनाक्षाणां सन्निकर्षाभावान्नाक्षतस्तत्प्रतिपत्तिः स्यात् । विशेषणविशेष्यभावस्य भावाभावयोः सम्बन्धस्य भावान्नायं दोष इति चेत्, न; भावाभावाभ्यां

---

१ "जना."–वृ० ल० टि० । २–पस्य व्य–भां० मां० । ३–क्षुः स्फुटि–ल० वा० बा० । ४–तां स्फुटि–ल० वा० बा० । ५ "प्रतिबन्धस्य"–वृ० ल० टि० । ६–मये स्फुटि– ल० वा० बा० । ७–स्य बाधा–वृ० ल० वा० बा० विना । ८–न्तर व्य–वा० बा० । "निरन्तरस्फटिकादिविभ्रम."–प्रमेयक० पृ० ६१ द्वि० पं० ६ । ९ "अवयवि–" वृ० ल० टि० । १० "रूसम"–वृ० ल० टि० । ११–काः स्फुटि–वा० बा० । १२ "स्वच्छजल–" वृ० ल० टि० । १३ व्यर्थं समवा–वृ० आ० हा० वि० । १४ अत्र प्रशस्त० कं० गतं समवायनिरूपणं द्रष्टव्यम्–पृ० ३२४–३२५ । १५–नं प्र–वा० बा० ।

तस्यानर्थान्तरत्वे तावेव स एव वा स्यात् । अर्थान्तरत्वे भावाभावयोः सद्भावेऽपि न विशेषणविशेष्यरूपता ताभ्यां तस्यासम्बन्धात् सम्बन्धे वा ताभ्यां तस्यापरेण सम्बन्धनिमित्तेन विशेषणविशेष्यभावेन भवितव्यम् । तस्यापि सम्बन्धनिमित्तेनापरेण तेनेत्यनवस्था भवेत् । तस्मात् कथञ्चित् तयोस्तादात्म्यमभ्युपगन्तव्यम् । अन्यथाऽभावस्याध्यक्षप्रमाणग्राह्यता न भवेत् । तदेवं समवायासिद्धेर्नीक्षस्य रूपेण सम्बन्ध इति न तेन तस्य ग्रहणं परपक्षे भवेदिति "चक्षुषो घटेन संयोग एव युतसिद्धत्वात् द्रव्यसमवेतानां गुणादीनां संयुक्तसमवाय एव" [ ] इत्यादि षोढा सन्निकर्षप्रतिपादनमयुक्तम् संयोग-समवाय-विशेषणविशेष्यभावसम्बन्धानामभावेन तदनुपपत्तेः संयोगादेश्चाभावः प्रतिपादित एव यथावसरमिति न पुनः प्रतिपाद्यते ।

अथ यथाऽस्माकं चक्षुषः प्राप्तार्थप्रकाशकत्वं प्रमाणाभावान्न सिद्धं तथा भवतोऽप्यप्राप्तार्थप्रकाशकत्वं तस्य तत एव न सिद्धमिति कथम्—

"रूवं पुण पासइ अपुट्ठं तु" [आवश्यकनि० गा० ५]

इत्यभिधानं युक्तिसङ्गतम्, न, तस्याप्राप्तार्थप्रकाशने अनुमानसद्भावात् । तथाहि—अप्राप्तार्थप्रकाशकं चक्षुः अत्यासन्नार्थाप्रकाशकत्वात् यत् पुनः प्राप्तार्थप्रकाशकं तदत्यासन्नप्रकाशकमुपलब्धम् यथा श्रोत्रादि अत्यासन्नार्थाप्रकाशकं च चक्षुस्तस्मादप्राप्तार्थप्रकाशकमिति व्यतिरेकी हेतुः । न चायमसिद्धो हेतुः गोलकस्थस्य कामलादेः पक्ष्मपुटगतस्य चाञ्जनादेस्तेनाप्रकाशनात् कथमन्यथा दर्पणादेः परोपदेशस्य वा तत्प्रतिपत्त्यर्थमुपादानं भवेत् ? अथ साध्यनिवृत्तौ नियमेन यतः साधनं निवर्तते स वैधर्म्यदृष्टान्तः जीवच्छरीरस्य सात्मकत्वे साध्ये घट इव आत्मशरीरसंयोगविशेषे सात्मकत्वे निवर्तमाने नियमेन ततः प्राणादिमत्त्वनिवृत्तेः न च श्रोत्रादेरप्राप्तार्थप्रकाशकत्वे निवर्तमानेऽत्यासन्नार्थाप्रकाशकत्वं नियमेन व्यावर्तते चक्षुष इव तस्याप्यत्यासन्नार्थाप्रकाशकत्वात् ततो नायं व्यतिरेकी हेतुः, न, कर्णशष्कुलीप्रविष्टमशकादिशब्दस्य तेन प्रकाशनात् स्पर्शनादौ त्वविवाद एव । "चक्षुः-श्रोत्र-मनसामप्राप्तार्थकारित्वम्" [ ] इति वचनादप्राप्तार्थप्रकाशकं श्रोत्रमिति न साध्यनिवृत्तौ साधननिवृत्तिस्तत इति नायं व्यतिरेकी हेतुरिति सौगतः यथा सर्वगतात्मपक्षे सात्मकं जीवच्छरीरं प्राणादिमत्त्वादिति हेतुः, न, अप्राप्तकारित्वे श्रोत्रस्य चक्षुष इवात्यासन्नविषयप्रकाशकत्वं न स्यादिति मशकादिशब्दस्य प्राप्तस्य प्रत्यक्षतः प्रकाशकत्वेन प्रतीयमानस्याप्राप्तार्थप्रकाशकत्वं तस्याध्यक्षबाधितम् अग्नावनुष्णत्ववत् । अथ 'दूरे शब्दो निकटे शब्दः' इति प्रतीतेरप्राप्तार्थप्रकाशकम् प्राप्तार्थप्रकाशकं च श्रोत्रमिष्यते, न सदेतत्; यतः साकारज्ञानपक्षेऽनाकारज्ञानपक्षे वाऽयमभ्युपगम इति वाच्यम् ? न तावत् प्रथमः पक्षः शब्दाकारस्य ज्ञानगतस्यावभासे दूर-निकटव्यवहारानुपपत्तेः अन्यथा स्वसंवेदनाकारेऽपि तत्प्रसक्तिर्भवेदिति सर्वत्रासन्नदूरव्यवहारोऽघटमानकः स्यात् । अथाकाराधायकस्यासन्नादित्वात् तद्व्यवहारस्तर्हि परपक्षेऽप्येतदुत्तरं समानं भवेदिति किं तत्प्रतिक्षेपः ? शक्यं हि परेणाप्येवमभिधातुम् कर्णशष्कुल्यनुप्रविष्टस्य शब्दस्य ग्रहणेऽपि तत्प्रथमकारणस्य दूरत्वाद् दूरव्यवहारो विपर्ययाच्च विपर्यय इति । द्वितीयपक्षस्त्वयुक्तः सौगतस्यानभिमतत्वात् । अथ परापेक्षयाऽप्राप्तार्थप्रकाशकं श्रोत्रमित्यभिधीयते दूरादिव्यवहारात्

१-वयोस्तद्धा-भा० मा० विना । २-पताभ्यां भा० मा० आ० हा० । ३ पृ० ५११ पं० १५-२० टि० ९ । ४ पृ० ११३ पं० ४२ तथा पृ० १०६ पं० १० ।

५ "पुट्ठं सुणेइ सद्दं रूवं पुण पासइ अपुट्ठं तु । गंधं रसं च फासं बद्धपुट्ठं वियागरे" ॥ इति संपूर्णा गाथा ।

६ "चक्षुषाऽप्रकाशनात्"-बृ० ल० टि० । ७ "घटादेः सकाशात्"-बृ० ल० टि० । ८ "प्राप्तार्थप्रकाशकत्वे"-बृ० ल० टि० । ९ "श्रोत्रादे"-बृ० ल० टि० । १० "श्रोत्रेण"-बृ० ल० टि० । ११ "श्रोत्रस्य"-बृ० ल० टि० । १२ प्राप्तार्थप्र-वा० बा० आ० हा० वि० । अत्र 'प्राप्तार्थप्रकाशकं च' इत्यंशस्य असंलग्नतया भासमानत्वात् 'अथ दूरे शब्दो निकटे शब्द इति प्रतीतेः प्राप्तार्थाप्रकाशकं श्रोत्रमिष्यते' एतावान् पाठो मौलिको भाति । "प्राप्यकारित्वे च श्रोत्रस्य तद्गोचरे शब्दे दूरादिव्यवहारो न स्यात् । अस्ति चात्रायं दूरे शब्दो निकटे शब्द श्रूयत इति प्रतीतिः अतोऽप्राप्यकारित्वमेवास्योपपन्नम्"—स्याद्वादर० पृ० ३३३ पं० १८ आ० । १३ "निराकारज्ञानस्य"-बृ० टि० । १४ "निराकारज्ञानरूपः"-ल० टि० । १५-या प्रा-वा० बा० ।

तद्विषये चक्षुर्वदिति, न; एवं परसिद्धेनानुमानेन प्रमाणेतरसामान्यव्यवस्थादेश्चार्वाकस्योत्पत्त्यनित्यत्वादिना सुखादेरचेतनत्वप्रसाधनं सांख्यस्य चानिषिद्धं भवेत् बौद्धाभ्युपगतेनानुमानेनोत्पत्त्यादिना च तेनापि स्वाभिप्रेतसाध्यस्य साधयितुं शक्यत्वात्। यश्च बाणादेरागतस्य ग्रहणेऽपि दूरादिव्यवहारं प्रतिपद्यते परः स कथं तत एव त्वदीयं साध्यं प्रतिपद्येत? यदि च स्वोत्पत्तिदेशस्थ एव शब्दः श्रोत्रेण गृह्येत नागतस्तर्हि कथमनुवाते शब्दस्य तद्देशोत्पत्तिकस्यैव श्रवणम् प्रतिवातेऽश्रवणम् मन्दवाते मनाक् श्रवणं भवेत्? न च प्रतिकूलवातेन शब्दस्य नाशितत्वात् श्रोत्रस्य वाभिहतत्वान्न श्रवणं शब्दविनाशे अनुकूलवातस्थस्यापि तदश्रवणप्रसक्तेः। शब्दस्य विनष्टत्वात् व्यवहितदेशस्थस्य च तस्य श्रोत्राभिघातहेतुत्वानुपपत्तेः अन्यथा मल्लादिव्यवस्थितस्यापि तस्य तदुपघातकत्वं स्यात्। अनुकूलवातेन तस्य तं प्रति प्रेरणात् तेन तच्छ्रवणे 'प्राप्तः शब्दः श्रूयते' इति प्राप्तम् तथापि तत्र दूरादिव्यवहारे न श्रोत्रमप्राप्तप्रकाशकमतः सिध्यतीति कथं न व्यतिरेकी हेतुः? न च 'चक्षुः'शब्देन नायनरश्म्यभिधानादत्यासन्नाप्रकाशकत्वाच्च तेषाम् 'अत्यासन्नाप्रकाशकत्वात्' इति हेतुरसिद्धः तेषां प्रत्यक्षादिप्रमाणाविषयत्वेन सद्भावासिद्धेरिति प्रतिपादनात्। तदसिद्धतादिदोषविकलादतो हेतोरप्राप्तार्थप्रकाशकत्वं चक्षुषः सिद्धमिति 'रूवं पुण पासइ अपुट्ठं तु' इति न युक्तिविकलं वचः तदेवसिन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नत्वं प्रत्यक्षस्यासिद्धम्।

यदपि 'न त्वन्तःकरणेन्द्रियसम्बन्धस्य सुखादिज्ञानोत्पत्तावसंभवेन तस्याव्यापकत्वादभिधानम्' इति, तदप्यसम्बद्धम्; यथा हीन्द्रियार्थसन्निकर्षो यथोक्तन्यायेन रूपिज्ञानोत्पत्तौ न संभवीति न प्रत्यक्षलक्षणं तथान्तःकरणेन्द्रियसम्बन्धोऽपि, अन्तःकरणस्य परपरिकल्पितस्यासिद्धत्वात् तत्सम्बन्धस्य च दूरापास्तत्वात्। यथा चान्तःकरणस्यासिद्धिस्तथा स्वनिर्णयं ज्ञानस्य साधयद्भिः प्रदर्शितम्।

यदपि 'अव्यभिचारादिकार्यविशेषणोपादानमन्तरेण सन्निकर्षस्य साधुत्वं ज्ञातुं न शक्यते' इति अभिधानम् तदप्यसङ्गतम्, परपक्षेऽव्यभिचारादिधर्मोपेतस्य ज्ञानकार्यस्यैवासिद्धेः कथं ततः सन्निकर्षस्य साधुत्वावगमः? कार्यत्वानवगमश्च ज्ञानस्य स्वसंविदितत्वानभ्युपगमे ज्ञानान्तरप्रत्यक्षतायामनवस्थादिदोषोपपत्तेः प्राक् प्रतिपादनात्। यच्च 'अर्थग्रहणं स्मृतिफलसन्निकर्षनिवृत्त्यर्थम्' इत्युक्तम्, तदप्यसङ्गतम्, स्मृतिवद् ज्ञानस्याप्यर्थजन्यत्वासिद्धेः तज्जन्यत्वात् तस्य तद्ग्राहकत्वे समानसमयचिरातीतानागतार्थग्राहकत्वं तस्य न स्यात् तथाभूतस्यार्थस्य तत् प्रत्यजनकत्वात् तथा च सर्वज्ञज्ञानं सकलपदार्थग्राहकं न भवेदिति प्राक् प्रतिपादितम्। यदपि 'ज्ञानग्रहणं सुखादिनिवृत्त्यर्थम्' इति प्रतिपादितम्, तदप्यसङ्गतम्; सुखादेर्ज्ञानरूपत्वानतिक्रमात् अन्यथा आल्हादाद्यनुभवो न स्यात् तद्ग्राहकस्यापरस्यानुभवस्यानवस्थादिदोषतो निषिद्धत्वात्। यदपि भिन्नहेतुकत्वं सुखादेः प्रतिपादितम् तदपि सुखत्वादेः सामान्यस्यासिद्धेरसङ्गतम्। यश्च प्रत्यक्षविरोधः प्रतिपादितो ज्ञानसुखयोरेकत्वे–'ज्ञानमर्थावबोधस्वभावं सुखादिकमाल्हादादिस्वभावं ततो भिन्नमध्यक्षतोऽनुभूयते' इति सोऽप्यनुपपन्नः यतः स्वावबोध एव विज्ञाने अव्यभिचरितो धर्मः स्मरणादौ ज्ञानरूपतायामप्यर्थावबोधरूपताया अभावात्। एतच्च 'अर्थोपलब्धिः' इति विशेषणमुपाददता प्रमाणे परेणाभ्युपगतमेव। स्वाववोधरूपता तु ज्ञानाव्यभिचरिता सुखादावप्यस्ति अन्यथा तस्यानुभव एव न स्यादिति प्रतिपादितम् ततश्च सुखादेर्ज्ञानरूपतायां कथमध्यक्षविरोधः? अदृष्टविशेषप्रभवत्वेन च सुखादेर्भेदे सुरूपज्ञानस्य विरूपज्ञानाद् ज्ञानरूपतया भेदो भवेत् अदृष्टविशेषजन्यताया अविशेषात्। तन्न सुखादिव्यवच्छेदार्थं ज्ञानपदोपादानं युक्तम्। अव्यपदेश्यपदोपादानमप्यनर्थकम् व्यवच्छेद्याभावात्। उभयजं ज्ञानं व्यवच्छेद्यमिति चेत्, न, तस्याध्यक्षतायां दोषाभावात्। अथ शब्दजत्वात् तस्य शाब्देऽन्तर्भावः; नन्वक्षजत्वादध्यक्षे किमिति नान्तर्भावः? शब्दस्य तत्र प्राधान्याच्छाब्दं तदिति चेत्, न; अक्ष-

---

१-स्य चानि-आ०। २ "परवादिना"-बृ० ल० टि०। ३-च श्रोत्रे-बृ० आ० हा० वि० विना। ४-द्वारे न श्रो-आ० हा० वि०।-द्वारे श्रो-वा० बा०। ५ पृ० ५४५ पं० ११। ६ पृ० ५१९ पं० २३। ७-स्य दू-भा० मां० विना। ८ पृ० ४७७ पं० १७-पृ० ४७८ पं० ६। ९ पृ० ५२० पं० ३। १० कार्यान-वा० बा० विना। ११ पृ० ५२० पं० ११। १२ "ज्ञानस्य"-बृ० ल० टि०। १३ "अर्थ"-बृ० ल० टि०। १४ सर्वज्ञानं बृ०। १५ पृ० ५२० पं० १४। १६ पृ० ५२१ पं० ५। १७ पृ० ५२१ पं० ४। १८-यजन्या-बृ० आ० वि०। १९-क्षतया दो-बृ०।

लिङ्गातिक्रान्त एव शब्दस्य प्राधान्येन व्यापारोपगमात्। अथोभयजज्ञानविषयस्यापि तदतिक्रान्तत्वे तर्ह्यव्यपदेश्यपदोपादानमन्तरेणापि शाब्द एव तस्यान्तर्भावो भविष्यतीति तद्व्यवच्छेदार्थमव्यपदेश्यपदोपादानमनर्थकम्। अथोभयजत्वादस्य प्रमाणान्तरत्वं स्यात् असति अव्यपदेश्यग्रहणे, न; अक्षप्राधान्ये प्रत्यक्षता शब्दप्राधान्ये तु शाब्दतेति कथं प्रमाणान्तरता? न चोभयोरपि प्राधान्यम् सामग्र्यामेकस्यैव साधकतमत्वात् तेनैव च व्यपदेशप्राप्तेः। यदपि 'व्यभिचारिज्ञाननिवृत्त्यर्थमव्यभिचारिपदमुपात्तम्; तदप्ययुक्तम्; तत्प्रतिपाद्यस्यार्थस्य परमतेनासङ्गतेः। तथाहि-अदुष्टकारणप्रभवत्वं बाधारहितत्वं वा अव्यभिचारित्वं प्रवृत्तिसामर्थ्यावगमव्यतिरेकेण न ज्ञातुं शक्यमिति स्वतःप्रामाण्यनिराकरणप्रस्तावे प्रतिपादितमिति प्रवृत्तिसामर्थ्यमेवाव्यभिचारित्वम्। तच्च विषयप्राप्त्या विज्ञानस्याव्यभिचारित्वं ज्ञायमानं किं प्रतिभातविषयप्राप्त्याऽवगम्यते आहोस्विदप्रतिभातविषयप्राप्त्या? यदि प्रतिभातविषयप्राप्त्या तदोदकज्ञाने किमुदकावयवी प्रतिभातः प्राप्यते उत तत्सामान्यम् आहोस्विदुभयमिति पक्षाः। तत्र यद्यवयवी प्रतिभातः प्राप्यत इति पक्षः स न युक्तः अवयविनोऽसत्त्वेन प्रतिभासं प्रति विषयत्वासंभवात् सत्त्वेऽपि न तस्य पराभ्युपगमेन प्रतिभातस्य प्राप्तिः क्षेपादिविवर्तनाभिघातोपजातावयवक्रियादिक्रमेण ध्वंससंभवात्। अथावस्थितव्यूहैरवयवैरारब्धस्य तस्य तज्जातीयतया प्रतिभातस्यैव प्राप्तिः नन्वेवमप्यन्यः प्रतिभातोऽन्यश्च प्राप्यत इति कथं तदवभासिनो ज्ञानस्याव्यभिचारिता न ह्यन्यप्रतिभासनेऽन्यत्र प्राप्तावव्यभिचारिता अन्यथा मरीचिकाजलप्रतिभासे दैवात् सत्यजलप्राप्तौ तदवभासिनस्तस्याऽव्यभिचारिता भवेत्। न च तद्देशजलप्रापकस्याव्यभिचारितेति नायं दोषः यतो देशस्यापि भास्करकरानुप्रवेशादिनाऽवयवक्रियाक्रमेण नाशात् तत्त्वानुपपत्तिः। न चैवमव्यभिचारित्वादिनः चन्द्रार्कादिज्ञानं विनश्यदवस्थपदार्थोत्पादितत्वा(दितं वा) तदव्यभिचारि भवेत्। अथ प्रतिभातोदकसामान्यप्राप्त्या तदव्यभिचारीति पक्षः सोऽप्ययुक्तः एकान्ततो व्यक्तिभ्यो भिन्नस्याभिन्नस्य वा सामान्यस्यासत्त्वेन प्रतिभासप्राप्त्यालम्बनत्वायोगात् सत्त्वेऽपि तस्य नित्यतया स्वप्रतिभासज्ञानजनकत्वायोगादजनकस्य च परेण ज्ञानविषयत्वानभ्युपगमात् ज्ञानविषयत्वेऽपि तस्य पानावगाहनाद्यर्थक्रियाऽनिर्वर्तकत्वान्नार्थक्रियार्थिनां तज्ज्ञानात् जलाद्युपादानार्था प्रवृत्तिर्भवेत्। न च समवायात् सामान्यावगमेऽपि व्यक्तावर्थक्रियार्थिनां प्रवृत्तिः अन्यप्रतिभासे अन्यत्र प्रवृत्त्ययोगात् योगे वाऽतिप्रसङ्गात्। न च समवायस्यातिसूक्ष्मतया जाति-व्यक्त्योरेकलोलीभावेन जातिप्रतिपत्तावपि भ्रान्त्या व्यक्तौ प्रवृत्तिः तज्ज्ञानस्यातस्मिंस्तद्ग्रहणरूपतया भ्रान्तिरूपत्वादव्यभिचारित्वायोगात्। न च समवायोऽपि जातेर्व्यक्तौ संभवति संभवेऽपि तस्य व्यापितया सर्वत्रैकस्य प्रतिनियतव्यक्तिप्रवृत्तिनिमित्तत्वानुपपत्तिः। न च नित्यस्य तस्य ज्ञानजनकत्वमपि संभवीति स्वग्राहिणि ज्ञाने अप्रतिभासमानस्य कथं भ्रान्तिहेतुतापि तस्य संभवति? प्रतिभासनेऽपि स्वरूपेण प्रतिभासनात् कथं भ्रान्तिनिमित्तता? न च सामान्यस्य प्रतिपत्तौ सामान्यसाध्यार्थक्रियार्थितया तदर्थिनां प्रवृत्तिः ज्ञानाभिधान-

---

१ "इन्द्रियसन्निकर्षाभावेन"-बृ० ल० टि०। २-क्षप्राधान्ये तु शाब्दतेति कथं बृ० ल० आ०।-क्षप्राधान्ये तु मानतेति कथं हा० वि०। ३ "शब्देन्द्रिययोः"-बृ० ल० टि०। ४ "व्यभिचारिपद-" बृ० ल० टि०। ५ पृ० ८-११। ६-कज्ञानेन किं-बृ० आ० हा० वि०।

तत्त्वोपप्लवे (लि० पृ० २-२०) इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षमिति नैयायिकसमतप्रत्यक्षलक्षणस्य विचारासहत्वप्रदर्शिका सविस्तरा चर्चा दृश्यते, तत्र यो योंऽशः शब्देनार्थेन च प्रस्तुतटीकया समानभावं बिभर्ति सोऽत्रान्यत्र च तत्तत्स्थले समुद्धृतोऽस्ति।

"अथावगतं तदवगतेरव्यभिचारिता, कथमवगम्यत इति पूर्वोक्तमनुसर्तव्यम्। उदकप्राप्त्या, पूर्वोत्पन्नोदकविज्ञानस्याव्यभिचारिता व्यवस्थाप्यते। किं तत्प्रतिभातोदकप्राप्त्या आहोस्वित् तज्जातीयोद(दक) प्राप्त्या तद्देशजलप्राप्त्या वा? तद्यदि प्रतिभातोदकप्राप्त्या तदयुक्तम् प्रतिभातोदकस्यावस्थानं नोपपद्यते। क्षयमहिषपरिवर्तनाभिघातोपजातावयवक्रियान्वयेन प्रत्यस्तमयसंभवात्। अथ तज्जातीयोदकप्राप्त्या एवं तर्ह्यसत्योदकज्ञानेऽपि जाते क्वचित् तोयमासादयन्ति पुमांसस्तदपि अवितथं स्यात्" इत्यादि—तत्त्वोप० लि० पृ० ४ पं० ८।

७ "मत्स्य"-बृ० ल० टि०। ८-वर्तमानाभि-बृ० आ० हा० वि०। ९ "विषयप्राप्तिलक्षणाव्यभिचारित्वकल्पने"-बृ० ल० टि०। १०-चाराचा-भा० मा०। ११-त्पादितत्वात्तद्-भां०। १२ "सामान्यस्य"-बृ० ल० टि०। १३-नां ज्ञा-बृ०। १४-क्तिप्रतिनिमि-हा० वि०।-क्तिनिमि-ल० वा० बा० मा० भां०। १५ "समवायस्य"-बृ० टि०। १६ "समवायस्य"-बृ० टि०। १७ "अर्थक्रियार्थिनाम्"-बृ० ल० टि०।

लक्षणायास्तदर्थक्रियायास्तदैव निष्पत्तेः । व्यापकत्वाच्च सामान्यस्य न प्रतिनियतदेशकालप्रवृत्तिविषयतेति प्रवृत्त्यभावात् न तत्सामर्थ्यम् तदभावाच्च तदवभासिनो ज्ञानस्याव्यभिचारितावगतिः। अथ प्रतिभाततद्वदर्थप्राप्त्या तदव्यभिचारित्वमिति पक्षः सोऽप्यसङ्गतः अवयवि-सामान्ययोरभावे तद्वत्पक्षस्य दूरापास्तत्वात्। अथ प्रतिभातावयवप्राप्त्या तस्याव्यभिचारिता, न, अवयवानामपि द्व्यणुकं यावदवयवित्वात् परमाणूनां चार्वाग्दर्शनेऽप्रतिभासनाच्च कथंचित्प्रतिभातार्थप्राप्त्या ज्ञानस्याव्यभिचारितासंभवः । किञ्च, प्रवृत्तिसामर्थ्येनाव्यभिचारिता पूर्वोदितज्ञानस्य किं लिङ्गभूतेन ज्ञायते, उताध्यक्षरूपेण? यद्याद्यः पक्षः स न युक्तः तेन सह सम्बन्धानवगतेः अवगतौ वा न प्रवृत्तिसामर्थ्येन प्रयोजनम्। अथ द्वितीयः सोऽपि न युक्तः ध्वस्तेन पूर्वज्ञानेन सह इन्द्रियस्य सन्निकर्षाभावात् तद्विषयज्ञानस्याध्यक्षफलतानुपपत्तेः केशोन्दुकादिज्ञानवत् तस्य निरालम्बनत्वाच्च कथमव्यभिचारिताव्यवस्थापकत्वम्? न चाविद्यमानस्य कथञ्चिद्विषयभावः संभवति जनकत्वाकारार्पकत्वमहत्त्वादिधर्मोपेतत्वसहोत्पादसत्त्वमात्रादीनां विषयत्वहेतुत्वेन[6] परिकल्पितानामसति सर्वेषामभावात् । अथात्मान्तःकरणसम्बन्धेनाव्यभिचारिताविशिष्टज्ञानमुत्पन्नं गृह्यत इति तदव्यभिचारितावगमः; नन्वत्राप्यव्यभिचारित्वं किं ज्ञानधर्मः उत तत्स्वरूपम्? यदि तद्धर्मस्तदा न नित्यः सामान्यदूषणेनापोदितत्वात्। अनित्योऽपि यदि ज्ञानात् प्रागुत्पन्नस्तदा न तद्धर्मः धर्मिणमन्तरेण तस्य तद्धर्मत्वायोगात् । सहोत्पादेऽपि तादात्म्य-तदुत्पत्ति-समवायादिसम्बन्धाभावे 'तस्य धर्मः' इति व्यपदेशानुपपत्तिः। पश्चादुत्पादे पूर्वं व्यभिचारि तद् ज्ञानं स्यात्। किञ्च, अव्यभिचारितादिको धर्मो ज्ञानाद् व्यतिरिक्तः अव्यतिरिक्तो वा? यदि व्यतिरिक्तस्तदा तस्य ज्ञानेन सह सम्बन्धो वाच्यः । स न समवायलक्षणः तस्यासिद्धेः सिद्धावपि ज्ञानस्य धर्मतया अव्यभिचारितादिधर्माधिकरणताऽयोगात् धर्माणां धर्माधिकरणताऽनभ्युपगमात् अभ्युपगमे वा तस्यापि धर्मिरूपताप्रसक्तिः । अथ समानधर्माधिकरणता धर्माणां नाभ्युपगम्यते विजातीयधर्माधिकरणता त्विष्यत एव अन्यथा ज्ञाने 'अव्यभिचारि' इत्यादिव्यपदेशानुपपत्तिर्भवेत् तर्ह्यव्यभिचारितादीनामपि धर्माणां सत्त्व-प्रमेयत्व-ज्ञेयत्वाद्यनेकधर्माधिकरणतया धर्मिरूपतैव प्रसक्तेति कस्यचिद्धर्मस्यापरधर्मानधिकरणस्याभावाद् धर्माभावतो धर्मिणोऽप्यभावप्रसक्तिः। नापि विशेषणविशेष्यभावलक्षणोऽसौ[12] तस्याप्यपरसम्बन्धकल्पनया सम्बन्ध(न्ध)

---

१ "पानादिरूपा त्वर्थक्रिया तत कथं प्रादु ष्यात्"–बृ० टि० । २ "जातिमदर्थप्राप्त्या"–बृ० ल० टि० ।

३ "किञ्च, प्रवृत्तिसामर्थ्येनाव्यभिचारिता पूर्वोदितज्ञानस्य ज्ञायते किं लिङ्गभूतेन आहो अध्यक्षात्मकेन? तद्यदि लिङ्गभूतेन तदयुक्तम् तेन सार्कं संबन्धानवगतेः अवगतौ वा अलं प्रवृत्तिसामर्थ्येन । अथाध्यक्षात्मकेन तदयुक्तम् पूर्वोदितप्रध्वस्तमितेन सार्कं सन्निकर्षाभावात् तद्विषयविज्ञानं न प्रत्यक्षफलं निरालम्बनत्वात् केशोण्डुकादिसंवेदनवत् । न विज्ञानस्याभावोऽवभाति न भावस्तदभावात्। अविद्यमानस्य विषयार्थो वक्तव्य. । किमाकारार्प(र्प)कत्वेन वा महत्त्वादिधर्मोपेतत्वेन वा सत्तामात्रेण वा सहोत्पादेन वा सर्वस्य प्रत्यस्तमितत्वात् कथमसौ विषयस्तद्विषयत्वे केशोण्डुकादिविज्ञानस्येव मिथ्यात्वे बीजमन्वेषणीयम् आत्मसत्तामात्रेण मिथ्यात्वे सर्वस्य मिथ्यात्वमापद्यते ततस्तत्त्वोपप्लव स्यात् । अथान्यथाऽव्यभिचारित्वं गृह्यते आत्मान्तःकरणसम्बन्धेनोत्पन्नं विज्ञानमव्यभिचारिताविशिष्टं प्रयोत्स्यते तदयुक्तम् तदव्यभिचारित्वं तद्धर्मो वा तत्स्वरूपं वा? तद्यदि तद्धर्म स नित्योऽनित्यो वा? यदि नित्यस्तदा जातिदोषेणापोपो(णापो)दितो वेदितव्य । अथानित्य. स पूर्वोत्पन्न सह पश्चाद् वा जात ? तद्यदि पूर्वोत्पन्नस्तदा कस्यासौ धर्म ? न हि धर्मिणमन्तरेण धर्मो भवितुमर्हति सर्वतो व्यावृत्तरूपत्वात् क कस्येति वक्तव्यम् । अथ सहोत्पन्न कस्तयो सबन्ध इति वक्तव्यम् । तादात्म्य-तदुत्पत्ति-समवायसबन्धाभावे सति षष्ठ्यर्थो वक्तव्यस्तस्याव्यभिचारित्वमिति । अथ पृष्ठोत्पन्नस्तर्हि पूर्वं व्यभिचारिता विज्ञानस्य प्राप्नोति न चाध्यात्मिको व्यभिचारित्व्यो धर्मोऽस्ति सुखादिव्यतिरिक्तस्तत्प्रतीत्यसंभवेन स्वयमनभ्युपगमात् । यदि वाऽव्यभिचारादयो धर्मा अर्थान्तरभूता अभ्युपगम्यन्ते तैरवच्छिन्नं विज्ञानं सामग्र्या अवस्थापकमुद्भूयते तच्चानुपपन्नम्"–इत्यादि—तत्त्वोप० लि० पृ० १२ पं० ३–पृ० १३ पं० ११।

४ "ज्ञानेन सह लिङ्गस्य"–बृ० ल० टि० । ५ "पूर्वज्ञानविषय "–बृ० ल० टि० । ६–यहे–बृ० आ० हा० वि० भा० । ७–नापादि–बृ० ल० आ० हा० वि० । ८ "यावद्यापि व्य(अव्य)भिचारिता न ज्ञायते"–बृ०ल० टि० । ९ "व्य(अव्य)भि०धर्मिण "–बृ० टि० । "व्य(अव्य)भि०धर्मस्य"–ल० टि० । १० "सम्बन्ध "–ल० टि० । ११–णां च धर्मा–आ० हा० वि० । –णां न च धर्मा–बृ० ल० । १२–ऽसावस्या–बृ० आ० हा० वि० ।

त्वेऽनवस्थाप्रसक्तेः असम्बद्धत्वे 'तत्सम्बद्धः' इति व्यपदेशानुपपत्तेः। नाप्यसावेकार्थसमवायः आत्मन्येवाव्यभिचारितादिधर्मकलापस्य प्रसक्तेः। न च समवायाभावे एकार्थसमवायः संभवी न चान्यः सम्बन्धोऽत्र परैरभ्युपगम्यते। किञ्च, यदि अव्यभिचारितादयो धर्मा अर्थान्तरभूता ज्ञानस्य विशेषणत्वेनोपेयन्ते तदैकविशेषणावच्छिन्नज्ञानप्रतिपत्तिकाले नापरविशेषणावच्छिन्नस्य तस्य प्रतिपत्तिरित्यशेषविशेषणानवच्छिन्नं तत् सामग्र्या व्यवच्छेदकं भवेत् अपरविशेषणावच्छिन्नतत्प्रतिपत्तिकाले ज्ञानस्य ज्ञानान्तरविरोधितया तस्यासत्त्वात्। अथ निर्विकल्पके युगपदनेकविशेषणावच्छिन्नस्य तस्य प्रतिभासान्नायं दोषस्तर्हि 'व्यवसायात्मकम्' इति पदमध्यक्षलक्षणे नोपादेयम् अनिश्चयात्मकस्याप्यध्यक्षफलत्वेनाभ्युपगमात्। अथ विशेषजनितं व्यवसायात्मकम्; नन्वेवं सामान्यजनितं विशेषणज्ञानमध्यक्षफलं न भवेत्। यदि चानेकविशेषणावच्छिन्नैकज्ञानाधिगतिरेकं ज्ञानम् कथमेकानेकरूपं वस्तु नाऽभ्युपगतं भवेत्? अथाव्यतिरिक्तस्तर्हि ज्ञानमेव नाऽव्यभिचारितादि तदेव वा न ज्ञानमित्यन्यतरदेव स्यात् न सामग्रीव्यवच्छेदस्ततो भवेत्। अथाव्यभिचारितादि ज्ञानस्वरूपमेव तदा विपर्ययज्ञानेऽप्यव्यभिचारिताप्रसक्तिः। अथ विशिष्टं ज्ञानमव्यभिचारितादिस्वभावम्; ननु विशेषणमन्तरेण विशिष्टता कथमुपपत्तिमती? विशेषणस्य चैकान्ततो भेदे सैव सम्बन्धासिद्धिः अभेदे न विशिष्टता कथंचिद्भेदे परपक्षसिद्धिः। तन्न अव्यभिचारितापदोपादानमर्थवत्।

इतोऽप्यपार्थकम् इन्द्रियार्थसन्निकर्षपदेनैव तद्व्यावर्त्यस्यापोदितत्वात्। तथाहि–मरीच्युदकज्ञानव्यवच्छेदायाऽव्यभिचारिपदोपादानम् तज्ज्ञाने च उदकं प्रतिभाति न च तेनेन्द्रियसम्बन्धः अविद्यमानेन सह सम्बन्धानुपपत्तेः विद्यमानत्वे वा न तद्विषयज्ञानस्य व्यभिचारिता विद्यमानार्थज्ञानवत्। अथ प्रतिभासमानोदकसम्बन्धाभावेऽपि मरीचिभिः सम्बन्धादिन्द्रियस्य तत्सन्निकर्षप्रभवं तत् अत एव मरीचीनां तदालम्बनत्वं तस्य तदन्वयव्यतिरेकानुविधानात् तद्देशं प्रति प्रवृत्तेश्च मिथ्यात्वमपि तज्ज्ञानस्यान्यदालम्बनमन्यत् प्रतिभातीति कृत्वा; नन्वप्रतिभासमानं कथमालम्बनम्? यदि ज्ञानजनकत्वात् इन्द्रियादेरप्यालम्बनत्वप्रसक्तिः आकारार्पकत्वतदधिकरणत्वादिकं त्वालम्बनत्वं न परस्याभिमतम् तस्मात् तदवभासित्वमेवालम्बनत्वम् न च मरीच्युदकज्ञाने मरीचयः प्रतिभान्ति। अथोदकाकारतया ता एव तत्र प्रतिभान्ति; ननु ताभ्य उदकाकारता यद्यव्यतिरिक्ता परमार्थसती च तदा तत्प्रतिपत्तेर्न व्यभिचारित्वम्। अथापरमार्थसती तदा तासामप्यपरमार्थसत्त्वप्रसक्तिः। किञ्च, अपारमार्थिकोदकतादात्म्ये मरीचीनां तदुदकज्ञानवद् मरीचिज्ञानमपि वितथं भवेत्। न च उदकाकार एकस्मिन् प्रतीयमाने मरीचयः प्रतीयन्त इति वक्तुं शक्यमतिप्रसङ्गात्। अथ व्यतिरिक्ता ताभ्य उदकाकारता तर्हि तत्प्रतिपत्तौ कथं मरीचयः प्रतिभान्ति अन्यप्रतिभासेऽप्यन्यप्रतिभासाभ्युपगमे अतिप्रसङ्गात्? किञ्च, केशोन्दुकज्ञाने किमालम्बनम् किं वा प्रतिभातीति वक्तव्यम्? अथ केशोन्दुकादिकमेवालम्बनम् प्रतिभाति च तदेव तत्र तर्हि मरीच्युदकज्ञानेऽपि तदेवालम्बनम् तदेव प्रतिभातीति किं न भवेत्? न च तज्ज्ञानस्य प्रतीयमानान्यालम्बनत्वेन मिथ्यात्वम् अपि तु प्रतिभासमानस्यासत्यत्वेन अन्यथा केशोन्दुकज्ञानस्य मिथ्यात्वं न भवेत्। न च मरीचिदेशं प्रति प्रवृत्तेर्मरीच्या-

---

१–म्बन्धत्वे आ०। २–म्बन्ध इ–बृ० बा० वा० मा० आ०। ३–भावऽ(वेऽ)पि ए–ल०। ४ "विशेषकम्"–बृ० ल० टि०। ५ "अव्यभिचारित्व"–बृ० ल० टि०। ६–कालेन ज्ञा–भा० मा०। ७ "ज्ञानस्य"–बृ० ल० टि०। ८–फलं भ–ल०। ९ "अव्यभिचारिपदव्यावृत्यस्य"–बृ० ल० टि०।

"अतोऽव्यभिचारिपदमपार्थकमितोऽप्यपार्थकमिन्द्रियार्थसन्निकर्षपदेनापोदितत्वात् न हि केशोण्डुकविज्ञानस्य नयनार्थसन्निकर्षोद्भूतिरस्ति। नन्वस्ति मरीच्युदकविज्ञानस्य तदपनोदायाव्यभिचारि पदम् तन्न, यत उदकं प्रतिभाति न च तेन सह सम्बन्धोऽस्ति विद्यमानेन साकं सम्बध्यते नाऽविद्यमानेन। तत्संबन्धे वा न तद्विषयो मिथ्यात्वमिहोपपद्यते सत्योदकसंवेदनवत्; ननु यद्यपि प्रतीयमानोदकेन सह सबन्धो नास्ति चक्षुषस्तथाप्याप्या(थाप्या)लम्ब्य मरीचिनिचयेन साकं सबन्धोऽस्ति तस्यैवालम्बनत्वात् तद्देशं प्रति प्रवृत्तेरत एव मिथ्यात्वमन्यद् आलम्बनमन्यच्च प्रतिभाति"–इत्यादि–तत्त्वोप० लि० पृ० १५ पं० ११–पृ० १६ पं० २।

१० "मरीचिदेशम्"–बृ० ल० टि०। ११ "अव्यतिरिक्ता"–बृ० ल० टि०। १२ "मरीच्युदक"–बृ० ल० टि०। १३–सत्वे–बृ०। १४ "न हि केशोन्दुकज्ञानस्य प्रतीयमानात् केशोन्दुकादन्यत् किञ्चिदालम्बनमस्ति ततोऽस्यापि मिथ्यात्वं न स्यात्"–बृ० ल० टि०।

लम्बनत्वम् तद्देशस्यैवमालम्बनत्वप्रसक्तेः न च प्रतिभासमानान्यार्थसन्निकर्षजत्वं तज्ज्ञानस्य सत्योदकज्ञाने अस्यादृष्टेः । न चा(वा) प्रतीयमानसन्निकर्षजत्वेऽस्य तस्य तज्जत्वमभ्युपगन्तुं युक्तम् अन्यथाऽनुमेयदहनज्ञानस्यापीन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वं स्यात् । अथ मन एव तत्रेन्द्रियं तस्य च दहनेन सह प्रतीयमानेन नास्ति सम्बन्धः इहापि तर्हि प्रतीयमानेनोदकेन न सम्बन्धश्चक्षुषः मरीचीनां तु न प्रतीयमानत्वमिति ताभिरपि कथं तस्य सम्बन्धः? यच्च 'सामान्योपक्रमं विशेषपर्यवसानम् 'इदमुदकम्' इत्येकं ज्ञानं तस्य सामान्यवानर्थः स्मृत्युपस्थापितविशेषापेक्षो जनकः तिरस्कृतस्वाकारस्य परिगृहीताकारान्तरस्य सामान्यविशिष्टस्य वस्तुनो जनकत्वे तथाविधस्येन्द्रियेण सम्बन्धोपपत्तेरिन्द्रियार्थसन्निकर्षजो विपर्ययः' इति, तदत्यन्तमसम्बद्धम्, पराभ्युपगमेनास्यानुपपत्तेः । तथाहि—सामान्योपक्रममिति यदि सामान्यविषयम् 'इदम्' इति ज्ञानं तदा मरीच्युदकयोः साधारणमेकं सामान्यं 'इदम्' इति ज्ञानस्य विषयो वक्तव्यः । न चैकान्ततो व्यक्तिभिन्नमभिन्नं वा सामान्यं संभवति संभवेऽपि सत्त्वद्रव्यत्वव्यतिरिक्तस्य मरीच्युदकसाधारणस्य तस्य न सद्भावः सत्त्वद्रव्यत्वादेश्च ज्वलनादावपि सद्भाव इति न मरीच्युदकसाधारणत्वम् । तरङ्गायमाणत्वं तूभयसाधारणं सामान्यं पराभ्युपगमेन न संभवत्येव संभवेऽपि न तस्य तदुभयनियतत्वम् अन्यत्रापि सद्भावोपपत्तेः । 'विशेषपर्यवसानम्' इत्येतदपि यदि विशेषग्राहकं तदा सामान्यग्राहकत्वानुपपत्तिः न हि 'इदम्'-इत्येतस्य ज्ञानस्य विशेषग्राहिताऽनुभूयते तत्त्वे वा सामान्य-विशेषयोर्भिन्नस्वरूपत्वात् कथं सामान्यग्राहिताऽस्य? अथ 'उदकम्' इति ज्ञानं विशेषग्राहि तर्हि भिन्नावभासम् 'इदम्' 'उदकम्' इति ज्ञानद्वयं प्रसक्तम् प्रतिभासभेदस्यान्यत्रापि भेदनिबन्धनत्वात् तस्य चात्रापि भावात् । ज्ञानद्वये च 'इदम्' इति सामान्यावभासि सत्यार्थविषयं सन्निकर्षप्रभवम् 'उदकम्' इति त्वविद्यमानविशेषावभासि न तत् सन्निकर्षप्रभवम् यदसत्यार्थं न तद् व्य(अव्य)भिचारिपदोपादानव्यवच्छेद्यम् सन्निकर्षोत्पन्नपदेनैवापोदितत्वात् यच्च सन्निकर्षजं सामान्यज्ञानं तद् व्यभिचारि न भवतीति नाव्यभिचारिपदव्यवच्छेद्यम् । अथ 'इदमुदकम्' इत्युल्लेखद्वययुक्तमेकं ज्ञानं तर्हि सामान्ये तत् प्रत्यक्षं प्रमाणं च विशेषे अनध्यक्षमप्रमाणं चेति कथमेकं ज्ञानमध्यक्षानध्यक्षरूपं प्रमाणाप्रमाणरूपं च नाभ्युपगतं भवेत्? अथ सामान्येऽपि नाध्यक्षं प्रमाणं चेदभ्युपगम्यते तर्हीन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वाभावादस्य नाव्यभिचारिपदापोद्यता विशेषेऽप्यस्य प्रामाण्येऽध्यक्षत्वे चाव्यभिचारिपदमपार्थकमपोद्याभावात् । यदि च सामान्यवानर्थः स्मृत्युपस्थापितविशेषापेक्षोऽस्य जनकः कथमस्य विपर्यस्तता विद्यमानविशेषविषयत्वात्? अथ स्मृत्युपस्थापितत्वाद् विशेषस्य अविद्यमानविशेषविषयतया तस्य विपर्यस्तता; ननु तत्राविद्यमानः स्मृत्युपस्थापितो विशेषः कथं तज्जनको येन सामान्यवानर्थस्तदपेक्षस्तज्जनकः परिगीयेत? तथापि तज्जनकत्वे इन्द्रियस्य स्वदेशकालासन्निहितार्थापेक्षस्य ज्ञानजनकत्वादर्थेन सन्निकर्षकल्पना तस्य प्रमाणस्य चार्थवत्त्वकल्पना विशीर्येत तथा च "इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नम्" [न्यायद० १-१-४] इति "अर्थवत् प्रमाणम्" [१-१-वात्स्या० भा० पृ० १] इति च न वक्तव्यं स्यात् । अथाजनकस्य तत्र न प्रतिभास इति स्मृत्युपस्थापितस्य तस्य तज्जनकता तर्ह्यविद्यमानस्य न जनकत्वमिति विद्यमानविशेषविषयत्वेन तज्ज्ञानस्याविपर्यस्ततेति तद्व्यवच्छेदार्थमव्यभिचारिपदोपादानमनर्थकं भवेत् । सामान्यवतोऽर्थस्य केवलस्य तज्जनकत्वे तस्यैव तत्र प्रतिभासः स्यात् । यदपि 'तिरस्कृतस्वाकारस्य परिगृहीताकारान्तरस्य तस्य तज्जनकत्वम्' तत्रापि वस्तुनः स्वाकारतिरस्कारे वस्तुत्वमेव न स्यादिति कथं तस्य सामान्यविशिष्टता? तथाहि—मरीचीनां मरीच्याकारतापरित्यागे वस्तुत्वमेव परित्यक्तं भवेत् स्वाकारलक्षणत्वाद् वस्तुनः न चाकारान्तरस्य परिग्रहः संभवति वस्त्वन्तरस्य

---

१ "न चावभातोदकभिन्नार्थसन्निकर्षजत्वमुदकविज्ञानस्योपपद्यते सत्योदकज्ञानेऽदृष्टत्वात् अन्यथानुमेयदहनज्ञानस्यापि इन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वमापनीपद्येत आत्ममनःसन्निकर्षजत्वात् । अथ प्रतीयमानदहनेन सह मनसो नास्ति सम्बन्धः तदिहापि प्रतीयमानेनाम्भसा सह नास्ति सम्बन्धश्चक्षुषस्तस्माद् अव्यभिचारिपदं न युक्तम् इन्द्रियार्थसन्निकर्षपदेनापोदितत्वात्"—इत्यादि—तत्त्वोप० लि० पृ० १७ पं० १०–१६ ।

२–त्व (–त्वं तस्य) तस्य ल० । ३ "तज्ज्ञानस्य"–बृ० ल० टि० । ४ "सन्निकर्षजत्वम्"–बृ० ल० टि० । ५ पृ० ५२३ पं० ८ । ६ तथा म–बृ० आ० हा० वि० विना । ७ "तरङ्गायमाणत्वसामान्यस्य"–बृ० टि० । ८–वापोदित–बृ० वा० बा० विना । ९ "सन्निकर्षप्रसवत्वात्"–बृ० ल० टि० । १०–क्षत्वे चा–बृ० ल० वा० बा० विना । ११ पृ० ५२३ पं० ९ ।

वस्त्वन्तरोनापत्तिरूपत्वात् तदापत्तिरूपत्वे वा मरीचय उदकरूपतामापन्ना इति तत्प्रतिभासि ज्ञानं सत्योदकज्ञानवदविपर्यस्तमिति तद्व्यवच्छेदार्थमव्यभिचारिपदोपादानं न कार्यं भवेत् सामान्यविशिष्टस्य च वस्तुन इन्द्रियसम्बद्धस्य विपर्ययज्ञानजनकत्वे यत्रांशे तस्येन्द्रियसम्बन्धोत्पाद्यत्वं तत्राध्यक्षता प्रमाणता च अन्यत्र तद्विपर्यय इत्येकं ज्ञानमध्यक्षं प्रमाणं तद्विपर्ययरूपं च भवेदित्युक्तम्। यदपि "यत्सन्निधाने यो दृष्टः" इत्यादि, तदप्ययुक्तम्; शब्दावच्छेदेन 'उदकम्' इति ज्ञानस्यानुत्पत्तेः न ह्युदकवत् शब्दोऽप्यत्र ज्ञाने विशेषणभूतो ग्राह्यतया प्रतिभाति तथाप्रतीतेरभावात्। शब्दविशिष्टोदकप्रतिभासाभ्युपगमेऽपि यदि शब्दस्मरणाद्यन्तरेण नार्थनिश्चयस्तदाऽनवस्थादोषप्रतिपादनान्न तन्निस्सृतिर्भवेत्। अथ शब्दस्मरणाद्यन्तरेणाप्युदकादेर्निश्चयस्तदा जैनमतानुप्रवेशान्न दोषासक्तिः काचित्।

एवं संशयज्ञानव्यवच्छेदार्थं व्यवसायात्मकपदोपादानमपि न कर्तव्यम् इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नपदेनैव तस्यापि निरस्तत्वात् न हि पराभ्युपगमेन 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इति संशयज्ञानमेकमुभयोल्लेखीन्द्रियार्थसन्निकर्षजं संभवति असंभवप्रकारश्च पूर्ववदनुसृत्यात्रापि वक्तव्यः। सविकल्पकाध्यक्षप्रसाधनप्रकारश्चैकान्ताक्षणिकपक्षे न सम्भवत्येव "यः प्रागजनको बुद्धेः" इत्यादेर्दूषणस्य तत्राविचलितस्वरूपत्वात् यथा चाक्षणिकैकान्ते सहकार्यपेक्षा न संभवति भावानां तथा प्राक् प्रतिपादितमिति न पुनरुच्यते। यदपि 'संशयज्ञानव्यवच्छेदार्थं व्यवसायात्मकपदम्' इत्यभिधानम् तत्र सामान्यप्रत्यक्षात् विशेषाप्रत्यक्षात् विशेषस्मृतेश्च 'किंस्वित्' इत्यनवधारणात्मकः प्रत्ययः सन्देहो व्यवच्छेद्यतयाभिमतः तत्र च किं प्रतिभाति धर्मिमात्रम् धर्मो वा? यदि धर्मी वस्तुसन् प्रतिभाति तदा नास्याऽपनेयता सम्यग्ज्ञानत्वात्। अथावस्तुसन्नसावत्र प्रतिभाति तदाऽव्यभिचारिपदव्यावर्तितत्वान्न तद्व्यावर्तनाय व्यवसायपदोपादानमर्थवत्। अथ धर्मः प्रतिभाति तदाऽत्रापि वक्तव्यम् किमसौ स्थाणुत्व-पुरुषत्वयोरन्यतरः उभयं वा? यदि स्थाणुत्वलक्षणो वस्तुसन् कथमस्य ज्ञानस्य व्यवच्छेद्यता सम्यग्ज्ञानत्वादिति? अथापारमार्थिकोऽसौ तत्र प्रतिभाति तथाप्यव्यभिचारिपदापोह्यतैव मिथ्याज्ञानत्वात्। एवं पुरुषत्वलक्षणप्रतिभासेऽप्येतदेव दूषणं वाच्यम्। उभयस्यापि तात्त्विकस्य प्रतिभासे न तज्ज्ञानस्य सन्देहरूपतेति नापोह्यता। उभयस्याप्यतात्त्विकस्य प्रतिभासे तद्विषयज्ञानस्य विपर्ययरूपता न सन्देहात्मकतेत्यव्यभिचारिपदापोह्यतैव। अथैकस्य धर्मस्य तात्त्विकत्वम् अपरस्याताऽत्त्विकत्वम् एवमपि तात्त्विकधर्मावभासित्वात् तज्ज्ञानमव्यभिचारि अतात्त्विकधर्मावभासित्वाच्च तदेव व्यभिचारीति एकमेव ज्ञानं प्रमाणमप्रमाणं च प्रसक्तम्। न च सन्दिग्धाकारप्रतिभासित्वात् सन्देहज्ञानमिति वाच्यम् यतो यदि सन्दिग्धाकारता परमार्थतोऽर्थे विद्यते तदाऽबाधितार्थगृहीतिरूपत्वान्न सन्देहज्ञानता सत्यार्थज्ञानवत्। अथ न विद्यते तदाऽव्यभिचारिपदेन तद्ग्राहिज्ञानस्यापोदितत्वाद् व्यवसायग्रहणं तद्व्यवच्छेदायोपादीयमानं निरर्थकम्। अथ न किञ्चिदपि तत्र प्रतिभाति न तर्हि तस्येन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वमिति न तद्व्यवच्छेदाय व्यवसायात्मपदोपादानमर्थवत्। तन्न तदपि प्रत्यक्षलक्षणे उपादेयम्।

यदपि 'फलस्वरूपसामग्रीविशेषणत्वेनासंभवान्नेदं लक्षणम्' इति, तद्युक्तमेवाभिहितम्; अस्य पक्षत्रयेऽप्यघटमानत्वात्। यदपि 'यतः' इत्यध्याहारात् फलविशेषणपक्षाश्रयणम्', तदप्यसङ्गतम्; यतोऽपरिच्छेदस्वरूपस्याध्यक्षप्रमाणता विशिष्टप्रमितिजनकत्वेन प्रमेय-प्रमात्रोरिवासङ्गता। न च प्रमातृ-प्रमेययोरर्थान्तरत्वे सति विशिष्टप्रमितिजनकं यत् तत् प्रत्यक्षमिति विशेषणात् प्रमातृ-प्रमेयव्यतिरिक्तस्य तस्य प्रमाणता, सन्निकर्षादिप्रमाणत्वाभिमतव्यतिरिक्तस्य तज्जनकस्य प्रमाणतेत्यपि वक्तुं शक्यत्वात्। न च सामग्र्यस्य सन्निकर्षस्य वा साधकतमत्वात् प्रमाणता, साधकतमत्वस्य प्रमाणसामान्यलक्षणप्रस्तावे निरस्तत्वात्। यदपि इन्द्रियादेरचेतनस्य प्रमाणत्वं प्रतिपादितम् तदप्य-

---

१-राप-वा० बा०। २ पृ० ५५० पं० २२। ३ पृ० ५२३ पं० १३। ४-मैकोल्ले-ब०। ५ पृ० ५२५ पं० १०। ६ "सामान्यप्रत्यक्षाद् विशेषाप्रत्यक्षाद् विशेषस्मृतेश्च संशयः"-वैशेषिकद० २-२-१७। प्रशस्त० कं० पृ० १७४ पं० २०-पृ० १७५ पं० ८। "समानानेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः"-न्यायद० १-१-२३। ७-यस्वरू- भा० मा०। ८-पि स्वफल-वा० बा० भा०। पृ० ५२७ पं० २८। ९ पृ० ५३० पं० १४। १० पृ० ४७१ पं० २०।

तिप्रसङ्गतोऽघटमानकम्। यदपि 'ज्ञानसद्भावे न काचित् तज्जन्या विषयाधिगतिः अक्षादिसद्भावे तु विषयाधिगतिर्भिन्नोपजायत इत्यक्षादेरेवाधिगतिजनकस्य प्रमाणता' इति, तदप्यसमीक्षिताभिधानम्, ज्ञानस्यैव यथावस्थितार्थाधिगतिस्वभावतया प्रमाणत्वात् प्रमाणफलाभेदाविरोधस्य च प्रतिपादितत्वात् अक्षादिसद्भावे तु विषयाधिगतेरसिद्धत्वात्। तथाहि—व्यापारवदक्षादिसद्भावेऽपि व्यासक्तचेतसो न विषयाधिगतिः सत्यस्वप्नज्ञाने त्वक्षादिव्यापाराभावेऽपि यथावस्थितार्थाधिगतिरुपलभ्यत इति न सा अक्षादिकार्या। न चासावपि मनोऽक्षकार्या परपरिकल्पितमनोऽक्षस्य प्रागेव निषिद्धत्वात्। अत एव 'चक्षुषाऽधिगतम्' इति तस्य साधकतमत्वाभिमानः न साधकतमताव्यवस्थापकः तदभावेऽपि विषयाधिगतिसद्भावात्। 'ज्ञानेनाधिगतः' इत्यभिमानस्तु ज्ञानस्य साधकतमताव्यवस्थापक एव ज्ञानाभावे तदधिगतेरभावात्। परम्परया तूपचरितमर्थाधिगतौ साधकतमत्वमक्षादेर्न प्रतिषिध्यते अस्मदादिप्रत्यक्षस्य स्वार्थाधिगतिस्वभावस्याक्षादिप्रभवत्वात्। तत् "इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्" [तत्त्वार्थ० १-१४] इति वचनात् एतेन प्रातिभस्यानक्षप्रभवस्यापि स्वार्थावगतिरूपस्य विशदतयाऽध्यक्षप्रमाणता प्रतिपादिता द्रष्टव्या। तेन यत् तत्रेन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वाभावप्रतिपादनेन मीमांसकैर्दूषणमभ्यधायि यच्च नैयायिकैर्मनोऽक्षार्थजत्वसमर्थनेनोत्तरं प्रतिपादितं तदुभयमप्ययुक्ततया व्यवस्थितम्। शेषं त्वत्र यथास्थानं प्रतिविहितत्वान्न प्रत्युच्चार्य दूष्यते। तन्नैकान्तवादिप्रकल्पितमध्यक्षलक्षणमनवद्यम्।

[प्रत्यक्षस्य तद्भेदानां च सिद्धान्तसंमतं निरूपणम्]

किं पुनस्तदनवद्यम्? "स्वार्थसंवेदनं स्पष्टमध्यक्षं मुख्यगौणतः" [ ] इत्येतत्। अत्र च मुख्यमतीन्द्रियज्ञानमशेषविशेषालम्बनमध्यक्षं सर्वज्ञसिद्धौ प्रतिपादितम्। गौणं तु संव्यवहारनिमित्तमसर्वपर्यायद्रव्यविषयमिन्द्रियानिन्द्रियप्रभवमस्मदाद्यध्यक्षं विशदमुच्यते। अस्य च स्वयोऽर्थः स्वार्थः तस्य संवेदनं विशदतया निर्णयस्वरूपम्। तेन संशय-विपर्ययाऽनध्यवसायलक्षणस्य ज्ञानस्य संव्यवहारानिमित्तस्य नाध्यक्षताप्रसक्तिः नाप्यज्ञानरूपस्येन्द्रियादेः अविकल्पस्य वा सौगतपरिकल्पितस्येन्द्रियज-मानस-योगिज्ञानस्वसंवेदनरूपस्य। स्वं चार्थश्च स्वार्थौ तयोः संवेदनं स्वार्थसंवेदनमित्यस्यापि समासस्याश्रयणात् अर्थसंवेदनस्यैव जैमिनीय-वैशेषिकादिपरिकल्पितस्य परोक्षस्य तदेकार्थसमवेतानन्तरज्ञानग्राह्यस्यास्वसंविदितस्वभावस्याध्यक्षताव्युदासः विज्ञानवादिपरिकल्पितस्य च स्वरूपमात्रग्राहकस्य।

प्रमाणप्रमेयरूपस्य च सकलस्य क्रमाक्रमभाव्यनेकधर्माक्रान्तस्यैकरूपस्य वस्तुनः सद्भावेऽध्यक्षप्रमाणस्यैकस्य क्रमवर्तिपर्यायवशात् तथाव्यपदेशमासादयतश्चातुर्विध्यमवग्रहेहावायधारणरूपतयोपपन्नम्। तत्र "विषयविषयिसन्निपातानन्तरमाद्यं ग्रहणमवग्रहः" [ ] विषयस्य तावत्

१ पृ० ५२९ पं० १८। २ पृ० ५३७ पं० १५। ३ पृ० ५३७ पं० २०।

४ "प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं मुख्यसव्यवहारत.। परोक्षं शेषविज्ञानं प्रमाणे इति सग्रह" ॥ ३ ॥—लघीयस्त्र० पृ० ६। प्रमाणप० पृ० ६९ पं० २४-२५।

"तदुक्तम्-प्रत्यक्षं विशदं ज्ञान त्रिधाश्रितमविप्लवम्। परोक्षं प्रत्यभिज्ञादि प्रमाणे इति सग्रह" ॥ अष्टस० पृ० २८१ पं० २।

५ पृ० ५३-६९। ६-स्य संव्य-वृ० आ० हा० वि०। ७ "तत्राव्यक्तं यथास्वमिन्द्रियैर्विषयाणामालोचनावधारणमवग्रह"-१-१५ तत्त्वार्थ० भा०। "विषयविषयिसन्निपातसमयानन्तरमाद्यग्रहणमवग्रह। विषयविषयिसन्निपाते सति दर्शनं भवति तदनन्तरमर्थस्य ग्रहणमवग्रह"-१-१५ सर्वार्थ० तथा राजवा०।

"विषयविषयिसन्निपातानन्तरमाद्यं ग्रहणमवग्रह। विषयस्तावद् द्रव्यपर्यायात्मार्थ. विषयिणो द्रव्यभावेन्द्रियम् अर्थग्रहण योग्यतालक्षणम् तदनन्तरभूतं सन्मात्रं दर्शन स्वविषयव्यवस्थापनविकल्पमुत्तर परिणामं प्रतिपद्यतेऽवग्रह"—लघीयस्त्र० स्वो० वृ० लि० पृ० २ प्र० पं० १-३।

"विषयविषयिसन्निपातानन्तरसमुद्भूतसत्तामात्रगोचरदर्शनाज्जातमाद्यमवान्तरसामान्याकारविशिष्टवस्तुग्रहणमवग्रह"—प्रमाणनयत० २-७।

द्रव्यपर्यायात्मनोऽर्थस्य विषयिणश्च निर्वृत्त्युपकरणलक्षणस्य द्रव्येन्द्रियस्य लब्ध्युपयोगस्वभावस्य च भावेन्द्रियस्य विशिष्टपुद्गलपरिणतिरूपस्यार्थग्रहणयोग्यतास्वभावस्य च यथाक्रमं सन्निपातो योग्यदेशावस्थानं तदनन्तरोद्भूतं सत्तामात्रदर्शनस्वभावं दर्शनमुत्तरपरिणामं स्वविषयव्यवस्थापनविकल्परूपं प्रतिपद्यमानमवग्रहः। "पुनरवगृहीतविषयाकाङ्क्षणमीहा" [ ] "तदनन्तरं तदीहितविशेषनिर्णयोऽवायः" [ ] "अवेतविषयस्मृतिहेतुस्तदनन्तरं धारणा" [ ]।

अत्र च पूर्वपूर्वस्य प्रमाणता उत्तरोत्तरस्य च फलतेत्येकस्यापि मतिज्ञानस्य चातुर्विध्यम् कथञ्चित् प्रमाणफलभेदश्चोपपन्नः। यथा च प्रतिभासभेदेऽपि ग्राह्यग्राहकसंविदां युगपदेकत्वं तथा क्रमभाविनामवग्रहादीनां हेतुफलरूपतया व्यवस्थितस्वरूपाणामेकत्वं कथंचिदविरुद्धम् अन्यथा हेतुफलभावाभावप्रसक्तिरिति प्रतिपादितमनेकशः। धारणास्वरूपा च मतिरविसंवादस्वरूपस्मृतिफलस्य हेतुत्वात् प्रमाणम् स्मृतिरपि तथाभूतप्रत्यवमर्शस्वभावसंज्ञाफलजनकत्वात्, संज्ञाऽपि तथाभूततर्कस्वभावचिन्ताफलजनकत्वात्, चिन्ताऽप्यनुमानलक्षणाभिनिबोधफलजनकत्वात्, सोऽपि हानादिबुद्धिजनकत्वात्। तदुक्तम्—"मतिस्मृतिसंज्ञाचिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्" [तत्त्वार्थ० १-१३] अनर्थान्तरमिति कथंचिदेकविषयम्। "प्राक् शब्दयोजनात् मतिज्ञानमेतत् शेषमनेकप्रभेद(दं) शब्दयोजनादुपजायमानमविशदं ज्ञानं श्रुतम्" [ ] इति केचित्। सैद्धान्तिकास्तु अवग्रहेहावायधारणाप्रभेदरूपाया मतेर्वाचकाः पर्यायशब्दा मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ता अभिनिबोध इत्येते शब्दा इति प्रतिपन्नाः। स्मृतिसंज्ञाचिन्तादीनां तु कथञ्चिद्गृहीतग्राहित्वेऽप्यविसंवादकत्वादनुमानवत् प्रमाणताऽभ्युपेया। न चानुमानस्यागृहीतस्वलक्षणाध्यवसायात् प्रामाण्यं न यथोक्तस्मृत्यादेः शब्दानित्यत्वादिषु लिङ्गलिङ्गिधियोरप्रमाणताप्रसङ्गात् व्याप्तिग्राहकप्रमाणेन साकल्येनानधिगतस्वलक्षणाध्यवसायिना सत्त्वानित्यत्वादेर्ग्रहणे तयोः समधिगतस्वलक्षणविषयत्वात्। शेषमत्र सविकल्पकमध्यक्षं प्रसाधयद्भिश्चिन्तितम्। अत्र च यत् शब्दसंयोजनात् प्राक् स्मृत्यादिकमविसंवादिव्यवहारनिर्वर्तनक्षमं प्रवर्तते तन्मतिः शब्दसंयोजनात् प्रादुर्भूतं तु सर्वं श्रुतमिति विभागः।

"अक्षार्थयोगे दर्शनानन्तरमर्थग्रहणमवग्रहः"। प्रमाणमी० १-१-२७॥

ईहादित्रयस्य लक्षणवाक्यानामपि क्रमविकासमवगन्तुकामैस्तेभ्य एव ग्रन्थेभ्यस्तत्तुलना विधेया।

आवश्यकनिर्युक्ति-विशेषावश्यकभाष्ययोस्तु अवग्रहादीनां चतुर्णां लक्षणानीत्थम्—

"अत्थाणं उग्गहणं अवग्गहं तह वियालणं ईहं। ववसायं च अवायं धरणं पुण धारणं बेंति" ॥ नि० १७९॥

सामण्णत्थावग्गहणमुग्गहो भेयमग्गणमहेहा। तस्सावगमोऽवाओ अविच्चुई धारणा तस्स" ॥ भा० १८०॥

१ "कर्णशष्कुलिकारूपमुपकरणेन्द्रियम् कदम्बगोलकाद्याकारा चक्षुरादीन्द्रियनिर्वृत्तिः"–बृ० ल० टि०।

द्रव्येन्द्रिय-भावेन्द्रियस्वरूप-संस्थान-पृथुत्वादिकं प्रज्ञापनोपाङ्गगतेन्द्रियाख्यपञ्चदशपदतोऽवबोद्धव्यम्–पृ० २९२ द्वि०–२९७ प्र०। २–णलक्षणस्य वा० बा० भा० मां०। ३–त्रदर्शनमुत्तर–बृ० आ० हा० वि०। ४ "पुनरवग्रहगृहीतविशेषाकाङ्क्षणमीहा"—लघीयस्त्र० स्वो० वृ० लि० पृ० २ प्र० पं० ३। ५ "तथेहितविशेषनिर्णयोऽवायः"–लघीयस्त्र० स्वो० वृ० लि० पृ० २ प्र० पं० ४। ६ "स्मृतिहेतुर्धारणा संस्कार इति यावत्–लघीयस्त्र० स्वो० वृ० लि० पृ० २ प्र० पं० ५। ७ "प्रमाणमिति सर्वत्र संटङ्कः"–बृ० ल० टि०। ८–त्यनर्थान्तरमिति कथ–बृ० ल० वा० बा० विना। सर्वेष्वपि श्वेताम्बरीय-दिगम्बरीयेषु तत्त्वार्थव्याख्याग्रन्थेषु "मतिः स्मृतिः संज्ञा" इत्यादिक एव पाठः। सिद्धिविनिश्चयटीकायामपि तथैव समुद्धृतो दृश्यते—लि० पृ० ६९ पं० १४। "ज्ञानमाद्यं मतिः संज्ञा चिन्ता चाभिनिबोधनम्"।–लघीयस्त्र० प० ३ श्लो० १।

९ "प्राङ् नामयोजनाच्छेषं श्रुतं शब्दानुयोजनात्"॥–लघीयस्त्र० प० ३ श्लो० १। "अविसंवादस्मृतेः फलस्य हेतुत्वात् प्रमाणं धारणा स्मृति(स्मृतिः) संज्ञायाः प्रत्यवमर्शस्य, संज्ञा चिन्तायास्तर्कस्य, चिन्ताभिनिबोधस्यानुमानादेः प्राक् शब्दयोजनाच्छेषं श्रुतज्ञानमनेकप्रभेदम्"—लघीयस्त्र० स्वो० वृ० लि० पृ० २ द्वि० पं० ११। "प्राङ् नामयोजनाच्छेषम्" इत्याद्याकलङ्कं पद्यमादाय विद्यानन्दिना चर्चितम्—१,२० तत्त्वार्थ० श्लो० वा० श्लो० ८४–८८। विशेषा० गा० १६२ पृ० ९९। १० विशेषा० गा० ३९६–४०१ पृ० २२६–२२९। १,१३ तत्त्वार्थ० व्या० पृ० ७८ पं० १२—। ११ सत्त्वानि–वा० बा० भा० मां० विना। १२ "लिङ्ग–लिङ्गिधिषणयोः"–बृ० ल० टि०।

१३ "मति–श्रुतयोः स्वरूपविभागपरा भूयसी चर्चा शास्त्रेषु दृश्यते, ततो विशेषार्थिना विशेषावश्यकभाष्य–ज्ञानबिन्दुतोऽवसेया–विशेषाव० भा० गा० ९७–१७५ पृ० ६३–१०६। ज्ञानबिं० पृ० १३६ द्वि०–१३८ द्वि० तथा १४२ द्वि०–१४३ द्वि०।

[प्रत्यक्षैकप्रमाणवादिनः चार्वाकस्यानुमानप्रामाण्याशङ्का]

अत्राहुश्चार्वाकाः—भवतु सांव्यवहारिकं विशदमध्यक्षम् अनुमानादिकं तूपचरितरूपत्वाद्विषयाभावाच्च प्रमाणमनुपपन्नमिति कथं शब्दसंयोजनात् श्रुतं स्मृत्याद्युपपत्तिमत्? तदुक्तम्—"प्रमाणस्यागौणत्वादनुमानादर्थनिर्णयो दुर्लभः" [ ] तथा "अनधिगतार्थपरिच्छित्तिः प्रमाणम्" । [ ] न चानुमानमर्थपरिच्छित्तिस्वभावम् तद्विषयाभिमतस्य सामान्यादेरर्थस्याभावात् । भावेऽपि यदि विशेषस्तद्विषयोऽभ्युपगम्यते तदा तत्र हेतोरनुगमाभावः अथ सामान्यं तद्विषयस्तदा सिद्धसाध्यताप्रसक्तिः । तदुक्तम्—"विशेषेऽनुगमाभावः सामान्ये सिद्धसाधनम्" । [ ] इति । किञ्च, व्याप्तिग्रहणे पक्षधर्मतावगमे च सत्यनुमानं प्रवर्तते न च व्याप्तिग्रहणमध्यक्षतः संभवति तस्य सन्निहितमात्रार्थग्राहकत्वेन सकलपदार्थाक्षेपेण व्याप्तिग्रहणेऽसामर्थ्यात् । नाप्यनुमानं तद्ग्रहणक्षमम् तस्यापि व्याप्तिग्रहणपुरःसरतया तत्र प्रवृत्तेः अनुमानात् तद्ग्रहणेऽनवस्थेतरेतराश्रयदोषप्रसक्तेः । प्रत्यक्षानुमानव्यतिरिक्तस्य च व्याप्तिग्राहकत्वायोगात् विशेषविरुद्धानुमानविरोधयोश्च सर्वत्र सुलभत्वात् कुतोऽनुमानस्य प्रामाण्यम्?

[सौगतैरनुमानप्रामाण्यसमर्थनेन चार्वाकाशङ्कायाः प्रतिविधानम्]

अत्र प्रत्यक्षानुमानप्रमाणद्वयवादिनः सौगताः प्रतिविदधति—प्रमाणेतरसामान्यस्थितेः परबुद्धिपरिच्छित्तेः स्वर्गापूर्वदेवतादिप्रतिषेधस्य चाकृतलक्षणाभिः स्वसंवित्तिभिः कर्तुमशक्तेः प्रमाणान्तरसद्भावः सिद्धः । यच्च 'प्रमाणस्यागौणत्वात्' इत्युक्तम् तत्र यद्यगौणत्वमनुपचरितत्वमभिप्रेतं तदानुमानमप्यनुपचरितमेव अस्खलितबुद्धिरूपत्वात् अथ धर्मिधर्मसमुदायस्य साध्यत्वे हेतोः पक्षधर्मत्वम् अन्वयो वाऽसंभवीति धर्मिणः साध्यत्वं पक्षधर्मत्वप्रसिद्ध्यर्थं धर्मस्य चान्वयसिद्ध्यर्थमुपचरितमित्युपचरितविषयत्वादनुमानमुपचरितम्, असदेतत्; यतो यत्र धर्मिणि धूममात्रमग्निमात्रव्याप्तमुपलभ्यते तत्रैवाग्निप्रतिपत्तिर्भवन्ती लोके दृश्यत इति कस्यात्रोपचारः? समुदायस्याप्येवं साध्यत्वं सिध्यत्येव । यदाह "केवल एव धर्मो धर्मिणि साध्यस्तथेष्टसमुदायस्य सिद्धिः कृता भवति" [ ] इति । पुनरप्युक्तम्—

"धर्मस्याव्यभिचारस्तु धर्मेणान्यत्र दृश्यते ।
तत्र प्रसिद्धं तद्युक्तं धर्मिणं गमयिष्यति ॥" [ ] इति ।

न चानुमानविषये साध्यशब्दोपचारे अनुमानमुपचरितं नाम । न चागौणत्वादभ्रान्तत्वात् प्रमाणस्यानुमानस्य च भ्रान्तत्वादप्रामाण्यम् भ्रान्तस्याप्यनुमानस्य प्रतिबन्धबलादुपजायमानस्य प्रामाण्यसिद्धेः । तथाहि—प्रत्यक्षस्यापि अर्थस्यासंभवेऽभाव एवाव्यभिचारित्वलक्षणं प्रामाण्यम् तच्च साध्यप्रतिबद्धहेतुप्रभवस्यानुमानस्याप्यस्तीति कथं न प्रमाणम्? तदुक्तम्—

---

१ प्रत्यक्षैकप्रमाणसमर्थनप्रवणं चार्वाकमत प्रमेयकमलमार्तण्डे द्रष्टव्यम्—पृ० ४५ द्वि० प० ५ । २ पृ० ७० पं० २७ टि० २ । "तथा चाहुः—प्रमाणस्यागौणत्वादनुमानार्थनिश्चयो दुर्लभ "—न्यायमञ्ज० आ० २ पृ० ११८ पं० २१ ।

३ "विशेषेऽनुगमाभावात् सामान्ये सिद्धसाधनात् । तद्वतोऽनुपपन्नत्वादनुमानकथा कुत." ॥—न्यायमञ्ज० आ० २ पृ० ११९ पं० ४-५ । "येऽपि मन्यन्ते—विशेषेऽनुगमाभाव सामान्ये सिद्धसाध्यता"—१,१,५ शास्त्रदीपिका पृ० ११ प० १० ।

४ अत्रार्थे कारिकेयं वर्तते—"तदुक्तं धर्मकीर्तिना—
प्रमाणेतरसामान्यस्थितेरन्यधियो गते. । प्रमाणान्तरसद्भावः प्रतिषेधाच्च कस्यचित्"—प्रमाणप० पृ० ६४ पं० ३६-३८ । प्रमेयक० पृ० ४६ द्वि० प० २ । "तथा चोक्तं सौगतै." इति कृत्वोद्धृतोऽयं श्लोक प्रशस्तपादकन्दल्याम्—पृ० २५५ पं० १७-१९ । "धर्मकीर्तिरप्येतदाह" इति निर्दिश्योद्धृतोऽयं श्लोक प्रमाणमीमांसायाम्—१-१-११ पृ० १४ पं० १४ । ५—धस्याकृ—आ० हा० वि० । ६ प्र० पृ० पं० ४ । ७ धर्मत्वं प्र—मा० मा० आ० हा० वि० । ८ "साध्यधर्म"—वृ० टि० ।

"लिङ्गस्याव्यभिचारस्तु धर्मेणान्यत्र दृश्यते । तत्र प्रसिद्धं तद्युक्तं धर्मिण गमयिष्यति ॥"—न्यायवा० ता० टी० पृ० १८० पं० १ ।

"अर्थस्यासंभवे भावात् प्रत्यक्षेऽपि प्रमाणता।
प्रतिबद्धस्वभावस्य तद्धेतुत्वे समं द्वयम्" ॥ [ ] इति।

तेन 'अनधिगतार्थपरिच्छित्तिः प्रमाणम्' इत्यादि यदुक्तम् तदप्यपास्तम्; यतः सर्व एव प्रेक्षावान् प्रवृत्तिकामः प्रमाणमन्वेषते प्रवृत्तिविषयार्थप्रदर्शकम्। अर्थक्रियासमर्थश्चार्थः प्रवृत्तिविषयः। अनागतं च प्रवृत्तिसाध्यमर्थक्रियासामर्थ्यमर्थस्य नाध्यक्षमधिगन्तुं समर्थम् भाविनि प्रमाणव्यापारासंभवात् तत् कथमस्यार्थपरिच्छेदमात्रात् प्रामाण्यं युक्तम्? अतः स्वविषये अध्यक्षं तदुत्पत्त्या 'यत् पूर्वं मया प्रबन्धेनार्थक्रियाकारि प्रतिपन्नं वस्तु तदेवेदम्' इति निश्चयं कुर्वत् प्रवर्तकत्वात् प्रमाणम् अनुमानेऽपि चैतत् समानम् यतोऽर्थक्रियाकारित्वेन निश्चितादर्थात् पारम्पर्येणोत्पत्तिरेवाव्यभिचारित्वलक्षणं प्रामाण्यमनुमानेऽप्यध्यक्षवत् कथं नाविप्रतिपत्तिविषयः? प्रतिपद्यत एवं चाऽप्यनुमानस्य तदुत्पत्त्या बाह्यवस्त्वध्यवसायेन लोकोऽध्यक्षवत् प्रामाण्यम्। अथाध्यक्षमपि प्रमाणं नेष्यते तर्हि लोकप्रतीतिबाधा भवन्तमनुबध्नाति अध्यक्षानुमानयोः प्रमाणतया लोके प्रतीतत्वात्। न च नाध्यक्षानुमानयोः प्रामाण्यमस्माभिर्निषिध्यते किन्तु त्रिलक्षणं चतुर्लक्षणं वा लिङ्गं न केनचित् प्रमाणेन भवतः प्रसिद्धमिति पर्यनुयोगे यद्यनुमानं साधकमभिधीयते ततस्तत्रापि स एव पर्यनुयोग इत्येवं सर्वत्र पर्यनुयोगपराण्येव बृहस्पतेः सूत्राणीति वक्तव्यम् यतः पक्षधर्मात् तदंशव्याप्तात् प्रमाणतोऽवगतात् साध्यप्रतिपत्तिरनुमानम् पक्षधर्मतानिश्चयश्च क्वचित् प्रत्यक्षात् क्वचिच्चानुमानात् यत्राप्यनुमानात् तन्निश्चयस्तत्रापि नानवस्थादिदूषणम् प्रत्यक्षादेव क्वचित् तन्निश्चयादनवस्थादिदोषव्यावृत्तेः तदंशव्याप्तिनिश्चयश्च कार्यहेतोः कस्यचित् स्वभावहेतोश्च विशिष्टप्रत्यक्षादेव। स्वभावहेतोरप्यनित्यत्वस्याध्यक्षेणैव प्रतिपत्तेस्तन्निबन्धन एव तन्निश्चयः। अध्यक्षावगतेऽपि च क्षणिकत्वे तद्व्यवहारसाधनाय प्रवर्त्तमानमनुमानं न वैयर्थ्यमनुभवेत् शिंशपात्वाद् वृक्षत्वानुमानवत्। न च सत्त्व-क्षणिकत्वयोस्तादात्म्ये सत्त्वनिश्चये क्षणिकत्वस्यापि निश्चयात् तदनिश्चये वा सत्त्वस्याप्यनिश्चयात्—अन्यथा तत्तादात्म्यायोगात्—क्षणिकत्वानुमानवैयर्थ्यम् यतो निश्चयापेक्षो हि गम्यगमकभावः निश्चयश्चानुभवाविशेषेऽपि सत्त्व एव न क्षणिकत्वे सदृशापरापरोत्पत्त्यादेर्भ्रान्तिनिमित्तस्य सद्भावात् विपर्यये बाधकप्रमाणवृत्त्या सत्त्व-क्षणिकत्वयोस्तादात्म्यसिद्धेर्बाधकप्रमाणस्य च प्रतिबन्धसिद्धिरध्यक्षत इति नानवस्थादिदोषः। न च निर्विकल्पकं व्याप्त्या प्रतिबन्धग्रहणाक्षमम् विकल्पोत्पादनद्वारेण तस्य तत्र सामर्थ्याभ्युपगमात्। न चाप्रमाणकेन परः पर्यनुयुज्यते वादिप्रतिवादिनोः पर्यनुयोगस्य प्रमाणत्वे नासिद्धेः। अथ यथा वचनात्मकमनुमानं न वक्तुः प्रमाणम् अथ चाऽनेन वक्ता परान् प्रतिपादयति तथाऽप्रमाणकेन पर्यनुयोगः क्रियत इत्ययुक्तमेतत् यतो वचनाद् द्वयोरप्यर्थप्रतीतिः प्रमाणभूतैवोत्पद्यतेऽर्थपरिच्छेदकत्वात् केवलं वक्तुरधिगमस्य निष्पन्नत्वात् प्रमाणं नोच्यते न पुनरप्रमाणं भवति अप्रामाण्ये वा द्वयोरप्यप्रमाणमिति कथं तथार्थप्रतीतिः? यदपि 'परप्रसिद्धेनानुमानेन तदेव निषिध्यते' इत्युच्यते तदप्येतेनैव निरस्तम्। यच्च 'तद्विषयस्य सामान्यादेरभावादनुमानमप्रमाणम्' इत्युक्तम् तदप्यतद्रूपपरावृत्तवस्तुमात्रप्रसाधकत्वेनानुमानस्य प्रतिपादनात् प्रतिविहितम् यथोक्तस्य च सामान्यस्यायोगव्यवच्छेदेन प्रतिनियतदेशादिसम्बन्धितयाऽनुमानेन प्रसाधनात्। 'विशेषेऽनुगमाभावः सामान्ये सिद्धसाधनम्' इत्यपि प्रतिविहितमेव। अवगततादात्म्यतदुत्पत्तिप्रतिबन्धस्य च लिङ्गस्य साध्यगमकत्वे विशेषविरुद्धानुमानविरोधयोः सहभावदर्शनमात्रप्रतिपन्नाविनाभावलिङ्गप्रभ-

---

१ "प्रमाणहेतुत्वे"-वृ० टि०। २ पृ० १७ पं० ९। तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ७७५ पं० २७। आप्तप० पृ० ४३ पं० १६। १-१-११ प्रमाणमी० पृ० १४ पं० १६। ३ पृ० ५५४ पं० ४। ४ "प्रत्यक्षस्य"-वृ० टि०। ५-पत्तिर्वि-वृ०। ६-व वा-वृ० वा० बा० विना। ७ लोकेऽ-वृ० विना। ८ लिङ्गं के-वा० बा० मां० मां० विना। ९ पृ० ६९ पं० ३९। "परपर्यनुयोगपराणि हि बृहस्पतेः सूत्राणि, इति वचनात्"—प्रमाणप० पृ० ६३ पं० १। १० "प्रत्यक्षनिबन्धन-" वृ० टि०। ११-न पर्य-वा० बा०। १२-नं व-भा० मा० विना। १३ "वचनात्मकं हि अनुमानं परार्थं ततस्तस्यैव प्रमाणं न वक्तुः। वक्ता चात्माप्रमाणेनाऽपि परं प्रतिपादयति"—वृ०। ल० टि०। १४ नित्योत्पन्न-वृ० स०। १५ कथं वितथार्थं प्र-भां० मां०। १६ पृ० ५५४ पं० ५। १७ पृ० ५५४ पं० ७।

वयोः कथमवकाशः ? तेन 'विशेषविरुद्ध'-इत्याद्यप्यसङ्गतमेव अतोऽनुमानस्यापि प्रामाण्योपपत्तेः "प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणम्" [ ] इति चार्वाकमतमयुक्तम् । अत्र च—

"पक्षधर्मस्तदंशेन व्याप्तो हेतुस्त्रिधैव सः ।
अविनाभावनियमाद्धेत्वाभासास्ततोऽपरे" [ ]

इति वचनात् पक्षधर्मस्तदंशेन व्याप्त इति लक्षणनिर्देशः हेतुरिति लक्ष्यनिर्देशः त्रिधैव स हेतुरिति तत्प्रभेदनिर्देशः ।

---

१ पृ० ५५४ पं० १२ ।

२ क्वचित् क्वचित् खण्डितोऽपि हेतुबिन्दुतर्कटीकागत. पाठ. समानप्रायत्वेन परस्परशुद्धीकरण-तुलनयोरुपयोगितया सटिप्पणिकत्वेन च अर्थवैशद्योपयोगितया ताडपत्रप्रत्युपलब्धावस्थ एवात्र समुद्रियते—

"एष चार्थ. पक्षधर्मस्तदंशेन व्याप्तो हेतु कस्य परोक्षा…पि न व्याप्तो सत्ता तत्र नियतं भवतीत्यभिप्रायवता विपर्ययव्याप्तिं प्रदर्शयितुमिदमुक्तम्—"हेत्वाभासास्ततोऽपर." इति तत्रैतत् स्यात् क्षणिकविपक्ष…विपर्ययेण व्याप्तिर्बाधक प्रमाणवशादवसिता इह तु त्रिसङ्ख्याव्याख्यानसमर्था हेत्वाभासत्वेन व्याप्ति कतरेण प्रमाणेनावसितेत्यत…"अविनाभावनियमात् इति । त्रिविधहेतुव्यतिरिक्ते लिङ्गतयोपगते शङ्क्यमाने वा वस्तुनि पक्षधर्मतासद्भावेऽप्यविनाभावाभावा…

तथा च वक्ष्यति—

"न स त्रिविधाद्धेतोरन्यत्रास्तीत्यत्रैव नियत उच्यते" इति । अविनाभाववैकल्यं च हेत्वाभासत्वेनासिद्धविरुद्धानैकान्तिकसामान्य'' णव्याप्तं प्रमेयत्वादौ निश्चितमिति हेत्वाभासत्वे साध्येऽविनाभाववैकल्यं समावहेतु. अविनाभाववैकल्यं च त्रिविधहेतुव्यतिरिक्तत्वादेव त… गता नापि हेतुत्वं तेषु निषिध्यमानं केवलं व्यामोहात् हेतुत्वमन्यत्र प्रसिद्धमेव तत्राऽऽरोपितमाशङ्कितं वा तद्विरुद्धोपलम्भादपसार्यते । तत् किमुच्यते'' विन. कथं विरोध इति न च सहानवस्थानलक्षण एव विरोधो येन तथ्योप. सर्वत्रोपवर्ण्येत । नाऽपि यद् यत्र प्रतिषिध्यते तस्य तत्रैव विरो…(ध प्रति) पत्तव्यो येन "कथमसत. केनचिद् विरोधगति." इति चोद्येत । नहि नात्र शीतस्पर्शोऽग्नेरिति साध्यधर्मिण्येव शीतस्पर्शस्याग्निना विरोध ''न्यो यथा त्वऽस्यान्यत्र प्रतीतविरोधस्याग्निना साध्यधर्मिणि निषेध तथा हेत्वाभासत्वोपलम्भाद् हेतुत्रयबाह्यवर्थेषु हेतुत्वनिरासे …तोऽपि न लाक्षणिको विरोध. प्रतीयते । यथा क्षणिकत्वेनाक्षणिकत्वस्य तस्य वस्तुनि क्वचिदप्यसम्भवात् । भावेन वा यद्दभावस्य सर्वसामि …क्षणस्येत्यलं दुर्मतिविसन्दितेष्वत्यादरेणेति स्थितमेतत्-त्रित्वे हेतुत्वं नियम्यमान…कानुपलब्धितः सिद्धम् । तथाहि-तादात्म्य-तदुत्पत्तिभ्यामविनाभावो व्याप्त', तयोस्तत्रावश्यंभावात् । तस्य च तयोरेव भावादतत्स्वभावस्यातदुत्पत्तेश्च । वा तदव्यभिचारनियमाभावात् ।

तदुक्तम्—

कार्यकारणभावाद्वा स्वभावाद्वा नियामकात् । अविनाभावनियमोऽदर्शनान्न न दर्शनात् ॥
नियम. क[11] परस्यान्यथा[12] परे[13] । अनन्तर[14]निमित्ते वा धर्मे[15] वासवि रागवत् ॥ इति ॥

रूपादिनाऽपि हि रसादेरविनाभावो न स' णाव्यभिचारद्वारक इति । तत्कारणोत्पत्तिरेवाविनाभावनिबन्धनम् । अन्यथा[16] तदनायत्तस्य[17] तत्कारणानायत्तस्य[18] वा तेन ''नाथा सर्वस्य सर्वार्थैरविनाभाव स्यात्, अविशेषात् । एकार्थसमवायनिमित्तो रूपरसादेरविनाभाव इति चेत्, ननु समवायोऽप्याधारा…भूतानामुपवर्ण्यते । स चाधाराधेयभावस्तदा[20]त्मानुपकारेऽतिप्रसङ्गतो न सिध्यतीत्येकसामग्र्यधीनतैवैकार्थसमवाय…योऽन्यो वा वस्तुभूत सम्बन्धोऽसम्भवी तथा सम्बन्धपरीक्षायां विस्तरत शास्त्रकृता प्रतिपादितमेवेति तत एवावधार्यम् । अंस… न वा जन्यजनकभावे तादात्म्ये वा तेनैवाविनाभावो नान्येनेत्यत्र वस्तुस्वभावैरेवोत्तर वाच्यम् । ये एवं भवन्ति नास्माभि. क…इति चेत्, आकस्मिकस्तर्हि स वस्तूना स्वभाव इति न कस्यचिच्च स्यात् । न ह्यहेतोर्देशकालद्रव्यनियमो युक्तः । नहि…नीयेत न वा यस्य यत्र किञ्चिदायत्तमनायत्तं वा अन्यथा विशेषाभावादिष्टदेशकालद्रव्यवदन्यदेशादिभाव. केना…द् यद् येनाविनाभूतं दृश्यते तस्य तेनाव्यभिचारकारणं तत्त्वचिन्तकैरभिधानीयम्, न तु पादप्रसारिकाऽवलम्बनीया । तच्चाव्यभिचारकारणम् यथोक्तादन्यत्र युज्यते इति तद्विकला न हेतुलक्षणभाज' इति । तथा चाह—

---

१ त्रित्वे । २ भवतोऽन्यभावेऽभावलक्षण. । ३ शीतस्पर्शस्य । ४ सयो…(?)त्रित्वहेतु" । ५ अविनाभावे । ६ तादात्म्यात् । ७ साध्येन । ८ साधनस्य । ९ विपक्षे । १० सपक्षे । ११ साधनस्य । १२ तादात्म्यतदुत्पत्त्यभावे । १३ साध्ये । १४ मुद्गरादि । १५ निखलादिके । १६ एकसामग्रीप्रतिबन्धाभावे । १७ साध्यानायत्तस्य । १८ साध्यकारणाऽनायत्तस्य । १९ ऽऽधेयस्य रूपरसादेरनुपकारे २० पर… । २१ प्रतिबद्धं ।

अथ हेत्वन्तराभावनिश्चये त्रिधैव स इति नियमो युक्तः प्रतियोग्यभावनिश्चयसापेक्षत्वाद्

संयोग्यादिषु येष्वस्ति प्रतिबन्धो न तादृशः । न ते हेतव'''व्यभिचारस्य संभवात् ॥ इति ॥

अत्र प्रयोगः यस्य येन सह तादात्म्यतदुत्पत्ती न स्तो न स तदविनाभावी, यथा प्रमेयत्वादिरनित्यत्वादिना न, नस्तश्च केन [''तादात्म्यतदुत्पत्ती स्वभावकार्यव्यतिरेकिणामर्थानामिति व्यापकानुपलब्धिः । स्वभावानुपलब्धिस्तु स्वभावहेता-धन्तर्भावितेति तस्या'''लक्षण एव प्रतिबन्धः । व्यापककारणानुपलब्धी तु तादात्म्यतदुत्पत्तिलक्षणप्रतिबन्धवशादेव व्याप्यकार्ययोर्निवृत्तिं साधयत'''

'''त् तन्मात्रसम्बद्धः[22] स्वभावो[23] भावमेव[24] वा । निवर्तयेत् कारणं वा कार्यमव्यभिचारतः ॥ इति ॥

तदेवं हेतुलक्षणं संख्यानियमस्तदुपदर्श'''मत्र श्लोके निर्दिष्टमिति । अथवा त्रिधैव स इति स पक्षधर्मस्त्रिप्रकार एव 'स्वभावकार्यानुपलम्भाख्यस्तदंशेन व्याप्तो नान्यः ।' त्रिप्रकारस्तदंशेन व्याप्त एवेति सम्बन्धः । किं कारणम्? अविनाभाव-'यमात् । अविनाभावस्य व्याप्तेः त्रिविध एव पक्षधर्मे नियम्यमानस्य च पक्षधर्मस्याविनाभावे नियमात् । तेन च 'भावकार्यानुपलम्भात्मकत्रिविधपक्षधर्मव्यतिरिक्ता न तदंशेन व्याप्ता इति । त्रिविधश्च कार्यस्वभावानुपलब्धिरूपः पक्ष-धर्मस्तदंशेन व्याप्त एवेति न तस्याहेतुत्वमित्युक्तं भवति । ततस्त्रिविधहेतुवाद्यव्यविरोधाद्धेतुव्यवहारं कुर्वन्तः त्रिविधे [?] हेतावविनाभावस्यावश्यम्भावादहेतुत्वमाचक्षाणा[25] निरस्ता भवन्ति । तत्रैतत् स्यात् हेत्वाभासानामपि ''हि कथितम् । अत्र कार्यस्वभावयोर्विधिसाधनत्वात्र प्रतिषेधे साध्ये व्यापारः अनुपलब्धितोऽपि न हेत्वन्तराभावनिश्चयो यतः सा 'हेतुर्द्वोऽवस्थिता स्वभाव''व्यापकानुपलब्ध्योः विरुद्धविधिश्चेति । तत्र तुल्ययोग्यतारूपस्यैकज्ञानसंसर्गिणः[26] स्वभावानु-'लब्धिरन्योपलब्धिरूपा अभावव्यवहारहेतुरिष्यते । न'''तरमत्यन्ताभावतयोपगतमनुक्रान्तरूपम् यदि हि स्याद्देशा-'दिनिषेध एवास्य स्यात् नात्यन्ताभावः । कारणव्यापकानुपलब्धी तु सिद्धे कार्य'''व्याप्यव्यापकभावे भवतः । न च 'हेत्वन्तरेऽत्यन्तासत्तयाऽङ्गीकृते प्रकारोऽयं सम्भवति तत् कथं ते तदभावं गमयिष्यतः । विरोधोऽप्यविकल''''''वतोऽन्यभावेऽभावादवगम्यत इति विरुद्धोपलब्धिरप्यसम्भविनी । सम्भवे वा कारणानुपलब्ध्यादीनां कथमत्यन्तनिषेधः ? 'त्याशङ्क्याह—"हेत्वाभासास्ततोऽपरे" इति । ततस्त्रिविधाद्धेतोरपरेऽन्ये हेत्वाभासा यतस्ततस्त्रिधैव स इति । एवं मन्यते— 'ह यद् यत्र नियम्यते विपर्ययेण तद्विपक्षस्य व्याप्तौ स नियमः सिध्यति । यथा यत् सत् तत् क्षणिकमेवेति । सत्त्वस्य क्षणि-'केषु नियम उच्यमानः सत्त्वविपर्ययेणा'''त्वेन क्षणिकविपक्षस्याक्षणिकस्य व्याप्तौ सिध्यति । एवमिहापि त्रित्वे हेतुर्नियम्य-'मानो हेतुविपर्ययेण हेत्वाभासत्वेन त्रिसंख्या वा''स्य व्याप्तौ त्रिसंख्यामामेव नियतो भवति । ततस्त्रिविधहेतुव्यतिरिक्ता-'नामर्थाना हेत्वाभासता दर्शयति । तेन स्वभावविरुद्धोपलब्ध्य'''भावानुपलम्भव्यतिरिक्तानामर्थानां हेतुत्वाभावनिश्चय 'ते । हेतुतदाभासयोश्च परस्परपरिहारस्थितलक्षणतयैव विरोधो'''क्षणप्रतीतिकाल एव प्रतिपन्नः तदात्मनियतप्रति-'तसज्ञानादेव तद्विपरीतस्यान्यतया तदाभासताप्रतीतेः परस्परमितरेतररूपाभावा'''यात् । तत्र त्रिविधहेतुव्यतिरिक्तेष्वर्थेषु 'हेत्वाभासत्वमुपलभ्यमानं स्वविरुद्धं हेतुत्वं निराकरोति । ते च हेतुत्रयबाह्या अर्था नात्यन्तासत्त''भिधानीयम् तत्र शिष्याणा 'हेतुव्यवहारनिवृत्तय इत्याह "हेत्वाभासास्ततोऽपरे" इति । ततः पक्षधर्मस्तदंशेन व्याप्त इति हेतुलक्षणादपरेऽलक्षणविकला हेत्वाभासा गम्यन्त एवेति न तल्लक्षणमुच्यते । तथाहि-पक्षधर्म इत्युक्ते यत्र पक्षधर्मता नास्ति न स हेतुस्तदंशेन 'याप्त इति वचने यत्र तदंशव्याप्तिविरहो विपर्ययव्याप्तेर्व्यापकस्य वा तत्रावश्यम्भावाभावात् ते हेतुरूपविकलतया हेत्वाभासा असिद्धविरुद्धाऽनैकान्तिका गम्यन्त एव । तथाहि—यल्लक्षणो योऽर्थः शिष्यस्य व्युत्पादित तल्लक्षणविरहिते न तद्व्यवहार स्वयमेव प्रवर्तयिष्यत्य'''परिहारेणैव तद्रूपप्रतिपत्तेरिति न तत्र यत्नः फलवान् भवति । यस्त्वन्यत्र हेत्वाभासव्यु-'त्पादनं तन्मन्दबुद्धीनधिकृत्य इदं तु प्रकरणं विपुलमतीनुद्दिश्य प्रणीतम् "संक्षेपतः" इति वचनात् । त एव हि संक्षेपोक्तं 'यथावदवगन्तुं क्षमाः न मन्दमतय तेषां विस्तराभिधानमन्तरेण यथावदर्थप्रतिपत्तेरभावात् । अत एवार्थाक्षिप्तोपन्यास-पूर्वकमेव हेत्वाभासलक्षणं तत्रोपवर्णितमिति । तदत्र व्याख्याने हेतुलक्षणं १ हेतुसंख्यानियमः २ तस्य च त्रिविधस्य हेतुत्वावधारणं ३ तदुभयकारणं[32] ५ शिष्टनिर्देशा''''''''हेत्वाभासलक्षणानभिधानकारणं चेति ६ षडर्थाः श्लोकेऽत्र निर्दिष्टा इति"—हेतु० टी० ता० लि० पृ० ४ ब-पृ० ६ ब ।

२२''''दि । २३ ऽनित्यादिकः । २४ व्याप्यं कृतकत्वादिकम् । २५ चार्वाकाः । २६ तुल्यं ल''तो योग्यतारूपं 'यस्य । २७ एकज्ञानसंसर्गिव'' । २८ हेतुत्वम् । २९''''योगत्वे । ३० हेतु—। ३१ यद्रूप । ३२ तस्योभयस्य हेतुसंख्यानियमस्य हेतुत्वावधारणस्य च कारणं अविनाभावनियम इत्येत्''' ।

भावेषु सावधारणनिश्चयस्य । उक्तं च—

"अयमेवेति यो ह्येष भावे भवति निर्णयः ।
नैष वस्त्वन्तराभावसंवित्त्यनुगमादृते" [ ] इति ।

न च हेत्वन्तराभावः प्रत्यक्षसमधिगम्यः तस्याभावविषयत्वविरोधात् । नाप्यनुमानतः तस्य त्रिविधलिङ्गप्रभवत्वोपवर्णनात् कार्यस्वभावयोश्च विधिसाधकत्वेनाभावे साध्ये व्यापारासंभवात् अनुपलब्धेश्च हेत्वन्तराभावनिश्चये चतुर्विधाया अप्ययोगात् । तथाहि-स्वभावानुपलब्धिर्ह्यन्योपलब्धिरूपा तुल्ययोग्यतारूपस्यैकज्ञानसंसर्गिणोऽभावव्यवहारहेतुरभ्युपगम्यते । न चात्यन्तासत्त्वोपगतं हेत्वन्तरमुक्तस्वभावम् तथात्वे देशादिनिषेध एव तस्य भवेन्नात्यन्ताभावः । कारणव्यापकानुपलब्ध्योरपि कार्यकारणव्याप्यव्यापकभावसिद्धौ सत्यां व्यापारः न चात्यन्तासतो हेत्वन्तरस्य किञ्चिद् वस्तु कारणं व्यापकं वा सिद्धं येन तयोस्तत्र व्यापारो भवेत् । विरुद्धविधिरप्यत्रासंभवी, यतो विरोधोऽविकलकारणस्य भवतोऽन्यभावेऽभावादवसीयते न च हेत्वन्तरेऽत्यन्तासत्ययं प्रकारः संभवति संभवे वा न कारणानुपलब्ध्यादीनामात्यन्तिकनिषेधहेतुतेत्याशङ्क्याह—"हेत्वाभासास्ततोऽपरे" इति । तदंशव्याप्तिवचनेनान्वयव्यतिरेकयोरभिधानात् ततः पक्षधर्मत्वान्वयव्यतिरेकलक्षणकार्यस्वभावानुपलब्धिस्वरूपात्त्रिविधाद्धेतोरपरेऽन्ये हेत्वाभासा यतस्ततः "त्रिधैव सः" इति । अयमभिप्रायः—भिन्ने हेतुर्नियम्यमानो हेतुविपर्ययेण हेत्वाभासत्वेन त्रिसंख्याबाह्यस्यार्थस्य व्याप्तौ त्रिसंख्यायामेव नियतो भवति । यथा सत्त्वलक्षणो हेतुः क्षणिकेषु नियम्यमानः सत्त्वविपर्ययेणासत्त्वेन क्षणिकविपक्षस्याक्षणिकस्य व्याप्तौ नियतः सिध्यतीति त्रिविधहेतुव्यतिरिक्तेष्वर्थेषु हेत्वाभासतोपदर्शनम् । इह च विरुद्धोपलब्ध्या कार्यस्वभावानुपलम्भव्यतिरिक्तानां भावानां हेतुत्वाभावनिश्चयः । हेतुतदाभासयोश्च परस्परपरिहारस्थितलक्षणतैव विरोधः प्रतिपन्नः हेतुलक्षणप्रतीतिकाल एव तदात्मनियतप्रतिभासज्ञानादेव तद्विपरीतस्यान्यतया तदाभासताप्रतीतेः परस्परमितरेतररूपाभावनिश्चयात् । तेन हेत्वाभासत्वं त्रिविधहेतुव्यतिरिक्तेषूपलभ्यमानं स्वविरुद्धं हेतुत्वं निराकरोति । न चात्यन्तासत्त्वेन हेतुत्रयबाह्यार्था अभ्युपगताः केवलं हेतुत्वमन्यत्र प्रसिद्धमेव तेषु व्यामोहादध्यारोपितमाशङ्कितं वा तद्विरुद्धोपलब्धेः प्रतिषिध्यत इति कथम् "अत्यन्तासंभविनो न विरोधगतिः" [ ] इति दूषणम् ? सहानवस्थानलक्षणवत् परस्परपरिहारस्थितलक्षणस्यापि विरोधस्य भावे सर्वत्र तन्न्यायोपवर्णनमसंगतमेव । अन्यत्र च प्रसिद्धविरोधयोः शीतोष्णयोरिव हेतुतदाभासयोः हेतुत्रयबाह्येष्वर्थेषु हेत्वाभासत्वोपलम्भाद्धेतुत्वनिरासो यथाग्नावुष्णस्पर्शोपलम्भात् शीतस्पर्शनिषेध इति न क्वचित् साध्यधर्मिण्येव विरोधः प्रतिपत्तव्यः । अत्यन्तासतोऽपि च लाक्षणिको विरोधोऽवगम्यत एव यथा भावेन सर्वशक्तिविरहलक्षणस्याभावस्य । कुतः पुनः प्रमाणात् त्रिसंख्याबाह्यानामर्थानां हेत्वाभासत्वेन व्याप्तिरवगतेत्याशङ्क्याह—"अविनाभावनियमात्" इति लिङ्गतयाऽऽशङ्क्यमाने त्रिविधहेतुव्यतिरिक्तेऽर्थे पक्षधर्मतासद्भावेऽप्यविनाभावस्याभावात् । वक्ष्यति च—"न स त्रिविधाद्धेतोरन्यत्रास्तीत्यत्रैव नियत उच्यते" [ ] इति हेत्वाभासत्वेनासिद्धविरुद्धानैकान्तिकसामान्यधर्मेण व्याप्तमविनाभाववैकल्यं प्रमेयत्वादाववगतमिति हेत्वाभासत्वे साध्ये तत्स्वभावहेतुः त्रिविधहेतुव्यतिरिक्तत्वादेव तदन्येषामविनाभाववैकल्यं व्यापकानुपलब्धेः सिद्धम् अविनाभावस्य तादात्म्य-तदुत्पत्तिभ्यां व्याप्तत्वात् तयोरेव तस्य भावात् तत्र च तयोरवश्यं भावादतदुत्पत्तेरतत्स्वभावस्य च तदनायत्ततया तदव्यभिचारनियमाभावात् । उक्तं च—

"कार्यकारणभावाद्वा स्वभावाद्वा नियामकात् ।
अविनाभावनियमोऽदर्शनान्न न दर्शनात्" ॥ [ ]

१-णस्य नि-वा० बा० । २-भावः सं-भा० मां० । पृ० १४९ पं० २३ । ३-४-५ पृ० ५५६ पं० ३-४ । ६ "अपि तु अन्यत्र धर्म्यन्तरे"-बृ० ल० टि० । ७ "परस्परपरिहारस्थितिलक्षण"—बृ० ल० टि० । ८ पृ० ५५६ पं० ४ । ९ "अविनाभाव"-बृ० ल० टि० । १०-हेतु त्रि-वा० बा० । ११ "अविनाभावस्य"-बृ० टि० । १२-त् अत्र बा० वा० भा० मा० । १३ "तादात्म्य-तदुत्पत्त्यो"-बृ० ल० टि० । १४-यमोद्-बृ० मां० विना । पृ० ७६ पं० १७ । तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ४३० पं०२० । "नियमोऽदर्शनान्न तु दर्शनात्"-प्रशस्त० कं० पृ० २०७ पं० ८ । न्यायवा० ता० टी० पृ०१५८ पं० २४ । नयनप्रसादिन्या चित्सुख्यां व्याख्यायाम् "तदप्युक्त कीर्तिना" इत्युमिल्यायं श्लोक उद्धृतोऽस्ति परं तत्र "-ऽदर्शनान्न तु दर्शनात्" इति चतुर्थं चरणम्-पृ० ७१ पं० २८ ।

"अवश्यंभावनियमः कः परस्यान्यथा परैः।
अर्थान्तरनिमित्ते वा धर्मे वाससि रागवत्" ॥ [ ] इति।

याऽपि रसतः समानसमयस्य रूपादेः प्रतिपत्तिः साऽपि स्वकारणाव्यभिचारनिमित्ताविनाभावनिबन्धनेति तत्कारणोत्पत्तिरेवाविनाभावनिबन्धनमन्यथा तदनायत्तस्य तत्कारणानायत्तस्य वा तेनाविनाभावकल्पनायामविशेषात् सर्वार्थैरविनाभावो भवेत्। न चैकार्थसमवायनिमित्तो रूपरसादेरविनाभावः तस्य निषिद्धत्वात्। तदुक्तम्—

"एकसामग्र्यधीनत्वाद् रूपादे रसतो गतिः।
हेतुधर्मानुमानेन धूमेन्धनविकारवत् ॥" [ ] इति।

तदेवं तादात्म्य-तदुत्पत्त्योरविनाभावव्यापकयोर्यत्राभावस्तत्राविनाभावाभावाद् हेतुत्वस्याप्यभावः सिद्धः। तदुक्तम्—

"संयोग्यादिषु येष्वस्ति प्रतिबन्धो न तादृशः।
न ते हेतव इत्युक्तं व्यभिचारस्य संभवात्" ॥ [ ]

तथा च प्रयोगः–यस्य येन तादात्म्य-तदुत्पत्ती न स्तः न स तदविनाभावी यथा प्रमेयत्वादिरनित्यत्वादिना न स्तश्च केनचित् तादात्म्य-तदुत्पत्ती स्वभावकार्यव्यतिरेकिणामर्थानामिति व्यापकानुपलब्धिः। स्वभावानुपलब्धेस्तु स्वभावहेतावन्तर्भाव इति तस्यास्तादात्म्यलक्षण एव प्रतिबन्धः। कारणव्यापकानुपलब्ध्योरपि तादात्म्य-तदुत्पत्तिप्रतिबन्धाद् व्याप्यकार्यनिवृत्तिसाधकत्वम्। उक्तं च—

"तस्मात् तन्मात्रसम्बद्धः स्वभावो भावमेव वा।
निवर्तयेत् कारणं वा कार्यमव्यभिचारतः" ॥ [ ] इति।

यद्वा "त्रिधैव सः" इति स पक्षधर्मस्त्रिप्रकार एव स्वभावकार्यानुपलम्भाख्यः तदंशेन व्याप्तो नान्यः स त्रिप्रकारस्तदंशेन व्याप्त एवेति च सम्बन्धनीयम्। अविनाभावनियमात् अविनाभावस्य व्याप्तेस्त्रिप्रकार एव पक्षधर्मे नियमात् त्रिविधस्य च पक्षधर्मस्याविनाभावनियमात् तेन त्रिविधपक्षधर्मव्यतिरिक्ता न हेतवः। त्रिविधश्च पक्षधर्मो हेतुरेव तदंशेन व्याप्त एवेति कृत्वा हेतुलक्षणावगमादेव हेत्वाभासाः ततो हेतुलक्षणयुक्तादपरे अन्ये तल्लक्षणविकला हेत्वाभासा अवगम्यन्त इति न पृथक् तल्लक्षणाभिधानम्। तदेवं यथोक्तलक्षणाद्धेतोः साध्यप्रतिपत्तिः स्वार्थमनुमानम् यथोक्तहेत्वभिधानं च परार्थमनुमानमिति स्थितम्। {एतेन "तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतोदृष्टं च" [न्यायद० १-१-५] नैयायिकपरिकल्पितमनुमानलक्षणं प्रतिक्षिप्तम्।

---

१ पृ० ७६ पं० २०। २ "अ०"–मू० टि०। इदं टिप्पणकं संकेतयुक्तं भाति। तत्र 'अ' शब्देन अविनाभावः। एवमग्रेतनटिप्पणगतेन 'ता०' 'त०' शब्देन तादात्म्यतदुत्पत्तिश्च सूचिता भाति। ३ "ता०" "त०" मू० टि०। ४–चारिनि–मू० हा०। ५–धर्मोनु–भा०।

"एकसामग्र्यधीनत्वं सरूपादेस्सतो गतिः। हेतुधर्मानुमानेन धूमेन्धनविकारवत्" ॥–तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ४१७ पं० २४। "एकसामग्र्यधीनस्य रूपादेरसतो गतिः" ।—न्यायवा० ता० टी० पृ० १६२ पं० ८। १–२–१२ प्रमाणमी० पृ० ६३ पं० १२। ६–त्वव्याप्य–वा० बा० भा० मां० विना। ७–म्बन्धः वा० बा० मां०। ८ यदि वा त्रि–मा० मा०। ९ पृ० ५५६ पं० ३।

१० प्रस्तुतसूत्रगतमनुमानत्रैविध्यं वात्स्यायनेन द्विधा व्याख्यायि–वात्स्या० भा० पृ० २३–२४।

इदं त्रिविधमपि अनुमानं प्रत्येकमन्वयविधाद्वयेन व्यतिरेकविधया अन्वय–व्यतिरेकविधाद्वयेन च पञ्चविधं सत् कालत्रयभेदेन पञ्चदशधा भवति। तदेव च प्रतिपन्नाऽप्रतिपन्नसंदिग्ध–विपर्यस्तपुरुषभेदेन षष्टिभेदं जायते। आन्तर्गणिकं त्वेतदनन्तभेदं भवति इत्यादि सर्वमनुमानत्रैविध्यविषयकमतान्तरसमालोचनसहितं सविस्तरं विवेचनं न्यायवार्तिक–न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका–न्यायमञ्जरीप्रभृतिग्रन्थेभ्योऽवसेयमनुक्रमेण–पृ० ४३–५७। पृ० १५६–१९६। पृ० १०९–१३५।

नैयायिकवत् सांख्य–जैन–चरकाचार्यास्त्रिविधमनुमानं प्रतिपन्नाः। वैशेषिकास्तद् द्विविधं मन्यन्ते। मीमांसका अपि तद् द्विविधं वर्णयन्ति। बौद्धास्तु पूर्ववदादिभेदेनानुमानं न विभजन्ति। तथाहि—

साङ्ख्यकारिकायामीश्वरकृष्णः "त्रिविधमनुमानमाख्यातम्" [का० ५] इत्यनेनानुमानस्य त्रैविध्यमाख्यातवान्। माठरस्तद्वृत्तौ त्रिविधपदेन पूर्ववदादिभेदान् व्याख्यातवान् उदाहृतवांश्च सत्कार्यवादसिद्धान्तानुसारेण अत एव साङ्ख्य–नैयायिकयोः

[अक्षपादीयानुमानसूत्रस्य विविधां व्याख्यामुपन्यस्य तदीयानुमानलक्षणस्य अनेकधा निरूपणम्]

अत्र च सूत्रे[1] "तत्पूर्वकमनुमानम्" इत्येतावदनुमानलक्षणमित्येके। "तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानम्" इति चान्ये। "तत्पूर्वं त्रिविधं पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतोदृष्टं चानुमानम्" इत्यपरे। आद्ये सूत्रे लक्ष्यलक्षणविभागमुपदर्शयन्ति—अनुमानमिति लक्ष्यनिर्देशः तत्पूर्वकमिति लक्षणम् अत्र चैकस्य पूर्वकशब्दस्य समानश्रुत्या "प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भ-"[2] [न्यायद० १-२-१] सूत्रवत् साधनशब्दस्य लुप्तनिर्देशं मन्यन्ते। 'तत्पूर्वकम्'[3] इत्यत्र तच्छब्देन प्रत्यक्षं प्रमाणमभिसम्बध्यते। तत्पूर्वकं तत्फलं [4]तत्फलपूर्वकं तत्पूर्वकं तदनुमानं व्यव[5]च्छिनत्तीत्युच्यमाने संस्कारे अतिप्रसङ्गः तस्य तत्फलपूर्वकत्वेऽप्यबोधरूपत्वान्नानुमानव्यवच्छेदकत्वमिति तन्निवृत्तये ज्ञानग्रहणं कार्यम् अथ प्रत्यक्षसूत्रे ज्ञानग्रहणं प्रक्रान्तं तदिहापि सम्बध्यते, [6]नन्वेवमपि ज्ञानरूपं तत्पूर्वकं यतो भवति तदनुमानमित्युच्यमाने स्मृत्यातिप्रसङ्गः द्वितीयलिङ्गदर्शनपूर्विकाया अविनाभावसम्बन्धस्मृतेस्तत्पूर्वकत्वात् तज्ज्ञान-

---

पूर्ववदाद्यनुमानविषयाण्युदाहरणानि अत्यन्तं विभिन्नानि वर्तन्ते। उक्तकारिकाव्याख्यायां साङ्ख्यतत्त्वकौमुद्यां वाचस्पतिमिश्रस्तु पूर्ववदादित्रिप्रकारमेव तद् वीतावीतभेदेन सगृहीतवान् तत्स्वरूपं च सविस्तरं विवृतवान्।

जैनागमग्रन्थेषु भगवती-[श० ५, उ० ४] अनुयोगद्वार [पृ० २१२–२१५ स०] प्रभृतिषु पूर्ववदादिभेदेनानुमानविभाग' कृतो दृश्यते परन्तु तत्र सामान्यदृष्ट-विशेषदृष्टोभयभेदभिन्नं तृतीयमनुमानं दृष्टसाधर्म्यवन्नाम्ना ज्ञापितमस्ति। 'प्रत्यक्षं च परोक्षं च' इति सूत्रयन्त· श्रीसिद्धसेन-समन्तभद्रादयो जैनतार्किका इममागमिकमनुमानविभागं न वर्णितवन्त।

चरकसंहितायां श्लोकस्थाने अनुमानद्वैविध्यमित्थं प्रदर्शितम्—

"प्रत्यक्षपूर्वं त्रिविधं त्रिकालं चानुमीयते। वह्निर्निगूढो धूमेन मैथुनं गर्भदर्शनात्॥
एवं व्यवस्यन्त्यतीत बीजात् फलमनागतम्। दृष्ट्वा बीजात् फलं जातमिहैव सदृशं बुधाः"॥

अ० ११ श्लो० २८–२९ पृ० २६१।

प्रशस्तपादभाष्ये "तत् तु द्विविधम् दृष्टं सामान्यतोदृष्टं च" [पृ० २०५] इत्यादिनाऽनुमानद्वैविध्यं प्रदर्शितम्।

मीमांसादर्शने शाबरभाष्ये "तत् तु द्विविधम्—प्रत्यक्षतोदृष्टसंबन्धं सामान्यतोदृष्टसंबन्धं च" [पृ० ८ पं० ९] इत्येवमनुमानद्वैविध्यं प्ररूपितम्।

इदमेव मीमांसकसमतमनुमानद्वैविध्यं तत्त्वसंग्रहे इत्थं निरूपितम्—

"द्वैविध्यमनुमानस्य केचिदेवं प्रचक्षते। विशेषदृष्ट-सामान्यपरिदृष्टत्वभेदतः" ॥—तत्त्वसं० का० १४४२ पृ० ४२२।

"केचिदिति कुमारिलादय"। तत्त्वसं० पञ्जि०। अत्रार्थे सविशेषमवबुभुत्सुभिः श्लोकवार्तिकगतोऽनुमानपरिच्छेदोऽवधारणीयः। जैनागमे सामान्यदृष्ट-विशेषदृष्टे अनुमानस्य प्रभेदौ मीमांसकनये तु ते एवानुमानस्य भेदाविति बोद्धव्यम्।

१ "अत्र हि प्रथमं लिङ्गदर्शनं तत प्रतिबन्धस्मरणम् तत केषाञ्चिन्मते परामर्शज्ञान ततः साध्यार्थप्रतीति' तत्र प्रत्यक्षलक्षणावसरवर्णितेन क्रमेण हेयादिज्ञानमितीयति प्रतीतिकलापे यथोपपत्ति कार्यकारणभावो वक्तव्य इत्येवं तत्पूर्वकपदमेव केवलमनुमानलक्षणक्षममिति गुरवो वर्णयाञ्चक्रु'।

अन्ये पुन उपमानाद्यतिव्याप्तिव्युदासाय त्रिविधग्रहणं व्याख्यातवन्तः। तत्पूर्वकमनुमानमित्युच्यमाने सति उपमानादौ प्रसङ्ग इति त्रिविधग्रहणम्"।—न्यायमञ्ज० आ० २ पृ० १२६ पं० २३—पृ० १२७ पं० २।

"तदेवं लक्षणे कश्चित् सर्वं सूत्रमयोजयत्। एवं तु व्यापितं न स्यात् सूत्रकारस्य कौशलम्" ॥—न्यायमञ्ज० आ० २ पृ० १२७ पं० १५।

२ "प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भ' सिद्धान्ताविरुद्ध' पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वाद·" इति संपूर्णं सूत्रम्।

३ "तानि वे तत् पूर्वं यस्य तदिदं तत्पूर्वकम्" इत्यादिना 'तत्पूर्वक'पदस्य व्युत्पत्तिविचारणा न्यायवार्तिके वर्तते—पृ० ४३ पं० १९–। एषैव विचारणा न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकायामपि चर्चिताऽस्ति–पृ० १५६ पं० २१–। न्यायमञ्जर्यां तु सैव भङ्ग्यन्तरेण विशेषविशदतया सुललिततया च निरूपिताऽस्ति—आ० २, पृ० १२६ पं० ७—।

४ तत्फलपूर्वकं तत्पूर्वकपूर्वकं ल० भा० वि०। तत्फलपूर्वकं तत्पूर्वकपूर्वकपूर्वकं वा० बा०। तत्फलपूर्वकं तत्पूर्वकं पूर्वकं बृ०। तत्फलपूर्वकपूर्वकं हा०।

५ "विच्छिनष्टि"—बृ० ल० टि०। "यदि प्रत्यक्षपूर्वकमनुमानं संस्कारे निर्णये च प्रसङ्ग इति। प्रत्यक्षपूर्वको भावनाख्यः स्मृतिहेतु संस्कार· निर्णयश्च प्रत्यक्षपूर्वकत्वादनुमान प्रसज्यत इति। नैष दोष· विज्ञानस्याधिकृतत्वात्। इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न ज्ञानमिति ज्ञानाधिकारो वर्तत इति तेन न संस्कारेऽतिप्रसङ्गः। निर्णये तु उभयथा" इत्यादि—न्यायवा० पृ० ४५ पं० १९–। न्यायवा० ता० टी० पृ० १७० पं० २०—।

६ नन्वेवमिहापि भां० मां०।

कस्यानुमानत्वप्रसङ्ग इति तन्निवृत्तयेऽर्थोपलब्धिग्रहणं कार्यम् स्मृतेस्त्वनर्थजन्यत्वमर्थं विनाऽपि भावात् । न च विनष्टस्य जनकत्वम् अविनष्टत्वप्रसक्तेः । न च विनष्टरूपतया जनकत्वम् तदाऽसत्त्वात् । अतोऽर्थोपलब्धिर्यथोक्तविशेषणा यतो भवति तदनुमानम् । एवमपि लैङ्गिकविपर्ययेऽतिप्रसङ्गः यतो गवयविषाणदर्शनाद् गोप्रतिपत्तिरुपजायते यद् गोविषाणसादृश्यज्ञानं प्रत्यक्षफलं तत्पूर्वकं 'गौः' इति विपर्ययज्ञानम् अतस्तज्जनकस्याप्यनुमानत्वप्रसक्तिः तन्निवृत्तये अव्यभिचारिपदमनुवर्तनीयम् एवमपि संशयज्ञानजनकेऽतिप्रसङ्गः यतो गोगवयानुयायिलिङ्गदर्शनाद् 'गौर्गवयो वा' इति संशय उपजायते तज्जनकं च सदृशलिङ्गज्ञानं प्रत्यक्षफलम् तत्पूर्वकं संशयज्ञानमर्थविषयं च तज्जनकस्याप्यनुमानप्रसक्तिरिति तद्व्यवच्छित्तये व्यवसायात्मकपदमनुवर्तनीयम् । तथाप्यविनाभावसम्बन्धस्मरणानन्तरं 'तथा चायं धूमः' इति प्रदर्शनज्ञानाद् 'अग्निः' इति वाक्याच्च नालिकेरद्वीपवासिनो विशिष्टदेशेऽग्निप्रतिपत्तिरुपजायते न च तस्या अनुमानफलत्वम् शाब्दत्वेन व्यवस्थापनात् तन्निवृत्तयेऽव्यपदेश्यपदानुवृत्तिः तथाप्युपमानेऽतिप्रसङ्गः गृहीतातिदेशवाक्यस्य पुंसः सादृश्यज्ञानं वाक्यार्थानुस्मरणसहायमव्यपदेश्यादिविशेषणत्रयविशिष्टं संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञानं तत्पूर्वकपूर्वकं जनयदपि नानुमानम् तत्फलस्याव्यपदेश्यत्वं च श्रूयमाणवाक्याजनितत्वात् । तथानुमानादिपूर्वकाणामसङ्ग्रह इति अव्याप्त्यतिव्याप्ती न निवर्तेते ततस्तन्निवृत्तये विग्रहद्वयाश्रयणम्-तानि ते[12] च पूर्वं यस्य तत् तत्पूर्वकम् । 'तानि' इति विग्रहविशेषाश्रयणेन सर्वप्रमाणपूर्वकत्वमनुमानस्य लभ्यते । न च तेषां पूर्वमप्रकृतत्वात् कथं सर्वनाम्ना परामर्श इति प्रेर्यम् यतः साक्षादप्रकृतत्वेऽपि प्रत्यक्षसूत्रे व्यवच्छेद्यत्वेन प्रकृतत्वात् अव्याप्तेरेव निवृत्तिः । अतिव्याप्तेस्तु 'ते द्वे प्रत्यक्षे पूर्वं यस्य' विग्रहविशेषाश्रयान्निवृत्तिः । तथाहि-तत्पूर्वकमित्यनेन लिङ्गलिङ्गिनोः सम्बन्धदर्शनं लिङ्गदर्शनं च सम्बध्यते । न चोपमानफलमेवम्भूताध्यक्षफलद्वयपूर्वकमिति तत्फलाद् भिद्यते अनुमानफलम् । न चानुमेयप्रतिपत्तिकाले सम्बन्धग्रहणस्य निवृत्तत्वात् कथं तत्पूर्वकत्वमनुमेयप्रतिपत्तेरित्याशङ्कनीयम् यतोऽविनाभावसम्बन्धग्रहणजनितसंस्कारप्रभवा स्मृतिः सम्बन्धदर्शनवाच्याऽत्र गृह्यते तया जनितो लिङ्गपरामर्शः तेनाप्रत्यक्षस्यार्थस्यानुमानम् । न चोपमानफलमेवंभू[14]तफलपूर्वकम् अविनाभावसम्बन्धानुभ[15]वसम्बन्धस्मृतिपूर्वकत्वेन तस्य निपेत्स्यमानत्वात् । न चैवमपि प्रत्यक्षद्वयस्याश्रुतत्वान्नैवं[16] सम्बन्ध इति वक्तव्यम् एकशेषतस्तत्सिद्धेः । नन्वेवमप्यविनाभावसम्बन्धदर्शनस्याश्रुतत्वादेव व्याख्यानमयुक्तम्, न; विशिष्टफलद्वारेण तदुपपत्तेः । तथाहि-अव्यभिचारादिविशेषणविशिष्टं फलं यतः समुपजायते तदनुमानमित्युक्ते अविनाभावसम्बन्धः सिध्यत्येव । अनिन्द्रियार्थसन्निकर्षजमशाब्दमसारूप्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं न ह्यविनाभावविकलाल्लिङ्गादुदयमासादयितुं समर्थम्; अर्थापत्त्यादीनां चानुमान एवान्तर्भावान्न तत्प्रसङ्गः । एवं यथोक्तप्रकारेण नातिव्याप्त्यव्याप्ती ।

ये तु पूर्वशब्दस्यैकस्य लुप्तनिर्देशं नाभ्युपगच्छन्ति तेषां प्रत्यक्षफले अनुमानत्वप्रसक्तिः तत्फलस्य प्रत्यक्षप्रमाणपूर्वकत्वात् । अथाकारकस्याप्रमाणत्वात् कारकत्वं लभ्यते तथापि संस्कारजनके प्रसङ्गः । उपलब्धिजनकस्येति चेत् स्मृतिजनके प्रसङ्गः । अर्थोपलब्धिजनकस्येति विशेषणे लैङ्गिकविपर्ययोपलब्धिजनके प्रसङ्गः । अव्यभिचरितार्थोपलब्धिजनकस्येति विशेषणे लैङ्गिकसन्दिग्धार्थोपलब्धिजनके प्रसङ्गः । व्यवसायात्मिकार्थोपलब्धिजनकस्येत्यभिधाने लिङ्गशब्दोत्पाद्यार्थोपलब्धिजनके

१-एस्य प्र-ल० । २-यते तज्ज्ञो-वा० बा० भा० मां० । ३ "अर्थजन्यं च"-वृ० ल० टि० । ४-पदं सम-वि० । ५-फल त-भा० मां० । ६ "पर(रा)मर्शज्ञानादिति वा पाठः"-ल० टि० । ७-फलं शा-वा० बा० । ८-त्वम् श-हा० । ९ "अग्निरेषः इति वाक्यादुपजायमानत्वात्"-वृ० ल० टि० । १०-ज्ञान वा-वा० बा० भा० मा० विना । ११-ज्ञान त-वृ० ।

१२ "तानि ते तत् पूर्वं यस्य तदिदं तत्पूर्वकम् । यदा 'तानि' इति विग्रहस्तदा समस्तप्रमाणाभिसंबन्धात् सर्वप्रमाणपूर्वकत्वमनुमानस्य वर्णितं भवति । पारंपर्येण पुनस्तत् प्रत्यक्ष एव व्यवतिष्ठत इति तत्पूर्वकत्वमुक्तं भवति । यदापि विवेकात् ते पूर्वे यस्येति ते द्वे प्रत्यक्षे पूर्वे यस्य प्रत्यक्षस्य तदिदं तत्पूर्वकं प्रत्यक्षमिति"—न्यायवा० पृ० ४३ पं० २०-। न्यायवा० ता० टी० पृ० १५६ पं० २०—। न्यायमञ्जर्यामेतत् प्रकारान्तरेण सुस्पष्टं चर्चितमस्ति—आ० २ पृ० १२५ पं० ५-। १३-मक्र-वृ० आ० हा० वि० विना । १४-भूतं फ-ल० । १५-भवं स-वृ० । १६-नैव स-आ० हा० वि० ।
१७ अत्र विशेषणपदमध्याहृत्य 'उपलब्धिजनकस्येति विशेषणमिति चेत्' एतादृशः पाठः पूरणीयः ।

प्रसङ्गः । अव्यपदेश्यार्थोपलब्धिजनकस्येति विशेषणे विशिष्टफलजनकस्याध्यक्षफलस्यानुमानत्वमभ्युपगतं भवेत् । तथा च विशिष्टज्ञानमेवानुमानं प्रसज्यत इत्यव्याप्तिर्लक्षणदोषः । न च तस्यैवानुमानत्वम् "स्मृत्यनुमानागमसंशयप्रतिभास्वप्नज्ञानोहाः सुखादिप्रत्यक्षमिच्छादयश्च मनसो लिङ्गानि" [१-१-१६ वात्स्या० भा०] इति वचनात् सर्वस्य विशिष्टफलजनकस्यानुमानत्वात् तथापि स्वरूपविशेषणवादिनामेषामनुमानत्वं न प्राप्नोति अव्यभिचारादिविशेषणानामसंभवात् । स्मृत्यादयस्तु स्वज्ञानविशिष्टा लिङ्गं सम्भवन्त्येव अतोऽर्थोपलब्धिरव्यभिचारादिविशेषणविशिष्टा तत्पूर्वकपूर्विका यतः तदनुमानमित्यभिधीयमाने न कश्चिद्दोषः । नन्वेतस्मिन् सूत्रव्याख्याने त्रिविधग्रहणमनर्थकम्, न; अनुमानविभागार्थत्वात् । न च पूर्ववदादिवैयर्थ्यम् स्वभावादिविषयप्रतिषेधेन तद्ग्रहणस्य पूर्ववदादिविषयज्ञापनार्थत्वात्—पूर्ववदाद्येव त्रिविधविभागेन विवक्षितम् न स्वभावादिकम् ।

अपरे तु तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानमित्येतावदनुमानलक्षणमाचक्षते । अत्र चानुमानमिति लक्ष्यम् तत्पूर्वकं त्रिविधमिति लक्षणम् । तत्पूर्वकमनुमानमित्यभिधीयमाने संस्कार-स्मृति-शाब्द-विपर्यय-संशयोपमानादिषु प्रसङ्गस्तन्निवृत्त्यर्थं त्रिविधपदोपादानम् । त्रिविधमिति त्रिरूपम् त्रीणि च रूपाणि पक्षधर्मान्वयव्यतिरेकलक्षणानि गृह्यन्ते पूर्ववदादिश्रुतेः । पूर्वमुपादीयमानत्वात् कथात्रयेऽपि पूर्वः पक्षः सोऽस्यास्तीति पूर्ववत्-पक्षधर्मत्वम् । शेष उपयुक्तादन्यत्वात् साधर्म्यदृष्टान्तः तस्मिन् विद्यत इति शेषवत्-सपक्षे सत्त्वम् । सामान्यतोऽदृष्टमिति विपक्षे मनागपि यन्न दृष्टम्-विपक्षे सर्वत्रासत्त्वं तृतीयं रूपम् एतद्रूपलिङ्गालम्बनं यत् तत्पूर्वकं तदनुमानमित्युच्यमाने संस्कारादौ नातिप्रसङ्गस्तथाप्यतिव्याप्तिर्बाधितसप्रतिपक्षेषु तन्निवृत्त्यर्थं सामान्यतोदृष्टं चेति 'च'शब्दोऽबाधितविषयत्वासत्प्रतिपक्षत्वरूपद्वयसमुच्चयार्थः । तथाप्यव्याप्तिः अन्वय-व्यतिरेकिलिङ्गालम्बनयोरसंग्रहात्, न; अन्वयिलिङ्गविवक्षायां सामान्यतोऽदृष्टमित्येतस्यानभिसम्बन्धात् 'पूर्ववत्-शेषवत्—च'शब्दसमुच्चितरूपद्वयोपेतचतुर्लक्षणलिङ्गप्राप्तेः । व्यतिरेकिविवक्षायां शेषवदित्येतस्यानभिसम्बन्धात् व्यतिरेकिचतुर्लक्षणलिङ्गसंग्रहात् अन्वयव्यतिरेकिलिङ्गविवक्षायां समस्तपदाभिसम्बन्धात् पञ्चलक्षणलिङ्गप्राप्तेः ।

अन्ये तु त्रिविधग्रहणमतिव्याप्तिनिवृत्त्यर्थमेवान्यथा वर्णयन्ति—त्रिविधं त्रिप्रकारम् के पुनस्त्रयः प्रकारा इति विवक्षायां पूर्ववदादिनिर्देशः । तत्र पूर्ववत् यत्र कारणेन कार्यमनुमीयते । अथापि स्यात् पूर्वं कारणं तदस्यास्तीति पूर्ववत् कार्यम् एवं च कार्यात् कारणानुमानं पूर्ववत् प्रसक्तम् न कारणात् कार्यानुमानम् । न च कारणदर्शनात् कार्यप्रतिपत्तिः संभविनी । तथाहि—कारणात् कार्ये साध्ये यदि कार्यस्य धर्मित्वं तदा तस्यासिद्धत्वादाश्रयासिद्धो हेतुः । अथ तस्य सिद्धत्वान्न धर्म्यसिद्ध्या हेतोराश्रयासिद्धता तर्हि साधनवैफल्यम् कार्यसत्त्वस्य हेतुव्यापारात् प्रागेव सिद्धत्वात् । न च कार्यसत्तायां साध्यायां कारणलक्षणो हेतुर्भावधर्मः सिद्धः तत्सत्तासिद्धौ हेतोस्तद्धर्मतासिद्धेः । नाप्यभावधर्मोऽसौ तत्सत्तासाधने तस्य विरुद्धत्वात् । नाप्युभयधर्मः तत्र तस्य व्यभिचारित्वात् न ह्युभयधर्मो भावमेव प्रतिपादयेत् । उक्तं च—"नासिद्धे भावधर्मोऽस्ति" [ ] इत्यादि । किञ्च, कारणात् कार्यमस्तीति साध्ये हेतुर्व्यधिकरणः स्यात् । कारणाच्च यदि प्रतिबद्धसामर्थ्यात् कार्यास्तित्वं भाव्यनुमीयते तदानैकान्तिकत्वं हेतोः तदुक्तम्—"नावश्यं कारणानि तद्वन्ति भवन्ति" [ ] प्रतिबन्धवैकल्यसंभवात् । अथाप्रतिबद्धसामर्थ्यात् तदा तथाभूतकारणदर्शनसमय एव कार्यस्योत्पत्तेरनन्तरसमये तस्याध्यक्षत्वात् प्रतिबन्धाद्यनुसरणं व्यर्थम् । यदपि समग्रेण हेतुना कार्योत्पादा-

---

१-वत्येव वृ० ल० भा० ।

२ अत्र न्यायवार्तिक-तात्पर्यटीका-मञ्जरी-रत्नाकरीयाणि तत्तत्स्थलान्यपि अनुसंधेयानि-न्यायवा० पृ० ४६ पं० २-। न्यायवा० ता० टी० पृ० १७१-१७३ । न्यायमञ्ज० आ० २ पृ० १२७ पं० ५-। स्याद्वादर० पृ० ५२७ पं० २२-पृ० ५२८ पं० १९ आ० ।

३-दाश्रितेः वा० बा० । ४ पूर्वपक्षः वा० बा० विना ।

५ न्यायवा० पृ० ४६ पं० १५-पृ० ४७ । न्यायवा० ता० टी० पृ० १७३ पं० १६—पृ० १७६ । प्रस्तुता पूर्ववदादिविषया चर्चा मञ्जर्यामपि समानप्राया वर्तते—न्यायमञ्ज० आ० २ पृ० १२७ पं० १६-।

६ "कार्यस्य"-वृ० ल० टि० । ७ "कार्यसत्ता"-वृ० ल० टि० । ८-त्ताऽसि-वृ० । ९ पृ० ४८० पं० ११, टि० ३ ।

१०-वैफल्य-भा० मां० मां० विना ।

नुमानं सौगतैरभ्युपगतं तदपि योग्यतानुमानम् । तथाहि—योग्येयं बीजादिसामग्री प्रतिबन्धवैकल्यासंभवे विवक्षितकार्योत्पादने इत्येवं तत्स्वभावभूतयोग्यतानुमानात् स्वभावहेतुप्रभवम् । तदुक्तम्—

"हेतुना यः समग्रेण कार्योत्पादोऽनुमीयते ।
अर्थान्तरानपेक्षत्वात् स स्वभावोऽनुवर्णितः ॥" [ ] इति,

असदेतत्; यतो न कार्यस्य धर्मित्वं कारणस्य च हेतुत्वमस्माभिः क्रियते येन कार्यस्य सिद्धयसिद्धिभ्यामनुमानाप्रवृत्तिर्भवेत् किन्तु कारणस्यैव धर्मित्वं मेघादेः क्रियते तस्य च सिद्धत्वान्नाश्रयासिद्धत्वदोषः । तत्रैव च वृष्ट्युत्पादकत्वं धर्मः साध्यते तद्धर्मेणोन्नतत्वादिना । न च प्रतिज्ञार्थैकदेश एवं हेतुः साध्यसाधनयोर्धर्मिधर्मयोर्वा भेदात् । तथाहि-मेघत्वजातियुक्तानां धर्मित्वं भविष्यद्वृष्ट्युत्पादकत्वमसिद्धमर्थान्तरं ततः साध्यो धर्मः उन्नतत्वादिकमपि साधनधर्मः मेघेभ्यो भिन्नम् तेषां द्वैविध्यदर्शनात् तेन न प्रतिज्ञार्थैकदेशताऽपि । न च साध्य-साधनयोरैक्यम् न च भाष्यविरोधः "कारणेन कार्यमनुमीयते" [१-१-५ वात्स्या० भा०] इति तत्र वचनात् यत उन्नतत्वादिधर्मविशिष्टा मेघाः कारणम् तथाविधकारणधर्मेण भविष्यद्वृष्ट्युत्पादकत्वं धर्मो यदाऽनुमीयते तदा वृष्टेरनुमानात् कारणात् कार्यानुमानमित्युपदिश्यते । अथोन्नतत्वादिधर्मयुक्तानामपि मेघानां वृष्ट्यजनकत्वदर्शनात् कथमैकान्तिकं कारणात् कार्यानुमानम् ? न, विशिष्टस्योन्नतत्वादेर्धर्मस्य गमकत्वेन विवक्षितत्वात् । न च तस्य विशेषो नासर्वज्ञेन निश्चेतुं पार्यत इति वक्तुं शक्यम् सर्वानुमानोच्छेदप्रसक्तेः । तथाहि-मशकादिव्यावृत्तधूमादीनामपि स्वसाध्याव्यभिचारित्वमसर्वविदा न निश्चेतुं शक्यमिति वक्तुं शक्यत एव । अथ "सुविवेचितं कार्यं कारणं न व्यभिचरति" [ ] इति न्यायाद् धूमादेर्गमकत्वं तर्हात्रापि तुल्यम् यो हि भविष्यद्वृष्ट्यव्यभिचारिणमुन्नतत्वादिविशेषमवगन्तुं समर्थः स एव तस्मात् तामनुमिनोति नागृहीतविशेषः । तदुक्तम्—"अनुमातुरयमपराधो नानुमानस्य" [२-१-३८ वात्स्या० भा०] तथा सूत्रकारेणाऽप्यभ्यधायि—"नैकदेशत्रासस्सादृश्येभ्योऽर्थान्तरभावात्" [न्यायसू० २-१-३८] अत एव "गम्भीरध्वानवत्त्वे सति" [१-१-५ न्यायवा० पृ० ४७] इत्याद्युन्नतत्वादेर्वार्तिककृता विशेषो दर्शितः । न चैवं साध्यसाधनभावे कार्यसत्तायाः साध्यत्वं येन भावाभावोभयधर्मस्याहेतुत्वमिति दोषः स्यात् । वैयधिकरण्यमपि प्रदर्शितप्रयोगे परिहृतमेव । यच्च अप्रतिबद्धसामर्थ्यस्य कारणस्य हेतुत्वे कार्यप्रत्यक्षतालक्षणं दूषणमभिहितम् तदसंगतमेव व्यवधानसंभवात् । तथाहि-निष्पाद्ये पटे अनुत्पन्नावयवक्रियस्यान्त्यतन्तोर्यदा क्रियातो विभागस्तदाऽविनाभावसम्बन्धस्मृतिः, विभागात् पूर्वसंयोगविनाशः तन्त्वन्तरेण च संयोगोत्पत्तिर्यदैव तदैवाविनाभावसम्बन्धस्मरणात् परामर्शज्ञानम्, यदा संयोगात् कार्योत्पादस्तदैव परामर्शविशिष्टाल्लिङ्गात् 'भविष्यति कार्यम्' इत्यनुमेयप्रतिपत्तिः । न चोत्पादकाल एव कार्यस्य प्रत्यक्षता तत्र तदा रूपाद्यभावात् । न च

---

१ "यत्र कारणेन कार्यमनुमीयते यथा मेघोन्नत्या भविष्यति वृष्टिरिति" संपूर्णं भाष्यवाक्यम् । २ तथापि का-मृ० आ० हा० वि० । ३ "उन्नतत्वादिना"-मृ० टि० । ४ "वृष्टिम्"-मृ० टि० । ५ "सोऽयमनुमातुरपराधो नानुमानस्य योऽर्थविशेषेणानुमेयमर्थमविशिष्टार्थदर्शनेन बुभुत्सत इति" संपूर्णं भाष्यवाक्यम् ।

"आवर्तवर्तनाशालिविशालकलुषोदकः । कल्लोलविकटास्फालस्फुरत्फेनच्छटाङ्कितः ॥
वहद्बहलशैवालफलशाद्वलसंकुल. । नदीपूरविशेषोऽपि शक्येत न निवेदितुम् ॥
प्रमातुरपराधोऽयं विशेषं यो न पश्यति । नानुमानस्य दोषोऽस्ति प्रमेयाव्यभिचारिणः ॥
रोधोपघातसादृश्यव्यभिचारनिबन्धनम् । अनुमानाप्रमाणत्वमतो वक्तुमसांप्रतम् ॥
पारम्पर्येण वृष्टिश्च नदीपूरस्य कारणम् । पतद्घनपयोबिन्दुसंदोहस्यन्दनक्रमात्" ॥

—न्यायमञ्ज० आ० २ पृ० १३० पं० १३—।

६ "कथं पुनरस्य प्रयोगः ? वृष्टिमन्त एते मेघा गम्भीरध्वानवत्त्वे सति बहुलबलाकावत्त्वे सति अचिरप्रभावत्त्वे सति उन्नतिमत्त्वात् वृष्टिमन्मेघवदिति"—न्यायवा० पृ० ४७ पं० १० । ७ पृ० ५६२ पं० २९ । ८ पृ० ५६२ पं० ३१ । ९ पृ० ५६२ पं० १३ । एतद् मञ्जर्यां समानमेव दृश्यते—न्यायमञ्ज० आ० २ पृ० १२९ पं० १२—। १० "एककाल"—मृ० टि० । ११-स्मृतिं वि-आ० हा० वि० । १२ "इत्येककाल."-मृ० टि० । १३-त्तिः तथोत्पा-हा० । १४ "कार्ये"-मृ० टि० । १५ "भावकाले"-मृ० टि० ।

रूपादिभिः सहोत्पादस्तदधिकरणानाम् रूपादीनां तत्कार्यत्वात् कार्यकारणयोश्च सहोत्पादे निहतुत्वप्रसक्तेः। न चान्त्यतन्तुक्रिया अन्तराले प्रतिबन्धसंभवात् त्रिचतुरक्षणव्यवधानान्नावश्यं विवक्षितकार्योत्पादिकेति वक्तव्यम् यतोऽनुत्पन्नावयवक्रिये तन्ताविति विशेषणोपादानं कृतमिति नाधारविनाशात् क्रियाविनाशः क्रिया चाविनष्टा स्वकार्यं विभागमवश्यमुत्पादयति स च स्वप्रति बन्धकाभावे[3] स्वाश्रयसंयोगं नियमतो निर्वर्तयति[4] अन्यथा क्रियायाः स्थैर्यप्रसक्तिर्नित्याधारयोश्च नित्यत्वप्रसक्तिर्भवेत् स च क्रियाप्रभवः संयोगो नियतो द्रव्याविर्भावकः सति तस्मिन् द्रव्यप्रभवोपलम्भात्। ततोऽन्त्यतन्तुक्रियातोऽन्त्यतन्तोर्विभागविशिष्टस्योपलम्भात् कार्यानुमाने न कार्यप्रत्यक्षतादोषः। येषां तु परामर्शज्ञानं न संभवति तेषां कार्यप्रत्यक्षता दूरापास्तैव। यत् पुनः 'समग्रात् कारणात् स्वात्मभूतस्य योग्यताख्यधर्मस्यानुमानं[8] न कार्यस्य तेन स्वभावहेतुप्रभवमेतदनुमानम्' इति, तदसङ्गतम्; अभेदे गम्यगमकभावस्यासंभवात्। अथ यत्रापि साध्यसाधनयोर्वास्तवोऽभेदस्तत्रापि स्वलक्षणेन व्यवहारायोगात् लिङ्गसाध्यधर्मिसाध्यधर्मनानात्वप्रतिपत्तिरूपो व्यवहारो बुद्ध्यारूढ एव। तदुक्तम् "सर्व एवायमनुमानानुमेयव्यवहारो बुद्ध्यारूढेन धर्मधर्मिभेदेन" [ ] इत्यादि। असदेतत्, यतो यदि बुद्धिकल्पितो धर्मधर्मिव्यवहारस्तर्हि कल्पिताद्धेतोः साध्यसिद्धिर्भवेत्। ततश्च यावान् हेतुदोषः स सर्वो भवत्प्रयुक्ते साधने प्रसज्येत। तदुक्तं कुमारिलेन—

"यदि चाविद्यमानोऽपि भेदो बुद्धिप्रकल्पितः।
साध्यसाधनधर्मादेर्व्यवहाराय कल्पते॥
ततो भवत्प्रयुक्तेऽस्मिन् साधने यावदुच्यते।
सर्वत्रोत्पद्यते बुद्धिरिति दूषणता भवेत्॥"

[श्लो० वा० निरा० श्लो० १७१-१७२] इति।

अथ धर्मधर्मितया भेद एव बुद्धिपरिकल्पितो नार्थोऽपि लिङ्गलक्षणः विकल्पभेदानामिच्छामात्रानुरोधित्वेन स्वतन्त्राणामर्थाप्रतिबद्धत्वेन तदप्रतिपादकत्वात् विकल्पकल्पिताद्धेतोरर्थप्रतिपत्त्यभ्युपगमे अर्थप्रतिलम्भ एव न भवेत् ततोऽर्थ एवार्थं गमयति, असदेतत्; यतो यदि कृतकत्वादिलक्षणोऽर्थोऽनित्यत्वादेरर्थस्य गमकस्तदा तयोस्तादात्म्याद् गम्यगमकभावोऽयुक्त इत्यसकृदावेदितम्। अथ विकल्पप्रतिभासी कृतकत्वादिकः सामान्यलक्षणोऽर्थोऽभ्युपगम्यते तदा तस्यावस्तुत्वेन साध्यप्रतिबद्धत्वाभावाद् वस्तुत्वेनाध्यवसितस्यापि कुतो गमकत्वम्? ययोर्हि प्रतिबन्धो न तयोर्भेद इति न गम्यगमकभावः ययोश्च भेदाध्यवसायो न तयोः प्रतिबन्धः। न च दृश्य-विकल्प्ययोरेकत्वाध्यवसायादनुमानानुमेयव्यवहाराददोषः तथाभ्युपगमे तदेव कल्पनाविरचितलिङ्गप्रभवत्वमनुमेयप्रतिपत्तेः संवादविरोधि समायातमिति कुतः परोक्तदूषणव्युदासः? न च समारोपव्यवच्छेदः स्वभावहेतोः फलं संभवीति प्रतिपादितमसकृदिति न पुनः प्रतन्यते ततोऽप्रतिबद्धसामर्थ्यकारणदर्शनात् कार्यस्यैवानुमानं न पुनः समग्रेभ्यः सामर्थ्यानुमानं युक्तम्। न च समर्थकारणस्य धर्मिभूतस्यानन्तरभाविकार्यविशिष्टत्वेऽनुमीयमाने समर्थत्वेन तद्गतेन[13] साधनधर्मेण हेतुरपि व्यधिकरणः। अतः 'हेतुना यः समग्रेण' इत्याद्ययुक्तमेव। अत्र च पूर्वं कारणमस्यास्तीति पूर्ववत् कार्यं नाभिधीयते किन्तु कारणधर्म उन्नतत्वादि तेन कारणधर्मस्य वृष्ट्युत्पादकत्वस्यानुमानम् न तु पूर्ववत्—कार्यात् कारणानुमानम् तेन 'पूर्ववत् कार्यात् कारणानुमानं प्राप्नोति'[16] इति यद्[17] गोगाचार्येण प्रेरितम् तन्निराकृतं द्रष्टव्यम्।

---

१ "पद्यादि"-बृ० टि०। २ "स्वकार्यविभाग"-बृ० टि०। ३-वे आश्र-भां० मां०। ४ निवर्त-बृ विना। ५ "पारम्पर्येण"-बृ० टि०। ६ पृ० ५६३ पं० १। ७-मानं का-वा० बा०।-मान कार्य-बृ० ८-कस्वभा-भां० मां०। ९ "एतेन "सर्व एव अयमनुमानाऽनुमेयव्यवहारो बुद्ध्यारूढेन धर्मधर्मिन्यायेन" इति एतदपि प्रत्युक्तम्"-अनेका० पृ० २०९ पं० १०। १० कल्प्यते वा० बा०। श्लो० वा०। ११ एवं बृ० १२-वादिवि-बृ०। १३ "कारणगतेन"-बृ० टि०। १४ पृ० ५६३ पं० ३। १५-पास्य बृ-ल० १६ पृ० ५६२ पं० २४। १७ यद् दिङ्नागाचा-भां०। य दिङ्नागाचा-मां०। य दिङ्नागाचा-वा० बा०

शेषवदित्यत्रापि कारण-कार्ययोर्लिङ्गत्वेनोपक्षेपे अनुपयुक्तं कार्यं शेषः तद् यस्यास्ति तच्छेषवदिति तद्गत एव साधनधर्मः कश्चिदुक्तः न तु कारणम् तेन हि कार्यगतेन धर्मान्तरमप्रत्यक्षं वृष्टिमद्देशसम्बन्धित्वादिकं कार्यगतमेवानुमीयते । अत एव कारणगमकत्वपक्षोक्तदोषप्रसक्त्यभावोऽत्रापि द्रष्टव्यः । तथाहि–नदीशब्दवाच्यो गर्तविशेषो धर्मी तस्योपरिवृष्टिमद्देशसम्बन्धित्वं साध्यो धर्मः उभयतटव्यापित्वादिकस्तु साधनधर्मः अनेकफल-फेनसमूहवत्त्व-शीघ्रतरगमनत्व-कलुषत्वादिकश्च तस्य विशेषः साध्याव्यभिचारी यदा निश्चितो भवति तदा गमकत्वम् नोभयतटव्यापित्वमात्रं तोयस्य । अत एव न प्रतिज्ञार्थैकदेशताऽपि दोषः । न चोभयतटव्यापित्वमुदकस्य कथमपामधःपातलक्षणाया वृष्टेः कार्यमिति वक्तव्यम् पारम्पर्येण तस्य तत्कार्यत्वात् । तथाहि–द्रवत्वादापः भूसंस्पृष्टाः स्पन्दन्ते स्पन्दमानाश्च संयुक्ताः परस्परं महत्कार्यमारभन्ते तदपि स्पन्दमानं स्वात्मनि वेगमारभते क्रियाकारणापेक्षं तच्च तथाप्रवृत्तं नदीशब्दवाच्यं गर्तं विदधाति । तत्र पूर्वोदकविलक्षणस्योदकस्योभयतटसंयोगः पारम्पर्येण वृष्टिकार्यं इति कार्यात् कारणानुमानं शेषवत् । शेषमत्र पूर्ववदनुमान एव चिन्तितम् । सामान्यतोदृष्टम् अकार्यकारणभूतेन लिङ्गेन यत्र लिङ्गिनोऽवगमः । अविनाभावित्वं त्रयाणामप्यविशिष्टम् । विवक्षितसाध्यसाधनापेक्षयाऽकार्यकारणभूतत्वादिकस्तस्य विशेषः । अन्यत्रदृष्टस्यान्यत्रदर्शनं व्रज्यापूर्वकं देवदत्तादेः तथा चादित्यस्यान्यवृक्षोपरिसम्बन्धितया निर्दिश्यमानस्यान्यपर्वतोर्ध्वभागसम्बन्धितया निर्देशो दृष्टः तेन च गत्यविनाभाविना भाव्यम् । अन्यत्रदर्शनस्य च न गतिकार्यत्वम् गतेः संयोगादिकार्यत्वात् । अन्यत्रदर्शनं धर्मि गत्यविनाभूतमिति साध्यो धर्मः अन्यत्रदर्शनशब्दवाच्यत्वाद् देवदत्तान्यत्रदर्शनवत् । नन्वन्यत्रदर्शनस्य शेषवत्यन्तर्भावो गतिजन्यत्वात् । अथान्यत्रदर्शनं न साक्षाद् गतिकार्यमपि तु पारम्पर्येणेति न शेषवत्यन्तर्भावस्तर्ह्युभयतटव्यापित्वमपि न साक्षाद् वृष्टिकार्यमिति न शेषवदुदाहरणं भवेत् । अथ नान्यत्रदर्शनं हेतुः किन्तु तच्छब्दवाच्यत्वम् नन्वत्रापि वक्तव्यम् किं तद् अन्यत्रदर्शनमेव, उत तच्छक्तिः? पूर्वस्मिन् विकल्पे शेषवत्यन्तर्भावः । उत्तरस्मिन्नपि 'अन्यत्रदर्शनम्' इत्येवंविधः शब्दो विशिष्टप्रत्ययजनने अन्यत्रदर्शनस्वरूपस्य सहकारी हेतुः स च पारम्पर्येण गतेः कार्यत्वात् शेषवान्, असदेतत्, अत्र ह्यन्यत्रदर्शनत्वं हेतुः न तच्छब्दवाच्यत्वम् तच्च स्वरूपसहकारिभेदेन द्विरूपा शक्तिः अन्यत्रदर्शनं स्वरूपशक्तिस्तद्दर्शनत्वं सहकारिशक्तिः सा चात्ममनःसंयोगोऽदृष्टादि च । तत्र केषांचिन्नित्यत्वे केषांचिदनित्यत्वेऽपि न गतिकार्यतेति कुतः शेषवत्यन्तर्भावः?

एतदपरे दूषयन्ति–अन्यत्रदर्शनमित्यनेन सवितुः किमप्यधिकरणं निर्दिष्टम् । न च निरूप्यमाणं तत् संभवतीति तद्दर्शनमात्रमेवावशिष्यते न 'अन्यत्र' इतिशब्दवाच्यम् । अथोदयसमयेऽन्यत्रदर्शनं ततोऽन्यत्रदर्शनं सवितुरस्तमयसमये न च दृष्टस्यापलापो युक्तियुक्तः सत्यम् अस्त्ययं प्रतिभासः स तु 'अन्यत्र' इत्यधिकरणस्य निर्देष्टुमशक्तेरयुक्तः । न च तत्सद्भावेऽप्यन्यत्रदर्शनत्वमनुपलभ्यमानं हेतुः । न च तस्योपलम्भः संभवति आत्ममनःसंयोगादृष्टादेः सर्वस्यातीन्द्रियत्वात् संयोगस्यैन्द्रियकत्वेऽप्यप्रत्यक्षद्रव्यवृत्तेः प्रत्यक्षाप्रत्यक्षद्रव्यवृत्तेश्च तस्यातीन्द्रियत्वात् । अतोऽसिद्धत्वान्नान्यत्रदर्शनत्वं गत्यनुमापकमिति न सामान्यतोदृष्टानुमानोदाहरणमेतद् युक्तं किन्तु समानकालस्य स्पर्शस्य रूपाद् कार्यकारणभूतात् प्रतिपत्तिः सामान्यतोदृष्टानुमानप्रभवा । न च रूप-स्पर्शयोः कार्यकारणभावो नैयायिकदृष्ट्या प्रसिद्धः अविनाभावस्तु तमन्तरेणापि तयोरुपपन्न एव । न च सौगतप्रक्रियया

---

१ "पूर्वमप्रतिपादितम्"–वृ० टि० । २ "अनुपयुक्तकार्यं"–वृ० टि० । ३ "तेन गोणाचार्यदोषो नास्ति कारणानभिधानात्"–वृ० टि० । ४–त्यन्धत्वा–ल० वा० वा० । ५ न्यायमञ्ज० आ० २ पृ० १३० पं० २३– । ६–तसाधना–वा० वा० हा० वि० । ७–नं प्रव–आ० हा० वि० । ८ "गमनपूर्वकम्"–वृ० टि० । ९–विभाव्य–वा० वा० । १० "संयोगादि कार्यं यस्य तद्भावः"–वृ० टि० । ११ "स्वरूपशक्तिरात्ममनःसंयोगः सहकारिशक्तिरदृष्टादि भण्यते"–वृ० टि० । १२ "अन्यत्रदर्शनस्य पारम्पर्येण गतिकार्यत्वात्"–वृ० टि० । १३ अत्र वा० वा० आ० हा० वि० । १४ "अन्यत्रदर्शनत्वम्"–वृ० टि० । १५–र्शनस्व–वृ० । १६–भवतीति, वृ० । १७ "अधिकरणसद्भावे"–वृ० टि० । १८ "अन्यत्रदर्शनस्य तत्त्वस्य वा"–वृ० टि० । १९–कालस्प–वा० वा० आ० वि० । –कार्यस्य स्प–मो० मो० । २० "रूप-स्पर्शयोर्विभिन्नगुणत्वात् ततो रूपं रूपस्यैवारम्भकम् न स्पर्शस्य एवं स्पर्शोऽपि"–वृ० टि० ।

रूपस्य स्पर्शकार्यता तत्कार्यतया लोके तस्याप्रसिद्धेः। न चाप्रसिद्धमपि तत्कार्यत्वं गमकत्वान्यथानुपपत्त्या तस्य परिकल्पनीयम् प्रतिबन्धस्य सौगताभ्युपगमेन तादात्म्यतदुत्पत्तिलक्षणस्यासंभवात् संभवेऽपि तद्ग्राहकप्रमाणायोगात् क्षणविशरारुत्वे भावानां सर्वस्याप्यस्याघटमानत्वेन प्रतिपादितत्वात्। ततो रूपेण स्पर्शानुमानं सामान्यतोदृष्टमनुमानम्।

अथवा पूर्वेण तुल्यं वर्तत इति पूर्ववदिति वतेः प्रयोगः। न च क्रियातुल्यत्वे वतिप्रयोगस्य वैयाकरणैरिष्टेरत्र च सम्बन्धप्रतिपत्तेः स्पष्टत्वादनुमेयप्रतिपत्तेश्चाविशदतया तदभावतो विषयतुल्यत्वस्य च तन्निमित्तत्वेनानिष्टेर्वतिप्रयोगोऽनुपपन्न इति वक्तव्यम् यतो यद्यपि प्रत्यक्षानुमानप्रतीत्योर्भेदस्तथापि विषयतुल्यत्वात् कथंचित् क्रियाया अपि तुल्यता समस्तीति न वतेः प्रयोगोऽनुपपन्नः तेन पूर्वप्रतिपत्त्या तुल्या प्रतिपत्तिर्यतो भवति तत् पूर्ववदनुमानम् नन्वेवं शेषवत्-सामान्यतोदृष्टयोरपि पूर्ववत्त्वप्रसक्तिः। तथाहि-साध्यसाधनयोः प्रत्यक्षेण दृष्टान्तधर्मिणि सामान्यरूपतया प्रतिबन्धग्रहणम् अन्यथाऽनवस्थाप्रसक्तेरनुमानस्याप्रवृत्तिरिति तत्त्रितयस्यापि पूर्वेण तुल्यत्वात् पूर्ववत्त्वम्। न हि यादृग्भूतेन साध्यसामान्येन लिङ्गसामान्यस्य दृष्टान्ते अध्यक्षतोऽविनाभावग्रहस्तादृग्भूतस्यैवानध्यक्षस्य साध्यस्य क्वचिद्धर्मिणि हेतुसामान्यात् शेषवत्-सामान्यतोदृष्टयोरप्रतिपत्तिः। अतो विषयतुल्यतया क्रियातुल्यत्वाद् वतेः सर्वत्रैव संभवात् कुतः शेषवत्-सामान्यतोदृष्टयोः पूर्ववतो भेदसिद्धिः? असदेतत्, प्रत्यक्षेणागृहीतान्वयं केवलव्यतिरेकबलात् प्रमां निर्वर्तयत् शेषवदनुमानमित्यभ्युपगमात्। तथाहि-शेषवन्नाम परिशेषः यथा गुणत्वाद् इच्छादीनां पारतन्त्र्ये सिद्धे शरीरेन्द्रियादिषु प्रसक्तेषु प्रतिषेधः शरीरविशेषगुणा इच्छादयो न भवन्ति तद्गुणवैधर्म्यात् तद्य रूपादीनां स्वपरात्मप्रत्यक्षत्वेऽपीच्छादीनां स्वात्मप्रत्यक्षत्वमेव नापीन्द्रियाणाम् इच्छाद्युत्पत्तौ तेषां समवाय्यादिकारणत्वायोगात् नापि विषयाणाम् उपहतेष्वनुस्मरणदर्शनात् न चान्यस्य प्रसक्तिरस्ति अतः परिशेषादात्मसिद्धिः। प्रयोगश्चात्र-योऽसौ परः स आत्मा इच्छाद्याधारत्वात् ये त्विच्छाद्याधारा न भवन्ति ते आत्मशब्दवाच्या अपि न भवन्ति यथा शरीरादयः आत्मशब्दश्च आत्मत्वसम्बन्धिनि द्रष्टव्यः। न चैवं पूर्वेण तुल्यं पूर्ववदिति वतिरत्र संभवति सपक्षे अदृष्टत्वात्। न चैवं सामान्यतोदृष्टात् पूर्ववतोऽविशेषः यतो यत्र धर्मी साधनधर्मश्च प्रत्यक्षः साध्यधर्मश्च सर्वदाऽप्रत्यक्षः साध्यते तत् सामान्यतोदृष्टं यथेच्छादयः परतन्त्रा गुणत्वात् रूपवत् उपलब्धिर्वा करणसाध्या क्रियात्वात् छिदिक्रियावत् असाधारणकारणपूर्वकं जगद्वैचित्र्यं चित्रत्वात् चित्रादिवैचित्र्यवदित्यादि सामान्यतोदृष्टस्यानेकमुदाहरणम्। उक्तं च ईश्वरकृष्णेन–"सामान्यतस्तु दृष्टादतीन्द्रियाणां प्रसिद्धिरनुमानात्" [साङ्ख्यका० ६] इत्यादि। ननु साध्यधर्मस्य सर्वदाऽप्रत्यक्षत्वे तेन हेतोर्व्याप्तिग्रहणासंभवात् कथं तत्प्रतिपादकलिङ्गप्रवृत्तिः? नैष दोषः केनचिदर्थेन सामान्यात्। ननु लिङ्गं गुणत्वं कार्यत्वं वाऽत्र सामान्यस्वभावम् न च तस्य सामान्यं केनचिदर्थेन संभवति "निःसामान्यानि सामान्यानि" [ ] इति वचनात्।

अत्र केषांचित् प्रतिसमाधानम्-इच्छादय एवात्र लिङ्गत्वेनोक्ता इच्छादेश्च रूपादिना सामान्यं गुणत्वं कार्यत्वं चोपपद्यत एव। अपरे तु लिङ्गाधिकरणत्वादिच्छादयो लिङ्गत्वेनोक्ता इति व्याचक्षते। तेषां च पूर्ववत् सामान्ययोगः प्रतिपत्तव्यः ततोऽप्रत्यक्षस्य पारतन्त्र्यस्य प्रतिपत्तिः सामान्यतोदृष्टम्। अत्रापि च धर्मिण इच्छादेः प्रत्यक्षप्रतिपन्नत्वं गुणत्वकार्यत्वादेरपि साधनस्य

१-सिद्धिः वा० बा०। २-न वा ता-भां० मां०। ३ "अथवा पूर्ववदिति भाष्यम्। तस्यार्थः पूर्वेण तुल्य
वर्तत इति पूर्ववत्। क्रियातुल्यताया च वतिरिति क्रियातुल्यता दर्शिता"-न्यायवा० ता० टी० पृ० २७१ पं० १७।
४ "तेन तुल्यं क्रिया चेद् वतिः"-पाणि० ५-१-११५। "स्यादेरिवे"-हैम० ७-१-५२। ५ "पूर्वप्रतिपत्तेर्हि वैशद्य-
स्ना। 'पत्तेस्तु नास्तीति"-बृ० ल० टि०। ६ "क्रियातुल्यत्वाभावतः"-बृ० टि०। "क्रियातुल्यत्वाभावतः"-ल० टि०।
८-कत्वमा-भोमित्तत्वेन"-बृ० ल० टि०। ८-हीत्वान्व-बृ०। ९-रेकात् प्र-बृ० आ० हा० वि०।
",५ प्रयुक्तम्"-सम परिशेषः स च प्रसक्तप्रतिषेधेऽन्यत्राप्रसङ्गाच्छिष्यमाणे संप्रत्ययः" इत्यादि—१-१-५ वात्स्या०
२-चादिवि-बृ० १६—। न्यायवा० पृ० ५१ पं० १६। न्यायवा० ता० टी० पृ० १८३ पं० १२। का० ५
० ५६२ पं० २१० पं० ७-।
वा० भां० मां० विना। १२-दिकका-वा० बा०।

तद्धर्मत्वं प्रतिपन्नमेव[1] पारतन्त्र्येण च स्वसाध्येन तस्य व्याप्तिरध्यक्षतो रूपादिष्ववगतैव । साध्यव्यावृत्त्या साधनव्यावृत्तिरपि प्रमाणान्तरादेवावगता । न च त्रितयप्रसिद्धावस्य प्रवृत्तेर्न सामान्यतोदृष्टता[3] अपि तु पूर्ववदेवैकमनुमानं प्रसक्तमिति वक्तव्यम् धर्मिणि पारतन्त्र्यस्य सर्वदाऽप्रत्यक्षत्वात् नहीच्छादौ धर्मिणि कदाचित् पारतन्त्र्यं प्रत्यक्षम् परस्याप्रत्यक्षत्वात् । अनेन च विशेषेणैतत् सामान्यतोदृष्टव्यपदेशमासादयति । धर्मिणः साध्यसाधनयोर्वा सर्वदा प्रत्यक्षत्वे गमकाङ्गासिद्धौ गमकत्वासिद्धेः सामान्यतोदृष्टमनुमानमेव न भवेत् ।

नन्वेवं पूर्ववत्-शेषवत्-सामान्यतोदृष्टानां परस्परतः को विशेषः? उच्यते-इच्छादेः पारतन्त्र्यमात्रप्रतिपत्तौ[4] गुणत्वं कार्यत्वं वा पूर्ववत् तदेव चाश्रयान्तरबाधया विशिष्टाश्रयत्वेन बाधकेन प्रमाणेनावसीयमानं शेषवतः फलम्, तस्य साध्यधर्मस्य धर्म्यन्तरे प्रत्यक्षस्यापि तत्र धर्मिणि सर्वदाऽप्रत्यक्षत्वं सामान्यतोदृष्टव्यपदेशनिबन्धनम् अतस्त्रयाणामेकमेवोदाहरणम् शेषवतश्च शिष्यमाणोक्तिरन्वयव्यतिरेकिणो हेतोः पारतन्त्र्यप्रतिपत्तौ[5] द्रष्टव्या । तत् स्वहेतोः प्रतिपन्नमाश्रयान्तराद् बाधकेन प्रच्यावितं तस्य शिष्यमाणविशिष्टाश्रयत्वप्रतिपत्तिः[6] शेषवतः फलम् । एवं च यतः सर्वत्र संभवान्न विशेष इति न वक्तव्यम्, विशेषस्य प्रदर्शितत्वात् । एतत्त्रिप्रकारां[7] मतिं जनयत् तत्पूर्वकं सदनुमानमित्यव्याप्त्यादिदोषविकलमनुमानलक्षणम् ।

तृतीयसूत्रेऽप्येतदेव व्याख्यानम् । अयं तु विशेषः—पूर्वस्मिंस्त्रिप्रकारमेव लिङ्गमनुमानव्यवच्छेदकम्[8] पूर्ववदादयस्तु त्रिप्रकारलिङ्गविशेषणार्थाः । उत्तरस्मिंस्तु सर्वमेतदनुमानव्यवच्छेदार्थम् व्यवच्छेदस्तु[9] पूर्वेणैव न्यायेन । अत्र च सूत्रत्रये प्रथमसूत्रव्याख्यानमेवाभिमतमध्ययनप्रभृतीनाम् अणुना सूत्रेण महतोऽर्थस्य सङ्ग्रहादकारकस्य च त्रिप्रकारलिङ्गालम्बनस्योत्तरव्याख्यानेऽनुमानत्वप्रसक्तिः । फलस्याश्रयणाद् उपलब्धिसाधनस्येत्यध्याहारो न युक्तोऽप्रकृतत्वात् । सामान्यलक्षणे[10] प्रकृतत्वाददोष इति चेत् तर्ह्यतिव्याप्तिनिवृत्त्यर्थं पूर्ववदादिपदोपादानं न कर्तव्यम् प्रत्यक्षसूत्रेऽव्यपदेश्यादीनां प्रकृतत्वात् । शाब्दे च प्रसङ्गो न व्यावर्त्तते यल्लिङ्ग-शब्दाभ्यां जन्यते विज्ञानं यथोक्तविशेषणविशिष्टोपलब्धिरूपं तत्साधनस्यानुमानत्वप्रसक्तिरतस्तन्निवृत्तये विशेषणान्तरोपादानं कर्तव्यम् । प्रथमसूत्रव्याख्याने तु सर्वदोषाभावः प्रक्रान्तस्याविरोधिनः सर्वस्याभिसम्बन्धात् । त्रिविधग्रहणं तत्र विभागार्थमित्युक्तम् पूर्ववदादिग्रहणमपि स्वभावादित्रैविध्यप्रतिषेधेन पूर्ववदादिष्वेव नियमज्ञापनार्थम्[11] । पूर्ववदादीनां तु द्वितीयसूत्रे यद्व्याख्यानं तदेवेहापि द्रष्टव्यम् । विशेषस्तु तत्रानुमानलक्षणोपयोगित्वमिह तु त्रिविधभागेन विभज्यमानस्य स्वरूपदर्शनार्थम् । अनुमानस्य च त्रैविध्यं कारणादित्रैविध्यादेवेति । }

[सौगतप्रणीतानुमानलक्षणाश्रयेण नैयायिकोक्तानुमानलक्षणस्य प्रतिक्षेपप्रकारः]

कथं[12] पुनः सौगतप्रणीतलक्षणादस्य प्रतिक्षेपः? उच्यते-तत्पूर्वकमिति प्रत्यक्षप्रमाणफलपूर्वकं यतो भवति तदनुमानमिति प्रथमसूत्रव्याख्यानमसंगतमेव परोक्तलक्षणलक्षितस्य प्रत्यक्षस्य प्रमाणत्वेनासिद्धेः तत्पूर्वकत्वस्यानुमानलक्षणस्यासंभवात्[13] । तदसंभवे च स्मृत्यादिजनकव्यवच्छेदार्थं विशेषणकलापाध्याहारोऽप्यसंगत एव । यदपि पूर्वशब्दस्य लुप्तस्यानिर्देशे प्रत्यक्षफलेऽनुमानत्वप्रसक्तिप्रेरणम्[14] तदप्यसङ्गतम् तत्फलस्यैव प्रत्यक्षप्रमाणत्वेन व्यवस्थापितत्वात् अबोधरूपस्य प्रमाणत्वनिषेधात् । यदपि 'त्रिविधग्रहणमनुमानविभागार्थम् पूर्ववदादिग्रहणं च विभागविषयज्ञापनार्थम्' इत्युक्तम्[15] तदप्यसारम्. कारणादप्रतिबद्धसामर्थ्यात् प्रदर्शितन्यायेन[16] कार्यानुमाने कार्याध्यक्षतादोषस्याविचलितरूपत्वात् । या च 'अनुत्पन्नावयवक्रियस्यान्यतन्तोर्यदा क्रियातो विभागः' इत्यादि[17]-

1 "धर्मि-तद्धर्म-व्याप्तिरूप"-वृ० ल० टि० । 2 "पारतन्त्र्यानुमानस्य"-वृ० ल० टि० । 3-न्यतोऽदृ-वृ० । 4-मात्राप्र-वा० बा० मां० मो० विना । 5 "पारतन्त्र्यम्"-वृ० टि० । 6-पत्तिविशेषतः फ-आ० हा० वि० । 7-कारं मिर्ति जनय-वृ० ।-कारं मिति जनय-आ० हा० वि० ।-कारमिति जनय-वा० बा० । 8 "विशेषकम्"-वृ० टि० । 9-दकस्तु आ० हा० वि० । 10-क्षणाप्र-वृ० आ० हा० वि० । 11-र्थमपू-वृ० । 12 "अत्र प्रतिविधीयते"-वृ० टि० । 13-मानं ल-वृ० । 14 पृ० ५६१ पं० २९ । 15 पृ० ५६२ पं० ९ । 16 पृ० ५६२ पं० ३३ । "पूर्वपक्षवेलोपन्यस्त"-वृ० टि० । 17 पृ० ५६३ पं० २५ ।

प्रक्रियोपवर्णिता साऽपि प्रमाणबाधितत्वादनुद्घोष्या । यथा च क्रियाविभागादीनां प्रमाणबाधितत्वं तथा प्राक् प्रतिपादितम् प्रतिपादयिष्यते च यथावसरम् । यदपि 'मेघानां भविष्यद्वृष्टिकार्यविशेषणविशिष्टत्वमुन्नतत्वादिना धर्मेण तद्गतेन साध्यते' इत्युक्तम् तदप्यसंगतम् अस्वसंविदितविज्ञानाऽभ्युपगमवादिनां प्रदर्शितन्यायेन धर्माद्यसिद्धेरवयविसंयोगविशेषणविशेष्यभावादीनां च पराभ्युपगमेनासिद्धेर्हेतोराश्रय-स्वरूप-दृष्टान्तासिद्धिदोषा वाच्याः । न च कार्याभावात् कारणमात्रस्याभावसिद्धिरिति सन्दिग्धव्यतिरेको हेतुः अप्रतिबद्धसामर्थ्यस्य कारणविशेषस्याभावसिद्धावपि नाप्रतिबद्धसामर्थ्यत्वं कारणस्योन्नतत्वादिधर्मविशिष्टस्य ज्ञातुं शक्यम् ज्ञप्तौ वा कार्यस्यैव तदा प्रत्यक्षतेत्युक्तं प्राग् । यदपि 'यो हि भविष्यद्वृष्ट्यव्यभिचारिणमुन्नतत्वादिविशेषमवगन्तुं समर्थः स एव तस्मात् तामनुसिनोति' इत्युक्तम् तदप्यसङ्गतम् तदनुसितेः प्रागेव कार्यस्य प्रत्यक्षतया तदनुसितेर्वैयर्थ्यप्रसक्तेरित्युक्तत्वात् । यदपि 'गम्भीरध्वानवत्त्वे सति' इत्याद्युन्नतत्वादेर्विशेषणम् तदप्येतेनैव निरस्तम् अनुमेयप्रतिपत्तौ तस्यानुपयोगित्वात् अध्यक्षत एव तत्प्रतिपाद्यस्यार्थस्य सिद्धेः । यदपि 'शेषवत उदाहरणं प्रतिपादितम् तत्र नदीविशेषो धर्मी अवयविरूपोऽसिद्धः उभयतटव्यापित्वादिकस्तु संयोगविशेषत्वात् साधनधर्मोऽसिद्धः संयोगस्यासत्त्वेन प्रतिपादनात् । यदपि वृष्टिकार्यत्वं साधनधर्मस्य परम्परया प्रक्रियोपवर्णनेन प्रदर्शितम् तदपि प्रक्रियाया असिद्धत्वान्निरस्तम् । 'अकार्यकारणभूतेन लिङ्गेन यत्र लिङ्गिनोऽवगमस्तत् सामान्यतोदृष्टम्' इति यदभिधानम् तदप्यसङ्गतम् अकार्यकारणभूतस्यास्वभावभूतस्य च लिङ्गस्य गमकत्वेऽविनाभावनिमित्तस्य तादात्म्य-तदुत्पत्तिलक्षणप्रतिबन्धस्याभावेऽपि गमकत्वाभ्युपगमात् सर्वस्य सर्वं प्रति गमकत्वोपपत्तेः । न चासत्यपि जन्यजनकभावे तादात्म्ये वा स्वसाध्येनैव लिङ्गस्याविनाभावो नान्येनेत्यत्र वस्तुस्वभावैरुत्तरं वाच्यं य एवं भवन्ति नासाभिर्वयं केवलं द्रष्टार इति वक्तव्यम् यत एवमभ्युपगमे आकस्मिक एव वस्तूनां स स्वभावो भवेत् तथा च न कस्यचिदसौ न स्यात् न ह्यहेतोर्देशकालनियमो युक्तः । तद्धि किञ्चित् क्वचिदुपलीयेत न वा यस्य किञ्चिद् यत्रायत्तमनायत्तं वा अन्यथैकदेशकालद्रव्यवदन्यदेशादिभावः केन वार्येत विशेषाभावात्? ततो येनाऽविनाभूतं यद् दृश्यते तेन तस्य तत्त्वचिन्तकैरव्यभिचारनिबन्धनं वाच्यम् न पुनः पादप्रसारिका विधेया । तच्च यथोक्तादन्यदव्यभिचारनिबन्धनं नोपपत्तिमत् । न च तादात्म्य-तदुत्पत्तिलक्षणप्रतिबन्धमन्तरेण पक्षधर्मताऽपि हेतोः संभवति संयोग-समवायादिलक्षणस्य सम्बन्धस्य प्रागेव निरस्तत्वात् । एकार्थसमवायित्वस्य च समवायाभावे दूरापास्तत्वात् विशेषणविशेष्यभावस्य च सम्बन्धस्य संयोगाद्यन्तरेणासंभवात् । न चानवगतपक्षधर्मत्वादेर्हेतोर्भवद्भिर्गमकत्वमभ्युपगम्यते । एकसामग्र्यधीनतालक्षणस्तु प्रतिबन्धः कार्यकारणभावविशेष एवेति तदभावे तस्याप्यभाव इति नाकार्यकारणभूताद् रूपादेस्तत्समानकालस्य रसस्यानुमानं सामान्यतोदृष्टस्योदाहरणं युक्तिसङ्गतम् ।

यदपि वतः प्रयोगमाश्रित्य पूर्ववदनुमानं व्याख्यातम् तत्रापि दृष्टान्तधर्मिणि साध्यसाधनयोः प्रत्यक्षेण प्रतिबन्धग्रहणेऽनुमानस्योत्थानं न स्यात् साध्यधर्मिणि हेतोः साध्यधर्मेणाविनाभूतत्वाग्रहणात् । न च दृष्टान्तधर्मिणि हेतोः साध्याविनाभूतत्वग्रहणमात्रादेव साध्यधर्मिणि साध्यप्रतिपत्तिः अन्यथा 'लोहलेख्यं वज्रं पार्थिवत्वात् काष्ठवत्' इत्यत्रापि साध्यप्रतिपत्तिर्भवेत् दृष्टान्तधर्मिणि

---

१ पृ० ५६३ पं० ७। २ पृ० ५६३ पं० १८। ३ पृ० ५६३ पं० २१। ४-दप्यनेनैव वृ० मा० सं०। ५ पृ० ५६५ पं० ४। ६ पृ० ५६५ पं० ८। ७ पृ० ५६५ पं० १२। ८ इतः 'संयोगाद्यन्तरेणासंभवात्' इतिपर्यन्तः पाठोऽक्षरशः हेतुबिन्दुटीकायां वर्तते स च पृ० ५५६ पं० २३ टिप्पणतोऽवगन्तव्यः। ९ एवं भवति आ० हा० वि०। एवं न भवन्ति मा० भा०। १०-पलीये-वा० बा०।-पमीये-आ० हा० वि०। ११-चारनि-कां०। १२ पादप्रसारिका, भिक्षुपादप्रसारणन्याय इत्येतौ समानौ न्यायौ। एतयोः स्पष्टीकरणम् एतदुपयोगस्थलानि च लौकिकन्यायाञ्जलौ यथाक्रमं द्वितीये पृ० ४६ प्रथमे पृ० ३९ च भागे दर्शितानि सन्ति। भिक्षुपादप्रसारणन्यायः प्रथमे भागे एवं विवृतोऽस्ति-"यथा कश्चिद् भिक्षुर्यथेष्टभोजनाच्छादनवासगृहादिलाभार्थं कस्यचिद् धनिनो गृहे प्रविश्य युगपत् सर्वाभीष्टालाभं मन्यमान प्रथम धनिगृहे मे पादप्रसारणमस्तु पश्चादनेन परिचयमुत्पाद्य सर्वमभीष्टं सम्पादयिष्यामीति धिया स्वल्पामपि भिक्षां बहु मन्यमान पश्चात् क्रमेण स्वाभीष्टं सम्पादयति एवं यत्र विवक्षा तत्रास्य प्रवृत्तिः"-पृ० ३९। १३-दात्म्यं त-वृ० कां० वा० बा०। १४ पृ० ११३ तथा पृ० १०६। १५ पृ० ५६६ पं० ५। १६-तत्सम-मा० भा०।

पार्थिवत्वस्य लोहलेख्यतयाऽध्यक्षतः प्रतिपत्तेः । न चाध्यक्षबाधनादत्र न साध्यप्रतिपत्तिः बाधाऽविनाभावयोर्विरोधात् अविनाभावयुक्ते अध्यक्षबाधाऽयोगात् । न चाबाधितत्वाऽसत्प्रतिपक्षत्वरूपद्वयायोगात् त्रिलक्षणस्य हेतोरविनाभावपरिसमाप्तिरिति त्रैलक्षण्येऽपि पार्थिवत्वस्याबाधितत्वरूपान्तराभावान्न साध्याविनाभाव इति वक्तव्यम् अबाधितत्वस्याविसंवादित्वप्रतिपत्तिमन्तरेण ज्ञातुमशक्तेः अज्ञातस्य च ज्ञापकहेत्वनङ्गत्वात् तदङ्गत्वे वाऽनवगताविनाभावस्यापि धूमोऽग्निप्रतिपत्तिं विदध्यात् । तथाबाधितत्वं हेतो रूपान्तरमिति पार्थिवत्वं काष्ठे लोहलेख्यत्वाविनाभूतमध्यक्षतः प्रतिपन्नं वज्रे उपलभ्यमानं लोहलेख्यत्वं गमयेत् । अथ सर्वोपसंहारेणाध्यक्षं दृष्टान्तधर्मिण्यपि प्रवृत्तं साध्यसाधनयोरविनाभावमवगमयतीति साध्यधर्मिण्यपि हेतोः साध्यधर्मेणाविनाभावनिश्चयान्नानुमानानुत्थानम्; भवेदेतत् यद्यसदाद्यध्यक्षं सकलदेशकालनियतसाध्यसाधनसाकल्यावभासि भवेत् तथाभ्युपगमे वा धूमस्वरूपावभासिनाऽध्यक्षेण देशादिव्यवहितस्याग्नेरपि प्रतिपत्तेरनुमानप्रवृत्तेर्वैयर्थ्यप्रसक्तिः स्यात् । न च मानसं योगिप्रत्यक्षं वा सर्वोपसंहारेण साध्यसाधनयोर्व्याप्तिग्राहकं संभवति अध्यक्षस्य विशदावभासस्य साध्यसाधनावगतिस्वभावस्यासंवेदनात् विशदावभासि च सन्निहितार्थग्रहणस्वभावमस्मदाद्यध्यक्षमित्युक्तं प्राक् । अथानुमानेन व्याप्तिग्रहणेऽनवस्थाप्रसक्तेर्भवताऽप्यध्यक्षतस्तद्ग्रहणमभ्युपगन्तव्यम् तत्र चोक्त एव दोषः, तदसत् । प्रतिबन्धग्राहिणा प्रमाणेन सकलोपसंहारेण व्याप्तिनिश्चयात् । तथाहि-महानसादौ विशिष्टमध्यक्षमग्निधूमयोः कार्यकारणभावग्राहकत्वेन प्रवृत्तं 'सर्वत्रानग्निव्यावृत्तोऽग्निः अधूमव्यावृत्तस्य धूमस्य जनकः' इति व्यवस्थापयति अन्यथा सकृदप्यग्नेर्धूमस्योत्पत्तिर्न भवेत् अहेतोः कदाचिदप्युत्पत्तिविरोधात् । तदुक्तम्—

"कार्यं धूमो हुतभुजः कार्यधर्मानुवृत्तितः ।
संभवंस्तदभावेऽपि हेतुमत्तां विलङ्घयेत्" ॥ [ ]

तथा भावमन्तरेणापि भवन् स्वभावो निःस्वभाव एव स्यात् । तदुक्तम्—

"स्वभावेऽप्यविनाभावो भावमात्रानुरोधिनि ।
तदभावे स्वयं भावस्याभावः स्यादभेदतः" ॥ [ ]

इति तादात्म्य-तदुत्पत्तिव्यवस्थापकमेव प्रमाणं सकलोपसंहारेण व्याप्तिव्यवस्थापकमित्युक्तं प्राक् ।

अथ सर्वोपसंहारेण व्याप्तिग्रहणे अनुमानस्याप्रामाण्यं भवेत् व्याप्तिग्राहकप्रमाणप्रतिपन्नार्थविषयत्वेन स्मृतिरूपत्वात् तदंशव्याप्तिसामर्थ्येन च हेतोः स्वसाध्यप्रतिपादकत्वं न पक्षे सत्तामात्रेण तत्स्थस्य रासभादेरपि साध्यप्रतिपादकत्वप्रसक्तेस्ततस्तदंशव्याप्तिवचनेनैव गतत्वात् पक्षधर्म इति हेतोः पृथग् लक्षणं न वक्तव्यं भवेत् । उक्तं च जैनैः—

अन्यथाऽनुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ? ।
नान्यथाऽनुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ? ॥ [ ] इति ।

१-तरू-वा० बा० । २ "प्रत्यक्षग्रहणकशीकारे"-बृ० ल० टि० । ३ पृ० ३१२ पं० १ तथा टि० १-२ । "तथा च कीर्तिना कीर्तितं वार्तिके" इत्युल्लिख्यायं श्लोकः स्याद्वादरत्नाकरे उद्धृतोऽस्ति-पृ० ५१५ पं० ७ आ० । १,२,११ प्रमाणमी० पृ० ६४ पं० ५ । ४ पृ० ३२१ पं० २९ तथा टि० २१ । ५-त्र तत्स्थ-मां० मां० । ६ "प्रतिज्ञास्थस्य"-बृ० छ० टि० ।

७ अस्य पद्यस्य कर्तृत्वविषये प्राचां विप्रतिपत्तयो दृश्यन्ते—

आचार्यकमलशीलेन "अन्यथा' इत्यादिना पात्रस्वामिमतमाशङ्कते" इत्युल्लिख्य व्याख्यातासु षोडशसु कारिकासु पात्रस्वामिसंबन्धं धारयद् इदं पद्यं १३६९ तमं सव्याख्यं वर्तते-तत्त्वसं० का० १३६४-१३७९ पृ० ४०५-४०७ ।

वादिदेवसूरिणा तत् पद्यं पात्रस्वामिकर्तृकत्वेन निर्दिष्टम्—स्याद्वादर० पृ० ५२१ पं० ५-६ आ० ।

दिगम्बरपरम्परायां 'पात्रकेसरी' इति प्रसिद्धिं प्राप्तेन विद्यानन्दिस्वामिना स्वकृतौ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिके "तथाह च" इत्युक्त्वा प्रमाणपरीक्षायां च "तदुक्तम्" इत्युक्त्वा तत् पद्यं समुद्धृतं दृश्यते-पृ० २०३ श्लो० १७८, पृ० ७२ पं० १८ । तथा,

केचन स्वामिपदस्य पात्रकेसरीति अर्थं गृहीत्वा अस्य पद्यस्य पात्रकेसरिकर्तृकता मन्यमाना अभूवन् तेषां मतं निराकर्तुकामेन रविभद्रशिष्यानन्तवीर्येण तस्य पद्यस्य तीर्थंकरसीमन्धरकर्तृकता स्थापिता सिद्धिविनिश्चयवृत्तौ । तथाहि—

"कस्य तर्हीदमाह—स्वामिनः पात्रकेसरिण इत्येके । कुत एतत् ? तेन तद्विषयत्रिलक्षणकदर्थनमुत्तरभाष्यं यतः कृतमिति चेत् नन्वेव(वं ?) सीमन्धरभट्टारकस्याशेषार्थसाक्षात्कारिणस्तीर्थंकरस्य स्यात् । तेन हि प्रथमम्—

अनुपलब्धेश्च पक्षधर्मत्वं नोपपत्तिमत् अन्योपलब्धिस्वभावायास्तस्याः पुरुषधर्मत्वात् । कार्यहेतोश्च स्वातन्त्र्येण धर्म्यनपेक्षत्वात् कुतः पक्षधर्मता? स्वभावहेतोः पुनर्धर्मिरूपत्वाद् भेदनिबन्धना पक्षधर्मता दूरोत्सारितैव । न च कल्पितस्य पक्षधर्मस्य कार्यस्वभावहेतुत्वं साध्यव्याप्तिश्चोपपत्तिमती । ततो न पक्षधर्मत्वं हेतोर्लक्षणं भवदभिप्रायेण युक्तिसंगतम्, असदेतत्;

यतो यद्यपि सर्वोपसंहारेण साध्यसाधनयोर्व्याप्तिप्रतिपत्तिस्तथापि न तत्प्रतिपत्तिमात्राद् 'इदानीमिह साध्यधर्मिणि साध्यधर्मः' इति विशेषावगमः तेनाप्रतिपन्नविशिष्टदेशादिसम्बन्धिसाध्यार्थप्रतिपादकत्वेनानुमानं नाप्रामाण्यमश्नुते । न चान्यदेशादिस्थेन साध्यधर्मेणान्यदेशादिस्थः साधनधर्मः सम्बन्धमनुभवति तेन प्रतिनियतदेशादिविशेषितसाधनप्रतिपत्तिबलादेव प्रतिनियतदेशाद्यवच्छिन्नसाध्यप्रतिपत्तिरेवानुमानमिति न पक्षधर्मत्वमन्तरेणानुमानसंभवः । न च धूममात्राद् वह्निमात्रस्यावगतिरनुमानम् व्याप्तिग्राहकप्रमाणफलत्वात् तस्याः । न च हेतोः पक्षधर्मत्वं 'यत्र साधनधर्मस्तत्र साध्यधर्मः' इत्यविशिष्टावगतिमात्रात् सिध्यति साध्यधर्मिधर्मतया साधनधर्मस्याप्रतीतेः सामान्येनाभिधानात्, ततो विशिष्टदेशाद्यवच्छिन्नसाध्यावगतये पक्षधर्मत्वं प्रदर्शनीयम् अतः 'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निः' इत्यनेनैव पक्षधर्मत्वस्योक्तत्वात् प्रदेशविशेषे अग्निसिद्ध्यर्थं 'धूमश्चात्र' इति न वक्तव्यमुक्तार्थत्वात् इति यदुक्तं तन्निरस्तं द्रष्टव्यम् । एतेनैव यदुक्तं कुमारिलेन–

"नदीपूरोऽप्यधोदेशे दृष्टः सन्नुपरि स्थिताम् ।
नियम्यो गमयत्येव वृत्तां वृष्टिं नियामिकाम् ॥
एवं यत् पक्षधर्मत्वं ज्येष्ठं हेत्वङ्गमिष्यते ।
तत् पूर्वोक्तान्यधर्मत्वदर्शनाद् व्यभिचार्यते ॥
पित्रोश्च ब्राह्मणत्वेन पुत्रब्राह्मणताऽनुमा ।
सर्वलोकप्रसिद्धा न पक्षधर्ममपेक्षते ॥
क्लेशेन पक्षधर्मत्वं यस्तत्रापि प्रकल्पयेत् ।
न संगच्छेत तस्यैतल्लक्ष्येण सह लक्षणम् ॥
यथा लोकप्रसिद्धं च लक्षणैरनुगम्यते ।
लक्ष्यं हि लक्षणेनैतदपूर्वं न प्रसाध्यते" ॥ [   ] इति,

तदपि मत्युक्तम् यतः किमित्यधस्तान्नदीपूरमुपलभ्योपर्येव वृष्ट्यनुमानं नान्यत्र? तथा, शिशुरयं ब्राह्मणो मातापित्रोर्ब्राह्मण्यादिति किमिति यस्यैव शिशोः ब्राह्मण्यं साध्यं तस्यैव मातापितृब्राह्मण्यलक्षणो धर्मः सम्बन्धी गमको न मातापितृब्राह्मण्यमात्रम्? अथ नदीपूरस्योपरिदेशसम्बन्धिनः अन्यसम्बन्धिमातापितृब्राह्मण्यस्य चागमकत्वादेवमनुमानं तर्हि नदीपूरो यतः समायातस्तत्रैव

अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र त त्रयेण किम्? । नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्? ॥

इत्येतत् कृतम् । कथमिदमवगम्यत इति चेत् पात्रकेसरिणा त्रिलक्षणकदर्थनं कृतमिति कथमवगम्यत इति समानम् । आचार्यप्रसिद्धेरित्यपि समानम् । उभयत्र कथा च महती सुप्रसिद्धा । तस्य तत्कृतत्वे प्रमाण(प्रामाण्या)प्रामाण्ये तत्प्रसिद्धौ कः समाश्वासः? तदर्थं करणात् तस्येति चेत् तर्हि सर्वं शास्त्रं तद्विधेयं चात एव शिष्याणामेव न तत्कृतमिति व्यपदिश्येत पात्रकेसरिणोऽपि वा न भवेत् तेनापि अन्यार्थं तत्करणात् तेनापि अन्यार्थमिति न कस्यचित् स्यादेनत(?)तद्विषयप्रबन्धकरणात् पात्रकेसरिणस्तदिति चिन्तितं मूलसूत्रकारेण कस्यचिद् व्यपदेशाभावप्रसङ्गात् । तस्मात् साकल्येन साक्षात्कृत्योपदिशत एवायं भगवतस्तीर्थंकरस्य हेतुरिति निर्धीयते"—सिद्धिवि० टी० लि० पृ० ३०० पं० २–१२ ।

'अयं श्लोकः पद्मावत्या देवतया विरचितः' इत्यादिका किंवदन्ती प्रभाचन्द्र–ब्रह्मदत्ताभ्या स्वरचितकथाकोशे लिखितायां पात्रकेसरिकथायां वर्तते—आप्तपरीक्षाप्रस्तावना पृ० २–३ पात्रकेसरिकथा ।

१ "पक्षस्य धर्मत्वं न घटते"–बृ० ल० टि० । २—साधं हे–बृ० ल० ।

३ नैतानि पद्यानि मीमांसाश्लोकवार्तिके दृश्यन्ते, किन्तु इतराणि पद्यानि अनिर्दिष्टकर्तृकानि प्रमेयकमलमार्तण्डे उद्धृतानि वर्तन्ते पृ० ५० द्वि० पं० १०—पृ० ५१ प्र० पं० १–२ । वादिदेवसूरिस्तु तान्येव पद्यानि भट्टकर्तृकतया समुद्दरति—स्याद्वादर० पृ० २८५ पं० १–६ आ० । ४ "भट्टोऽप्याह" इत्युल्लिख्य आचार्यहेमचन्द्रेण एक एवायं श्लोक उद्धृतोऽस्ति–२–१–१७ प्रमाणमी० पृ० ७९ । "भट्टेन स्वयमभिधानात्" इत्युक्त्वा रत्नप्रभसूरिरपि एनमेकमेव श्लोकमुद्धृतवान्—२,१ रत्नाकराव० पृ० ४९ पं० १४–१६ ।

वृष्ट्यनुमानं नान्यत्र व्यभिचारात् तस्य च तत्सम्बन्धित्वनिश्चये गमकत्वं नान्यथा अनैकान्तिकत्वप्रसक्तेः एवं च कथं न पक्षधर्मतानिश्चयो हेत्वङ्गम्? तन्मातापितृब्राह्मण्यस्यापि पक्षधर्मत्वं तन्निश्चयश्च समस्त्येवान्यथागमकताऽयोगात्तत्रापि क्लेशेन पक्षधर्मत्वकल्पना।

अथवा व्यभिचारनिमित्त एव धर्मो हेतुर्युक्तो धूमस्याग्निकार्यत्ववत् ब्राह्मणमातापितृजन्यत्वं च ब्राह्मण्यनिमित्तं शिशोरिति तदेव हेतुर्युक्तोऽन्यस्य तत्कल्पनायां क्लेशः स्यादेव । एवं चन्द्रोदयात् समुद्रवृद्ध्यनुमानं किमिति तदैव न पूर्वं नापि पश्चात्? तदैव व्याप्तेर्ग्रहणादिति चेत् तर्हि साध्यसाधनयोस्तत्कालसम्बन्धित्वमेवेति स एव कालो धर्मी तत्सम्बन्धिनश्चन्द्रोदयात् तत्रैव साध्यानुमानमिति कथमत्राप्यपक्षधर्मत्वम्? कालानभ्युपगमे च नैतदनुमानं व्यभिचारात् । न च सौगतैः कालानभ्युपगमान्नास्यानुमानस्य सम्भवः । पूर्वाह्णादिप्रत्ययविषयस्य महाभूतविशेषस्य कालशब्दवाच्यस्याभ्युपगमात् । एवं विशिष्टपिपीलिकोत्सर्पणादेरपि पक्षधर्मता योज्या । नन्वेवमपि तदंशव्याप्तिवचनेनैव गतत्वात् पक्षधर्म इति पृथग् लक्षणं न वक्तव्यम्, न; अपक्षधर्मस्यापि साध्यव्याप्तस्य हेतुत्वनिराकरणार्थत्वात् तस्य अन्यथा महानसोपलब्धधूमाद् महार्णवे पावकानुमानं प्रसज्येत । अथ महानसस्थो धूमो न तत्स्थेन पावकेन व्याप्तः एवमेतत् किन्तु 'साध्यव्याप्तो हेतुः' इत्येतावन्मात्रे लक्षणे यत्रैव साधनधर्मस्तत्रैव साध्यधर्मानुमानमिति न प्राप्येत इत्यन्यत्रापि साध्यानुमानाशङ्का भवेत् ततस्तन्निवृत्त्यर्थं पृथक् पक्षधर्मवचनम् । यदा च भूतलादेरुपलब्धिजननयोग्यताऽनुपलब्धिस्तदाऽसौ भूतलादिस्वभावेति कथमनुपलब्धेरपक्षधर्मत्वम्? पुरुषधर्मरूपायास्त्वनुपलब्धेरन्यभूतलादिकार्यत्वमेव तद्धर्मत्वम् परमार्थतस्तस्यास्तदायत्तत्वात् । कृतकत्वादेस्तु शब्दादिधर्मत्वम् परमार्थत एकत्वेऽपि भेदान्तरप्रतिक्षेपाद्धर्मभेदव्यवस्थापनात् । धूमादेरपि कार्यस्य प्रदेशादिधर्मत्वम् तत्कार्यतया तदायत्तत्वात् । तेषां च विकल्पेन तत्सम्बन्धिस्वरूपमेव 'पक्षस्यायं धर्मः' इति व्यवस्थाप्यते । तन्नास्मन्मते सर्वोपसंहारेण व्याप्तिग्रहणेऽनुमानानुत्थानम् । नापि हेतोः पक्षधर्मत्वाभिधानं व्यर्थम् यथा च पक्षधर्मतानिश्चयो व्याप्तिनिश्चयश्च यतश्च प्रमाणतः संभवति तथा प्रदर्शितमेव प्रमाणवार्तिकादौ ग्रन्थगौरवभयान्नेह प्रदर्श्यते विस्तरतः।

यदपि विषयतुल्यतया क्रियातुल्यत्वं वतेः प्रयोगनिबन्धनमभ्यधायि तदपि प्रतिभासभेदस्य विषयभेदमन्तरेणानुपपद्यमानत्वप्रतिपादनात् प्रतिक्षिप्तम् । तच्च पूर्ववदिति 'वति'प्रयोगाश्रयणेनापि व्याख्यानं युक्तिसङ्गतम् । यदपि 'पूर्ववतः शेषवदनुमानस्य भेदप्रतिपादनाय शेषवन्नाम परिशेषः' इत्याद्यभिधानम्, तदपि स्वप्रक्रियोपवर्णनमात्रम्; यत इच्छादीनां गुणत्वसिद्धौ पारतन्त्र्यसिद्धेः शरीरादिषु प्रसक्तेषु प्रतिषेधे सति परिशेषादात्मसिद्धिः तच्च गुणत्वमिच्छादीनां द्रव्याश्रितत्वसिद्धौ सिध्यति तच्च समवायाभावतोऽयुक्तमिति प्रतिपादितम् । यदपि 'सामान्यवत्त्वे सति अचाक्षुषप्रत्यक्षत्वात् रसवत्' इत्यादि इच्छादीनां गुणत्वसिद्धावनुमानमुपन्यस्यते तदपि न युक्तिक्षमम् रसादीनामपि गुणत्वासिद्धितो दृष्टान्तासिद्धेः । न च तेषामपि गुणत्वसिद्धौ दृष्टान्तान्तरमस्ति इच्छादीनां तद्दृष्टान्तत्वे इतरेतराश्रयदोषप्रसक्तेः । यदपि 'इच्छादयो गुणाः प्रतिषिध्यमानकर्मत्वे सत्येकद्रव्यत्वात् शब्दवत्' इत्यनुमानम् तत्रापि दृष्टान्तासिद्धिः । तथाहि-द्रव्यस्य द्वैविध्यं वैशेषिकैः प्रतिपादितम्-घटाद्यनेकद्रव्यं द्रव्यम् अद्रव्यं चाकाशादि । शब्दस्तु प्रतिषिध्यमानकर्मत्वे सत्येकद्रव्यः तस्माद् रूपादिवद् गुण इत्येवं शब्दस्य गुणत्वसिद्धौ दृष्टान्तसिद्धिर्भवेत् । न चैतत् शब्दगुणत्वसिद्धौ साधनमुपपत्तिमत् शब्दस्य हि गुणत्वसिद्धौ निराश्रयस्य गुणस्यासंभवादाश्रयभूतेन गुणिना भवितव्यम् पृथिव्यादेश्च तद्गुणत्वनिषेधात् परिशेषादाकाशाश्रयः शब्दः तस्य चैकत्वं शब्दलिङ्गाविशेषाद् विशेषलिङ्गाभावाच्च ततो गुणत्वसिद्धौ शब्दस्यैकद्रव्यत्वसिद्धिः ततश्च यथोक्तविशेषणाद् गुणत्वसिद्धिरितीतरेतराश्रयत्वाच्च शब्दस्य दृष्टान्तत्वासिद्धिः । { अथ नानेन प्रकारेणैकद्रव्यत्वं शब्दस्य साध्यते किन्तु कादाचित्कत्वाच्छब्दः कार्यम् कार्यस्य च क्षणिकत्वनिषेधे अनाधारस्यासंभवात् समवायिकारणेन

१-र्वाह्णादि-आ० हा० वि० विना । २-रूपयोस्त्व-यु० । अत्र 'पाश्चा द्विवचनम्' इति सूत्रकं ६-२ इति शङ्काद्वयम् । ३ "हेतूनाम्"-यु० टि० । ४ पृ० ५६६ पं० ८ । ५ पृ० ५६६ पं० १६ । ६-पु च प्र-भां० मा० । ७-द्वात्स्यसि-यु० भा० मा० विना । ८-नां इ-यु० आ० हा० वि० ।

भवितव्यम् पृथिव्यादेश्च समवायिकारणत्वनिषेधे आकाशस्यैव समवायिकारणत्वम् तस्यैकत्वं पूर्ववद् द्रष्टव्यम्। अत एकद्रव्यत्वं शब्दस्य सिद्धमिति प्रतिषिध्यमानकर्मत्वे एकद्रव्यत्वात् रूपादिवद् गुणः शब्दः सिद्ध इति न दृष्टान्तासिद्धिः। प्रतिषिध्यमानकर्मत्वं च 'शब्दः कर्म न भवति शब्दान्तरहेतुत्वात् आकाशवत्' शब्दान्तरहेतुत्वं च शब्दस्य कार्यत्वाव्यापकत्वाभ्यां सिद्धम् कार्यं हि पूर्ववत् समवायिकारणापेक्षम् पृथिव्यादेश्च समवायिकारणत्वनिषेधात् व्योमस्तं प्रति समवायिकारणता शब्दस्य च प्रत्यक्षत्वान्यथाऽनुपपत्त्या सन्तानकल्पना सन्तानश्च शब्दान्तरहेतुत्वमन्तरेणानुपपन्न इति नासिद्धौ हेतु-दृष्टान्तौ। प्रतिषिध्यमानकर्मत्वं चेच्छादीनां कर्मत्वानधिकरणतयाध्यक्षप्रतिपत्तित एव सिद्धम् एकद्रव्यत्वं च यज्ञदत्तेच्छादीनां देवदत्तादावनुभवाभावतो व्यवस्थितमेव।} असदेतत् कार्यत्वस्य समवायिकारणप्रभवत्वेन शब्दादावसिद्धेर्न पूर्वोक्तप्रक्रिययाऽप्येकद्रव्यत्वसिद्धिः। अत एव शब्दान्तरहेतुत्वाच्च कर्मत्वप्रतिषेधः शब्दस्य हेतु-दृष्टान्तयोरसिद्धेः न हि शब्दलक्षणस्य कार्यस्य निराधारस्य सम्भवे व्योम्नः समवायिकारणत्वेन शब्दान्तरहेतुत्वं शब्दस्य वाऽसमवायिकारणत्वेन तद् युक्तम्। न च शब्दप्रत्यक्षताऽन्यथानुपपत्त्या सन्तानकल्पना युक्तिसङ्गता तामन्तरेणापि शब्दप्रत्यक्षतोपपत्तेः प्रतिपादनात्। एकद्रव्यत्वस्य प्रतिषिध्यमानकर्मत्वस्य चेच्छादिष्वध्यक्षत एव सिद्धौ गुणत्वसमवायाद् गुणरूपताया अपि तत एव सिद्धेरनुमानोपन्यासस्य वैयर्थ्यं स्यात्। न चाध्यक्षसिद्धेऽपि गुणत्वयोगे व्यवहारसाधनार्थं तदुपन्याससाफल्यम् तद्गुणत्वस्य समवायस्य वाऽध्यक्षप्रतिपत्तौ कदाचिदप्यप्रतिभासनात्। एतेन 'गुणत्वयोगात् रूपादयो गुणाः' इति निरस्तम् गुणत्वसमवायस्य व्यतिरेकिहेतो रूपादिषु गुणव्यवहारसाधकस्यासिद्धेः। यदपि इच्छादेः पारतन्त्र्यमात्रप्रतिपत्तौ गुणत्वं कार्यत्वं वा पूर्ववदित्यादित्रयाणामपि हेतूनां विभागेनोदाहरणप्रदर्शनम् तदप्यसङ्गतमेव; गुणत्वकार्यत्वयोर्यथोक्तप्रकारेण पारतन्त्र्यप्रतिपत्तौ हेतुत्वासंभवतः सर्वस्यानुपपत्तिकत्वादित्यलमतिप्रसङ्गेन। एतेन सांख्यपरिकल्पितमपि पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतोदृष्टं चेति त्रिविधमनुमानं निरस्तम् न्यायस्य समानत्वात्। यदपि "तल्लिङ्ग-लिङ्गिपूर्वकम्" [साङ्ख्यका० ५] इत्यनुमानलक्षणं तैरभ्यधायि तदपि यद्यसत्प्रणीतानुमानलक्षणानुयायि न व्याख्यायते तदा प्रतिबन्धग्राहकप्रमाणासंभवतः प्रदर्शितन्यायेन नानुमेयप्रतिपत्त्यङ्गम्। अथानुयायितया तदेतदेव लक्षणं शब्दान्यत्वेऽप्यभ्युपगतमिति न विप्रतिपत्तिः।

[सौगतैर्मीमांसकीयमनुमानलक्षणमुपन्यस्य तस्य स्वमतानुसारित्वाविष्करणम्]

"ज्ञातसम्बन्धस्यैकदेशदर्शनादसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिरनुमानम्" [१-१-५ शावरभा०] इति शावरमनुमानलक्षणम्। अत्र च यदि दर्शनादर्शननिबन्धनं सम्बन्धग्रहणमाश्रीयते तदा तत्पुत्रत्वादेरप्यनुमानत्वसंभवादतिव्याप्तिर्लक्षणदोषः। अथ न सहभावदर्शनमात्रात् सम्बन्धावगमः किन्तु विपर्यये हेतोर्बाधकप्रमाणबलात् न च तदत्रास्तीति नातिव्याप्तिः। ननु किं पुनर्विपर्यये बाधकप्रमाणम्? अदर्शनमिति चेत् स्वसम्बन्धिनोऽदर्शनस्यात्रापि सद्भावात् सर्वसम्बन्धिनोऽन्यत्राप्यसिद्धेर्न ह्यर्वाग्दृशा देशकालविप्रकृष्टाः साध्यविकला हेतुरहितत्वेन सकलार्था निश्चेतुं शक्याः अथ कारणव्यापकानुपलब्धिविरुद्धविधीनामन्यतमद् बाधकं प्रमाणं तर्हि कार्यकारणव्याप्यव्यापकभावविरोधसिद्धौ प्रमाणतस्तत् प्रवर्तेत इति कार्यकारणभावादिकः सम्बन्धस्तदवगमनिमित्तं चाध्यक्षादिकं प्रमाणमभ्युपगन्तव्यम्। न चैवमप्यपक्षधर्मस्य हेतोर्गमकत्वं प्राक् प्रदर्शितन्यायेनोपपद्यत इति पक्षधर्मत्वमपरं रूपान्तरं लक्षणं वक्तव्यम् तथाभ्युपगमे च 'ज्ञातसम्बन्धस्य' इत्यनेनान्वयव्यतिरेकयोः संसूचनात् पक्षधर्मत्वस्य चाध्याहारात् "त्रिरूपाल्लिङ्गाल्लिङ्गिनि ज्ञानमनुमानम्" [ ] इत्येतदेवास्मदीयमनुमानलक्षणं भवद्भिरभ्युपगतं भवतीति सौगताः।

---

१ कार्यस्य वृ०। २ पृ० ५६६ पं० २१।

३ "प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टं त्रिविधमनुमानमाख्यातम्। तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकमाप्तश्रुतिराप्तवचनं तु" इति सपूर्णा कारिका।

४ "अनुमानं ज्ञातसंबन्धस्यैकदेशदर्शनादेकदेशान्तरेऽसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिः"—शावरभा० पृ० ८ पं० ८। पृ० १० पं० १० तथा टि० ५। ५–र्थाः सर्वैर्निश्चीयन्त इति निश्चेतुं शक्यम् अथ वा० बा० मां० मां०।–र्थाः सर्वैर्निश्चीयन्त इति निश्चेतुं शक्या अथ हं०। ६ पृ० २ पं० ३। "तत्र त्रिरूपाल्लिङ्गाद् यदनुमेये ज्ञानं तदनुमानम्"—न्यायबिं० २-३।

[४ प्रमाणसङ्ख्यानिरूपणम्]

[प्रत्यक्षभिन्नानि प्रमाणान्यनुमानेऽन्तर्भावयतां प्रमाणद्वयवादिनां सौगतानां विचारप्रक्रिया]

अप्रत्यक्षस्य चार्थस्य स्वसाध्येन धर्मिणा च सम्बन्धाद् अन्यतः सामान्याकारेण प्रतिपत्तेः यदप्रत्यक्षार्थविषयं प्रमाणं तदनुमानेऽन्तर्भूतमिति प्रत्यक्षानुमानलक्षणे द्वे एव प्रमाणे। तथाहि-न परोक्षोऽर्थः स्वत एव तदाकारोत्पत्तया प्रतीयते प्रमाणेन तस्यापरोक्षत्वप्रसक्तेः। विकल्पमात्रस्य च स्वतन्त्रस्य राज्यादिविकल्पवदप्रमाणत्वात् तदप्रतिबद्धस्यावश्यंतया तदव्यभिचाराभावात्। न च स्वसाध्येन विनाभूतोऽर्थो गमकः अतिप्रसक्तेः धर्मिसम्बन्धानपेक्षस्यापि गमकत्वे प्रत्यासत्तिविप्रकर्षाभावात् सर्वत्र प्रतिपत्तिहेतुर्भवेत्। यच्चैवंविधार्थप्रतिपत्तिनिबन्धनं प्रमाणं तदनुमानमेव तस्यैवंलक्षणत्वात् तथा च प्रयोगः—यदप्रत्यक्षं प्रमाणं तदनुमानान्तर्भूतम् यथा लिङ्गबलभावि अप्रत्यक्षप्रमाणं च शाब्दादिकं प्रमाणान्तरत्वेनाभ्युपगम्यमानमिति स्वभावहेतुः। यच्च यत्रान्तर्भूतं तस्य न ततो बहिर्भावः यथा प्रसिद्धान्तर्भावस्य क्वचित् कस्यापि अन्तर्भूतं चेदं सर्वं प्रत्यक्षादन्यत् प्रमाणमनुमान इति विरुद्धोपलब्धिः अन्तर्भाव-बहिर्भावयोः परस्परपरिहारस्थितलक्षणतया विरोधात्। अत एव "प्रत्यक्षस्याभावविषयत्वविरोधान्न ततः प्रमाणान्तराभावोऽवसातुं शक्यः नापि कार्यस्वभावलक्षणादनुमानात् कार्यस्वभावयोर्विधिसाधकत्वेनाभावसाधने व्यापारानभ्युपगमात् कारणव्यापकानुपलब्ध्योस्तु अत्यन्तासत्तयोपगते प्रमाणान्तरेऽभावसाधकत्वेन व्यापार एव न संगच्छते अत्यन्तासतस्तस्य कार्यत्वेन व्याप्यत्वेन वा कस्यचिदसिद्धेः। तयोश्च कार्यकारणव्याप्यव्यापकभावसिद्धावेव व्यापाराद् विरुद्धविधिरप्यत्रासंभवी सहानवस्थानलक्षणस्य विरोधस्यात्यन्तासत्यसिद्धेः" [ ] इत्यादि यत् परेणोच्यते तदपास्तं द्रष्टव्यम् यथाप्रदर्शितन्यायेन स्वभावविरुद्धोपलब्धेरत्र व्यापारात्। स्यादेतत् भवतु परोक्षविषयस्य प्रमाणस्यानुमानेऽन्तर्भावः अर्थान्तरविषयस्य च तस्याभावयुक्तः, न, प्रत्यक्षपरोक्षाभ्यामन्यस्यार्थस्याभावात् प्रमेयरहितस्य च प्रमाणस्य प्रामाण्यासंभवात् प्रमीयतेऽनेनेत्यागृहीतप्रमेयस्यैव प्रमाणमिति व्युत्पत्त्या तस्य प्रमाणत्वव्यवस्थितेः। तथाहि-यदविद्यमानप्रमेयं न तत् प्रमाणम् यथा केशोन्दुकादिज्ञानम् अविद्यमानप्रमेयं च प्रमेयद्वयातिरिक्तविषयतयाऽभ्युपगम्यमानं प्रमाणान्तरमिति कारणानुपलब्धिः प्रमेयस्य साक्षात् पारम्पर्येण वा प्रमाणं प्रति कारणत्वात्। तदुक्तम्—"नाननुकृतान्वयव्यतिरेकं कारणम् नाकारणं विषयः" [ ] इति। न च प्रत्यक्ष-परोक्षातिरिक्तप्रमेयान्तराभावप्रतिपादकप्रमाणान्तराभावादसिद्धो हेतुरिति वक्तव्यम् अध्यक्षेणैव प्रमेयान्तरविरहप्रतिपादनात्। तद्धि पुरःस्थितार्थसामर्थ्यादुपजायमानं तदात्मनियतप्रतिभासावभासादेव तस्य प्रत्यक्षव्यवहारकारणं भवति तदन्यात्मतां च तस्य व्यवच्छिन्दानमन्यदर्थजातं सकलं राश्यन्तरत्वेन व्यवस्थापयत् तृतीयप्रकाराभावं च साधयति तत्राप्रतीयमानस्य सकलस्यार्थजातस्यान्यत्वेन परोक्षतया व्यवस्थापनादन्यथा तस्य तदन्यात्मताऽव्यवच्छेदे तद्रूपतया परिच्छेदो न भवेदिति न किञ्चिदध्यक्षेणावगतं भवेत्। प्रतिनियतस्वरूपता हि भावानां प्रमाणतो व्यवस्थिता अन्यथा सर्वस्य सर्वत्रोपयोगादिप्रसङ्गतः प्रतिनियतव्यवहारोच्छेदप्रसक्तिर्भवेत्। सा चेन्न प्रत्यक्षावगता किमन्यद् रूपं तेन तस्यावगतमिति पदार्थस्वरूपावभासिना प्रमेयान्तराभावः प्रतिपादित एव। अनुमानतोऽपि तदभावः प्रतीयत एव अन्योन्यव्यवच्छेदरूपाणामितरप्रकारव्यवच्छेदेन तदितरप्रकारव्यवस्थापनात्। प्रयोगश्चात्र-यत्र यत्प्रकारव्यवच्छेदेन तदितरप्रकारव्यवस्था न तत्र प्रकारान्तरसम्भवः तद्यथा-पीतादौ नीलप्रकारव्यवच्छेदेनाऽनीलप्रकारव्यवस्थायाम् अस्ति च प्रत्यक्ष-परोक्षयोरन्यतरप्रकारव्यवच्छेदेनेतरप्रकारव्यवस्था व्यवच्छिद्यमानप्रकाराविषयीकृते सर्वस्मिन् प्रमेय इति विरुद्धोपलब्धिः तदतत्प्रकारयोः परस्परपरिहारस्थितलक्षणत्वात्। अतः प्रमेयान्तराभावान्न प्रमाणान्तरभावः। उक्तं च—

१-माने द्वे भां० मां०। २-कर्षभा-बृ० ल०। ३ "अत एव तदपास्तं द्रष्टव्यमिति दूरतः संटङ्कः"—बृ० ल० टि०। ४-स्यैव-बृ०। सहस्येकवचनसूचकमङ्कद्वयम्। ५ न च प्र-आ० हा० वि०। ६ पृ० ५१० पं० १, टि० ११। ७ "प्रत्यक्ष-" बृ० टि०। ८ तदान्यात्मनां च त-वा० बा०। ९-स्मतां अ-बृ०। १०-कारवि-वा० बा० भां० मां०। ११ अतः शब्दज्ञानात् प्रमेया-आ० हा० वि०।

"न प्रत्यक्षपरोक्षाभ्यां मेयस्यान्यस्य संभवः।
तस्मात् प्रमेयद्वित्वेन प्रमाणद्वित्वमिष्यते" ॥ [ ] इति।

[सौगतसंमतं[1] प्रमाणद्वित्ववादं प्रतिवदितुं मीमांसकेन शाब्दस्य[2] प्रमाणान्तरत्वस्थापनम्]

अत्राह मीमांसकः–"शब्दज्ञानादसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिः शाब्दम्[3]" [१-१-५ शावरभा०] इति वचनात्।

"शब्दादुदेति यद् ज्ञानमप्रत्यक्षेऽपि वस्तुनि[4]।
शाब्दं तदिति मन्यन्ते प्रमाणान्तरवादिनः" ॥ [ ]

इतिलक्षणलक्षितस्य प्रमाणान्तरस्य सद्भावात् कथं द्वे एव प्रमाणे[5]? न चास्य[6] प्रत्यक्षप्रमाणता सविकल्पकत्वात्। नाप्यनुमानता त्रिरूपलिङ्गाप्रभवत्वात् अनुमानगोचराविषयत्वाच्च। तदुक्तम्–

"तस्मादननुमानत्वं शाब्दे प्रत्यक्षवद् भवेत्।
त्रैरूप्यरहितत्वेन तादृग्विषयवर्जनात्[7]" ॥ [श्लो० वा० शब्दप० ९८]

तथाहि–न शब्दस्य पक्षधर्मत्वम् धर्मिणोऽयोगात्। न चार्थस्य धर्मित्वम् तेन तस्य सम्बन्धासिद्धेः। न चाप्रतीतेऽर्थे तद्धर्मतया शब्दस्य प्रतीतिः संभविनी प्रतीते चार्थे न तद्धर्मताप्रतिपत्तिः[8] शब्दस्योपयोगिनी तामन्तरेणाप्यर्थस्य प्रागेव प्रतीतेरन्यथा तस्य तद्धर्मतया प्रतीत्ययोगात्। भवतु वार्थो धर्मी तथापि किं तत्र साध्यमिति वक्तव्यम्? सामान्यमिति चेत्, न, तस्य धर्मिपरिच्छेदकाल[9] एव सिद्धत्वात् तदपरिच्छेदे धर्मिपरिच्छेदायोगात्[10] "नागृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिः[11]" [ ] इति न्यायात्। न च सामान्यं धर्मि अर्थविशेषस्तत्र साध्यो धर्मः उक्तदोषानतिक्रमात् विशेषस्य चानन्वयीत्। अथ शब्दो धर्मी[12] अर्थवानिति साध्यो धर्मः शब्द एव च हेतुः, न, प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वप्राप्तेः। अथ शब्दत्वं हेतुरिति न प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वं दोषः, न, शब्दत्वस्या[13]गमकत्वात् गोशब्दत्वस्य च निषेत्स्यमानत्वेनासिद्धत्वात्। अत एवानुमानतुल्यविषयताऽपि न शाब्दे संभवति। तदुक्तम्–

---

१ सौगतसमतं प्रमाणद्वैविध्यं पूर्वपक्षयित्वा जयन्तभट्टेन प्रत्युक्तम् तत्र–

"ते हि प्रमेयद्वैविध्यात् प्रमाणं द्विविधं जगुः। नान्यः प्रमाणभेदस्य हेतुर्विषयभेदतः" ॥

इत्यादिकं

इत्युद्धृताखिलपरोदितदोषजातसंपातभीतिरिह संप्लव एष सिद्धः।
सर्वोऽश्च सौगतमनस्सु चिरप्ररूढा भग्नाः प्रमाणविषयद्वयसिद्धिवाञ्छाः" ॥

इत्यन्तं न्यायमञ्जरीतोऽवबोद्धव्यम्–पृ० २८-३६।

२ शाब्दं प्रमाणान्तरत्वेनानङ्गीकृतवतः शाक्यवैशेषिकानधिक्षिप्य कुमारिलभट्टेन तत् प्रमाणान्तरत्वेन व्यवस्थापि तत्र

"तत्रानुमानमेवेदं बौद्धवैशेषिकैः श्रितम्"।

इत्यादितः

"दृष्टाऽनुमानव्यतिरेकमीता स्थिता पदार्थभेदविचारणायाम्"।

इतिपर्यन्तं श्लोकवार्तिकतोऽवसेयम्–पृ० ४१०-४३३।

३ "शास्त्रं शब्दविज्ञानादसन्निकृष्टेऽर्थे विज्ञानम्"–शावरभा० पृ० ८ पं० १२। "तत्र शवरस्वामी शाब्दलक्षणमाह–शब्दज्ञानादसन्निकृष्टेऽर्थज्ञानं शाब्दमिति। शब्दस्वलक्षणग्रहणादुत्तरकालं परोक्षेऽर्थे यद् उत्पद्यते ज्ञानम् तत् शब्दादागतमिति कृत्वा शाब्दप्रमाणम्"–तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ४३४ पं० ३-५। ४ शाब्दस्य प्रमाणान्तरत्वं स्थापयन्त्येषा सकलाऽपि सपद्या चर्चा शब्दसाम्यमजहती प्रमेयकमलमार्तण्डे अधिकविशदतया वर्तते–पृ० ४७ द्वि० पं० २-पृ० ४८ प्र० पं० ५। ५-णेन न चा-वृ०।

६ प्रमाणान्तरपरीक्षायां शाब्दविचारे पूर्वपक्षं स्थापयन् शान्तरक्षितो भङ्ग्यन्तरेणैतदेवाभिव्यक्तवान्। तथाहि–

"शब्दज्ञानात् परोक्षार्थज्ञानं शाब्दं परे जगुः। तद्वाक्तर्तृकतो वाक्यात् तथाप्रत्ययिनोदितात् ॥
इदं च किल नाध्यक्षं परोक्षविषयत्वतः। नानुमानं च घटते तल्लक्षणवियोगतः" ॥

–तत्त्वसं० का० १४८९-१४९० पृ० ४३३।

७ तत्त्वसं० का० १४९८ पृ० ४३५। ८ "तद्धर्मताप्रतिपत्तिम्"–वृ० टि०। ९ धर्मप-वृ०। १० पृ० ४७१ पं० १०, टि० ४। ११-त्वादेव श-हा० वि०। १२ धर्मो अ-भा० हा० वि०। १३ "हेतुत्व"–वृ० टि०।

"सामान्यविषयत्वं हि पदस्य स्थापयिष्यते ॥
[1]धर्मी धर्मविशिष्टश्च लिङ्गीत्येतच्च साधितम् ।
न तावदनुमानं हि यावत्तद्विषयं न तत् ॥
अथ शब्दोऽर्थवत्त्वेन पक्षः कस्मान्न कल्प्यते ॥
प्रतिज्ञार्थैकदेशो हि हेतुस्तत्र प्रसज्यते ।
पक्षे धूमविशेषे हि सामान्यं हेतुरिष्यते ॥
शब्दत्वं गमकं नात्र गोशब्दत्वं निषेत्स्यते ।
व्यक्तिरेव विशेष्याऽतो हेतुश्चैका प्रसज्यते" ॥ इति ।
[श्लो० वा० शब्दप० ५५-५६,६२-६३-६४]

शब्दस्य चार्थेन[2] सम्बन्धाभावतो यथा न पक्षधर्मत्वं तथान्वयोऽपि प्रमेयेण व्यापाराभावतोऽसंगत एव । तदुक्तम्—

"अन्वयो न च शब्दस्य प्रमेयेण निरूप्यते ।
व्यापारेण हि सर्वेषामन्वेतृत्वं[3] प्रतीयते ॥
यत्र धूमोऽस्ति तत्राग्नेरस्तित्वेनान्वयः स्फुटः ।
न त्वेवं यत्र शब्दोऽस्ति तत्रार्थोऽस्तीति निश्चयः ॥
न[4] तावद्यत्र देशेऽसौ न तत्कालेऽवगम्यते ।
भवेन्नित्यविभुत्वाच्चेत् सर्वार्थेष्वपि तत्समम् ॥
तेन सर्वत्र दृष्टत्वाद्व्यतिरेकस्य चागतेः ।
सर्वशब्दैरशेषार्थप्रतिपत्तिः प्रसज्यते" ॥ [श्लो० वा० शब्दप० ८५-८८]

अन्वयाभावे व्यतिरेकस्याप्यभावः । उक्तं च—
"अन्वयेन विना तस्माद्व्यतिरेकः कथं भवेत् ?" । [ ] इति ।

तदेवमनुमानलक्षणाभावात् शाब्दं प्रमाणान्तरमेव ।[5]

[मीमांसकेन उपमानस्य प्रमाणान्तरत्वस्थापनम्]

[6]उपमानमपि प्रमाणान्तरम् । तस्य लक्षणम्—
"दृश्यमानाद् यदन्यत्र विज्ञानमुपजायते ।
सादृश्योपाधि तत्त्वज्ञैरुपमानमिति स्मृतम्" ॥ [ ]

---

1 "धर्मी धर्मविशिष्टो हि लिङ्गीत्येतत् सुनिश्चितम् । न भवेदनुमानं च यावत् तद्विषयं न तत् ॥
यश्चात्र कल्प्यते धर्मी प्रमेयोऽस्य स एव च । न चानवधृते तस्मिंस्तद्धर्मत्वावधारणा ॥
प्राक् स चेत् पक्षधर्मत्वाद् गृहीतः किं ततः परम् । पक्षधर्मादिभिर्ज्ञातैर्येन स्यादनुमानता" ॥
—तत्त्वसं० का० १४९१-१४९३ पृ० ४३४ ।

2 चार्थत्वेन आ० हा० वि० । 3—"मन्वितत्व"—श्लो० वा० ।
"अन्वयो न च शब्दस्य प्रमेयेण निरूप्यते । व्यापारेण हि सर्वेषामन्वेतृत्वं प्रतीयते ॥
यत्र धूमोऽस्ति तत्राग्नेरस्तित्वेनान्वयः स्फुटम् । नत्वेवं यत्र शब्दोऽस्ति तत्रार्थोऽस्तीति निश्चितम्" ॥
—तत्त्वसं० का० १४९४-१४९५ पृ० ४३४-४३५ ।

4 "न तावत् तत्र देशेऽसौ तत्काले वाऽवगम्यते"—श्लो० वा० ।
"न तावत् तत्र देशेऽसौ न तत्काले च गम्यते । भवेन्नित्यविभुत्वाच्चेत् सर्वशब्देषु तत्समम् ॥
तेन सर्वत्र दृष्टत्वाद् व्यतिरेकस्य चागतेः । सर्वशब्दैरशेषार्थप्रतिपत्तिः प्रसज्यते" ॥—
तत्त्वसं० का० १४९६-१४९७ पृ० ४३५ ।

5 शाब्दस्य अनुमानेऽन्तर्भावं प्रतिक्षिपन्त्याः ततश्च तत्पार्थक्यं समर्थयन्त्याश्च न्यायमञ्जरीगतायाश्चर्चायाः प्रस्तुतचर्चातः केवलं भङ्गीभेदः न तु वाच्यभेदः । सा हि ततः "आह आस्तां तावदेतत् इदं तु चिन्त्यताम्—किमर्थमिदं पुनः शब्दस्य पृथग्लक्षणमुपवर्ण्यते" इत्यत आरभ्य "एवंविधविषयभेदात् सामग्रीभेदाच्च प्रत्यक्षवद् अनुमानादन्यः शब्द इति सिद्धम्" इत्यवसाना द्रष्टव्या—पृ० १५२ पं० ४-पृ० १५५ पं० २० ।

6 उपमानस्य प्रमाणान्तरत्वं स्थापयन्त्येषा पर्यायुता चर्चा प्रमेयकमलमार्तण्डेऽपि ईदृश्येव वर्तते—पृ० ४८ प्र० पं० ५-द्वि० पं० ६ ।

यथोक्तम्—"उपमानमपि सादृश्यादसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिमुत्पादयति यथा गवयदर्शनं गोस्मरणस्य" [१-१-५ शावरभा०] इति। अस्यायमर्थः—येन प्रतिपन्ना गौरुपलब्धो न गवयः न चातिदेशवाक्यं 'गौरिव गवयः' इति श्रुतम् तस्यारण्यां पर्यटतः गवयदर्शने प्रथमे उपजाते परोक्षगवि सादृश्यज्ञानं यदुत्पद्यते 'अनेन सदृशो गौः' इति तदुपमानमिति। तस्य विषयः सादृश्यविशिष्टः परोक्षो गौः तद्विशिष्टं वा सादृश्यम् सादृश्यं च वस्तुभूतमेव। यदाह—

"सादृश्यस्य च वस्तुत्वं न शक्यमपबाधितुम्।
भूयोऽवयवसामान्ययोगो जात्यन्तरस्य तत्" ॥

[श्लो० वा० उपमान० श्लो० १८] इति।

अस्य चानधिगतार्थाधिगन्तृतया प्रामाण्यमुपपन्नम् यतोऽत्र गवयविषयेण प्रत्यक्षेण गवय एव विषयीकृतो न पुनरसन्निहितोऽपि सादृश्यविशिष्टो गौः तद्विशिष्टं वा सादृश्यम्। यदपि तस्य 'पूर्वं गौः' इति प्रत्यक्षमभूत् तस्यापि गवयोऽत्यन्तमप्रत्यक्ष एवेति कथं गवि तदपेक्षं तत्सादृश्यज्ञानम्? तदेवं गवयसदृशो गौरिति प्रागप्रतिपत्तेरनधिगतार्थाधिगन्तृ परोक्षे गवि गवयदर्शनात् सादृश्यज्ञानम्। तदुक्तम्—

"तस्माद् यद् स्मर्यते तत् स्यात् सादृश्येन विशेषितम्।
प्रमेयमुपमानस्य सादृश्यं वा तदन्वितम् ॥
प्रत्यक्षेणावबुद्धेऽपि सादृश्ये गवि च स्मृते।
विशिष्टस्यान्यतोऽसिद्धेरुपमानप्रमाणता ॥
प्रत्यक्षेऽपि यथा देशे स्मर्यमाणे च पावके।
विशिष्टविषयत्वेन नानुमानाप्रमाणता ॥"

[श्लो० वा० उपमान० श्लो० ३७-३९] इति।

न चेदं प्रत्यक्षम् परोक्षविषयत्वात् सविकल्पत्वाच्च; नाप्यनुमानम् हेत्वभावात्। न च स एव दृश्यमानो गवयविशेषः तद्गतं वा सादृश्यं हेतुः उभयस्यापि धर्मिणा सह प्रतिबन्धाभावात् न चाप्रतिबद्धो हेतुः अतिप्रसङ्गात्। न च गोगतं सादृश्यं गौर्वा हेतुः प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वात्। न च सादृश्यमात्रं प्राक् प्रमेयेण सम्बद्धं प्रतिपन्नम्। न चान्वयप्रतिपत्तिमन्तरेण हेतोः साध्यप्रतिपादकत्वमुपलब्धम्। तदेवं गवार्थदर्शने गवयं पश्यतः सादृश्येन विशिष्टे गवि पक्षधर्मत्वग्रहणं सम्बन्धानुसरणं चान्तरेण प्रतिपत्तिरुपजायमाना नानुमानेऽन्तर्भवतीति प्रमाणान्तरमुपमानम्। तदुक्तम्—

---

१ "उपमानमपि सादृश्यमसन्निकृष्टेऽर्थे" इत्यादि—शावरभा० पृ० ८ पं० १४। "उपमानमपि सादृश्यमसन्निकृष्टेऽर्थे" इत्यादि—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ४४४ पं० ९।

प्रमाणान्तरपरीक्षायामुपमानविचारे पूर्वपक्षमारचयन् शान्तरक्षितः पूर्वं तावत् प्रस्तुतचर्चया साम्यं बिभ्रत् शबरस्वामिसंमतोपमानसमर्थनमाह—तत्त्वसं० का० १५२६—१५४२ पृ० ४४४—४४७।

२-जायते वृ० वा० वा०। ३-शिष्टं वा सादृश्यं च वस्तु-बा० वा० भां मां०।-शिष्टस्य सादृश्यं च वस्तु-आ० हा० वि०। ४ "सादृश्यस्यापि वस्तुत्वं न शक्यमपबाधितुम्"—श्लो० वा०। "सादृश्यस्य च वस्तुत्वं न शक्यमपबाधितुम्"—तत्त्वसं० का० १५३३ पृ० ४४५।

५ "सादृश्यं वा तदाश्रितम्"—तत्त्वसं० का० १५३५ पृ० ४४५। ६ स्मृतेः बा० वा०।

"प्रत्यक्षेणावबुद्धे च सादृश्ये च गवि स्मृते। विशिष्टस्यान्यतोऽसिद्धेरुपमाया. प्रमाणता ॥
प्रत्यक्षेऽपि यथा देशे स्मर्यमाणेऽपि पावके। विशिष्टविषयत्वेन नानुमानाप्रमाणता" ॥

—तत्त्वसं० का० १५३६-१५३७ पृ० ४४६।

७ "न हि प्रत्यक्षतासिद्धं विज्ञानस्योपपद्यते। इन्द्रियार्थाभिसंबन्धव्यापारविरहात् तदा" ॥

—तत्त्वसं० का० १५३८ पृ० ४४६।

८ "त्रैरूप्यानुपपत्तेश्च न च तस्यानुमानता। पक्षधर्मादि नैवात्र कथंचिदवकल्पते" ॥

—तत्त्वसं० का० १५३९ पृ० ४४६।

९ "गवा"—वृ० टि०।

"न चैतस्यानुमानत्वं पक्षधर्माद्यसम्भवात् ।
प्राक् प्रमेयस्य सादृश्यं न धर्मत्वेन गृह्यते ॥
गवये गृह्यमाणं च न गवार्थानुमापकम् ।
प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वाद् गोगतस्य न लिङ्गता ॥
गवयश्चाप्यसम्बन्धान्न गोलिङ्गत्वमृच्छति ।
सादृश्यं न च पूर्वेण पूर्वं दृष्टं तदन्वयि ॥
एकस्मिन्नपि दृष्टेऽर्थे द्वितीयं पश्यतो वने ।
सादृश्येन सहैकस्मिंस्तदैवोत्पद्यते मतिः" ॥

[श्लो० वा० उपमान० श्लो० ४३-४६] इति ।

[नैयायिककृतमुपमानस्य स्वरूपवर्णनम् प्रमाणान्तरत्वसमर्थनं च]

नैयायिकास्तूपमानलक्षणमभिदधति—'प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्' [न्यायद० १-१-६] इति । अत्र 'उपमानम्' इति लक्ष्यनिर्देशः 'प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनम्' इति लक्षणम्

---

१ "(प्राग् गोगतं हि सादृश्यं न) धर्मत्वेन गृह्यते । गवये गृह्यमाणं च न गवामनुमापकम्" ॥

—तत्त्वसं० का० १५४० पृ० ४४६ ।

२ "गवामनु"—श्लो० वा० ।

३ "प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वाद् गोगतस्य न लिङ्गता । गवयश्चाप्यसंबन्धान्न गोलिङ्गत्वमृच्छति" ॥

—तत्त्वसं० का० १५४१ पृ० ४४७ ।

४ "सादृश्यं न च सर्वेण"—श्लो० वा० । श्लोकवार्तिकव्याख्याकारोऽपि 'सर्वेण' इति प्रतीकं गृहीत्वैव एनं श्लोकं व्याख्याति । तथाहि—"अत उक्तम् सर्वेण इति । सत्यं दृष्टम् न तु सर्वेण गवयं दृष्ट्वा तत्सादृश्यं गृह्णतैवमन्वयो गृहीतो भवतीति"—श्लो० वा० पार्थव्या० पृ० ४४७ पं० २०—२१ । प्रमेयकमलमार्तण्डेऽपि श्लोकवार्तिकवत् पाठः । तत्र च टिप्पण्याम् 'सर्वेण' इत्यस्य "पुंसा" इति स्पष्टीकरणम्—पृ० ४८ द्वि० पं० ५ टि० ३३ ।

५ "सहैवास्मिंस्तु"—श्लो० वा० । पार्थ० व्याख्याया तु 'एकस्मिन्' इति प्रतीकमस्ति । ६ "उपमानं सैव"—वृ० टि० ।

७ नैयायिकसमतमुपमानस्वरूपं तत्समर्थनं च सविशेषं जिज्ञासमानैर्वात्स्यायनभाष्य-न्यायवार्तिक-तात्पर्यटीकागतं तदवधेयम्—पृ० २५ । पृ० ५७-५८ । पृ० १९६-२०१ ।

मञ्जरीकारीया तु उपमानविषया चर्चा तत्स्वरूपं स्पष्टयति, तस्य प्रमाणान्तरतां समर्थयते, मीमांसकोक्तं तत्स्वरूपं च समालोचयति सा च सर्वाप्यत्रावधारणीया—न्यायमञ्ज० आ० २ पृ० १४१-१४९ ।

८ प्रस्तुतटीकाकारः पूर्वं शबरस्वामिसंमतामुपमानव्यवस्थामुपन्यस्य ततो नैयायिकसंमतां तामुपन्यस्यति शान्तरक्षितोऽपि तथैव तामुपन्यस्य परीक्षितवान् । तथाहि—

"श्रुतातिदेशवाक्यस्य समानार्थोपलम्भने । संज्ञासंबन्धविज्ञानमुपमा कैश्चिदिष्यते" ॥

—तत्त्वसं० का० १५६३ पृ० ४५१ ।

"कैश्चिदिति नैयायिकैः । त एवमुपमानस्य लक्षणमाहुः—प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानमिति"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ४५१ पं० १६ ।

वृद्धनैयायिकास्तु उपमानस्वरूपमित्थं वर्णयन्ति—

"किदृग्गवय इत्येवं पृष्टो नागरिकैर्यदा । ब्रवीत्यारण्यको वाक्यं यथा गौर्गवयस्तथा" ॥

—तत्त्वसं० का० १५२६ पृ० ४४४ ।

"कीदृशो गवय इत्येवंपृष्टस्य यद् वाक्यं यादृशो गौस्तादृशो गवय इति, अस्य वाक्यस्योपमानत्वं वृद्धनैयायिकानां प्रसिद्धम्"—तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ४४४ पं० ६-७ ।

श्रीधरस्तु पूर्वमीमांसक-शबरस्वामिशिष्यप्रभृतिभिर्यत् पृथक् पृथग् उपमानस्वरूपं वर्णितं तत् प्रदर्श्य तस्यानुमान एवान्तर्भावं करोति—प्रशस्त० कं० पृ० २२० पं० १६—पृ० २२२ पं० ८ ।

"अत्र वृद्धनैयायिकास्तावदेवमुपमानस्वरूपमाचक्षते—संज्ञासंज्ञिसंबन्धप्रतीतिफलं प्रसिद्धेतरयोः सारूप्यप्रतिपादकमतिदेशवाक्यमेवोपमानम्" इत्यादि—न्यायमञ्ज० आ० २ पृ० १४१ पं० १५—१६ ।

कैश्चिद् अद्यतनैरपि यदितरद् उपमानस्वरूपं वर्णितं तदपि न्यायमञ्जर्यां प्रदर्शितमस्ति—पृ० १४२ पं० १३-१५ ।

'प्रसिद्धसाधर्म्यात्' इत्यागमपूर्विका प्रसिद्धिर्दर्शिता। आगमस्तु 'यथा गौस्तथा गवयः' इत्येवम्, प्रसिद्धेन साधर्म्यं प्रसिद्धं वा साधर्म्यमिति साधर्म्यप्रसिद्धेः संस्कारवान् पुरुषः कदाचिदरण्ये परिभ्रमन् समानमर्थं यदा पश्यति तदा तज्ज्ञानादागमाहितसंस्कारप्रबोधः ततः स्मृतिः 'गोसदृशो गवयः' इत्येवंरूपा स्मृतिसहायेन्द्रियार्थसन्निकर्षेण 'गोसदृशोऽयम्' इति ज्ञानमुत्पाद्यते तच्चेन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वात् प्रत्यक्षफलम् तदेवाव्यपदेश्यादिविशेषणविशिष्टार्थोपलब्धिजनकत्वाद् गोसारूप्यज्ञानमुपमानम्। न च तत्रैव विषये हेयादिज्ञानोत्पादकत्वेनोपमानप्रमाणताप्रसक्तिः हेयादिज्ञानस्येन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वात् तज्जनकत्वेनास्य प्रत्यक्षप्रमाणताप्रसक्तेः। न च शब्देन सार्धं यथोक्तमुत्पाद्यदेतच्छाब्दं प्रसज्यते अव्यपदेश्यपदाध्याहारात्। अव्यभिचारादिपदानां तु पूर्ववद् व्यवच्छेद्यं द्रष्टव्यम्। नन्वेवमप्यनुमाने प्रसङ्गः तस्य यथोक्तफलजनकत्वात्, न, अविनाभावसम्बन्धस्मृतिपूर्वकस्य परामर्शज्ञानस्य विशिष्टफलजनकत्वेनानुमानत्वात्। न चाधिकृतज्ञानमविनाभावसम्बन्धस्मृतिपूर्वकम् गोसदृशस्य गवयशब्दवाच्यत्वेनान्यस्याप्रसिद्धत्वात्। 'गोसदृशस्य गवयशब्दः संज्ञा' इति आगमात् प्रतीतिरिति चेत्, न, तस्य सन्निधीयमानगोसदृशपिण्डविषयत्वेनाप्युपपत्तेः निश्चितश्चान्वयः साध्यप्रतिपत्त्यङ्गम् न च तदोपलभ्यमानाद् गोसदृशपिण्डाद् व्यतिरिक्तगोसदृशसद्भावनिश्चायकं प्रमाणमस्ति। न चात्र व्यतिरेक्यपि हेतुः समस्ति सपक्षासत्त्वप्रतिपादकप्रमाणाभावात् अतो नाविनाभावसम्बन्धानुस्मृतिः। व्याप्तिरहितेऽपि चागमे 'गोसदृशो गवयः' इति सकृदुच्चारिते उत्तरकालं गोसदृशपदार्थदर्शनात् 'अयं स गवयशब्दवाच्यः' इति प्रतिपत्तिर्भवतीति नानुमानमेतत्। संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञानं त्वागमिकं न भवत्येव शब्दस्य तज्जनकस्य तदाऽभावात् शब्दजनितं च शाब्दं प्रमाणमिति व्यवस्थितम्। प्राक् शब्दप्रतीतत्वात् शाब्दमिति चेत्, नन्वनुमानस्याप्येवमभावप्रसक्तिः अग्निसामान्यस्य प्राक् प्रत्यक्षेण प्रतीतत्वात् न ह्यप्रतीते महानसादावग्निसामान्येऽनुमानप्रवृत्तिरिति अप्रतीतार्थाप्रतिपादकत्वादनुमानं न प्रमाणं भवेत्। न च विशिष्टदेशाद्यवच्छेदसाधकत्वेनास्य प्रामाण्यम् इतरत्रापि समानत्वात्। तथाहि-सन्निधीयमानपिण्डविषयत्वेनं स्वप्रतिपाद्यमिदं प्रतिपादयति आगमस्त्वसन्निहितपिण्डविषयत्वेन। न चागमात् संज्ञासंज्ञिसम्बन्धः प्रतीयते ततः सारूप्यमात्रप्रतीतेः। यत्र च शब्दस्यैव साधकतमत्वं तदेव शाब्दफलम् न च विप्रतिपत्त्यधिकरणे संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञाने एतत् समस्ति। प्रत्यक्षफलं तु न भवत्येवैतत् संज्ञासंज्ञिसम्बन्धस्येन्द्रियेणासन्निकर्षात् तदसन्निकर्षश्चेन्द्रियाविषयत्वात् तस्य। तदेवं संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिरूपं फलं यतः समुपजायते तदुपमानम् आह च सूत्रकारः—"साध्यसाधनम्" [न्यायद० १-१-६] इति। साध्यं विशिष्टं फलम् तस्य साधनं जनकं यत् तदुपमानम्। एवं सारूप्यज्ञानवत् सारूप्यस्याप्युपमानत्वं न पुनः संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञानस्य फलाभावात्। न च हेयादिज्ञानमस्य फलं प्रत्यक्षादिफलत्वात् तथाहि-हेयादिज्ञानं पिण्डविषयं तच्चेन्द्रियार्थसन्निकर्षादुपजायते यथा प्रत्यक्षफलमनुमानं विशिष्टफलजनकत्वात्। एवं प्रमाणान्तरानिष्पाद्यविशिष्टफलजनकत्वात् प्रमाणान्तरमुपमानम्।

[मीमांसकेन अर्थापत्तेः स्वरूपव्यावर्णनपूर्वकं प्रमाणान्तरत्वसमर्थनम्]

अर्थापत्तिरपि प्रमाणान्तरम् यतस्तस्या लक्षणम्—"अर्थापत्तिरपि दृष्टः श्रुतो वाऽर्थोऽन्यथा नोपपद्यत इत्यदृष्टार्थकल्पना" [१-१-५ शाबरभा०]। कुमारिलोऽप्येतदेव भाष्यवचनं विभजन्नाह—

"प्रमाणषट्कविज्ञातो यत्रार्थो नान्यथा भवेत्।
अदृष्टं कल्पयत्यन्यं[13][14] साऽर्थापत्तिरुदाहृता॥
दृष्टः पञ्चभिरप्यस्माद् भेदेनोक्ता श्रुतोद्भवा।
प्रमाणग्राहिणीत्वेन यस्मात् पूर्वविलक्षणा"॥ [श्लो० वा० अर्थाप० श्लो० १-२]

१ "गवयरूपम्"—बृ० ल० टि०। २ तयेन्द्रि- बृ०। ३-ज्ञानत्वविशि-आ० हा० वि०।-ज्ञानविशि-ल०।-ज्ञानाविशि-बृ०। ४-रिक्तः गो-वा० बा०। ५ शाब्दप्र-ल०। ६-सक्तेः आ० हा० वि०। ७-न प्रति-या० या० मा० मां० विना। ८ विधिप्र-भा० मां०। विधि प्र-बृ०। ९ पृ० ५७७ पं० ११। १०-रूप्यं ज्ञा-बृ० ११ तत्त्वस० पञ्जि० पृ० ४५६ प० २३-२४। १२ "यत्रार्थोऽन्यथा भवन्"-ल० टि०। "यत्रार्थो नान्यथा भवन् अदृष्ट कल्पयेदन्यम्-पाठान्तरम्"-बृ० ल० टि०। १३-ल्पयत्यन्यं बृ० आ० हा०।-"ल्पयेदन्यं"-श्लो० वा०। १४ "अर्थम्"- बृ० ल० टि०।

प्रस्तुता टीका कौमारिल श्लोकवार्तिकमनुसरति-श्लो० वा० अर्थाप० श्लो० १-८८ पृ० ४५०-४७२।

प्रत्यक्षादिभिः षड्भिः प्रमाणैः प्रसिद्धो योऽर्थः स येन विना नोपपद्यते तस्यार्थस्य प्रकल्पनमर्थापत्तिः यथाग्नेर्दाहकत्वम्। तत्र प्रत्यक्षपूर्विकार्थापत्तिः यथाग्नेः प्रत्यक्षेणोष्णस्पर्शमुपलभ्य दाहकशक्तियोगोऽर्थापत्त्या प्रकल्प्यते न हि शक्तिरध्यक्षपरिच्छेद्या नाप्यनुमानादिसमधिगम्या अप्रत्यक्षेणार्थेन शक्तिलक्षणेन कस्यचिदर्थस्य सम्बन्धासिद्धेः। अनुमानपूर्विका त्वर्थापत्तिः यथा आदित्यस्य देशान्तरप्राप्त्या देवदत्तस्येव गत्यनुमाने ततो गमनशक्तियोगोऽर्थापत्त्यावसीयते। उपमानपूर्विका त्वर्थापत्तिः यथा 'गवयवद् गौः' इत्युक्तेरर्थाद् वाहदोहादिशक्तियोगस्तस्य प्रतीयते अन्यथा गोत्वस्यैवायोगात्। शब्दपूर्विकार्थापत्तिः यथा शब्दादर्थप्रतीतौ शब्दस्यार्थेन सम्बन्धसिद्धिः। अर्थापत्तिपूर्विकार्थापत्तिः यथोक्तप्रकारेण शब्दस्यार्थेन सम्बन्धसिद्धावर्थान्नित्यत्वसिद्धिः पौरुषेयत्वे शब्दस्य सम्बन्धायोगात्। अभावपूर्विकार्थापत्तिः यथा जीवतो देवदत्तस्य गृहे अदर्शनादर्थाद् वहिर्भावः। अत्र चतसृभिरर्थापत्तिभिः शक्तिः साध्यते, पञ्चम्यां नित्यता, षष्ठ्यां गृहाद् वहिर्भूतो देवदत्त एव साध्यत इत्येवं षट्प्रकारा अर्थापत्तिः। अन्ये तु श्रुतार्थापत्तिमन्यथोदाहरन्ति 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इति वाक्यश्रवणाद् रात्रिभोजनवाक्यप्रतिपत्तिः श्रुतार्थापत्तिः। गवयोपमितस्य गोस्तज्ज्ञानग्राह्यताशक्तिरुपमानपूर्विकार्थापत्तिः। तदुक्तम्—

"तत्र प्रत्यक्षतो शातात् दाहाद्दहनशक्तिता।
वह्नेरनुमितात् सूर्ये यानात् तच्छक्तियोगिता" ॥ [श्लो॰ वा॰ अर्थाप॰ श्लो॰ ३]
"पीनो दिवा न भुङ्क्ते इत्येवमादिवचःश्रुतौ।
रात्रिभोजनविज्ञानं श्रुतार्थापत्तिरुच्यते" ॥ [श्लो॰ वा॰ अर्थाप॰ श्लो॰ ५१]
"गवयोपमिताया गोस्तज्ज्ञानग्राह्यशक्तिता" ॥ [श्लो॰ वा॰ अर्थाप॰ श्लो॰ ४]
"अभिधानप्रसिद्ध्यर्थमर्थापत्त्यावबोधितात्।
शब्दे वाचकसामर्थ्यात् तन्नित्यत्वप्रमेयता" ॥ [श्लो॰ वा॰ अर्थाप॰ श्लो॰ ५]
"प्रमाणाभावनिर्णीतचैत्राभावविशेषितात्।
गेहाच्चैत्रवहिर्भावसिद्धिर्या त्विह दर्शिता" ॥
"तामभावोत्थितामन्यामर्थापत्तिमुदाहरेत्"।
[श्लो॰ वा॰ अर्थाप॰ श्लो॰ ८-९] इत्यादि।

इयं च षट्प्रकाराप्यर्थापत्तिर्नाध्यक्षम् अतीन्द्रियशक्त्याद्यर्थविषयत्वात्। अत एव नानुमानम् प्रत्यक्षावगतप्रतिबद्धलिङ्गप्रभवत्वेन तस्योपवर्णनात् अर्थापत्तिगोचरस्यार्थस्य कदाचिदप्यध्यक्षाविषयत्वात्। तेन सहार्थापत्त्युत्थापकस्यार्थस्य सम्बन्धाप्रतिपत्तेस्तदैवार्थापत्त्या ततस्तस्य प्रकल्पनात् प्रमाणान्तरमेवार्थापत्तिः।

[मीमांसकेन अभावस्य प्रमाणान्तरत्वसमर्थनम्]

"अर्थस्यासन्निकृष्टस्य प्रसिद्ध्यर्थं प्रमान्तरम्।
प्रमाभावमभावाख्यं वर्णयन्ति तथाऽपरे" ॥ [ ]

प्रमाणान्तरपरीक्षायामर्थापत्तिविचारे पूर्वपक्षप्रसङ्गे शान्तरक्षित ईदृगेव अर्थापत्तिस्वरूपं तद्भेदांश्च निरूपितवान् तच्चात्र तत्कारिकाङ्कैरेव निर्दिश्यते-तत्त्वसं॰ का॰ १५८७-१६०६ पृ॰ ४५६-४६१।

प्रमेयकमलमार्तण्डस्तु प्रस्तुतटीकया अक्षरशः साम्यं बिभर्ति-पृ॰ ४८ द्वि॰ पं॰ ६-पृ॰ ४९ प्र॰ पं॰ ८।

श्रीधरोऽपि तामनुमानेऽन्तर्भावयन् व्याख्यातवान्-प्रशस्त॰ कं॰ पृ॰ २२२-२२५।

श्रीधरानुसारी जयन्तस्तु अर्थापत्तिं व्यावर्णयन् नोज्झितवान् प्रस्तुतटीकासाम्यम्—न्यायमञ्ज॰ आ॰ १ पृ॰ ३६ पं॰ ८-पृ॰ ४९ पं॰ ४।

१-स्तज्ञा-आ॰ हा॰ वि॰ विना। २ तत्त्वसंग्रहे ईदृशी एव कारिका-१५८८। "ज्ञानाद् दाहाद्दहनशक्तता। वह्नेरनुमिता सूर्ये यानात्तच्छक्तियोग्यता"—श्लो॰ वा॰। ३ "गवयोपमिता या गोस्तज्ज्ञानग्राह्यता मता"-श्लो॰ वा॰। "गवयोपमिता या गोस्तज्ज्ञानग्राह्यशक्तता,"-तत्त्वसं॰ का॰ १५९९। ४ "शब्दे वाचकसामर्थ्यात् तन्नित्यत्वप्रकल्पनम्"—श्लो॰ वा॰।

५ अर्थापत्तिचर्चायामिव अत्र अभावचर्चायामपि समानप्रायाणि श्लोकवार्तिक-तत्त्वसंग्रह-प्रमेयकमलमार्तण्ड-कन्दली-न्यायमञ्जरीणामभावनिरूपकाणि तत्तच्चर्चास्थलानि अवधारणीयानि—श्लो॰ १-५८ पृ॰ ४७३-४९२ ॥ का॰ १६४८-१६५९ पृ॰ ४७०-४७३। पृ॰ ४९ प्र॰ पं॰ ९—पृ॰ ५० प्र॰ पं॰ ४। पृ॰ २२५-२३०। पृ॰ ४९-५१।

"अभावोऽपि प्रमाणाभावः 'नास्ति'इत्यर्थस्यासन्निकृष्टस्य" [१-१-५ शाबरभा०] इति वचनात्। अन्ये पुनरभावाख्यं प्रमाणं त्रिधा वर्णयन्ति–प्रमाणपञ्चकाभावलक्षणोऽनन्तरोक्तोऽभावः, प्रतिषिध्यमानाद् वा तदन्यज्ञानम् आत्मा वा विषयरूपेणानभिनिवृ(र्वृ)त्तस्तभाव इति अनेन चाभावप्रमाणेन प्रदेशादौ घटादीनामभावो गम्यते। तदुक्तम्–

"प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते।
वस्तुसत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता" ॥ [श्लो० वा० अभावप० श्लो० १]
"प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिः प्रमाणाभाव उच्यते।
सात्मनोऽपरिणामो वा विज्ञानं वान्यवस्तुनि" ॥
[श्लो० वा० अभावप० श्लो० ११] इति।

न च प्रत्यक्षेणैवाभावोऽवसीयते तस्याभावविषयत्वविरोधात् भावांशेनैवेन्द्रियाणां संयोगात्। तदुक्तम्–

"न तावदिन्द्रियैरेषा नास्तीत्युत्पाद्यते मतिः।
भावांशेनैव संयोगो योग्यत्वादिन्द्रियस्य हि" ॥
[श्लो० वा० अभावप० श्लो० १८] इति।

नाप्यनुमानेनासौ साध्यते हेत्वभावात्। न च प्रदेश एव हेतुः तस्य साध्यधर्मित्वेनाभ्युपगमात्। न चैवमपि हेतुः प्रतिज्ञार्थैकदेशताप्राप्तेः न च प्रदेशविशेषो धर्मी तत्सामान्यं हेतुः तस्य घटाभावव्यभिचाराद् न हि सर्वत्र प्रदेशे घटाभावः शक्यः साधयितुं सघटस्यापि प्रदेशस्य संभवात्। अथ घटानुपलब्ध्या प्रदेशे धर्मिणि घटाभावः साध्यते, असदेतत्; साध्यसाधनयोः कस्यचित् सम्बन्धस्याभावात्। तस्मादभावोऽपि प्रमाणान्तरमेव। न चाभावस्य तद्विषयस्याभावादभावप्रमाणान्तरवैयर्थ्यम् प्रागभावादिभेदेन चतुर्विधस्य वस्तुरूपस्याभावस्य भावात् अन्यथा कारणादिविभागतो व्यवहारस्य लोकप्रतीतस्याभावप्रसङ्गात्। तदुक्तम्–

"न च स्याद् व्यवहारोऽयं कारणादिविभागतः।
प्रागभावादिभेदेन नाभावो यदि भिद्यते" ॥ [श्लो० वा० अभावप० श्लो० ७]

अभावस्य च प्रागभावादिभेदान्यथानुपपत्तेरर्थापत्त्या वस्तुरूपताऽवसीयते। तदुक्तम्–

"न चावस्तुन एते स्युर्भेदास्तेनास्य वस्तुता।
कार्यादीनामभावः को भावो यः कारणादि न" ॥
[श्लो० वा० अभावप० श्लो० ८] इति।

अनुमानप्रमाणावसेया वाऽभावस्य वस्तुरूपता। यदाह–

"यद्वाऽनुवृत्तिव्यावृत्तिबुद्धिग्राह्यो यतस्त्वयम्।
तस्माद् गवादिवद् वस्तु प्रमेयत्वाच्च गृह्यताम्" ॥
[श्लो० वा० अभावप० श्लो० ९] इति।

---

१ "तत्र कुमारिलेन त्रिविधोऽभावो वर्णितः—आत्मनोऽपरिणाम एकः, पदार्थान्तरविज्ञेयज्ञानं द्वितीयः ××× प्रमाणनिवृत्तिमात्रात्मकस्तृतीयः"–तत्त्वस० पञ्जि० पृ० ४७२ पं० ११–१३।

२–नभिर्निवृत्त–आ०।–नभिवृत्त–ड० वा० वा०। "अपरिणत–"बृ० टि०।

"सात्मनोऽपरिणामो वा विज्ञानं वाऽन्यवस्तुनीति।

या–प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिः निषेध्याभिमतघटादिपदार्थज्ञानरूपेणापरिणतं साम्यावस्थमात्मद्रव्यमुच्यते घटादिविविक्तभूतलज्ञानं वा"—तत्त्वस० पञ्जि० पृ० ४७१ पं० १०–१२।

३–ज्ञानं चान्य–भा० मां०। "सात्मन परिणामो वा"–श्लो० वा०। तत्त्वसं० का० १६४९ पृ० ४७१। ४ "न तावदिन्द्रियैरेषा नास्तीत्युत्पद्यते मति"–श्लो० वा०। पृ० ३५१ पं० १३। ५ "प्रमेयतया"–बृ० ड० टि०। ६–नाशा बृं०। ७ "नाभावो विद्यते यदि"–तत्त्वसं० का० १६५४ पृ० ४७२। श्लोकवार्तिकेऽपि "नाभावो विद्यते यदि"–इति पाठान्तरं विद्यते। ८–रणादित इ–हा० वि०।–रणोदित इ– आ०। "योऽभाव. कारणादिन"–श्लो० वा०। "यो भाव' कारणादिना"—तत्त्वस० का० १६५५ पृ० ४७२। ९–"बुद्धयोर्ग्राह्यो यत स्वयम्"–तत्त्वसं० का० १६५६ पृ० ४७३।

अभावश्च चतुर्धा व्यवस्थितः-प्रागभावः प्रध्वंसाभावः इतरेतराभावः अत्यन्ताभावश्चेति । तत्र—

"क्षीरे दध्यादि यन्नास्ति प्रागभावः स उच्यते ॥
नास्तिता पयसो दध्नि प्रध्वंसाभावलक्षणम् ।
गवि योऽश्वाद्यभावस्तु सोऽन्योन्याभाव उच्यते ॥
शिरसोऽवयवा निम्ना वृद्धिकाठिन्यवर्जिताः ।
शशशृङ्गादिरूपेण सोऽत्यन्ताभाव उच्यते" ॥
[श्लो० वा० अभावप० श्लो० २-३-४]

यदि चैतद्व्यवस्थापकमभावाख्यं प्रमाणं न भवेत् तदा प्रतिनियतवस्तुव्यवस्था दूरोत्सारितैव स्यात् । तदुक्तम्—

"क्षीरे दधि भवेदेव दध्नि क्षीरं घटे पटः ।
शशे शृङ्गं पृथिव्यादौ चैतन्यं मूर्तिरात्मनि ॥
अप्सु गन्धो रसश्चाग्नौ वायौ रूपेण तौ सह ।
व्योम्नि संस्पर्शता ते च न चेदस्य प्रमाणता" ॥
[श्लो० वा० अभावप० श्लो० ५-६] इति ।

न च निरंशभावैकरूपत्वाद् वस्तुनस्तत्स्वरूपग्राहिणाऽध्यक्षेण तस्य सर्वात्मना ग्रहणादगृहीतस्य चापरस्यासदंशस्य तत्राभावात् कथं तद्व्यवस्थापनाय प्रवर्त्तमानमभावाख्यं प्रमाणं प्रामाण्यमश्नुत इति वक्तव्यम् यतः सदसदात्मके वस्तुनि प्रत्यक्षादिना तत्र सदंशग्रहणेऽप्यगृहीतस्यासदंशस्य व्यवस्थापनाय प्रमाणाभावस्य प्रवर्तमानस्य न प्रामाण्यव्याहतिः । तदुक्तम्—

"स्वरूप-पररूपाभ्यां नित्यं सदसदात्मके ।
वस्तुनि ज्ञायते किंचित् रूपं कैश्चित् कदाचन ॥
यस्य यत्र यदोद्भूतिर्जिघृक्षा चोपजायते ।
चेत्यतेऽनुभवस्तस्य तेन च व्यपदिश्यते ॥
तस्योपकारकत्वेन वर्ततेंऽशस्तदेतरः ।
उभयोरपि संवित्योरुभयानुगमोऽस्ति तु ॥
प्रत्यक्षाद्यवतारश्च भावांशो गृह्यते यदा ।
व्यापारस्तदनुत्पत्तेरभावांशे जिघृक्षिते" ॥
[श्लो० वा० अभावप० श्लो० १२-१३-१४,१७] इति ।

न च भावांशादभिन्नत्वादभावांशस्य तद्ग्रहणे तस्यापि ग्रह इति, सदसदंशयोर्धर्म्यभेदेऽपि भेदाभ्युपगमात् । उक्तं च—

"ननु भावादभिन्नत्वात् सम्प्रयोगोऽस्ति तेन च ।
न ह्यत्यन्तमभेदोऽस्ति रूपादिवदिहापि नः ॥
धर्मयोर्भेद इष्टो हि धर्म्यभेदेऽपि नः स्थिते ।
उद्भवाभिभवात्मत्वाद् ग्रहणं चावतिष्ठते" ॥[श्लो० वा० अभावप० १९-२०] इत्यादि ।

---

१ पृ० १८६ पं० २२ टि० ११ । २ तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ४७२ पं० १४-१५ । ३ "तौ गन्ध-रसौ"-बृ० ल० टि० । ४ संस्पर्शता भा० मां० विना । "संसर्गिता"-श्लो० वा० । "ससर्गकाले"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ४७२ पं० १६ । ५ "गन्ध-रूप-रसा."-बृ० ल० टि० । ६ तत्त्वसं० का० १६७२ । ७ "संवित्त्योरुभया"—श्लो० वा० । ८ तत्त्वसं० का० १६७३ । ९ "अभावप्रमाणस्य"-बृ० ल० टि० । "व्यापारस्तदनुत्पत्ति"-श्लो० वा० । "तदनुत्पत्तिः प्रत्यक्षाद्यभाव इति-पार्थ० व्या० पृ० ४७८ । "व्यापारस्तदनुत्पत्ते"-तत्त्वसं० का० । "तदनुत्पत्तेर्व्यापारः-तेषां प्रत्यक्षादीनामनुत्पत्तेरभावस्येति यावत्"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ४७७ पं० ७ । १० जिघ्रिक्षत इति वा० वा० । "जिघृक्षिते"-श्लो० वा० । तत्त्वसं० का० । "अभावांशे ग्रहीतुमिष्टे"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ४७७ पं० ६ । ११ "अभावेन"-बृ० ल० टि० । १२-पि न स्थिते हा० वि० ।-पि नः स्थितेः मां० मां० । १३ "उत्कटत्वानुत्कटत्वात्मत्वात्"-बृ० टि० ।

"अभावोऽपि प्रमाणाभावः 'नास्ति'इत्यर्थस्यासन्निकृष्टस्य" [१-१-५ शावरभा०] इति वचनात् । अन्ये पुनरभावाख्यं प्रमाणं त्रिधा वर्णयन्ति-प्रमाणपञ्चकाभावलक्षणोऽनन्तरोक्तोऽभावः, प्रतिषिध्यमानाद् वा तदन्यज्ञानम् आत्मा वा विषयरूपेणानभिनिवृ(र्नि)वृत्तस्वभाव इति अनेन चाभावप्रमाणेन प्रदेशादौ घटादीनामभावो गम्यते । तदुक्तम्-

"प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते ।
वस्तुसत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता" ॥ [श्लो० वा० अभावप० श्लो० १]
"प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिः प्रमाणाभाव उच्यते ।
सात्मनोऽपरिणामो वा विज्ञानं वान्यवस्तुनि" ॥
[श्लो० वा० अभावप० श्लो० ११] इति ।

न च प्रत्यक्षेणैवाभावोऽवसीयते तस्याभावविषयत्वविरोधात् भावांशेनैवेन्द्रियाणां संयोगात् । तदुक्तम्-

"न तावदिन्द्रियेणैषा नास्तीत्युत्पाद्यते मतिः ।
भावांशेनैव संयोगो योग्यत्वादिन्द्रियस्य हि" ॥
[श्लो० वा० अभावप० श्लो० १८] इति ।

नाप्यनुमानेनासौ साध्यते हेत्वभावात् । न च प्रदेश एव हेतुः तस्य साध्यधर्मित्वेनाभ्युपगमात् । न चैवमपि हेतुः प्रतिज्ञार्थैकदेशताप्राप्तेः न च प्रदेशविशेषो धर्मी तत्सामान्यं हेतुः तस्य घटाभावव्यभिचारात् न हि सर्वत्र प्रदेशे घटाभावः शक्यः साधयितुं सघटस्यापि प्रदेशस्य संभवात् । अथ घटानुपलब्ध्या प्रदेशे धर्मिणि घटाभावः साध्यते, असदेतत्, साध्यसाधनयोः कस्यचित् सम्बन्धस्याभावात् । तस्मादभावोऽपि प्रमाणान्तरमेव । न चाभावस्य तद्विषयस्याभावादभावप्रमाणान्तरवैयर्थ्यम् प्रागभावादिभेदेन चतुर्विधस्य वस्तुरूपस्याभावस्य भावात् अन्यथा कारणादिविभागतो व्यवहारस्य लोकप्रतीतस्याभावप्रसङ्गात् । तदुक्तम्-

"न च स्याद् व्यवहारोऽयं कारणादिविभागतः ।
प्रागभावादिभेदेन नाभावो यदि भिद्यते" ॥ [श्लो० वा० अभावप० श्लो० ७]

अभावस्य च प्रागभावादिभेदान्यथानुपपत्तेरर्थापत्त्या वस्तुरूपताऽवसीयते । तदुक्तम्-

"न चावस्तुन एते स्युर्भेदास्तेनास्य वस्तुता ।
कार्यादीनामभावः को भावो यः कारणादि न" ॥
[श्लो० वा० अभावप० श्लो० ८] इति ।

अनुमानप्रमाणावसेया वाऽभावस्य वस्तुरूपता । यदाह-

"यद्वाऽनुवृत्तिव्यावृत्तिबुद्धिग्राह्यो यतस्त्वयम् ।
तस्माद् गवादिवद् वस्तु प्रमेयत्वाच्च गृह्यताम्" ॥
[श्लो० वा० अभावप० श्लो० ९] इति ।

---

१ "तत्र कुमारिलेन त्रिविधोऽभावो वर्णित —आत्मनोऽपरिणाम एक. पदार्थान्तरविशेषज्ञानं द्वितीय. XXX प्रमाण-निवृत्तिमात्रात्मकस्तृतीय "-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ४७१ पं० ११-१३ ।

२-नभिर्निवृत्त-भा० ।-नभिवृत्त-ल० वा० बा० । "अपरिणत-"बृ० टि० ।

"सात्मनोऽपरिणामो वा विज्ञानं वाऽन्यवस्तुनीति ।
सा-प्रत्यक्षादेरनुत्पत्ति निषेध्याभिमतघटादिपदार्थज्ञानरूपेणापरिणतं सान्यावस्थमात्मद्रव्यमुच्यते घटादिविविक्तभूतलज्ञानं वा" —तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ४७१ पं० १०-१२ ।

३-ज्ञानं चान्य-भा० मा० । "सात्मन परिणामो वा"-श्लो० वा० । तत्त्वसं० का० १६४९ पृ० ४७१ । ४ "न तावदिन्द्रियैरेषा नास्तीत्युत्पद्यते मति "-श्लो० वा० । पृ० ३५१ पं० १३ । ५ "प्रमेयतया"-बृ० ल० टि० । ६-गहा० मु० । ७ "नाभावो विद्यते यदि"-तत्त्वसं० का० १६५४ पृ० ४७२ । श्लोकवार्तिकेऽपि "नाभावो विद्यते यदि"-इति पाठान्तरं विद्यते । ८-रणादिव इ-हा० वि० ।-रणोदित इ- भा० । "योऽभाव. कारणादिन "-श्लो० वा० । "यो भाव' कारणादिना"—तत्त्वसं० का० १६५५ पृ० ४७२ । ९-"बुद्ध्योर्ग्राह्यो यत स्वयम्"-तत्त्वसं० का० १६५६ पृ० ४७३ ।

अभावश्च चतुर्धा व्यवस्थितः-प्रागभावः प्रध्वंसाभावः इतरेतराभावः अत्यन्ताभावश्चेति। तत्र—

"क्षीरे दध्यादि यन्नास्ति प्रागभावः स उच्यते॥
नास्तिता पयसो दध्नि प्रध्वंसाभावलक्षणम्।
गवि योऽश्वाद्यभावस्तु सोऽन्योन्याभाव उच्यते॥
शिरसोऽवयवा निम्ना वृद्धिकाठिन्यवर्जिताः।
शशशृङ्गादिरूपेण सोऽत्यन्ताभाव उच्यते"॥
[श्लो० वा० अभावप० श्लो० २-३-४]

यदि चैतद्व्यवस्थापकमभावाख्यं प्रमाणं न भवेत् तदा प्रतिनियतवस्तुव्यवस्था दूरोत्सारितैव स्यात्। तदुक्तम्—

"क्षीरे दधि भवेदेव दध्नि क्षीरं घटे पटः।
शशे शृङ्गं पृथिव्यादौ चैतन्यं मूर्तिरात्मनि॥
अप्सु गन्धो रसश्चाग्नौ वायौ रूपेण तौ सह।
व्योम्नि संस्पर्शता ते च न चेदस्य प्रमाणता"॥
[श्लो० वा० अभावप० श्लो० ५-६] इति।

न च निरंशभावैकरूपत्वाद् वस्तुनस्तत्स्वरूपग्राहिणाऽध्यक्षेण तस्य सर्वात्मना ग्रहणादगृहीतस्य चापरस्यासदंशस्य तत्राभावात् कथं तद्व्यवस्थापनाय प्रवर्त्तमानमभावाख्यं प्रमाणं प्रामाण्यमश्नुत इति वक्तव्यम् यतः सदसदात्मके वस्तुनि प्रत्यक्षादिना तत्र सदंशग्रहणेऽप्यगृहीतस्यासदंशस्य व्यवस्थापनाय प्रमाणाभावस्य प्रवर्तमानस्य न प्रामाण्यव्याहतिः। तदुक्तम्—

"स्वरूप-पररूपाभ्यां नित्यं सदसदात्मके।
वस्तुनि ज्ञायते किंचित् रूपं कैश्चित् कदाचन॥
यस्य यत्र यदोद्भूतिर्जिघृक्षा चोपजायते।
चेत्यतेऽनुभवस्तस्य तेन च व्यपदिश्यते॥
तस्योपकारकत्वेन वर्ततेंऽशस्तदेतरः।
उभयोरपि संवित्त्योरुभयानुगमोऽस्ति तु॥
प्रत्यक्षाद्यवतारश्च भावांशो गृह्यते यदा।
व्यापारस्तदनुत्पत्तेरभावांशे जिघृक्षित"॥
[श्लो० वा० अभावप० श्लो० १२-१३-१४,१७] इति।

न च भावांशादभिन्नत्वादभावांशस्य तद्ग्रहणे तस्यापि ग्रह इति, सदसदंशयोर्धर्म्यभेदेऽपि भेदाभ्युपगमात्। उक्तं च—

"ननु भावादभिन्नत्वात् सम्प्रयोगोऽस्ति तेन च।
न ह्यत्यन्तमभेदोऽस्ति रूपादिवदिहापि नः॥
धर्मयोर्भेद इष्टो हि धर्म्यभेदेऽपि नः स्थिते।
उद्भवाभिभवात्मत्वाद् ग्रहणं चावतिष्ठते"॥[श्लो० वा० अभावप० १९-२०] इत्यादि।

---

१ पृ० १८६ पं० २२ टि० ११। २ तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ४७२ पं० १४-१५। ३ "तौ गन्ध-रसौ"-बृ० ल० टि०। ४ संस्पर्शता भा० मा० विना। "संसर्शिता"-श्लो० वा०। "ससर्शकास्ते"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ४७२ पं० १६। ५ "गन्ध-रूप-रसाः"-बृ० ल० टि०। ६ तत्त्वसं० का० १६७२। ७ "संवित्तावुभया"—श्लो० वा०। ८ तत्त्वसं० का० १६७३। ९ "अभावप्रमाणस्य"-बृ० ल० टि०। "व्यापारस्तदनुत्पत्ति"-श्लो० वा०। "तदनुत्पत्तिः प्रत्यक्षाद्यभाव इति-पार्थ० व्या० पृ० ४७८। "व्यापारस्तदनुत्पत्ते"-तत्त्वसं० का०। "तदनुत्पत्तेर्व्यापारः-तेषां प्रत्यक्षादीनामनुत्पत्तेरभावस्येति यावत्"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ४७७ पं० ७। १० जिघ्रिक्षत इति वा० वा०। "जिघृक्षिते"-श्लो० वा०। तत्त्वसं० का०। "अभावांशे ग्रहीतुमिष्टे"-तत्त्वसं० पञ्जि० पृ० ४७७ पं० ६। ११ "अभावेन"-बृ० ल० टि०। १२-पि न स्थिते हा० वि०।-पि नः स्थितेः भां० मां०। १३ "उत्कटत्वानुत्कटत्वात्मत्वात्"-बृ० टि०।

तदेवमगृहीतप्रमेयाभावग्राहकत्वात् प्रमाणाभावस्य प्रमाणत्वम् प्रत्यक्षादिष्वनन्तर्भावात् प्रमाणान्तरत्वं च व्यवस्थितम्।

[सौगतेन मीमांसकादिमतानामुपमानादीनामप्रमाणत्वं यथायथं प्रत्यक्षानुमानयोरन्तर्भावनेन पृथक्प्रामाण्याभावं चोपपाद्य प्रमाणान्तरत्वप्रतिविधानम्]

अत्र प्रतिविधीयते-यत् तावत् शाब्दस्य त्रैरूप्यरहितत्वेन तादृग् विषयाभावाच्चानुमानानन्तर्भावप्रतिपादनमभ्यधायि तद् युक्तमेव न ह्यप्रमाणस्यानुमानेऽन्तर्भावो युक्तः। कुतः पुनः शब्दोद्भवस्य ज्ञानस्याप्रामाण्यम्? शब्दस्यार्थप्रतिबन्धाभावात् न हि शब्दोऽर्थस्य स्वभावः अत्यन्तभेदात् नापि कार्यं तेन विनापि भावात् न च तादात्म्य-तदुत्पत्तिव्यतिरिक्तः सम्बन्धो गमकत्वनिबन्धनमस्ति। न च सङ्केतबलाद् वास्तवप्रतिपत्तिशक्तियुक्तानां प्रदीपानामिवार्थप्रकाशकत्वं संभवति। न च व्यवस्थितैवार्थप्रतिपादनयोग्यता सङ्केतेन शब्दस्याभिव्यज्यत इति वक्तव्यम् पुरुषेच्छावशादन्यत्रार्थे शब्दस्य समयादप्रवृत्तिप्रसक्तेः दृश्यते च पुरुषेच्छावशादन्यत्रापि विषये शब्दानां प्रवृत्तिः। न च पुरुषेच्छावृत्तिः समयो वस्तुप्रतिबद्धः तदभावेऽपि तस्य प्रवृत्तेः। न च सङ्केतमन्तरेण शब्दस्य वस्तुप्रत्यायकत्वम् सङ्केताभावप्रसक्तेः। आप्तप्रणीतशब्दानां पुनरर्थाव्यभिचारेऽप्याप्तप्रणीतत्वानिश्चयादेवाप्रामाण्यं न पुनराप्तस्यैवासंभवात् तत्संभवबाधकप्रमाणाभावात्। ततो बाह्ये विषये शब्दानां प्रतिबन्धाभावतः प्रामाण्यमेव न संभवति पक्षधर्मत्वाद्यसंभवादनुमानत्वाभावप्रतिपादनं युक्तमेवेति स्थितम्। यत्र तु वक्त्रभिप्रायसूचने प्रामाण्यमस्य तत्रानुमानलक्षणयुक्तस्यैव नान्यादृग्भूतस्येति न प्रमाणान्तरत्वम्।

उपमानस्य त्वपूर्वार्थाधिगन्तृत्वाभावात् प्रामाण्यमेव न संभवति। नन्वस्यापूर्वार्थविषयता प्रागुपदर्शितैव सत्यमुपदर्शिता न तु युक्ता। तथाहि-तस्य विषयः सादृश्यविशिष्टो गौः तद्विशिष्टं वा सादृश्यमुपदर्शितं तच्च भूयोऽवयवसामान्ययोगलक्षणं प्रतिपादितम्। न च सामान्यं तद्योगो वा वस्तु संभवीति प्रतिपादितम् तत्सद्भावेऽपि प्रत्यक्षविषयतया परैस्तस्येष्टेः कथमुपमानस्य तद्गोचरत्वेनागृहीतार्थग्राहित्वं प्रामाण्यनिबन्धनं भवेत्? सादृश्यज्ञानस्य चोत्पत्तावयं क्रमः—पूर्वं तावद् गो-गवययोर्विषाणित्वादि सादृश्यं गवि प्रत्यक्षतः प्रतिपद्यते पश्चाद् गवयदर्शनानन्तरं 'यदेतद् विषाणित्वादि सादृश्यं पिण्डेऽस्मिन्नुपलभ्यते मया तद् गव्यप्युपलब्धम्' इति स्मरति तदनन्तरं गवि विषाणित्वादिसादृश्यप्रतिसन्धानं जायते 'अनेन पिण्डेन सदृशो गौः' इति। एवं च स्मार्तमेतद् ज्ञानं कथं प्रमाणान्तरं भवेत्? यदि च गवि प्रत्यक्षेणोभयगतं विषाणित्वादिसादृश्यं प्राग् न प्रतिपन्नं

१-तमप्र-वृ० बा० बा० विना। २ पृ० ५७४ पं० ९।

३ "वचसा प्रतिबन्धो वा को बाह्येष्वपि वस्तुषु। प्रतिपादयता तानि येनैषा स्यात् प्रमाणता॥
मिथ्याक्षग्रहणादिभ्यो नैकात्म्यं न तदुद्भव। व्यभिचाराच्च चान्यस्य युज्यतेऽव्यभिचारिता"॥
—तत्त्वस० का० १५१३-१५१४ पृ० ४४०।

४ "शब्दानाम्"—वृ० टि०। ५-भवायाद्-आ० हा० वि०। ६ "वस्त्वभावे"—वृ० टि०।

७ "यत्र त्वेषामभीष्टेयं व्यक्तं तत्र त्रिरूपता। विवक्षाया तु साध्याया त्रैलक्षण्यं प्रकाशितम्॥
एवं स्थितेऽनुमानत्वं शब्दे धूमादिवद् भवेत्। त्रैरूप्यसहितत्वेन तादृग्विषयसत्त्वत."॥
—तत्त्वस० का० १५२४-१५२५ पृ० ४४३।

८ पृ० ५७६ पं० ९। ९ पृ० ५७६ पं० ७। "भूयोवयवसामान्ययोग सादृश्यमस्ति चेत्"॥
—तत्त्वस० का० १५४३ पृ० ४४७।

१० "सामान्यानि निरस्तानि भूयस्ता तेषु सा कुत"!।—तत्त्वसं० का० १५४४ पृ० ४४७।

११ "एवं तु युज्यते तत्र गोत्वावयवैः सह। गवयावयवा केचित् तुल्यप्रत्ययहेतव॥
तत्रास्य गवये दृष्टे स्मृति समुपजायते। असकृद् दृष्टपूर्वेषु गोत्वावयवेष्वियम्॥"
—तत्त्वसं० का० १५४७-१५४८ पृ० ४४७।

१२-प्र-आ० हा० वि०।

भवेत् प्रतिपन्नमपि यदि विस्मृतं भवेत् तदा गवयदर्शने सत्यपि परोक्षगवि नैव सादृश्यज्ञानमुपजायेत । अतो विषाणित्वादिसादृश्यं पूर्वमेव गवि प्रत्यक्षेणावगतमिदानीं गवयदर्शनात् तत्रैव स्मर्यते[1] तत्र गृहीतग्रहणात् सादृश्यज्ञानं प्रमाणम् । अथ पूर्वप्रत्यक्षेण गोगतमेव सादृश्यमवगतं गवयदर्शनेन तु तद्गतमेव उभयगतसादृश्यप्रतिपत्तिस्तु गवयदर्शनानन्तरं सादृश्यज्ञाननिबन्धनेति अगृहीतग्राहितया प्रमाणमुपमानम्, असदेतत्; पूर्वमुभयगतसादृश्याप्रतिपत्तौ गवयदर्शनानन्तरमप्यप्रतिपत्तेस्तदनुसन्धानप्रतिपत्तेरप्यसंभवात् न हि गवयपिण्डदर्शनानन्तरं प्रागप्रतिपन्नतत्सादृश्येऽश्वपिण्डे 'अनेन सदृशोऽश्वः' इति प्रतिपत्तिः कदाचिदपि भवति । तस्मात् प्रागध्यक्षावगतसादृश्ये प्रतियोगिग्रहणाद् व्यवहारमात्रप्रवृत्तिरेव तदा, प्राक् तदप्रवृत्तिः प्रतियोग्यपेक्षत्वात् तस्य भ्रात्रादिव्यवहारवत् । न च तावता प्रामाण्यं युक्तम् प्रमाणानामियत्ताऽभावप्रसक्तेः । एवं च धूमदर्शनात् स्मर्यमाणाग्निसम्बन्धितयाऽध्यक्षानवगतप्रदेशे तदयोगव्यवच्छेदमवगमयन्ती प्रतिपत्तिरुपजायमानानुमितिः प्रमाणतां यथा समासादयति न तथा सादृश्यप्रतिपत्तिः गवाख्यधर्मिप्रतिपत्तिकाल एव भूयोऽवयवसामान्ययोगलक्षणस्य सादृश्यस्य प्रतिपत्तेः । तेन 'प्रत्यक्षेऽपि यथा देशे' इत्यादि वचनमयुक्ततया व्यवस्थितम् । किञ्च, यदि सादृश्यज्ञानं गृहीतग्राहित्वेऽपि व्यवहारमात्रप्रवर्तनात् प्रमाणं तर्हि वैसदृश्यज्ञानमपि सप्तमं प्रमाणं भवेत् ।

"दृश्यात् परोक्षे सादृश्यधीः प्रमाणान्तरं यदि ।
वैधर्म्यमतिरप्येवं प्रमाणं किं न सप्तमम् !" ॥ [ ]

तथा सोपानमालामाक्रामतः प्रथमाक्रान्तं पश्चादाक्रान्ताद्दीर्घं महद् ह्रस्वं चेत्याद्यनेकं प्रमाणं प्रसक्तमिति कुतः प्रमाणषङ्वादः सङ्गतो भवेत् ?

"दृश्यमानव्यपेक्षं चेद् दृष्टज्ञानं प्रमान्तरम् ।
तत्पूर्वमस्मादित्यादि प्रमाणान्तरमिष्यताम्" ॥ [ ]

अप्रामाण्ये चास्य पक्षधर्मत्वाद्यभावप्रतिपादनं सिद्धसाधनमेव अप्रमाणस्यानुमानत्वानभ्युपगमात् । यदा च प्रत्यक्षेण प्रतियन्नपि गवाश्वादौ भूयोवयवसामान्ययोगं तद्वियोगं[10] वा व्यामूढः सदृशासदृशव्यवहारं न प्रवर्तयति तदा विषयदर्शनेन विषयिणो व्यवहारस्य साधनात् त्रैरूप्यसद्भावादनुमानप्रमाणता समस्त्येव । तथाहि—गवाश्वादौ विषाणाद्यवयवसामान्ययोगस्तद्वियोगो वा प्रागुपलब्ध इदानीं स्मर्यमाण इति नासिद्धता हेतोः प्रवृत्तव्यवहारविषयश्च सर्वे पदार्थोऽत्र दृष्टान्तोऽस्तीति नान्वयव्यतिरेकयोरप्यभावः । ततो 'न चैतस्यानुमानत्वम्' इत्यादि पक्षधर्मत्वाद्यसंभवप्रतिपादनमसंगतम् व्यवहारसाधने पक्षधर्मत्वादेः प्रसाधनात्[11] ।

१–जायतेऽतो आ० हा० वि० । २ "विज्ञातार्थप्रकाशत्वात् प्रमाणमियं तत."—तत्त्वसं० का० १५५० पृ० ४४८ ।
३ "व्यवहारस्य"–बृ० टि० ।
४ "एतावता च लेशेन प्रमाणत्वव्यवस्थितौ । नेयत्ता स्यात् प्रमाणानामन्यथाऽपि प्रमाणतः" ॥
—तत्त्वसं० का० १५५६ पृ० ४४९ ।
५ पृ० ५७६ पं० १८ । ६–दृशश्चा–ल० वा० बा० ।
"गवयस्योपलम्भे च तुरगादौ प्रवर्तते । तद्वैसदृश्यविज्ञानं यत् तदन्यप्रमा न किम्" ? ॥
—तत्त्वसं० का० १५५९ पृ० ४५० ।
७ तत्त्वसंग्रहे त्वन्यथा भङ्ग्योदाहृतमस्ति—
"तद्रूपङ्क्त्यादिसदृष्टावेकपादपदर्शनात् । द्वितीयशाखिविज्ञानादायोऽसाविति निश्चयः ॥
प्रमाणान्तरमासक्तं सादृश्याद्यनपेक्षणात् । गृहीतग्रहणाच्चो चेत् समानमुपमास्वपि ॥"
—तत्त्वसं० का० १५५७–१५५८ पृ० ४५० ।
८ पृ० ५७६ पं० २५ । ९ "प्रतिपद्यमानोऽपि"—बृ० ल० टि० । १०–द्वियोगे वा ल० आ० ।–द्वियोगं त्व वि० । ११ पृ० ५७७ पं० १ । १२ मीमांसकसंमतोपमानप्रतिवादिन्येषा चर्चा उपमानस्य प्रत्यभिज्ञात्मतां स्थापयन्तीं प्रमेयकमलमार्तण्डीयां चर्चामनुसरति—प्रमेयक० पृ० ९९ द्वि० पं० ६–पृ० १०० प्र० पं० ६ ।

नैयायिकोपवर्णितमभ्युपमानमनधिगतार्थाधिगन्तृत्वाभावात् प्रमाणं न भवति । तथाहि–यथा गौस्तथा गवय इति वाक्याद् गोसदृशार्थसामान्यस्य गवयशब्दवाच्यताप्रतिपत्तेः अन्यथा विसदृशमहिष्याद्यर्थदर्शनादपि 'अयं स गवयः' इति संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिः किं न भवेत् ? तस्माद् यथा कश्चित् 'योऽङ्गदी कुण्डली छत्री स राजा' इति कुतश्चिदुपश्रुत्य अङ्गदादिमदर्थदर्शनात् 'अयं स राजा' इति प्रतिपद्यते । न चासौ प्रतिपत्तिः प्रमाणम् उपदेशवाक्यादेवाङ्गदादिमतोऽर्थस्य राजशब्दवाच्यत्वेन प्रतिपन्नत्वात् तथेहापि 'यथा गौस्तथा गवयः' इत्यतिदेशवाक्यात् सम्बन्धमवगत्य गवयदर्शनात् सङ्केतानुसरणे सति 'अयं स गवयशब्दवाच्योऽर्थः' इति प्रतिपत्तेरप्रमाणमुपमानम् । यदि पुनरतिदेशवाक्यात् सम्बन्धप्रतिपत्तिर्नाभ्युपगम्यते पश्चादपि 'अयं स गवयशब्दवाच्यः' इति प्रत्ययो न स्यात् तदपरनिमित्ताभावाद् दृश्यते च तस्माद् गृहीतग्रहणान्नेदं प्रमाणम् । अथातिदेशवाक्यात् पूर्वं गोसदृशार्थस्य गवयशब्दवाच्यता सामान्येन प्रतीता गवयदर्शनानन्तरं तु गवयविशेषस्तच्छब्दवाच्यत्वेन पूर्वमप्रतीतं प्रतिपद्यत इति न गृहीतग्राहिता, असदेतत्; सन्निहितगवयविशेषविषयस्य ज्ञानस्य प्रत्यक्षतयोपमानत्वानुपपत्तेः । गवयदर्शनोत्तरकालभावि तु 'अयं स गवयशब्दवाच्योऽर्थः' इति यद् ज्ञानं तत् प्रत्यक्षबलोत्पन्नत्वात् स्मृतिरेव न प्रमाणम् । किञ्च, गवयविशेषस्य गवयशब्दवाच्यता यद्यतिदेशवाक्यान्न प्रतिपन्ना कथं तर्हि गवयविशेषदर्शन उपजातेऽकस्मादस्य तच्छब्दवाच्यतां प्रतिपद्यते ? यस्यैवार्थस्य सम्बन्धग्रहणकाले येन सह सम्बन्धोऽनुभूतस्तस्यैवार्थस्य तेन सह सम्बन्धे तच्छब्दवाच्यता कालान्तरेऽपि दृश्यते ततः सामान्येन सङ्केतकाल एव सम्बन्धः प्रतीतः पश्चाद् गवयदर्शन उपजाते सङ्केतमनुसृत्य 'अयं स गवयशब्दवाच्योऽर्थः' इति प्रतिपद्यते इत्यभ्युपगन्तव्यम् । एतेन

"उपयुक्तोपमानस्तु तुल्यार्थग्रहणे सति ।
विशिष्टविषयत्वेन सम्बन्धं प्रतिपद्यते" ॥ [ ]

इत्यपि निरस्तम् विशेषस्य सङ्केतकालानुभूतस्य व्यवहारकालाननुगमादवाच्यत्वाच्च । यश्च शब्दप्रभवप्रतिपत्तावर्थः प्रतिभाति स एव शब्दवाच्यः न च विशेषस्तत्र प्रतिभाति अक्षज्ञान इव विशदाभासस्य तत्रासंवेदनात् संवेदने वा विकल्परूपताविरहादर्थरूपस्यैवानुकारात् तस्य च शब्दसंसर्गविकलत्वात् तत्सामर्थ्यप्रभवे च ज्ञाने असतस्तत्र शब्दस्याप्रतिभासनाच्च विशेषः शब्दवाच्यः या च 'अयमसौ गवयशब्दवाच्यः' इति विशेषस्य वाच्यताप्रतिपत्तिः सा दृश्यविकल्प(ल्प्य)योरेकीकरणाद्

१ पृ० ५७७ पं० ११ ।

२ "तत्रापि सञ्ज्ञासम्बन्धप्रतिपत्तिरनाकुला । तस्यातिदेशवाक्यस्य तदैव श्रवणे यदि ॥
तथा परिगृहीतार्थग्रहणान्न प्रमाणता । स्मृतेरिवोपमानस्य करणार्थवियोगतः" ॥
—तत्त्वसं० का० १५६४–१५६५ पृ० ४५२ ।

३–त् स योऽङ्गदी भां० मां० ।

४ "अथ सा नैव सञ्जाता तथापि प्रतिपद्यते । सोऽयं यस्य मया संज्ञा संश्रुतेति कथं तदा ॥
तथाप्यश्रुततत्संज्ञो गवयस्योपलम्भने । तन्नाम श्रुतमस्येति न ज्ञातुं कश्चन प्रभुः" ॥
—तत्त्वसं० का० १५६६–१५६७ पृ० ४५२ ।

५ इत "उपयुक्तोपमानस्तु" इति पद्यपर्यन्ता चर्चा अविद्धकर्णसमतेति कमलशील आह । तथाहि—
"अविद्धकर्णस्त्वाह—आगमात् सामान्येन प्रतिपद्यते विशेषप्रतिपत्तिस्तूपमानादिति । अतस्तन्मतमाशङ्कते ××× उपयुक्तोपमानश्चेत् तुल्यत्वग्रहणे सति । विशिष्टविषयत्वेन सम्बन्धमवगच्छति ॥
उपयुक्तमुपमानमतिदेशवाक्यं यस्य स तथोक्तः । ×××
आगमाद्धि स सम्बन्धं वेत्ति सामान्यगोचरम् । विशिष्टविषयं तं तु विजानात्युपमाश्रयात्" ॥
—तत्त्वसं० का० १५६८–१५६९ पृ० ४५२ ।
अस्य अविद्धकर्णमतस्य प्रतिविधानमपि चतसृभिः कारिकाभिः कृतं वर्तते तत्त्वसंग्रहे—का० १५७०–१५७३ पृ० ४५२–४५३ । ६ गोशब्दार्थस्य डं० । ७–जायते–भा० हा० वि० । ८ अनेन पद्येन समानभावं बिभ्राणा तत्त्वसंग्रहीया कारिका द्रष्टव्या—प्र० पृ० टि० ५ । ९ एक श–बा० भा० । १० "अर्थरूपस्य"–वृ० टि० । ११ "अर्थरूपसामर्थ्य"–वृ० टि० । १२–वाच्यो यथा यम–भा० हा० वि० ।

भ्रान्तिः अन्यथा पूर्वानुभूताकारपरामर्शेन दृश्यमानस्य 'अयमसौ गवयशब्दवाच्यः' इति प्रतिपत्तिः कथं भवेत् अतिदेशवाक्यश्रवणसमये विशेषे सम्बन्धाप्रतिपत्तेः ? प्रतिपत्त्यभ्युपगमे वा विशेषेऽपि सामान्यवत् स्मृतिरेवेति कुतः प्रामाण्यमुपमानस्य ? यदपि 'गौरिव गवयः' इति गो-गवययोरतिदेशवाक्यात् सादृश्यमात्रप्रतिपत्तिः 'संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिस्तूपमानात्' तदप्यसमीक्षिताभिधानम्, यतो गवयदर्शनानन्तरम् 'अयं स गवयशब्दवाच्यः' इति प्रतिपत्तिरुपजायते इयं च नाध्यक्षप्रतिपत्तिफलम् चक्षुरतिदेशवाक्यस्य प्रत्यक्षसंस्कारस्य वा तत्सद्भावेऽप्यस्यानुत्पत्तेर्विशेषशब्दवाच्यत्वस्याऽध्यक्षाविषयत्वानभ्युपगमाच्च। अतिदेशवाक्यसहकारिसहायस्य गवयदर्शनस्य तत्प्रतिपत्तिजनकत्वे सर्वप्रमाणमतिदेशवाक्यमेव तज्जनकमभ्युपगन्तं भवेत्र दर्शनम् न हि यत्राध्यक्षमप्रवृत्तिमत् तत्र शब्दस्मरणसहितमपि प्रवर्तते यथा चक्षुर्ज्ञानं गन्धस्मरणसहायं परिमलप्रतिपत्तौ अतिदेशवाक्याच्च सम्बन्धाप्रतिपत्तावपगम्य तत्प्रतिपत्तिनिमित्तस्याभावात् 'अयं स गवयशब्दवाच्यः' इति पूर्वानुभूतपरामर्शेन प्रतिपत्तिर्न स्यात् अपि तु 'अयं गोसदृशः' इत्येवं भवेत्। न चैतत्प्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्त्यैव प्रमाणान्तरमुपमानाख्यमेतत्प्रतिपत्तिजनकं प्रकल्पनीयम् 'यः कुण्डली स राजा' इति श्रुतातिदेशवाक्यस्य तद्दर्शनानन्तरम् 'अयं स राजशब्दवाच्यः' इति प्रतिपत्तेरप्युपमानफलत्वप्रसक्तेः। अथात्र शब्दवाच्यता अतिदेशवाक्यादेव प्रतिपन्नेति नातिप्रसक्तिस्तर्हि 'गौरिव गवयः' इत्यतिदेशवाक्याद् गोसदृशस्यार्थस्य गवयशब्दवाच्यताऽपि प्रतिपन्नेति नोपमानप्रमाणफलता 'अयं स गवयशब्दवाच्यः' इति प्रतिपत्तेः। तस्मात् स्मृतिरूपत्वादस्याः प्रतिपत्तेर्नैतस्या जनकस्य प्रमाणतेति अनुमानान्तर्भावप्रतिपादनं न दोषायेत्यलमतिविस्तरेण।

अर्थापत्तेस्तु षट्प्रकारायाः 'प्रत्यक्षादिप्रमाणप्रसिद्धोऽर्थो येन विना नोपपद्यते तस्यार्थस्य प्रकल्पनमर्थापत्तिः' इति लक्षणं नोपपत्तिमत् यतोऽग्नेर्दाहकत्वेन विनाऽग्नित्वं नोपपद्यत इति तदा दाहकत्वं परिकल्प्यते यदि तयोः कश्चित् संबन्धो भवेत् असति च तत्र सत्यप्यग्नौ दाहकत्वस्याभावः असत्यपि च भाव इति कथं दाहकत्वमन्तरेण वह्नेरभावसिद्धिरिति दाहकत्ववददाहकत्वमपि कल्पनीयं स्यात्। अतः सम्बन्धे निश्चिते सति एकमविनाभूतं सम्बन्धिनमुपलभ्य द्वितीयस्य सम्बन्धिनः प्रकल्पना युक्तिमती। एवं च प्रकल्पने अनुमानत्वमेव सम्बन्धनिश्चयपूर्वकत्वाद् एकस्माद् द्वितीयपरिकल्पनस्य कृतकत्वदर्शनपूर्वकाऽनित्यत्वानुमानवत्। सम्बन्धश्चार्थापत्तिप्रवृत्तेः प्रागेव तयोः प्रतिपत्तव्यः। एवं ह्यर्थापत्त्युत्थापकस्यार्थस्यानन्यथाभावोऽर्थापत्तेराश्रयः सिद्धो भवेत्। अथ प्रकल्प्यमानार्थानन्यथाभवनमर्थापत्त्युत्थापकस्यार्थस्य तदैव सिद्धमित्यनुमानादर्थापत्तेर्भेदः, ननु यदि तस्यानन्यथाभवनं प्रमाणान्तरात् प्रतिपन्नमर्थापत्तेराश्रयस्तदाऽनुमानेऽन्तर्भावः अथ न सिद्धं तदा नार्थापत्तिप्रवृत्तिरतिप्रसङ्गादित्युक्तम्। अथार्थापत्तिरेव प्रकल्प्यार्थानन्यथाभवनं दृष्टस्य श्रुतस्य वाऽर्थस्य प्रकल्पयति तर्हीतरेतराश्रयत्वम्-अनन्यथाभवनसिद्धौ तस्यार्थापत्तिप्रवृत्तिः तत्प्रवृत्तेश्च तस्यानन्यथाभवनप्रसिद्धिरिति व्यक्तमितरेतराश्रयत्वम्। ततस्तादात्म्य-तदुत्पत्तिप्रतिबन्धलक्षणानन्यथाभवननिश्चयमन्तरेणान्यतरः सम्बन्धी अन्यतोऽर्थादर्थापत्त्या प्रकल्पयितुं न शक्यत इत्यन्वयव्यतिरेकसिद्धिः। पक्षधर्मता त्वर्थापत्तिसमाश्रयोऽर्थो यत्र धर्मिणि प्रमाणतो निश्चीयते तत्रैव स्वप्रकल्प्यं प्रकल्पयतीति न दुरुपपादा कारण-व्यापकयोरेव प्रतिबन्धात् तयोश्चान्यत्र सद्भावे कार्य-व्याप्ययोरपरत्रासंभवात्। एवमर्थापत्तेरनुमानेऽन्तर्भावात् तल्लक्षणमनुमानलक्षणात् पृथगयुक्तम्। प्रत्यक्ष-

---

१-तानाका-आ०। २ "गवयसद्भावे"-बृ० टि०। ३ "राज"-बृ० टि०। ४ "उपमानविचार."-बृ० टि०। प्रमेयकमलमार्तण्डे नैयायिकसंमतमुपमानं प्रतिषिद्धमस्येषा चर्चा भङ्ग्यन्तरेण दृश्यते-पृ० १०० प्र० पं० ७-। ५ पृ० ५७१ पं० १-। ६-पूर्विकानि-वा० बा०।-पूर्वकानि-बृ० आ० हा० वि०। ७ "अर्थापत्तिप्रवृत्तिकाले"-बृ० टि०। ८ प्रपञ्च-वा० बा०। ९ सिद्धः त-बृ०। १०-स्य चा-वा० बा० भां० मा०।

११ "तत्र दाहकातिरेकेण न शक्तिर्नाम काचन। याऽर्थापत्त्याऽवगम्येत साऽध्यक्षा एव हि॥
दाहादीनां तु यो हेतुः पावकादिः समीक्ष्यते। असंदेहाविपर्यासं शक्तिः कान्या भवेत् ततः॥
व्यतिरेको तु कार्येषु तस्या एवोपयोगतः। भावोऽकारक एव स्यादुपयोगे न भेदिनी॥
अर्थक्रियासमर्थं हि स्वरूपं शक्तिलक्षणम्। एवमात्मा न भावोऽस्य प्रत्यक्षाद् व्यवसीयते"॥
—तत्त्वसं० का० १६०७-१६१० पृ० ४६१।

पूर्विका त्वर्थापत्तिर्योदाहृता सा प्रमाणमेव न भवति स्मृतिरूपत्वात् न हि पावकादन्यैव दाहकशक्तिर्याऽर्थापत्तिसाध्या स्यात् । वह्निस्वरूपमेव दाहादिककार्यनिर्वर्तनसमर्थं शक्तिव्यपदेशमासादयति अध्यक्षेण च तत्स्वरूपं प्रतियता तदव्यतिरिक्ता शक्तिरपि प्रतिपन्नैव न हि कारणभावादन्या भावानां शक्तिः । स च कार्यात् प्राग्भाव एव । अन्वयव्यतिरेकौ च प्रत्यक्षानुपलम्भगम्यौ तौ च विशिष्टमेव प्रत्यक्षमिति प्रत्यक्षावगतत्वाच्छक्तेर्नार्थापत्तिविषयता । न च शक्तिः शक्तादन्यैव 'अस्येयं शक्तिः' इति सम्बन्धाभावप्रसक्तेः उपकारकल्पनायामनवस्थादिदोषात् व्यतिरिक्ताऽव्यतिरिक्तशक्तिप्रकल्पनायामपि विरोधादिदूषणं प्रतिपादितमेव । तत्र प्रत्यक्षपूर्विकाया अर्थापत्तेरुदाहरणं युक्तम् । अत एव 'चतसृभिरर्थापत्तिभिः प्रत्यक्षादिप्रसिद्धस्यार्थस्य शक्तिः साध्यते' इत्ययुक्तमुक्तम् वह्निरूपादिदर्शनाद् दाहकशक्तियुक्तवस्तुसाधनेऽभ्युपगम्यमाने चार्थापत्तिरनुमानमेव भवेत् । विशिष्टरूपाद् विशिष्टस्पर्शानुमानाद् देशान्तरप्राप्त्या सवितुर्गन्तुरनुमानादनुमानपूर्विकार्थापत्तिरनुमानमेव । अर्थापत्तिपूर्विका चार्थापत्तिरनुमितानुमानम् अर्थापत्तेरनुमानेऽन्तर्भावात् । यत्तूदाहरणम्–'शब्दस्यार्थेन सम्बन्धसिद्धेरर्थान्नित्यत्वसिद्धिः' इति, तदयुक्तम्; पौरुषेयाणामपि हस्तसंज्ञादीनां सङ्केतसम्बन्धादर्थप्रतिपादनसामर्थ्योपलब्धेः । नित्यस्य क्रम-यौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात् कस्यचिद् भावस्यासंभवात् कथमर्थापत्त्या सम्बन्धस्य नित्यत्वं साध्येत? चक्षुरादिज्ञानान्यथानुपपत्त्या लोचनादिप्रतीतिस्त्वनुमानमेव । तथाहि–येषु सत्स्वपि ये कादाचित्काः परिदृश्यमानकारणव्यतिरिक्तकारणान्तरसापेक्षास्ते यथाऽङ्कुरादयोऽसमग्रसामग्रीकाः कादाचित्कं चेदं रूपालोकमनस्कारादिषु सत्स्वपि चक्षुर्ज्ञानमिति स्वभावहेतुः । न चैवं धर्म्यसिद्धिः ज्ञानस्यैव धर्मित्वात् । अत्र यत् तत्कारणं तच् चक्षुरिति व्यवह्रियते । न चैतत्प्रतिपत्तिविषयस्य चक्षुषः स्वलक्षणत्वात् कथमस्याः प्रतिपत्तेरनुमानतेति वक्तव्यम् स्वलक्षणस्य चक्षुरादेरस्यां प्रतिपत्तावप्रतिभासनात् तत्र शाक्यकवां विप्रतिपत्तिदर्शनात् तैत्सद्भावे तस्यायोगात् । उपमानस्य चाप्रमाणत्वात् तत्पूर्विकाऽर्थापत्तिः प्रमाणत्वेन दूरापास्तैव । योऽपीयमभावपूर्विकार्थापत्तिः साऽपि न प्रमाणान्तरम् । तथाहि–देवदत्तो धर्मी बहिर्भावस्तस्य साध्यो धर्मः गृहासंसृष्टजीवनं हेतुः । एवंविधस्य गृहासंसृष्टजीवनस्य साध्येन व्याप्तेः स्वात्मन्येव निश्चयादनुमानमेव । कथं पुनर्देवदत्तस्यानुपलभ्यमानस्य जीवनं सिद्धं येन हेतुर्भवेदिति चेत्, न; भवदभ्युपगमेन सिद्धमङ्गीकृत्य हेतुत्वेनोपन्यासात् परमार्थतस्तु सन्दिग्धमेव यतो युष्माभिरप्यसिद्धेनैव जीवनेन बहिर्भावः साध्यत इति समानता न्यायस्य । श्रुतार्थापत्तिरपि प्रमाणं न भवति ।

---

१ पृ० ५७५ पं० २ । २–हृश–भा० मां० विना । ३–दिक्ता–वृ० । ४–मर्थश–वृ० हा० वि० । ५–तिनियता ल० । ६–रणाभा–ल० । ७ पृ० ५७५ प० १० । ८ पृ० ५७५ पं० ४ । ९ पृ० ५७५ पं० ८ ।

१० "अनन्यत्ववियोगेऽपि शब्दानां न विरुध्यते । अर्थप्रत्यायनं यद्वत् पाणिकम्पादिकारणम्" ॥

—तत्त्वसं० का० १६३५ पृ० ४६७ ।

११–त्वादत्र यत्र यत्का–भां० मां० । १२ तैत् वृ० । अत्र न्यस्तोऽयं द्वितीयोऽङ्कः 'तत् तत्' इति वीप्सासूचको भाति ।

१३ "उपमायाः प्रमाणत्वे विस्तरेण निराकृते । अर्थापत्तेस्तदुत्थाया वारितैव प्रमाणता" ॥

—तत्त्वसं० का० १६३२ पृ० ४६७ ।

१४ पृ० ५७५ पं० ९ ।

१५ "तदापि गेहायुक्तत्वं दृष्टाऽदृष्टेर्विनिश्चितम् । अतस्तत्र बहिर्भावो लिङ्गादेवावसीयते ॥
सभना यो ह्यसंसृष्टो नियतं बहिरस्त्वसौ । गेहाङ्गणस्थितो दृष्टः पुमान् द्वारि स्थितैरिव ॥
विपक्षोऽपि भवत्यत्र सदनान्तर्गतो नव. । अर्थापत्तिरियं तस्मादनुमानान्न भिद्यते" ॥

—तत्त्वसं० का० १६४५–१६४७ पृ० ४७० ।

तथाहि-'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इत्येतद्वाक्यं स्वार्थप्रत्यायनद्वारेण रात्रिभोजनवाक्यान्तरमुपकल्पयतीत्यभ्युपगमः। न च स्वार्थमेतत् प्रतिपादयति बहिरर्थे शब्दानां प्रतिबन्धाभावतः प्रामाण्यानुपपत्तेः। अथ कुतश्चित् प्रमाणाद् दिवाभोजनप्रतिषेधे भोजनकार्यस्य पीनताविशेषस्य प्रतिपत्तिर्न तर्हि श्रुतार्थापत्तिर्भवेत् कार्यतो रात्रिभोजनकारणप्रतिपत्तेरनुमानेऽन्तर्भावात्। वाक्याद् वाक्यान्तरप्रतिपत्तिस्त्वयुक्तैव तेन सह वाक्यस्य प्रतिबन्धासंभवात् न हि दिवाभोजनप्रतिषेधवाक्यस्य रात्रिभोजनवाक्येन कश्चित् कार्यकारणभावादिकः सम्बन्धः संभवतीत्युक्तम्। तन्नार्थापत्तिः प्रमाणान्तरम्।

अभावाख्यं तु प्रमाणं त्रिप्रकारम्—'प्रमाणपञ्चकाभावः तदन्यज्ज्ञानम् आत्मा वा ज्ञानविनिर्मुक्तः' इत्युक्तम्। तत्राद्यस्य तावत् पक्षस्यासंभव एव यतः प्रमाणपञ्चकाभावो निरुपाख्यत्वान्न किञ्चित्; स कथं प्रमेयाभावं परिच्छिन्द्यात् परिच्छित्तेर्ज्ञानधर्मत्वात्? अथ प्रमाणपञ्चकाभावो वस्त्वभावविषयज्ञानं प्रमाणं जनयन्नुपचारादभावाख्यं प्रमाणमुच्यते; नन्वेवमपि प्रमाणपञ्चकाभावस्यावस्तुत्वाद् अभावज्ञानजनकत्वायोगात् प्रमाणत्वमनुपपन्नम्। तथाहि-वस्त्वेव कार्यमुत्पादयति नावस्तु तस्य सकलसामर्थ्यविकलत्वात् सामर्थ्ये वा तस्य भावरूपतामसक्तेः तथा चाभावाद् भवति ज्ञानमिति 'भावान्न भवति' इति हेतुप्रतिषेध एव तस्य कृतः स्यात् एवं च देशकालादिप्रतिनियमो न स्यात्। अपि च—

"शब्दस्य वृत्तेः सर्वत्र पञ्चानामपि न क्वचित्।
प्रमाणानामभावोऽतो नार्थाभावविनिश्चयः॥
अगृहीताच्च चाभावात् प्रमेयाभावनिर्णयः।
तद्ग्रहोऽप्यन्यतो भावादनवस्था दुरुत्तरा॥
मेयाभावात् प्रमाभावनिर्णयेऽन्योन्यसंश्रयः।
मेयाभावात् प्रमाणस्य तस्मात् तस्य विनिर्णयात्॥
अज्ञातस्यापि चाक्षस्य प्रमाहेतोः प्रमाणता।
प्रमाभावस्त्वसामर्थ्यान्नाज्ञातोऽभाववेदकः"॥ [ ]

द्वितीयपक्षे तु यत् तदन्यज्ज्ञानं प्रत्यक्षमेव तत् प्रमाणम् पर्युदासवृत्त्या च तदेवाभावप्रमाणशब्दवाच्यतामनुभवति। तथाविधेन च तेन तदन्यभावलक्षणो भावः परिच्छिद्यत एव। यत् पुनः 'इह घटो नास्ति' इति ज्ञानं तत् प्रत्यक्षसामर्थ्यप्रभवत्वात् स्मृतिरूपतामासादयन्न प्रमाणम्। तथो हि सकलत्रैलोक्यव्यावृत्तपदार्थसामर्थ्योद्भूततदाकारदर्शनानन्तरं विकल्पद्वयम् 'इदमत्रास्ति' 'इदं नास्ति' इति दर्शनसामर्थ्यभावि तद्गृहीतमेवार्थमुल्लिखदुपजायते। तत्र दर्शनमेव भावाभावयोः प्रतिपादकत्वात् प्रमाणं न तु विधिप्रतिषेधविकल्पौ गृहीतग्राहित्वात् अन्यभावलक्षणस्य भावाभावस्याध्यक्षेणैव सिद्धत्वात्। व्यवहार एवान्योपलब्ध्याऽपि साध्यते स्वयमेव वा 'नास्तीह घटः' इति विकल्पयति न च तावता प्रमाणान्तरत्वं यथादृष्टस्यैव विकल्पनात्। सकलत्रैलोक्यव्यावृत्तस्वरूपस्याध्यक्षेण ग्रहणेऽपि य एव निराकर्तुमिष्टो घटादिकोऽर्थः स एव व्यवच्छिद्यते नान्यः तेन 'न प्रत्यक्षेण घटादी-

---

१ "पीनो दिवा न भुङ्क्ते चेत्यासिवर्थे न निश्चयः। द्वेषमोहादिभिर्योगादन्यथाऽपि वदेत् पुमान्॥
अर्थगत्यनपेक्षेण यदि वाक्यान्तरं पुनः। सार्थमाक्षिप्यते तेन स्यादाक्षेपो वचोन्तरे॥
अथोपगमरूपेण तत्रार्थगतिरिष्यते। प्रमाणान्तरतो यद्वा भवत्यर्थगतिस्ततः"॥

—तत्त्वसं० का० १६२०–१६२२ पृ० ४५४।

२ "पीनताविशेषरूपात्"–वृ० टि०। ३–न्धाभावा–भां० मां०। ४ अर्थापत्तेः पृथक्प्रमाणतां [illegible] अनुमाने च तस्या अन्तर्भावं समर्थयमाना सविस्तरा चर्चा प्रमेयकमलमार्तण्डे स्याद्वादरत्नाकरे च दृश्यते—पृ० ५० [illegible] १०–पृ० ५४। पृ० २८३ पं० २२–पृ० ३०१ पं० २२ आ०।

५ अभावस्य प्रामाण्यं प्रतिक्षिपन्ती विस्तरयुता चर्चा तत्त्वसंग्रहे मार्तण्डे न्यायमञ्जर्याम् रत्नाकरे च का० १६६०—१६९१ पृ० ४७४–४८२। प्रमेयक० पृ० ५४ प्र० पं० ८–पृ० ५७ द्वि० पं० १४। [illegible] पृ० ५१ पं० १०–पृ० ५४ पं० ७। स्याद्वादर० पृ० ३१० पं० १–पृ० ३१२ पं० १० आ०। [illegible] ७–न्यज् ज्ञा–वृ० सं०। ८–न्यताभाव–वृ०। ९ "स्यात्"–वृ० टि०। १०–भर्थ्याख–[illegible]

नामभावो गृह्यते तस्याभावविषयत्वविरोधात् नाप्यनुमानेन 'हेत्वभावात्' इत्यादि यदुक्तं तन्निरस्तं द्रष्टव्यम्। तृतीयपक्षस्य पुनरसंभव एव आत्मनोऽभावात् भावेऽपि तस्य ज्ञानाभावे कथं वस्त्वभावावेदकत्वम् वेदनस्य ज्ञानधर्मत्वात् ज्ञानविनिर्मुक्तात्मनि च तस्याभावात्। अथ "चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम्" [ ] इति वचनात् तस्यैतद्रूपतेष्यते तर्हि ज्ञानविनिर्मुक्त इति न वक्तव्यम् स्वरूपहानिप्रसक्तेः पुरुषस्यैव च प्रत्यक्षादिप्रमाणत्वं भवेद् बोधरूपत्वात्। अभ्युपगम्यत एवेति चेत् तर्हि बुद्धिजन्म प्रत्यक्षमिति न वक्तव्यम्। ततः प्रमाणपञ्चकाभावो ज्ञानविनिर्मुक्तात्मलक्षणश्चाभावः प्रमाणं न भवति तदन्यज्ञानलक्षणश्चाभावः प्रत्यक्षमेवेति न प्रमाणान्तरमभावः। यच्च अभावस्य प्रागभावादिभेदतश्चातुर्विध्यं वस्तुस्वरूपत्वं च प्रतिपादितम् तदसङ्गतमेव यतः स्वस्वभावव्यवस्थितयः सर्वे एव भावा नात्मानं परेण मिश्रयन्ति तस्यापरत्वप्रसक्तेः। न चान्यतोऽव्यावृत्तस्वरूपाणामेषां भिन्नोऽभावांशः संभवति तद्भावे वा तस्यापि पररूपत्वाद् भावेन ततोऽपि व्यावर्तितव्यमित्यपराभावपरिकल्पनयाऽनवस्थाप्रसङ्गतो न कुतश्चिद् भावेन व्यावर्तितव्यमिति द्रव्यमेकं विश्वं भवेत् ततश्च सहोत्पत्त्यादिप्रसङ्गः परभावाभावाच्च व्यावर्तमानस्य भावस्य पररूपताप्रसक्तिरिति पूर्वोक्त एव दोषः। न चेतरेतराभावात्मकत्वे भावानां घटाभावात्मकात् कटाद् व्यावर्तमानः पटो यथा न घटस्तथा परभावाभावादपि निवर्तमानस्य तस्य न पररूपतेति वक्तव्यम् यतो नास्माकं घटात् पटो भिन्नः कटलक्षणाभाववशात् यतो निवर्तमानस्य ततस्तस्य घटरूपताप्रसक्तिर्भवतामिव अपि तु स्वस्वभाववशात् परस्परतो भेदमनुभवन्ति भावा इत्युक्तं प्राक् तेन स्वत एव घटाभावरूपः पटः न पुनर्वस्तुभूताभावांशवशात् येन भवतामिव ततो व्यावर्तमानस्य तस्य पररूपताप्रसक्तिर्भवेत्। स्वभावादपि परगतादस्य निवृत्तेः न पररूपतेति चेत् न, उभयतो व्यावृत्तस्यापि यथा परस्य पररूपताऽभ्युपगता तथाऽस्यापि स्यात् उभयरूपता वा स्यात् ततो निवर्तमानो भावः स्वेनैव रूपेणान्यतो निवर्तते नाभावांशवशादिति कुतोऽसत्पक्षसमानताप्रसक्तिः? यदि पुनरसदभ्युपगत एव न्यायोऽभ्युपगम्यते तदाऽसदंशप्रकल्पनमनर्थकमासज्येत। न च सदंशासदंशयोरात्यन्तिकभेदाभावान्नायं दोषः 'धर्मयोर्भेद इष्टो हि' इत्यादिवचनतस्तयोर्भेदाभ्युपगमात् आत्यन्तिकभेदस्य च परस्य क्वचिदनिष्टेः।

"सद्गुणद्रव्यरूपेण रूपाद्यैरेकतेष्यते।
स्वरूपापेक्षया चैषां परस्परं विभिन्नता" ॥ [श्लो० वा० अभावप० श्लो० २४]

इति वचनात्। एवं चात्यन्तिकस्य क्वचिदपि भेदस्याभावादभावरूपता भावानामन्योन्यं न सिद्ध्येदित्यन्योन्याभावाभाव एव। एवं कारणे कार्याभावः कार्यात् कारणाच्च भेदात् तद्द्वयादपि व्यावर्तमानोऽपरापराभाववशाद् व्यावर्तेत इत्युभयतोऽनवस्थालतां निरवसानामातनोति तथा कार्ये कारणाभावश्च। अथ कार्यादीनामभावः कारणाद्यात्मकः स्वभावेनैव कार्यादिरूपविकलतया भिद्यते ततो नान्याभाववशादेवं कार्यात्मा कारणादीनामभावोऽपि, नन्वेवं कारणादयोऽपि कार्यादिभ्यः स्वभावेनैव भेत्स्यन्त इति किमपराभावांशपरिकल्पनया? अत एव "कार्यादीनामभावः को भावो यः कारणादि न" इत्येपि सङ्गतं स्यात् कारणादेरेव स्वरूपस्य पर्युदासवृत्त्या कार्याद्यभावशब्दवाच्यत्वात् तस्य च कारणादिस्वरूपस्याभावस्य वस्तुरूपताऽस्माकमिष्टैव। प्रागभावादेश्च कारणादिभावरूपतया कारणादिविभागतो व्यवहारो लोकस्याप्येवं सिद्ध एव। अनुवृत्तिव्यावृत्तिबुद्धिग्राह्यत्वात् तत्स्वभावो गवादिर्वदित्यत्रापि हेतुरसिद्धः साधनविकलश्च दृष्टान्तः अबाधितानुवृत्तिव्यावृत्तिबुद्धिग्राह्यत्वस्य

१ पृ० ५८० पं० १०–१५। २ पृ० ३०० पं० १४ टि० ८। ३–द्रूपं तेष्य–आ० हा० वि०। ४ पृ० ५८१ पं० १ तथा पृ० ५८० पं० २०। ५ भिन्नो भा–बृ० विना०। ६ "भिन्नाभावाश"–बृ० टि०। ७–भावाभावा–वा० बा०। १०–त् स्वाभा–भा० वा० भा० मा०। ११–रस्परक–बृ० ल० विना। १२ पृ० ५८१ पं० २२। १३–स्परवि–भा० मा०। १४ पृ० ५८० पं० २६। १५ "अनुवृत्तव्यावृत्तस्वभाव"–बृ० ल० टि०। १६ पृ० ५८० पं० ३०। १७ "सौगताना गवादावप्यनुवृत्तिव्यावृत्तिबुद्धिग्राह्यत्वस्यासिद्धेः"–बृ० ल० टि०। अत्र '६–१' इत्यङ्केन 'भावस्य अभावात्' इति पाठीतरत्वस्य सूच्यते इति भाति। ८–त्मकत्वात् बृ०। ९–वादपि

कथञ्चिदप्यसिद्धेः। वस्तुनः सर्वस्य सकलसजातीयविजातीयव्यावृत्तत्वात् सामान्येन तत्साधने केशोण्डुकादिभिरनेकान्तः प्रतिबन्धाभावतः सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकश्च हेतुः कल्पनासमारोपितस्य च वस्तुत्वसाधनेऽभ्युपगमबाधः। 'प्रमेयत्वाच्च' इत्ययं पुनरनैकान्तिको हेतुः प्रसज्यरूपेणाभावेन तस्यापि प्रमाणतः कथञ्चिद्विषयीकरणात्। न च तुच्छरूपस्याभावस्याभावान्नायं दोषः यतो यदि प्रमाणतस्तस्याभावोऽवसीयते कथं न तस्य प्रमेयत्वं तस्याभावरूपतया प्रमाणेन विषयीकरणात्? अथ न प्रमाणतस्तस्य विषयीकरणं कथमप्रमाणकं वच उच्यमानं शोभेत? तुच्छरूपस्य चाभावस्यानभ्युपगमे प्रागभावादयोऽपि वस्तुरूपा अभ्युपगता न सिध्यन्ति पर्युदास एवैको नञर्थश्च स्यात् सोऽपि वा न भवेत् कस्यचिदनिवर्तनादित्युक्तं प्राक्। क्षीरादिस्वरूपश्च यदि दध्यादीनां प्रागभावादिस्तदा सिद्धसाध्यता। अथ ततो भिन्नोऽसावसदंशस्तदाऽनवस्थादिदोषतोऽयुक्त इति "क्षीरे दध्यादि यन्नास्ति" इत्यादि प्रागभावादिस्वरूपप्रतिपादनमयुक्तम्। यदपि "क्षीरे दधि भवेदेव" इत्याद्यभिधानम् तदप्यसङ्गतम् यतो, यदि नाम तत्प्रतिपादकं प्रमाणं न प्रवृत्तं तथापि कथं क्षीरादिषु दध्यादिसद्भावः तद्भावस्य कारणायत्तत्वात्? तदसत्त्वग्राहकप्रमाणाभावाद्धि तदसद्व्यवहारनिवृत्तिमात्रकमेव स्यान्न तत्र दध्यादिसद्भावः। निरंशैकभावरूपत्वे च पदार्थस्य "स्वरूप-पररूपाभ्यां नित्यम्" इत्यादि सर्वं निरस्तम्। यच्च 'यस्य यत्र यदोद्भूतिः' इत्यादि 'उद्भवाभिभवात्मत्वात्' इति च तत्र सदसदंशयोः सत्त्वेऽपि स्वत एव यद्युद्भवाभिभवौ तदा अपरनिमित्तानपेक्षणात् सर्वदैव स्याताम् न हानिसित्तस्य कस्यचित् कदाचिदुद्भवोऽपरस्य चाभिभवो युक्तः। न चैकाभिभवनिमित्तोऽपरस्योद्भवस्तदुद्भवनिमित्तो वा परस्याभिभवः इतरेतराश्रयप्रसक्तेः। अभिभवश्च स्वरूपखण्डनम् तच्च विनाशः स चाहेतुक इति नोद्भवनिमित्तोऽभिभवः विनाशस्य च सर्वसामर्थ्यविकलतया कथमभिभवनिमित्तोऽपरस्योद्भवः? न चाभिभवावस्थायामनुपलब्धस्य तस्यैवोद्भवावस्थायामुपलम्भः सिद्धो येनोद्भवाभिभवव्यवस्था भवेत्। न च प्रत्यभिज्ञानादेकत्वसिद्धेर्नायं दोषः असदर्थग्राहितया तस्य भ्रान्तत्वात्। न च धर्मिणः सर्वदाऽवस्थानात् तद्ग्राहितया प्रत्यभिज्ञानस्य नायं दोषः तस्याप्याद्यदर्शनेनोद्भूतस्वभावतयोपलभ्यमानस्य पुनरनुपलम्भपूर्वकमुपलब्धस्यानुपलम्भसमयेऽसतः—अन्यथा तदाप्युपलम्भप्रसङ्गात्—यत् प्रत्यभिज्ञानं तस्यासद्विषयतया भ्रान्तत्वानतिक्रमात्। न चावस्थाव्यतिरिक्तोऽवस्थाता सिद्धः उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य तस्यानुपलम्भात् अनुपलभ्यस्वभावत्वे वा कुतस्तस्य प्रत्यभिज्ञानम्? अव्यतिरिक्तश्चेदवस्थाविनाशे तस्यापि विनाशप्रसङ्गः अविनाशे विरुद्धधर्मसंसर्गादवस्थाभ्यस्तस्य भेदः अन्यत्रापि तस्य तन्मात्रनिबन्धनत्वात्। यथा च प्रत्यभिज्ञा न प्रमाणं तथा प्रतिपादितमेव न पुनरुच्यते। तदेवमभावस्य प्रमेयासंभवात् संभवेऽपि तस्यार्थक्रियासामर्थ्यविकलतया विज्ञानजननायोगान्न तद्ग्राहकमभावाख्यं प्रमाणं संभवतीति स्थितम्।

एतेन संयुक्तविशेषणभावादभावग्राहीन्द्रियार्थसन्निकर्षजमध्यक्षं नैयायिकप्रकल्पितमपि व्युदस्तम्। तथाहि–तत् तावदनिमित्तं न भवति कादाचित्कत्वात्। नाभावनिमित्तं तस्याजनकत्वात्। जनकत्वेऽपि तस्यानाधेयातिशयतया सहकार्यपेक्षाऽयोगात् सर्वदा तज्ज्ञानजननप्रसक्तेस्तज्ज्ञानस्यैव सद्भावो भवेत्। सहकार्याधेयातिशयत्वे वाऽभावस्य भावरूपता भवेत् विशेषप्रतिलम्भलक्षणत्वाद् भावस्य। पर्युदासरूपस्य तस्याभ्युपगमाददोषश्चेत्, न; स्वसिद्धान्तविरोधात् तथापि तथाभूतस्य तस्याभ्युपगमे प्रतिषेध्यविविक्तप्रदेशादिरूपतैव तस्याभ्युपगता भवेत् प्रदेशादिश्च प्रथमाक्षसन्निपाताद्यध्यक्षप्रतिपन्न एवेति गृहीतग्राहितया कथं तदनन्तरभाविनः स्वतन्त्रस्याध्यक्षान्तरस्य पृथक् प्रामाण्यम् अभावविषयत्वं वा भवेत्? तस्मात् प्रसज्यप्रतिषेधरूपतैवाभावस्याभ्युपगन्तव्या तस्य च तथाभूतस्य घटादिना सम्बन्धाभावात् 'घटस्याभावः' इति कथं घटविशेष्यता? घटेनाविशेषणे च 'घटो नास्ति' इति न प्रतीतिर्भवेत् अपि तु 'अभावोस्ति' इत्येवं प्रतिपत्तिः स्यात् एवं च घटस्यानिवर्तनान्न किंचित् कृतं स्यात्। न चाभावः प्रदेशादेर्विशेषणं संभवति भावाभावयोः सम्बन्धाभावात्। न तावत् तादात्म्यलक्षणस्तयोः सम्बन्धः अन्योन्यव्यवच्छेदरूपत्वात् उपकार्योपकारकभावाभावाच्च। न

१ पृ० ५८० पं० ३०। २–पस्याभावान्ना–बृ० वा० बा० हा०। ३–स्य वा–भा० मा०। ४ पृ० ५८१ पं० २। ५ पृ० ५८१ पं० १०। ६ पृ० ५८१ पं० १६। ७ पृ० ५८१ पं० २१। ८ पृ० ५८१ पं० ३३। ९–म् तर्ह्येनि–बृ० ल० श्र० बा० विना। १०–च्छेदस्व–भा० मा०।

तदुत्पत्तिलक्षणः । न चापरसम्बन्धमन्तरेण तयोर्विशेषणविशेष्यभावः सम्भवत्यतिप्रसङ्गात् । न चैतत्प्रतीतिसामर्थ्यादेवाभिप्रेतसम्बन्धप्रकल्पना प्रतीतेरन्यथापि सिद्धेः । तन्नाक्षस्य संयुक्तविशेषणभावादेतत्प्रतिपत्तिजनकत्वं युक्तम् । किञ्च, 'इह घटस्याभावः' इति स्वतन्त्रो यद्यध्यक्षप्रत्ययः कथं दर्शनानन्तरं भवेत् ? न च मानसाध्यक्षवत् स्वातन्त्र्येऽप्यानन्तर्यं भविष्यति तत्र स्वविषयानन्तरविषयसहकारित्वादेस्तदानन्तर्यनिमित्तस्य सद्भावात् अत्र च तस्यासंभवात् । तदेवं घटविविक्तप्रदेशासामर्थ्योद्भूतेनाध्यक्षेण तत्स्वरूपग्रहणे 'सघटात् प्रदेशादयमन्यः प्रदेशः' 'नायं घटवान्' 'इह घटो नास्ति' इत्यादयः प्रतिषेधविकल्पाः प्रवर्तमाना गृहीतग्राहितया स्मृतिरूपतां बिभ्राणा न ततः पृथक् प्रमाणतामासादयन्तीत्यभ्युपगन्तव्यम् अन्यथा शुक्लभावदर्शनानन्तरं 'शुक्लोऽयं भावः न नीलः' इति प्रत्ययो दर्शनात् पृथक् प्रमाणं भवेत् । एवमन्येषामपि युक्ति-संभवानुपलब्ध्यादीनां प्रमाणान्तरत्वेन परप्रकल्पितानां यथालक्षणं प्रत्यक्षानुमानयोरन्तर्भावो निराकरणं वा विधेयम् । तदेवं शब्दादीनां केषाञ्चित् प्रामाण्यमेव न सम्भवति अपरेषां त्वनयोरन्तर्भाव इत्यालोच्य न्यायविदोक्तम्—"प्रमाणस्य सतोऽत्रैवान्तर्भावाद् द्वे एव प्रमाणे" [ ] इति ।

[सौगतकृतां मीमांसकादिसम्मतप्रमाणान्तरप्रतिविधानप्रक्रियां यथासिद्धान्तं स्वीकृत्याऽपाकृत्य च सिद्धान्तिना प्रत्यक्ष-परोक्षतया प्रमाणद्वयव्यवस्थापनम्]

अत्र प्रतिविधीयते-यत् तावत् पक्षधर्मत्वादित्रिलक्षणयोगिनो हेतोः साध्यप्रतिपत्तिरनुमानमभिहितम् तत्र त्रिलक्षणस्य हेतोरविनाभावित्वं नावश्यंभावि तत्पुत्रादेस्त्रैलक्षण्येऽपि गमकत्वादर्शनात् । अथ यत्राविनाभावित्वं तत्र त्रैलक्षण्यमवश्यंभावीति हेतोस्तल्लक्षणमुच्यते, असदेतत्; 'सर्वमनेकान्तात्मकं क्षणिकं वा सत्त्वात्' इति साधयतः क्वचिदन्वयाभावेऽपि सत्त्वस्यानेकान्तात्मकत्वेन क्षणिकत्वेन वा विनाऽनुपपत्त्या गमकत्वदर्शनात् । तथा, 'परिणामी ध्वनिः क्षणिको वा श्रावणत्वात्' इत्यत्रापि न क्वचिदन्वयसद्भावः । न चानित्यत्वमन्तरेण श्रावणत्वं संभवति नित्यस्य श्रवणज्ञानजनकत्वासंभवात् यस्मिन् सत्येव यद् भवति यदभावे यन्न भवत्येव कथं न तत् तस्य गमकं भवेत् ? तथा सर्वोऽपि धूमोऽग्निमन्तरेण न कदाचित् प्रभवतीति व्याप्तिसाधने नान्वयः संभवति तदसिद्धौ च कुतोऽभिमतप्रदेशे धूमाद् अग्निनिश्चयः ? अतस्त्रिलक्षणपरिकल्पनायां व्याप्तिनिश्चयस्य सर्वत्रासंभवात् कार्य-स्वभावहेतुद्वयस्यापि गमकत्वं न स्यात् । तथा 'नास्तीह घटः उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेः' इत्यत्रापि दृष्टान्ताभावान्नान्वयः सिद्धः । न च शशशृङ्गादिको दृष्टान्तः समस्तीति वक्तव्यम् तत्रापि दृष्टान्तान्तरकल्पनायामनवस्थाप्रसक्तेः । अथ शशशृङ्गादावनुपलम्भात् प्रवर्तिताभावव्यवहारोऽपि मूढः अनुपलभ्यमानेऽपि प्रदेशविशेषे घटादौ यस्तं न प्रवर्तयति स निमित्तदर्शनात् तत्र प्रवर्त्यत इति भवत्येव शशशृङ्गादिरभावव्यवहारे साध्येऽनवस्थादोषविकलो दृष्टान्तः तत्रानुपलम्भेनाभावव्यवहारस्य प्रवृत्तासद्व्यवहारशशशृङ्गादिदृष्टान्तबलात् प्रसाधनात् प्रदेशविशेषे घटाभावस्य त्वध्यक्षसिद्धत्वात्, असदेतत्; यतो घटाभावसिद्धिर्घटाभावनिर्णय उच्यते स चेत् सिद्धः अभावव्यवहारोऽपि सिद्ध एव अभावनिर्णयव्यतिरेकेणाभावव्यवहारायोगात् । न च प्रदेशे घटाभावं निश्चिन्वानोऽपि तच्छब्दादिकं कश्चिन्न प्रवर्तयेदित्यनुपलम्भेन प्रवर्त्यत इति वाच्यम् एवं हि भावं निश्चिन्वानोऽपि कश्चित् शब्दं नोच्चारयेदिति तत्प्रवर्तनाय हेत्वन्तरं मृग्यं स्यात् ततो घटादावप्यभावस्य साधनाद्दृष्टान्तान्वेषणे तत्राप्यभावो यदि दृष्टान्तान्तरात् सिद्धस्तदा सैवानवस्था ।

१-न्धकल्प-बृ० आ० हा० वि० ।

२ युक्ति-अनुपलब्धि-सम्भव-ऐतिह्यादीनां पृथक् प्रामाण्यप्रतिक्षेपः प्रत्यक्ष-परोक्षयोश्चान्तर्भावस्तत्त्वसंग्रहे प्रतिपादितः-का० १६९२-१७०० पृ० ४८२-४८४ ।

३ प्रस्तुतचर्चया साम्यं बिभ्राणा हेतुस्वरूपप्रधाना चर्चा प्रमेयकमलमार्तण्डतोऽवबोद्धव्या—पृ० १०० द्वि० पं० १२-पृ० १०७ प्र० पं० ७ । ४ "अनित्यत्वाभावे"-बृ० टि० । ५ "श्रवणज्ञानजनकत्वम्"-बृ० टि० । ६ "महानसादेरन्वयार्थं ग्रहणे तत्रापि अपरनिदर्शनाद् व्याप्तिर्निश्चेतव्या तत्राप्यपरस्मादित्यनवस्थानादिति"-बृ० टि० । ७ "व्यवहारम्"-बृ० टि० । ८-ङ्गादेर-भा० मा० । ९-देशाव-बृ० आ० । १०-धनात् दृष्टा-बृ० सं० ।-धनदृष्टा-आ० । अत्र 'साधने' अथवा 'साधनाय' इति पाठ कल्पयितुं योग्यो भाति ।

अथ तत्र साध्याविनाभूतादनुपलम्भादेर्लिङ्गाद् दृष्टान्तान्तरमन्तरेणाप्यभावनिर्णयः शब्दादिव्यवहारस्य च प्रवृत्तिस्तर्ह्यनुपलब्ध्यावन्वयमन्तरेणापि गमकत्वमविनाभावमात्रात् कथं नाभ्युपगतं भवेत्? एतेन 'व्यतिरेकस्यान्वयेन विनाभावादगमकाङ्गता' इत्यपास्तम् तेन नेदं निरात्मकं जीवच्छरीरम् अप्राणादिमत्त्वप्रसङ्गादिति व्यतिरेक्यपि हेतुर्गमकः सिद्धः। अथ सर्वथा परोक्षस्यात्मनोऽनुपलम्भादभावासिद्धेरनात्मवत्तया घटादीनां सन्देहाद् व्यतिरेकासिद्धितोऽस्य हेतोरनैकान्तिकत्वम्; नन्वेवं कथं सत्त्वादेः क्षणिकत्वव्याप्तिसिद्धिर्यतः क्षणक्षयी ध्वनिः सिध्येत्? अथात्र विपर्यये बाधकप्रमाणबलात् सत्त्वस्य क्षणक्षयित्वेन व्याप्तिसिद्धिस्तर्ह्यत्रापि बाधकप्रमाणबलादेव निरात्मकाद् घटादेरविचलितस्वरूपादात्मनश्च प्राणादीनां निवृत्तेः सात्मकत्वेन तेषां व्याप्तिसिद्धिः किं नाभ्युपगम्यते? अथैवमपि स्वरसनिरन्वयविनश्वरबुद्धिमात्रजन्यत्वात् प्राणादेर्बुद्धिसन्तानेन व्याप्तिप्रसक्तिः, असदेतत्; बुद्धिक्षणस्य अप्राप्य स्वकार्यकालं निवृत्तेरपरबुद्धिक्षणस्य तत उत्पत्तेरसंभवात् सन्तानव्यावृत्तेः कुतस्तत्र प्राणादेर्वृत्तिः? सन्तानसद्भावेऽपि निरंशस्वभावस्य शक्तिनानात्वमन्तरेण कार्यनानात्वासंभवात् कुतश्चित्क्षणश्चित्तक्षणान्तरजनकः सन् प्राणादेरुपकारकः स्यात्? अथ कारणशक्तिभेदाभावेऽपि कार्याण्येव भिद्यन्ते कथं तर्ह्यक्षणिकतायामर्थक्रियाविरोधः सिध्येत् क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाभावात् तदभावो वा युक्तिसङ्गतः स्यात्? नित्यस्य चात्मनोऽसंभवे कथं तेन सात्मकत्वं घटादिषु सन्दिग्धं येन निरात्मकाद् घटादेः प्राणादिमत्त्वादेः सन्दिग्धो व्यतिरेको भवेत्। तस्मात् परिणाम्यात्मव्यतिरेकेण जीवच्छरीरस्य प्राणादिमत्त्वमनुपपन्नम् निरंशस्यैकपरमाणुवत् तदुपकारासंभवाच्च कूटस्थेन निरंशक्षणिकविज्ञानपरमाणुसन्ततिरूपेण चात्मना सात्मकत्वसाधने तस्येष्टविघातकृद् विरुद्धः प्राणादिमत्त्वादिर्हेतुः प्रसज्यते।

अथ साध्याभावे सर्वत्र साधनाभावो व्यतिरेकः साधनसद्भावेऽपि साध्यसद्भावाभावे व्यतिरेक एव न भवेत् साधनाभावेन साध्याभावस्याव्याप्तत्वात् य एव च साध्यसद्भाव एव साधनसद्भावः स एवान्वयः स च दृष्टान्तधर्मिणमन्तरेणापि साध्यधर्मिण्यपि विपर्यये बाधकप्रमाणबलान्निश्चीयमानः कथमसन्? न चैवं पक्षत्वेनेच्छाव्यवस्थितलक्षणेन तत्र पारमार्थिकस्य सपक्षत्वस्य बाधा-अन्यथा साध्यधर्मिण्येव हेतुः अविद्यमानसाध्यधर्मे वर्तमानो विरुद्धः स्यात्-इति तत्रं तद्युक्त एव वर्तमानः कथं न सपक्षवृत्तिः? इति यत्र व्यतिरेकसद्भावस्तत्रावश्यमन्वयः यत्र चासौ तत्रावश्यंभावी व्यतिरेक इति नैकसद्भावे द्वितीयस्याभावः; नन्वेवमपि 'श्व उदेष्यति सविता अद्यतनादित्योदयात्' 'जाता समुद्रवृद्धिः शशाङ्कोदयदर्शनात्' इत्यादिप्रयोगेषु हेतोः पक्षधर्मत्वाभावेऽपि गमकत्वोपलब्धेर्न पक्षधर्मत्वं तल्लक्षणम् अथात्रापि कालस्य देशस्य वा तावतः पक्षत्वमिति पक्षधर्मता, न; कालस्याकाशस्य च पक्षत्वेन सौगतस्यानिष्टेः। अथापि भूतसंक्षोभादिलक्षणः कालः आकाशं वा पक्षत्वेनाभ्युपगम्यत एवेति नापक्षधर्मता, न; लोकस्य साध्यान्यथानुपपन्नहेतुप्रदर्शनमात्रादेव पक्षधर्मत्वाद्यनुसरणमन्तरेणापि साध्यप्रतिपत्तिदर्शनात् त्रैलक्षण्यस्य तत्र सतोऽप्यकिञ्चित्करत्वात्। न च सौगताभ्युपगमेन हेतोः पक्षधर्मता सम्भवति सामान्यस्यावस्तुतयाऽभ्युपगतस्य हेतुत्वे शशशृङ्गादेरिव पक्षधर्मताऽसम्भवात् स्वलक्षणस्य च हेतुत्वे पक्ष एव हेतुरिति नैतद्धर्मो हेतुः अभेदे धर्मिधर्मभावस्यानुपपत्तेः स्वलक्षणस्य चान्यत्रानुगमाभावान्नान्वयसिद्धिः अतद्रूपपरावृत्तस्य तस्य हेतुत्वेऽपि स्वलक्षणपक्षभावी दोषस्तदवस्थ एव अतद्रूपपरावृत्तेः स्वलक्षणादव्यतिरेकात् व्यतिरेके अनुगतत्वे पारमार्थिकत्वे च सामान्यस्य भङ्ग्यन्तरेण हेतुत्वमभ्युपगतं भवेत् कल्पनाविरचितस्य हेतुत्वे

१-श्च प्रमाणादी-ल० आ० हा० वि०। २ "प्राणादीनाम्"-वृ० ल० टि०। ३ "सोत्साह"-वृ० ल० टि०। ४-रसैनिर-वृ०। ३-१ इत्यङ्कौ तृतीयातत्पुरुषसूचकौ भातः। ५ तत् उ-भां० मां० विना। ६-तश्चित्तत्क्षणान्त-वृ० ल० बा० बा० विना। ७ घटादेः सोत्साह प्राणादि-आ० हा० वि०। अत्र "सोत्साह" इति तृतीयटिप्पनकं पाठे प्रविष्टं भाति। घटादेः वृ०। अङ्कौ पञ्चम्येकवचनसूचकौ बोद्धव्यौ। ८-मत्त्वादेः वृ०। षष्ठ्येकवचनसूचकावङ्कौ ज्ञातव्यौ।। ९-धनाऽस-वा० बा०।-धनास-भां० मां०। १०-यै वा वा-वृ० आ० विना। ११ "साध्यधर्मिणि साध्यधर्मः"-वृ० टि०। १२ "हेतु"-वृ० टि०। १३ "आलोकसंज्ञकम्"-वृ० ल० टि०। १४-न्यस्य च-वा० बा०। १५-देरेव भां० मां०।

कुतः पक्षधर्मता ? कल्पनायाः परमार्थतो वस्त्वसंस्पर्शादित्युक्तं प्राक् । न च परपक्षे पक्षधर्मत्वं संभवति पक्षलक्षणस्यैवासंभवात् । "जिज्ञासितविशेषो धर्मी पक्षः" [न्यायवि० २,८] इति तल्लक्षणं चेत् नैतत् यतो न तावत् शब्दे वादी अनित्यत्वं जिज्ञासितुमर्हति स्वनिश्चयवदन्येषां निश्चयोत्पादनाय तेन साधनप्रयोगात् । नापि प्रतिवादी, प्रतिपक्षप्रसाधनाय वादिकसाधनप्रतिघाताय च तस्य प्रवृत्तेः । नापि प्राश्निकाः तेषां विदितवेद्यतया तत्र जिज्ञासाऽसंभवात् । स्वार्थानुमाने च हेतोर्लक्षणं न कथञ्चित् तद्युक्तितः स्वयमेव तत्र जिज्ञासनात् । एतेन "प्रतिपिपादयिषितविशेषो धर्मी" [ ] इत्यपि लक्षणं प्रतिविहितम् यदर्थमनुमानमुपन्यस्तं तेन तत्र जिज्ञास्यविशेषो धर्मी पक्ष इति चेत्, न; हेतावपि समर्थनात् प्राग् जिज्ञासनीयविशेषत्वात् पक्षत्वप्राप्तेः । साध्यत्वेन बुभुत्सितविशेषो धर्मी पक्ष इति चेत्, न, बुभुत्सितग्रहणस्यानर्थकत्वात् । साध्यविशेषो धर्मीति चेत् तथापि न किञ्चिद्विशेषग्रहणेन धर्मिग्रहणेन वा प्रयोजनमिति न पक्षलक्षणं परोदितमनवद्यम् । तस्माद् यदन्तरेण यन्नोपपद्यते तत् साधनमितरच्च साध्यमित्येतावदेव पक्षादिलक्षणमनवद्यम् । "स्वरूपेणैव निर्देश्य" [ ] इत्यादिकमपि पक्षलक्षणमेकान्तवादिनोऽसङ्गतम् धर्मिधर्मभावस्यैकान्तवादे कथंचिदप्यनुपपत्तेरित्यसकृत् प्रतिपादनात् । तदेवं त्रैलक्षण्यस्यासंभवात् संभवेऽपि सति साध्याविनाभावित्वमात्रेणैव हेतोर्गमकत्वान्न किञ्चित् पक्षधर्मत्वादिना रूपान्तरेणेति । तथाहि–न क्वचित् धूमसत्ताग्निविनाभाविनीति सिद्धमविनाभावित्वम् तत्सिद्धौ च सत्यपि पक्षधर्मादिवचने तथैव गमकत्वम् न हि वास्तवं रूपं साध्याविनाभावित्वलक्षणं हेतोरुपलभ्यमानं पक्षधर्मत्वादिवचनेऽवचने वा स्वसाध्यं न साधयति न हि वस्तुबलायातां स्वसाध्यप्रतिपादनशक्तिं लिङ्गं पक्षधर्मत्वादिवचनादवचनाद् वा मुञ्चति वस्तुशक्तीनां वचनादव्यावृत्तेः । अथ त्रैलक्षण्यमपि हेतोः संभवतीति तदपि लक्षणत्वेन प्रकल्प्यते सत्यं संभवति किन्तु अविनाभावित्वेनैव हेतोः गमकत्वं सिद्धं न किञ्चित्तल्लक्षणवचनेन । तथाहि–यद्रूपानुवादेन हेतोः स्वरूपं लक्ष्यते तदेव लक्षणत्वेनानुवदितव्यमित्यविनाभावित्वरूपानुवादमात्रेण हेतुलक्षणस्य परिसमाप्तेर्न पक्षधर्मत्वादि विधेयमनुवदितव्यं वा लक्षणत्वेन । न च तत् तत्र संभवतीति लक्षणत्वेन वाच्यम् तथाभ्युपगमे अबाधितविषयत्वमपि तादृग्विधे हेतौ संभवतीति लक्षणान्तरत्वेन वचनीयं स्यात् । अथाविनाभावित्वं सदपि पक्षधर्मत्वाद्यभावेऽगमकम्, न, व्याहतत्वात् । तथाहि–अविनाभावित्वं स्वसाध्येन विना तस्यासंभव उच्यते अगमकत्वं तु विनापि साध्यं संभवस्तस्यैवेति कथं नान्योन्यविरुद्धयोर्व्याहतिः ? अथ धर्मिणोऽन्यत्राविनाभावित्वं तस्य न पुनर्विवादाधिकरणे धर्मिणीति न पक्षधर्मत्वाद्यभावे तस्य गमकत्वम् तत् किमयं तपस्वी विवादाधिकरणो(णं) धर्मी षण्ढमुद्वाह्य पुत्रं मृग्यते । तथाहि–अन्यत्र तदविनाभावित्वम् विवादाधिकरणे तु तन्नास्तीति कथमन्यस्तद्व्याप्युच्यते ? न च धर्मः केवलो यदा हेतुस्तदा स केवलो न संभवतीति न तावन्मात्रस्याविनाभावित्वमिति यतो धर्ममात्रवचनेऽपि साधारस्यैवाविनाभावित्वम् यथा कृतकत्वमनित्यत्वमन्तरेणानुपपद्यमानं कृतकत्ववत्स्वेव भावेषु व्यवतिष्ठते न ह्यन्यत्र तत्कृतकत्वं नाप्यविनाभावीति कृतकत्वस्याविनाभावित्वमाक्षिप्तधर्मिस्वरूपमेवेति सामर्थ्यसिद्धम् । तेन नावश्यं तत्सत्त्ववचनेन विधातव्यं धर्मोपरक्तधर्मिणि पृथक्पक्षधर्मत्ववचनमन्तरेणाप्यन्यथानुपपन्नत्वं कृतकस्यार्थस्य स्वरूपं ज्ञानानस्तदुपलभमान[12] एव[13] तदविनाभाविनमपरं स्वभावं झगित्यवगच्छति यतो नानेन पूर्वमन्यथानुपपत्तिरूपनिश्चयसमयेऽन्यत्र व्यवस्थितो धूमोऽन्यत्र व्यवस्थितेन वह्निना विनाऽनुपपन्न इत्यविना-

---

१ "अनुमेयोऽत्र जिज्ञासितविशेषो धर्मी" इति न्यायबिन्दुसूत्रस्यांशरूपं वचनमेतद् बोध्यम् ।

२ "स्वनिश्चयवदन्येषां निश्चयोत्पादनं बुधैः । परार्थं मानमाख्यातं वाक्यं तदुपचारतः" ॥–न्यायावता० श्लो० १० ।

३ अत्र 'जिज्ञासितुमर्हति' इति पूर्वोक्तमध्याहार्यम् । ४–स्वसा–वृ० ।

५ "अन्यथाऽनुपपन्नत्वं हेतोर्लक्षणमीरितम् । तदप्रतीतिसन्देहविपर्यासैस्तदाभता" ॥–न्यायवता० श्लो० २२ ।

६ "अन्यथानुपपद्यमानत्वम्"–वृ० टि० । लिङ्गम् वृ० । १–१ इत्यङ्काभ्यां प्रथमैकवचनं सूचितमस्ति । ७–रणाद्य–भा० हा० वि० । ८–रणे ध–भा० वा० । ९ एतत्समानो न्यायो अकिकन्यायाजलावयं वर्तते–"षण्ढकमुद्वाह्य सुरधांयाः पुत्रप्रार्थनम्"–भा० २ पृ० ४६ । तत्रास्य न्यायस्य उपयोगस्थलान्यपि दर्शितानि सन्ति ।

१० "पक्षधर्म"–वृ० टि० । ११–धर्म कृ–भा० मा० । १२ जानाति न स्त–भा० । जानीमस्त–वृ० । ज्ञानमस्त–आ० हा० वि० । १३–लभ्यमा–भां० मा० आ० हा० वि० ।

भावः प्रतीतः नाऽपि तयोस्तथाविधः प्रतिबन्धः न च प्रदेशव्यवस्थितं धूममुपलभमानोऽवश्यंतया 'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राऽग्निः' इति 'तथा चेह धूमः' इति परामृश्य 'अग्निमान्' इति प्रत्येति किन्तु परिज्ञाताविनाभावो 'धूमदर्शनानन्तरं प्रदेशेऽग्निरत्र' इति प्राक्तनानुभवदार्ढ्यात् स्मरति 'असत्यत्र वह्नौ धूम एव न स्यात्' इति लिङ्गरूपानुस्मरणं प्रकृतस्मरणस्य तथाभावमन्तरेणाभावप्रदर्शनार्थम् ।

अथात्राऽप्यन्यथानुपपन्नं स्वरूपं हेतोः क्वचिदनेन निश्चेतव्यम् यत्र च तन्निश्चीयते स सपक्षः पुनस्तथाविधरूपवेदिनां यत्रासौ हेतुस्तत्रैव ततो हेतोस्तदन्यप्रतिपत्तिरिति पक्षधर्मान्वयव्यतिरेकवलादेव हेतुर्गमक इति, नैतत् सारम्; यतोऽविनाभावित्वरूपेणैव सपक्षे सत्त्वमत्राक्षिप्तमिति न रूपान्तरम् । तथाहि–अविनाभावित्वं रूपं ज्ञातं सद् गमकमिति तत् क्वचिद् ज्ञातव्यम् तेन तद्रूपपरिज्ञानोपायत्वात् तद्रूपं सदविनाभावित्वमेवैकं हेतो रूपं विधीयमानं स्वात्मन्यन्तर्भावयति ज्ञेयसत्ताया ज्ञानसत्तानिवन्धनत्वात् ज्ञानं यथा न पृथग्रूपं तथा क्वचित् सपक्षे सत्त्वमप्यपश्यतः तदविनाभाविरूपग्रहणाभाव इति तदेवैकं रूपं विधीयमानमन्यत् सर्वमाक्षिपतीति न तस्माद्धेतोरन्यद्रूपं युक्तम् । अथ तैर्विना तदेवैकं रूपं हेतोर्न ज्ञायत इति रूपान्तरं कल्प्यते तर्हि न केवलं सपक्षे सत्त्वं विना तद्रूपं न ज्ञायते किन्तु बुद्धीन्द्रियादिकमपि विना तन्न ज्ञायते इति तेषामपि तद्रूपताप्रसक्तिः । अत एव "अपक्षधर्मस्यापि हेतोर्गमकत्वे चाक्षुपत्वमपि शब्दे नित्यत्वस्य गमकं स्यात्" [ ] इति परोक्तमपास्तम् यतश्चाक्षुपमनित्यत्वाविनाभावि शब्दश्चाक्षुपो न भवतीति कुतोऽत्र दोषावकाशः ? यदपि 'यदि धूमोऽग्न्यविनाभावित्वमात्रादग्निं गमयेत् महाम्बुराशौ किं न गमयेत् ?' इति चोद्यम् तदप्यसङ्गतम् यतो नान्यदेशो धूमोऽम्भोनिधिपावकाविनाभावी सिद्धः तद्देशसाध्याविनाभावित्वात् तस्य । अत एव यद्यप्यन्यदेशस्थो हेतुर्नान्यदेशस्थसाध्याविनाभावी तथाप्यपक्षधर्मोऽसौ गमको न भवतीत्यस्यार्थस्य ज्ञापनार्थं पृथक् पक्षधर्मत्ववचनं लक्षणे विधेयमिति न वक्तव्यम् साध्यान्यथानुपपन्नत्वैकरूपप्रतिपत्तेरेव तदर्थस्य लब्धत्वात् । एतेन 'न स त्रिविधाद्धेतोरन्यत्रास्तीति अत्रैव नियत उच्यते' इत्यपि निरस्तम् यथोक्तप्रकारेण साध्याविनाभावित्वस्यैव त्रित्वव्यापकत्वात् तद्विकलस्य तस्य विधर्मानस्याप्यकिञ्चित्करत्वात् किञ्चित्करत्वेऽप्यविनाभावित्वैकरूपनिर्णयनिमित्ततया दृष्टान्तादिवद् हेत्वनङ्गत्वात् । स्वभावकार्यानुपलम्भकल्पनामन्तरेणाप्यन्यथानुपपत्तिमात्राद्धेतोर्गमकत्वोपपत्तेर्नाविनाभावः त्रिसंख्येन हेतुना व्याप्तः । तथाहि–वृक्षाच्छायानुमानं लोके प्रसिद्धम् न च वृक्षस्य छायाकार्यं सहभावित्वात्, नापि स्वभावः स्वभावभेदोपलब्धेः । एतेन तुलादेर्नमनाद् उन्नामाद्यनुमानं चिन्तितम् 'परभागवान् इन्दुः अर्वाग्भागवत्त्वात् घटादिवत्' इत्यत्रापि न तादात्म्यं तदुत्पत्तिर्वा पराभ्युपगमेन संभवति ऊर्ध्वभागवतामधोभागवतां च परमाणूनां स्वभावभेदात् सहभावाच्च । एकसामग्र्यधीनताप्रतिबन्धकल्पनायां रूपादे रसादेरिवानुमानं कारणात् कार्यानुमानं प्रसक्तम् । तथाहि–समानकालभाविनो रूपादेर्यद् रसतोऽनुमानं तत् तत्कारणाद् रूपजनकादनुमितादनुमानम् । न च समानकालभावि रूपजनकत्वानुमानं रसहेतोरेतदिति हेतुधर्मानुमानम् कारणात् कार्यानुमानेऽप्येवं दोषाभावात् । न चात्रैवं लोकप्रतीत्यभावदोषः हेतुधर्मानुमानेऽपि लोकप्रतीतेरभावात् । तथाहि–तथाविधरसोपलम्भात् तत्समानकालं तथाविधं रूपम् अर्वाग्भागदर्शनाच्च परभागं लोकः प्रतिपद्यते न पुनर्विशिष्टं कारणम् । अथाप्रतिबद्धादेकतोऽन्यप्रतिपत्त्यावतिप्रसङ्गः, न; अविनाभूतादन्यतोऽन्यप्रतिपत्त्यभ्युपगमात् । अथ प्रतिबन्धमन्तरेणान्यस्यान्याविनाभाव एव कुतः ? ननु प्रतिबन्धोऽप्यपरप्रतिबन्धमन्तरेणान्यस्यान्येन कुतः ? अथ प्रतिबन्धोऽपि न वास्तवः प्रतिबद्धयोरन्यः किन्तु कारणानन्तरमपरस्य कार्याभिमतस्य भावो वस्तुस्वरूपमेवं तच्च पूर्वोत्तरवस्तुस्वरूपग्राहिप्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यां निश्चीयते तन्निश्चयनमेव कार्यकारणभावप्रतिबन्धनिश्चयनम् । नन्वेवं प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यामन्येनान्य-

---

१–भावप्र–बृ० आ० हा० वि० । २ "अविनाभावः"–बृ० टि० । ३–त्रान्य–भा० मां० । ४ "साध्य"–बृ० टि० । ५ कल्पते मा० वि० । ६ शब्दनित्य–वा० बा० । ७ "पक्षधर्मत्व"–बृ० टि० । ८ स द्विवि–बृ० । "अविनाभावः"–बृ० टि० । ९ पृ० ५५८, पं० ३०–३१ तथा पृ० ५५६ टि० पं० १५ । १० "पक्षधर्मादे."–बृ० टि० । ११ "सहभाविनो(नो.) कार्यकारणभावाभावात् तत्र च तद्भावादिति"–बृ० टि० । १२–मन्तेभाग–बृ० विना । १३ "रसकारणात्"–बृ० टि० । १४–च तं सतस्या तच्च आ० हा० ।–च स तं सतस्या तच्च वि० । अत्र किमपि टिप्पणमन्तः प्रविष्टमाभाति । १५ पूर्वोक्त व–बृ० । इदं पाठान्तरं न मूललेखकेन लिखितं किन्तु तावति रिक्ते स्थाने पश्चात् केनचित् पूरितमिति लिपिभेदाद् मषीभेदाच्च स्पष्टं ज्ञायते । १६–रणाभा–आ० हा० वि० ।

स्याविनाभावित्वनिश्चयेऽपि न दोषः। अथैकदान्येनान्यस्याविनाभावित्वदर्शनेऽपि सर्वदा सर्वत्रानयोरेवमेव भाव इति न दर्शनादर्शनाभ्यां निश्चेतुं शक्यम् प्रतिबन्धग्रहणे तु नायं दोषः कर्पूरोर्णादीन्धनस्वभावानुकारिधूमस्वरूपग्राहिणा विशिष्टाध्यक्षेण सकृदपि प्रवृत्तेनाग्निधूमयोः कार्यकारणभावनिश्चयात् 'सर्वदाऽनग्निव्यावृत्ताग्निजन्योऽधूमव्यावृत्तो धूमः' इति निश्चीयते अन्यथाऽन्यदैकदाप्यग्नेर्धूमस्योत्पादो न भवेत् अहेतोः सकृदप्यभावात् भावे वा निर्हेतुकताप्रसक्तेः। तदुक्तम्-'कार्यं धूमो हुतभुजः कार्यधर्मानुवृत्तितः' इत्यादि अयुक्तमेतत् परपक्षे कार्यधर्मानुवृत्तेरेवायोगात्। एकदेशेन कार्यधर्मानुवृत्तावनेकान्तवादप्रसक्तेः सर्वात्मना तदनुवृत्तौ कार्यस्य कारणरूपतापत्तेः कार्यकारणभावाभावप्रसङ्गात् इत्युक्तत्वात्। किञ्च, सर्वदा सर्वत्राग्निजन्यो धूम इति न प्रत्यक्षमनुपलम्भसहायमपीयतो व्यापारान् कर्तुं समर्थम् सन्निहितविषयबलोत्पत्तेरविचारकत्वाच्च। तत्पृष्ठभाविनोऽपि विकल्पस्य नात्रार्थे सामर्थ्यम् तदर्थविषयतया तस्य गृहीतग्राहित्वेनाप्रामाण्याभ्युपगमात्। अनुमानमपि नैवं प्रतिबन्धग्राहकम् अनवस्थेतरेतराश्रयदोषप्रसक्तेः। न च भवत्पक्षेऽप्यविनाभावित्वग्रहणे हेतोरयं समानो दोषः यतोऽन्यथानुपपन्नैकलक्षणो हेतुरित्यस्माकं हेतुलक्षणम् अन्यथानुपपन्नत्वं च तादात्म्यतदुत्पत्त्योः पूर्ववत्-शेषवत्-सामान्यतोदृष्टमित्येषां च तथैकार्थसमवायि-संयोगि-समवायीत्यादीनां च तथा वीतमवीतं वीतावीतं चेत्यादीनां च सर्वहेतूनां व्यापकम् सति गमकत्वे सर्वेषामप्येषां साध्याविनाभावित्वात् तद्विकलानां च गमकत्वायोगात्, तस्य च ग्राहकमूहः प्रत्यक्षानुपलम्भप्रभवः प्रमाणम् तत्राविसंवादकत्वादनक्षजत्वाल्लिङ्गजत्वाच्च स्वार्थाध्यवसायरूपं मतिनिबन्धनमस्माकम(कम्) प्रमाणान्तरं परैः प्रमाणान्तरत्वेनावश्यमभ्युपगन्तव्यम् अन्यथा व्याप्तिग्राहकप्रमाणाभावतोऽनुमानस्याप्यप्रवृत्तिप्रसक्तेः। अत एवानुमानं प्रमाणमभ्युपगच्छता 'प्रत्यक्षमनुमानं चेति द्वे एव प्रमाणे' इति न वक्तव्यम् अनुमानाभ्युपगमे यथोक्तन्यायेन प्रमाणान्तरस्याप्यापत्तेः। यदपि 'गोत्वाद् विषाणी' इत्यादौ 'समुदायव्यवस्थायाः कारणं समुदायिनः' इत्यभिहितम् तत्रापि व्यवस्था यदि शब्दात्मिका अथ विकल्पात्मिकाभ्युपगम्यते उभयथाऽपि नार्थेन प्रतिबन्धासिद्धिः अतो न कार्यहेतुर्गमकः नापि स्वभावहेतुरविनाभाववैकल्ये इति स्थितम् 'उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य' इत्यनुपलब्धौ विशेषणोपादानं चानर्थकम् परचैतन्य-भूत-ग्रहादीनामदृश्यानामपि क्वचिदभावसिद्धेर्दाहादिव्यवहारदर्शनात्। यदि पुनरनुपलब्धिलक्षणप्राप्तानुपलब्धेरभावो न सिध्येत् नेदं निरात्मकं जीवच्छरीरम् अप्राणादिमत्त्वप्रसङ्गात्' इत्यत्र प्रयोगेऽदृश्यानुपलम्भादभावासिद्धेर्घटादीनां नैरात्म्यासिद्धितो 'यत् सत् तत् सर्वं क्षणिकम्' इति व्याप्तेः साकल्येनासिद्धौ प्रकृतोऽपि क्षणभङ्गो भावानां न सिद्धिमासादयेत्। यथा च तादात्म्यतदुत्पत्तिलक्षणप्रतिबन्धग्रहणं परपक्षे न संभवति तथा असकृत् प्रतिपादितम् तेन 'त्रिसंख्यहेतुव्यतिरिक्तेषु तथाविधप्रतिबन्धाभावादविनाभावस्य हेतुत्वव्यापकस्याभावाद्धेत्वाभासत्वम्' इति यदुक्तं तन्निरस्तं द्रष्टव्यम् यथोक्तप्रतिबन्धेन त्रित्वस्याविनाभावस्य चाव्याप्तेः उक्तन्यायेन तेनैव तयोर्व्याप्तेः। अतः 'संयोग्यादिषु येष्वस्ति प्रतिबन्धो न तादृशः' इत्यादि सर्वमयुक्ततया व्यवस्थितम्। यथोक्तहेतुप्रभवस्य च साध्यनिश्चयस्यानुमानत्वेऽन्यतः सम्बन्धात् सामान्याकारेण प्रतिपत्तिरनुमानमित्यादि प्रमाणान्तरस्य तत्रान्तर्भावप्रतिपादनमयुक्तम् यथोक्तन्यायात्। शब्दस्य चाप्तप्रणीतत्वेन सामान्यविशेषात्मकबाह्यार्थविषयस्य यथा प्रमाणान्तरत्वं तथा प्राक् प्रतिपादितम्। अर्थापत्तेश्च प्रमाणत्वेनानुमानेऽन्तर्भावनं सिद्धसाधनमेव। अभावस्य च पृथक्प्रामाण्यप्रतिपादनमस्माकमभीष्टमेव सदसदात्मकवस्तुतत्त्वग्राहिणाऽध्यक्षेण यथाक्षयोपशमं भावांशवदऽभावांशस्यापि ग्रहणात्। केवलं क्वचिदुपसर्जनीकृतसदंशस्य प्रधानतयाऽसदंशस्य ग्रहणं क्वचिच्च विपर्ययेण। न च सदंशासदंशयोरे-

---

१-वृत्त्याग्नि-वृ० भा० हा० वि०। २ पृ० ५६१ पं० १८ टि० ३। "प्रथार्थे तु-स भवंस्तदभावेऽपि हेतुमत्तां विलङ्घयेत् ॥"-वृ० टि०। स सर्वस्तदभावेऽपि हेतुमत्तां विलङ्घयेत्। इति अपरार्धम् ॥-ल० टि०। ३-दीनां स-वृ० भा० हा० वि०। ४ ऊहस्य परोक्षप्रमाणभेदत्वेन समर्थनं प्रमेयकमलमार्तण्ड-स्याद्वादरत्नाकराभ्यामवसेयम्—पृ० १०० द्वि० प० ४-११। पृ० ५०० पं० ६-पृ० ५१६ पं० १५ आ०। ५-त्वाल्लिङ्ग-भा० हा० वि०। ६ स्वार्थाध्यवसा-वृ०। स्वार्थव्यवसा-भा० हा० वि०। ७-सिद्धे-दौ-वा० बा०। ८-रात्म्यसि-वा० बा० भा० मा० विना। ९-स्य चाव्या-वा० बा०। १० पृ० ५५९ प० ११ तथा पृ० ५५७ टि० पं० २। ११-अत्र प्रामाण्यमनुमा-वृ०। १२-नमभाव-वृ०।

कान्तेन भेदोऽभेदो वा उभयात्मकतया जात्यन्तररूपस्य वस्तुनो विरोधादिदोषविकलस्य साधितत्वात्। तेनैकान्तभेदाभेदपक्षावाश्रित्यानवस्थादि सकलमेवं दूषणजातमनास्पदम् अध्यक्षप्रमाणप्रसिद्धे सदसदात्मके वस्तुनि सर्वस्य दूषणत्वेनाभिहितस्य तदाभासत्वात्। उपमानादेरप्यविसंवादकस्य प्रमाणत्वे सर्वस्य परोक्षेऽन्तर्भावात् अन्यसंख्याव्युदासेन प्रत्यक्षं परोक्षं चेति द्वे एव प्रमाणे अभ्युपगन्तव्ये अन्यथा तत्संख्यानवस्थितेः।

[मुख्यवृत्त्या संव्यवहारेण च परोक्षप्रमाणस्य स्वरूपविभजनम्]

किं पुनरिदं परोक्षम्? अविशदमविसंवादि ज्ञानं परोक्षम्। तेन—

"मुख्यसंव्यवहारेण संवादि विशदं मतम्।
ज्ञानमध्यक्षमन्यद्धि परोक्षमिति संग्रहः"॥ [ ] इति।
"यद् यथैवाविसंवादि प्रमाणं तत् तथा मतम्।
विसंवाद्यप्रमाणं च तदध्यक्ष-परोक्षयोः"॥ [ ]

तिमिराद्युपप्लुतं ज्ञानं चन्द्रादावविसंवादकत्वात् प्रमाणम् तत्संख्यादौ तदेव विसंवादकत्वादप्रमाणं प्रमाणेतरव्यवस्थायास्तल्लक्षणत्वात् यतो ज्ञानं यदंप्यनुकरोति तत्र न प्रमाणमेव समारोपव्यवच्छेदापेक्षत्वात् अन्यथा दृष्टे प्रमाणान्तरवृत्तिर्न स्यात् कृतस्य करणायोगात् तदेकान्तहानेः कथंचित् करणानिष्टेः तदस्य विसंवादोऽप्यवस्तुनिर्भासाच्चन्द्रादिवस्तुनिर्भासादविसंवादोऽपीत्येकस्यैव ज्ञानस्य यत्राविसंवादस्तत्र प्रमाणता इतरत्र तदाभासतेति प्राक् प्रतिपादितत्वान्न पुनरुच्यते। स्थितमेतत् प्रत्यक्षं परोक्षं च द्वे एव प्रमाणे।

अत्र च मति-श्रुताऽवधि-मनःपर्याय-केवलज्ञानानां मध्ये मति-श्रुते मुख्यतः परोक्षं प्रमाणम्। अवधि-मनःपर्याय-केवलानि तु प्रत्यक्षं प्रमाणम्। तदुक्तं वाचकमुख्येन

"मति-श्रुताऽवधि-मनःपर्याय-केवलानि ज्ञानम्"।
"तत् प्रमाणे"।
"आद्ये परोक्षम्"।
"प्रत्यक्षमन्यत्"। [तत्त्वार्थ० १-९,१०,११,१२]

अस्य च सूत्रसमूहस्य व्याख्या गन्धहस्तिप्रभृतिभिर्विहितेति न प्रदर्श्यते। परोक्षप्रमाणता च मतेर्मुख्यवृत्त्याऽत्र प्रदर्शिता। संव्यवहारतस्तु विशदरूपस्य मतिभेदस्य प्रत्यक्षताऽभ्युपगतैव॥१॥

---

१ एतत्पद्यगतो भावः श्रीसमन्तभद्रेण "तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते"[-आप्तमी० श्लो० १०१] इति कारिकांशेन प्रतिपिपादयिषितः, स एव च भट्टारकाकलङ्केन अष्टशत्यां स्पष्टीकृत। तद्यथा—

"बुद्धेरनेकान्तात् येनाकारेण तत्त्वपरिच्छेदस्तदपेक्षया प्रामाण्यमिति तेन प्रत्यक्षतदाभासयोरपि प्रायशः संकीर्णप्रामाण्येतरस्थितिरुन्नेतव्या प्रसिद्धानुपहतेन्द्रियदृष्टेरपि चन्द्रार्कादिषु देशप्रत्यासत्त्याद्यभूताकारावभासनात् तथोपहताक्षादेरपि संख्यादिविसंवादेऽपि चन्द्रादिस्वभावतत्त्वोपलम्भात् तत्प्रकर्षापेक्षया व्यपदेशव्यवस्था गन्धद्रव्यादिवत्। तथानुमानादेरपि कथंचिन्मिथ्याप्रतिभासेऽपि तत्त्वप्रतिपत्त्यैव प्रामाण्यम्"—अष्टश० अष्टस० पृ० २७६ पं० १५-। २-क्षयोः॥ अस्ति तैमि-मां०।-क्षयोः॥ अस्ति तिमि-मां०। ३-दप्युपक-भा० मा०। ४ "मति-श्रुते"-चू० टि०।

[दर्शनविषयीभूतस्य प्रमेयस्य न विशेषाकारेण शून्यत्वम् न वा ज्ञानविषयीभूतस्य सामान्याकारेण इति निरूपणम्]

सामान्यविशेषात्मके च प्रमाणप्रमेयरूपे वस्तुतत्त्वे व्यवस्थिते द्रव्यास्तिकस्यालोचनमात्रं विशेषाकारत्यागि दर्शनं यत् तत् सत्यम् इतरस्य तु विशेषाकारं सामान्याकाररहितं यद् ज्ञानं तदेव पारमार्थिकमभिप्रेतम् 'प्रत्येकमेषोऽर्थपर्यायः' इति वचनात् । प्रमाणं तु द्रव्यपर्यायौ दर्शन-ज्ञानस्वरूपावन्योन्याविनिर्भागवर्तिनाविति दर्शयन्नाह—

दव्वट्ठिओ वि होऊण दंसणे पज्जवट्ठिओ होइ ।
उवसमियाईभावं पडुच्च णाणे उ विवरीयं ॥ २ ॥

अस्यास्तात्पर्यार्थः—दर्शनेऽपि विशेषांशो न निवृत्तः नापि ज्ञाने सामान्यांश इति ।

द्रव्यास्तिकोऽपि इति आत्मा द्रव्यार्थरूपः स भूत्वा दर्शने सामान्यात्मके स ह्यात्मा चेतनालोकमात्रस्वभावो भूत्वा तदैव पर्यायास्तिको विशेषाकारोऽपि भवति । यदा हि विशेषरूपतयाऽऽत्मा संपद्यते तदा सामान्यस्वभावमपरित्यजन्नेव विशेषाकारश्च विशेषावगमस्वभावं ज्ञानं दर्शने सामान्यपर्यालोचने प्रवृत्तोऽप्युपात्तज्ञानाकारः न हि विशिष्टेन रूपेण विना सामान्यं संभवति । एतदेवाह—औपशमिकादिभावं प्रतीत्य इति औपशमिक-क्षायिक-क्षायोपशमिकादीन् भावान् अपेक्ष्य विशेषरूपत्वेन ज्ञानस्वभावाद् वैपरीत्यं सामान्यरूपतां प्रतिपद्यते विशेषरूपः सन् स एव सामान्यरूपोऽपि भवति न ह्यस्ति सामान्यं विशेषविकलं वस्तुत्वात् शिवकादिविकलमृत्स्ववत् विशेषा वा सामान्यविकला न सन्ति असामान्यत्वात् मृत्स्वरहितशिवकादिवत् ॥ २ ॥

[उपयोगस्वाभाव्यादेव छाद्मस्थिकयोर्ज्ञान-दर्शनयोः क्रमवर्तित्वम् न पुनः केवलिगतयोस्तयोः सहवर्तित्वात् इति प्रतिपादनम्]

अत्र च सामान्यविशेषात्मके प्रमेयवस्तुनि तद्ग्राहि प्रमाणमपि दर्शनज्ञानरूपं तथापि छद्मस्थोपयोगस्वाभाव्यात् कदाचिद् ज्ञानोपसर्जनो दर्शनोपयोगः कदाचित्तु दर्शनोपसर्जनो ज्ञानोपयोग इति क्रमेण दर्शनज्ञानोपयोगौ क्षायिके तु ज्ञानदर्शने युगपद्वर्तिनी इति दर्शयन्नाह सूरिः—

मणपज्जवणाणंतो[3] णाणस्स य दरिसणस्स य विसेसो ।
केवलणाणं पुण दंसणं ति णाणं ति य समाणं ॥ ३ ॥

मनःपर्यायज्ञानमन्तः पर्यवसानं यस्य विश्लेषस्य स तथोक्तः ज्ञानस्य च दर्शनस्य च विश्लेषः पृथग्भावः मत्यादिषु चतुर्षु ज्ञानदर्शनोपयोगौ क्रमेण भवत इति यावत् । तथाहि—चक्षुरचक्षुरवधिज्ञानानि चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनेभ्यः पृथक्कालानि छद्मस्थोपयोगात्मकज्ञानत्वात् श्रुत-मनःपर्यायज्ञानवत् वाक्यार्थविशेषविषयं श्रुतज्ञानम् मनोद्रव्यविशेषालम्बनं च मनःपर्यायज्ञानम् एतद्द्वयमपि अदर्शनस्वभावं मत्यवधिज्ञानदर्शनोपयोगाद् भिन्नकालं सिद्धम् । केवलज्ञानं पुनः केवलाख्यो बोधः दर्शनमिति वा ज्ञानमिति वा यत् केवलं तत् समानं समानकालं द्वयमपि युगपदेवेति भावः । तथाहि—एककालौ केवलिगतज्ञानदर्शनोपयोगौ तथाभूतप्रतिहताविर्भूततत्स्वभावत्वात् तथाभूतादित्यप्रकाशतापाविव यदैव केवली जानाति तदैव पश्यतीति सूरेरभिप्रायः ॥ ३ ॥

---

१ पृ० ४५७ गा० १ पं० १०, ११ । २ "आत्मा न केवलं पर्यायार्थिक"—वृ० टि० । ३-णाणंतो बृ० ।

[केवलज्ञान-दर्शनयोः सहभावित्वे विप्रतिपद्यमानानां केषांचिन्मतस्य साधिक्षेपं निर्देशः]

अयं चागमविरोधीति केषांचिन्मतमुपदर्शयन्नाह—

केई भणंति "जइया जाणइ तइया ण पासइ जिणो"त्ति।
सुत्तमवलंबमाणा तित्थयरासायणाऽभीरू ॥ ४ ॥

---

१ "जिनभद्रक्षमाश्रमणादीनाम्"-ल० टि०।

२ प्रस्तुतां केवलज्ञान-केवलदर्शनोपयोगचर्चां तुलनादृष्ट्या ऐतिहासिकदृष्ट्या चाभ्यसितुं जैनेतरदर्शनगतां सर्वज्ञत्वमीमांसां पूर्वं संक्षेपेणात्र पक्षप्रतिपक्षविभागपुरस्सरमुपन्यस्य अनन्तरं जैनदर्शनगता सा किञ्चिद् विस्तरतः प्रदर्शयितुमभिप्रेता।

तथाहि—प्रथमं तावत् भारतीयदर्शनेषु सर्वज्ञत्वसम्भवासम्भवविषयावेव द्वौ पक्षौ स्तः। चार्वाका जैमिनीयाश्च सर्वज्ञत्वासम्भवपक्षग्राहिणः [मीमा०१-१-२ शाबरभा० तथा श्लो० वा० श्लो० ११२ प्रभृति, मीमां०१-१-४ शाबरभा० श्लो० वा० श्लो० २६] तदितरे च सर्वे दार्शनिकाः सर्वज्ञत्वसम्भवपक्षग्राहिणः सन्ति।

सर्वज्ञत्वसम्भवपक्षग्राहिष्वपि केचिदीश्वरवादिनः केचिच्चानीश्वरवादिनः। तत्र ईश्वरवादिनो वैशेषिक-नैयायिक-पातञ्जलौपनिषदाः अनीश्वरवादिनश्च साङ्ख्य-बौद्ध-जैनाः।

ईश्वरवादिन ईश्वरे अनाद्यनन्तं-नित्यं-सर्वज्ञत्वं मन्यमानाः योगप्रकर्षपराकाष्ठाप्राप्तेषु केषुचिद् जीवात्मस्वपि सादि-सान्तं-अनित्यं-सर्वज्ञत्वं स्वीकुर्वते [कन्दली पृ० ५६ पं० २४, प्रशस्तपा० पृ० १८७ पं० ७ तथा कन्दली पृ० १९५ पं० १९। न्यायद० ४-१-२१ वात्स्या० भा० न्यायवा० न्यायवा० ता० टी०। न्यायमञ० आ० २ पृ० १०३ पं० १९ तथा आ० ३ पृ० २०० पं० २८। योगद० १-२५, ३-४९, ५५ ४-३१ भा० टी०। ब्रह्मसू० १-१-३,४,५,२-१-१, १४,२-१-१८ शाङ्करभा० भा०। श्रीभा०।] परन्तु अनीश्वरवादिनः केषुचिद् योगिमूर्धन्येष्वेव जीवात्मसु सर्वज्ञत्वमभ्युपगच्छन्ति-["बुद्धानां हि सा भगवतां सर्वप्रकारे गोचरः सर्वाकारसर्वज्ञेयज्ञानाविघातादिति"—का० २२ विज्ञप्तिमात्र० सू० पृ० ११ पं० ४। "क्लेशा हि मोक्षप्राप्तेरावरणमिति अतस्तेषु प्रहीणेषु मोक्षोऽधिगम्यते ज्ञेयावरणमपि सर्वस्मिन् ज्ञेये ज्ञानप्रवृत्तिप्रतिबन्धभूतम् ××× तस्मिन् प्रहीणे सर्वाकारे ज्ञेयेऽसक्तमप्रतिहतं च ज्ञानं प्रवर्तत इत्यतः सर्वज्ञत्वमधिगम्यते" —का० १ त्रिंशिकाविज्ञ० भा० पृ० १५ पं० ८-११।

"अचित्तोऽनुपलम्भोऽसौ ज्ञानं लोकोत्तर च तत्"। का० २९ त्रिंशिकाविज्ञ०।

"आद्यस्य क्लेशबीजम् इतरस्य द्वयावरणबीजम् तदुद्घातात् सर्वज्ञतावाप्तिर्भवतीति"—का० २९ त्रिंशिकाविज्ञ० भा० पृ० ४४ पं० १७-१८]

अत्र मुख्यतया द्वौ विशेषौ ज्ञातव्यौ तत्र प्रथमो नित्यानित्यत्वविषयकः यथा साङ्ख्यसम्मतं सर्वज्ञत्वं जन्यत्वेन सादिकं देहादिपर्यन्तस्थायित्वेन च सान्तं बोद्धव्यम् जैनसम्मतं तु सार्वज्ञ्यं सादिकमपि प्रवाहरूपेणाविनश्वरत्वाद् विदेहावस्थायामपि सदा सत्त्वेन अनन्तं बोद्धव्यम्।

द्वितीयश्च स्वरूपविषयो विशेषः स चायम्—वैशेषिकादिसकलजैनेतरदर्शनसम्मतमैश्वरीयमनीश्वरीयं वा सार्वज्ञ्यं सामान्य-विशेषतद्वत् सकलत्रैकालिकगोचरमेकविधमेव। जैनसम्मतं तु सार्वज्ञ्यं सामान्यविशेषात्मकसकलत्रैकालिकवस्तुगोचरं सदपि गौणप्रधानभावेन सामान्यावगाहितया विशेषावगाहितया च भिद्यमानं केवलज्ञानकेवलदर्शनसंज्ञाद्वयेन व्यपदिश्यते।

तत्र जैनवादिनः सर्वेपि सर्वज्ञत्वं सर्वदर्शित्वं च निर्विवादमभ्युपगच्छन्तोऽपि तदीये स्वरूपे विप्रतिपद्यन्ते—केचित् केवलज्ञान-केवलदर्शनयोः क्रमं समर्थयन्ते। केचित् तयोर्यौगपद्यं व्यवस्थापयन्ति। केचिच्च तयोरैक्यं प्रस्थापयन्ति।

'अमी त्रयोऽपि पक्षाः श्वेताम्बरीयवाङ्मयेषु चर्चिता' लभ्यावकाशाश्च दृश्यन्ते। दिगम्बरीयवाङ्मयेषु तु द्वितीय एव पक्षश्चर्चितो लब्धप्रतिष्ठश्चावेक्ष्यते।

इमे त्रयोपि पक्षाः विशेषणवत्याम्, विशेषावश्यकभाष्ये, नन्दिसूत्रचूर्ण्याम् [लिं० लिं० पृ० ८-९] हरिभद्रीयायाम् [वा० लिं० पृ० २१-] मलयगिरीयायां च नन्दिसूत्रवृत्तौ, [पृ० १३४ द्वि०-पृ० १३८ द्वि०] धर्मसङ्ग्रहण्याम्, तत्त्वार्थभाष्यवृत्तौ [पृ० ११० पं० १४] प्रज्ञापनावृत्तौ [पृ० ५३१ प्र० पं० ९—पृ० ५३३ प्र०] ज्ञानबिन्दौ [पृ० १५४ पं० ४] च सविस्तर दृश्यन्ते।

अत्रोद्ध्रियमाणाः सर्वा अपि गाथा विशेषणवत्यन्तर्गता अवबोद्धव्याः तासु या या विशेषावश्यकभाष्य-नन्दिसूत्रचूर्णि-नन्दिसूत्रलघुवृत्ति-धर्मसंग्रहणी-नन्दिसूत्रमलयगिरिवृत्तिषु आगताः तास्तत्र तत्र तत्तद्ग्रन्थनाम्ना सूचिताः। यच्च गाथा-विवरणप्रभृति विशेषावश्यकभाष्यादिषु अधिकमुपयोगि च वर्तते तदपि तत्र तत्र टिप्पण्यां समुपन्यस्तम्—

“[1]केइं भणंति जुगवं जाणइ पासइ य केवली नियमा। अण्णे एगंतरिअं इच्छंति सुओवएसेणं ॥ १८४ ॥
—नन्दि० चू० । नन्दि० ल० । धर्मसं० गा० १३३६ । नन्दि० म० ।

[2]अण्णे ण चेव वीसुं दंसणमिच्छंति जिणवरिंदस्स । जं चिय केवलणाणं त चिय से दरिसण बिंति ॥ १८५ ॥
—नन्दि० चू० । नन्दि० ल० । धर्मसं० गा० १३३७ । नन्दि० म० ।

[3]जह किर खीणावरणे देसण्णाणाण संभवो ण जिणे । उभयावरणाईए तह केवलदंसणस्सावि ॥ १८६ ॥
—नन्दि० चू० । नन्दि० ल० । धर्मसं० गा० १३५२ । नन्दि० म० ।

[4]देसण्णाणोवरमे जह केवलणाणसंभवो भणिओ । देसद्दंसणविगमे तह केवलदंसणं होइ ॥ १८७ ॥
—नन्दि० चू० । नन्दि० ल० । धर्मसं० गा० १३५३ । नन्दि० म० ।

अह देसणाणदंसणविगमे तुह केवलं मयं णाणं । न मयं केवलदंसणमिच्छामेत्तं णणु तवेयं ॥ १८८ ॥
—नन्दि० चू० । नन्दि० ल० । धर्मसं० गा० १३५४ । नन्दि० म० ।

देसण्णाणाभावो जह अकसिणविसयलिंगलिंगित्ता । जुत्तो जिणम्मि एवं ण उ केवलदंसणाभावो ॥१८९॥
अहवा ण चेव देसण्णाणाभावो जिणम्मि किं कज्जं ? । जाणइ जेण जिणंदो तेसिं विसए अपरिसेसे ॥१९०॥
तह वि य ण पचणाणी भण्णइ समयम्मि मा हु होज्जाहि । केवलणाणाकसिणप्पसंगदोसो जिणंदस्स ॥१९१॥
पुण्णे महातलागे णत्थि पमुत्त तदतवत्तीणं । कह सेसतलागाणं जिणम्मि तह सेसणाणाणं ॥१९२॥
अहवा जह संताण वि गह-ताराईण दिणकरब्भुदए । न पुहुत्तमेवमण्णणाणाण केवलब्भुदए ॥१९३॥
अहवा खओवसमियत्तणेण छउमत्थभाववत्तीणि । केवलणाणं खइयं जेण जिणे(ऽ)संभवो तस्स ॥ १९४ ॥
केवलदंसणमेवं छउमत्थे णत्थि तं जओ खइयं । जइ तं नत्थि जिणम्मि वि तो कत्थ तयं गहेयव्वं ? ॥१९५॥
छउमत्थम्मि जिणम्मि य जं णत्थी सव्वहेव त णत्थि । सिद्धं च चउवियप्पं च दंसणं सासणे बहुसो ॥१९६॥
आह ण उ सव्वसो च्चिय केवलिणो णत्थि दंसणं किंतु । णाणं ति दंसणं ति य एक्कं चिय केवलं तस्स ॥१९७॥
जइ एगत्तं दोण्ह वि तो एगयरोवओगया जुत्ता । इहरा फुडमण्णत्त पुणरुत्त णिरत्थया वा वि ॥ १९८ ॥
[5]पत्तेयावरणत्तं कह वा बारसविहोवओगत्तं ? । सागाराणागार सिद्धाण लक्खणं कह णु ? ॥१९९॥
—विशेषा० भा० गा० ३०९३ पूर्वार्धम् ।

---

१ “इत्थ केवलणाणदंसणोवयोगेहिं बहुधा समयसमावं आयबुद्धीए पकप्पिता इमं भणंति”—नन्दि० चू० ।

“इह च केवलज्ञानदर्शनोपयोगचिन्तायां क्रमोपयोगादौ सूरीणामनेकविधा विप्रतिपत्तिरतः संक्षेपतो विनेयजनानुग्रहाय तत्प्रदर्शनार्थं क्रियत इति । तत्र”—नन्दि० ल० ।

२ “गाथाद्वयम् अस्य व्याख्या—केचन सिद्धसेनाचार्यादयो भणन्ति किम् ? युगपदेकस्मिन्नेव काले जानाति पश्यति चेत्येक केवली नत्वन्यं नियमान्नियमेन । अन्ये जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणप्रभृतय एकान्तरितं जानाति पश्यति चेत्येवमिच्छन्ति श्रुतोपदेशेन यथा श्रुतानुगमानुसारेणेत्यर्थः । अन्ये तु वृद्धाचार्याः न नैव पृथक् पृथग्दर्शनमिच्छन्ति जिनवरेन्द्रस्य केवलिन इत्यर्थः किं तर्हि यदेव केवलज्ञानं तदेव से तस्य केवलिनो दर्शनं ब्रुवते क्षीणावरणस्य देशज्ञानाभावात् केवलदर्शनाभावादिति भावना । अयं गाथाद्वयार्थः”—नन्दि० ल० ।

३ “जे भणंति केवलणाणदंसणाण एगत्तं ते इमं हेउजुत्तिं भणंति”—नन्दि० चू० ।

“अधुना ये केवलज्ञानदर्शनाभेदवादिनस्तन्मतमुपन्यस्यन्नाह”—नन्दि० ल० ।

४ “एम वे हेउजुत्तं तहा अत्थं ण संसहइ त्ति हेउत्तरहेउजुत्तीए चेव भणंति जा (?) वा संसहइ तहा उत्तरहेउजुत्तीए चेव भणंति ।

देसण्णाणोवरमे जह केवलणाणसंभवो भणितो । देसद्दंसणविगमे तह केवलदंसणं होइ” ॥—नन्दि० चू० ।

“सिद्धान्तगाथाह”—नन्दि० ल० ।

५ इतो गाथा उपरि यथलाद् या या या अधिका गाथा विशेषावश्यकभाष्ये विद्यन्ते ता सर्वा अपि अत्र निर्दिष्टाः—

“भण्णाओ लद्धीओ न सागरोवओगलाभाओ । तेणेह सिद्धलद्धी उप्पज्जइ तदुवउत्तस्स ॥
एवं च गम्मइ धुवं तरतमजोगोवओगया तस्स । जुगवोवओगभावे सागरविसेसणमजुत्तं ॥
अहव मई सव्व चिय सागारं से तओ अदोसो त्ति । नाणं ति दंसणं ति य न विसेसो तं च नो जम्हा ॥
सागारमनागारं लक्खणमेयं ति भणियमिह चेव । तह नाण-दंसणाइं समए वीसुं पसिद्धाइं ॥
नाणं पंचवियप्पं चउव्विहं दंसणं कत्तो ?” । गा० ३०८९-३०९३ ।
भणियमिहेव य केवलनाणुवउत्ता मुणंति सव्वं ति । पासंति सव्वउ त्ति य केवलदिट्ठीहिणंताहिं ॥ गा० ३०९४ ।

णाणस्स जाणिअव्वे विसओ अह दंसणस्स दट्ठव्वे। जुत्तं तो इहरा पुण लक्खणवेहम्मसावण्णं ॥२००॥
अह वा जइ णाणेण वि दीसइ णज्जइ य दंसणेणावि। एवं खु णाणदंसणपरूवणा कप्पणामेत्तं ॥२०१॥
एवं च सेसदंसणणाणाण वि णाम पत्तमेगत्तं। सिद्धाणि अ पत्तेअं दंसणणाणाणि समयम्मि ॥२०२॥
कह वा जिणेण भणियं दोण्णि अहं नाणदंसणट्ठाए। सोमिलपुच्छाए जइ दंसणणाणमेगत्तं ॥२०३॥
आह जओ च्चिय जीवाणण्णाइं तेण तेसिमेगत्तं। भण्णइ तो सेसाण वि णाणाणं पत्तमेगत्तं ॥ २०४ ॥
ताइं पि जीवभावाणण्णाइं जे य सेसया भावा। अण्णोण्णलिंगभिण्णा खओवसमिआदओ पंच ॥ २०५ ॥
सइ जीवाणण्णत्ते णाणत्तं तव मयं अहो तेसिं। ण मयं केवलदंसणणाणाणं एव मिच्छा ते ॥ २०६ ॥
जह जीवाणन्नाणं नाणत्तं सेसभावमेयाण। तह जीवाणण्णाण णाणत्तं केवलाणं पि ॥ २०७ ॥
अह भणियं च जिणमए जाणइ पासइ य केवलण्णाणी। ण वि दसण त्ति तम्हा णाणं च्चिय दंसणं तस्स ॥२०८॥
भण्णइ जहोहिणाणी जाणइ पासइ य भासियं सुत्ते। ण य णाम ओहिदंसणणाणेगत्तं तह इमं पि ॥२०९॥
—नन्दि० चू०। नन्दि० ल०। धर्मस गा० १३५५। नन्दि० म०।

जं पासइ त्ति भणियं तम्हा तं दंसणेण घेत्तव्वं। जेण विसेसियमेअं पण्णवणदसाइसुत्तेसु ॥२१०॥
खीणे पंचविहम्मि वि णाणावरणम्मि जाणइ जयं ति। पासइ य दंसणावरणविप्पणासम्मि सव्वण्णू ॥२११॥
मइणाणाणत्थंतरभूयस्स वि चक्खुदंसणस्सेह। जह दंसणोवयारो जुत्तो तह केवलस्सावि ॥२१२॥
भण्णइ चक्खुदंसणमइनाणत्तमिह कालमेयकयं। जं जत्थ दंसण तत्थ णत्थि कालम्मि णाणं तु ॥२१३॥
जइ वा जुगवं चक्खुदंसणमइणाणविसयया होज्जा। तो जुगवं छउमत्थे वि होज्ज उवओगदुगमेवं ॥२१४॥
तम्हा अचक्खुदंसणमिह दंसणमिट्ठमुग्गहेहाओ। सव्वत्थ अवाओ धारणा य सुद्धं मईणाणं ॥२१५॥
आह किमोग्गहमेत्तं ण दंसणं होइ सेसयं णाणं। भण्णइ एगसमइओ जमोग्गहो णोवओगो उ ॥२१६॥
अंतोमुहुत्तमेत्तं उवओगो णियमिओ जओ सुत्ते। तम्हा दंसणकालो सिद्धो फुडमोग्गहेहातो ॥२१७।
जह सेसणाणदंसणणाणत्तं तह जिणम्मि किमणिट्ठं?। णाणत्तं केवलणाणदंसणाणं सलक्खणओ ॥२१८॥
णाणं वत्तं दंसणमव्वत्तं भणइ देसियं समए। तो णाणदंसणाणं जिणम्मि सविसेसणं जुत्तं ॥२१९॥
भण्णइ केवलदंसणमव्वत्तं जेण होज्ज को हेऊ?। जइ नाणाओ अन्नं वत्तं च हवेज्ज को दोसो? ॥२२०॥
जह सव्वं विण्णेयं णाणेण जिणोऽमलं विजाणेइ। तह दंसणेण पासइ णिययावरणक्खए सव्वं ॥२२१॥
जेसिमणिट्ठं दंसणमण्णं णाणा हि जिणवरिंदस्स। तेसिं न पासइ जिणो सविसयणिययं जओ णाणं ॥२२२॥

आह पिहभावम्मि वि उवउत्ता दंसणे य णाणे य। भणियं तो जुगवं सो णणु भणियमिणं पि तं सुणसु ॥
गा० ३०९५।

अह सव्वस्सेव न केवलिस्स दो किंतु कासइ हवेज्ज। सो य जिणो सिद्धो वा तं च न सिद्धाहिगाराओ ॥
गा० ३०९७।

अहवा पुव्वद्धेण व सिद्धमिओ त्ति किंथ बिइएणं। इत्तो च्चिय पच्छद्धे वि गम्मई सव्वपडिसेहो ॥ गा० ३०९८।
तो कहमिहेव भणियं उवउत्ता दंसणे य नाणे य?। समुदायवयणमेयं उभयनिसेहो य पत्तेयं ॥ गा० ३०९९।
जमपज्जंताइं केवलाइं तेणोभओवओगो त्ति। भण्णइ नायं नियमो सतं तेणोवओगो त्ति ॥ गा० ३१००।
एगयराणुवउत्ते तदसव्वन्नुदरिसणत्तण न तं च। भण्णइ छउमत्थस्सवि समाणमेगन्तरे सव्वं ॥ गा० ३१०३।
अह जम्मि नोवउत्तो तं नत्थि तओ न दंसणाइविगो। अत्थि जुगवोवओगो त्ति होउ साहू कहं विगलो? ॥
गा० ३१०६।

आह भणियं नणु सुए केवलिणो केवलोवओगेण। पढम त्ति तेण गम्मइ सओवओगोभयं तेसिं ॥
गा० ३१०८।

उवओगग्गहणाओ इह केवलनाणदंसणग्गहणं। अह तदणत्थंतरया हवेज्ज सुत्तम्मि को दोसो? ॥ गा० ३१०९।
तग्गहणे किमिह फलं नणु तदणत्थंतरोवएसत्थं। तह वत्थुविसेसत्थं सयसो सुत्ताइ समयम्मि ॥ गा० ३११०।
सिद्धो काइय-नोसंजयाइपज्जायओ स एवेगो। सुत्तेसु विसेसिज्जइ जहेह तह सव्ववत्थूणि ॥ गा० ३१११।
जइ केवलीण जुगवं उवओगा होज्ज होज्ज तो एव। सागारऽणगारयमीसाण य तिण्हमप्पबहुं ॥ गा० ३१२५।
जइ नणु आवरणं नाकारणया कहं तदावरणं। एगंतरोवओगो जिणस्स तं भण्णइ सहावो ॥ गा० ३१३४।
परिणामियभावाओ जीवत्तं पिव सहाव एवायं। एगंतरोवओगो जीवाणमणण्णहेउ त्ति ॥ गा० ३१३५।

जह पासइ तह पासउ पासइ जो जेण दंसणं तं से । जाणइ य जेण अरहा तं से णाणं ति घेत्तव्वं ॥२२३॥

—नन्दि० चू० । नन्दि० ल० । धर्मसं० गा० १३५६ । नन्दि० म० ।

[1]जं केवलाइं साईअपज्जवसियाइं दो वि भणिआइं । तो [2]बिंति केइ जुगवं जाणइ पासइ य सव्वण्णू ॥२२४॥

—नन्दि० चू० । नन्दि० ल० । धर्मसं० गा० १३३८ । नन्दि० म० ।

[3]इहराऽऽईणिहणत्तं मिच्छाऽऽवरणक्खओ त्ति व जिणस्स । इयरेयरावरणया अहवा णिक्कारणावरणं ॥२२५॥

—विशेषा० भा० गा० ३१०२ । नन्दि० चू० । नन्दि० ल० । धर्मसं० गा० १३३९ । नन्दि० म० ।

[4]तहँ य असव्वण्णुत्तं असव्वदरिसत्तणप्पसगो य । एगंतरोवओगे जिणस्स दोसा बहुविहीया ॥२२६॥

—नन्दि० चू० । नन्दि० ल० । धर्मसं० गा० १३४० । नन्दि० म० ।

[5]ठिइकालं जह सेसइंसणणाणाणमणुवओगे वि । दिट्ठमवट्ठाण तह ण होइ किं केवलाणं पि ॥२२७॥

—विशेषा० भा० गा० ३१०१ ।

तुल्ले वि णाणदंसणसब्भावे किह णु जुगवमुवओगो । छउमत्थस्साणिट्ठो इट्ठो य जिणस्स दुविहो वि ? ॥२२८॥

सव्वक्खीणावरणो अह मण्णसि केवली ण छउमत्थो । तो जुगवमजुगवं पि य उवओगविसेसणं तेसिं ॥२२९॥

—विशेषा० भा० गा० ३१०४ ।

देसक्खए अजुत्तं जुगवं कसिणोभओवओगित्तं । देसोभओवओगो पुणाइ पडिसिज्झए कीस ? ॥ २३० ॥

—विशेषा० भा० गा० ३१०५ ।

[6]अह णेवं सो घेप्पउ जह छउमत्थस्स तह जिणस्सावि । दोण्हं उवओगाणं एगयरो एगसमयम्मि ॥ २३१ ॥

तो भणइ एव मिच्छा उभयावरणक्खओ त्ति केवलिणो । उवउत्तस्सेगयरे जेणेगयरस्स आवरणं ॥ २३२ ॥

[7]भण्णइ भिण्णमुहुत्तोवओगकाले वि तो तिणाणस्स । मिच्छा छावट्ठीसागरोवमाइं खओवसमो" ॥ २३३ ॥

—नन्दि० चू० । नन्दि० ल० । धर्मसं० गा० १३४१ । नन्दि० म० ।

---

१ "एवं पराभिप्पाए पडिसिद्धे एगंतरोवयोगता सिद्धा । तहविमं भण्णति"—नन्दि० चू० ।

२ "तत्थ जे ते भणंति जुगवं जाणइ पासइ य ते इमं उववत्तिं उवदिसंति" ।—नन्दि० चू० ।

"साम्प्रतं युगपदुपयोगवादिमतप्रदर्शनायाह"—नन्दि० ल० ।

३ "यस्मात् केवलज्ञानदर्शने साद्यपर्यवसिते द्वे अपि भणिते ततो ब्रुवते केचन सिद्धसेनाचार्यादयः किम् ? युगपदेकस्मिन् काले जानाति पश्यति च कः ? सर्वज्ञ इति गाथार्थः."—नन्दि० ल० ।

४ "इतरथान्यथा आदिनिधनत्वं सादिपर्यवसानत्वं केवलज्ञानदर्शनयोरुत्पत्त्यनन्तरमेव केवलज्ञानोपयोगकाले केवलदर्शनाभावादेव केवलदर्शनोपयोगकालेऽपि केवलज्ञानाभावात् । तथा, मिथ्यावरणक्षय इति वा जिनस्य—न ह्यपनीतावरणौ द्वौ प्रदीपौ क्रमेण प्रकाश्यं प्रकाशयत इत्यभिप्रायः । तथा इतरेतरावरणता—स्वावरणे क्षीणेऽप्यन्यतमभावे अन्यतमाभावादिति भावना । अथवा निष्कारणावरणमित्यकारणमेव अन्यतरोपयोगकालेऽन्यतरस्यावरणम् तथा च सति सर्वदैव भावाभावप्रसङ्गः, तथा चोक्तम्—

नित्यं वा सत्त्वमसत्त्वं वाऽहेतोरन्यानपेक्षणात् । अपेक्षातो हि भावाना कादाचित्कत्वसम्भवः ॥ इति गाथार्थः."

—नन्दि० ल० ।

५ "व्याख्या—तथा च सति असर्वज्ञत्वं असर्वदर्शित्वप्रसङ्गश्च पाक्षिकं वा असर्वज्ञत्वम्—यदा सर्वज्ञो न तदा सर्वदर्शी दर्शनोपयोगाभावादेव, यदा सर्वदर्शी न तदा सर्वज्ञः ज्ञानोपयोगाभावात् । एवमेकान्तरोपयोगे ह्युपगम्यमाने सति जिनस्य केवलिनः दोषा बहुविधा इति गाथार्थः"—नन्दि० ल० ।

६ "एवं परेण बहुधा भणिते आगमवादी उत्तरमिममाह" ।—नन्दि० चू० ।

"एवं परेणोक्ते सत्यागमवाद्याह"—नन्दि० ल० ।

७ "व्याख्या । यदुक्तमितरथादिनिधनत्वमिति । तदसदिति दर्शयति—उपयोगानुपयोगकालापेक्षयैव साद्यपर्यवसितत्वात् केवलज्ञानदर्शनयोरित्यभिप्रायो न चानर्थमिदम् कथम् ? भण्यते अन्यथा हि भिन्नमुहूर्त्तोपयोगकाले मत्यादीनां ततस्त्रिज्ञानिनः मिथ्या षट्षष्टिसागरोपमाणि क्षयोपशमः प्रतिपादितश्च सूत्रे न च युगपदेव मत्याद्युपयोगः । एवं क्षायिकोपयोगेपि भविष्यति । जीवस्वाभाव्यादिति गाथाभिप्रायः."—नन्दि० ल० ।

[1]देह ण वि एवं तो सुण जहेव खीणंतराइओ अरहा । संते वि अंतरक्खयम्मि पंचप्पगारम्मि ॥२३४॥

—नन्दि० चू० । नन्दि० ह० । धर्मसं० गा० १३४२ । नन्दि० म० ।

सययं ण देइ लहइ व भुंजइ उवभुंजई य सव्वण्णू । कज्जम्मि देइ लहइ य भुंजइ व तहेव एवं पि ॥२३५॥

—नन्दि० चू० । नन्दि० ह० । धर्मसं० गा० १३४३ । नन्दि० म० ।

देंतस्स लभंतस्स य भुंजंतस्स वि जिणस्स एस गुणो । खीणंतराइयत्ते जं से विग्घं ण संभवइ ॥२३६॥

—नन्दि० चू० । नन्दि० ह० । धर्मसं० गा० १३४४ । नन्दि० म० ।

उवउत्तस्सेमेव य णाणम्मि व दंसणम्मि व जिणस्स । खीणावरणगुणोऽयं जं कसिणं मुणइ पासइ वा ॥२३७॥

—नन्दि० चू० । नन्दि० ह० । धर्मसं० गा० १३४५ । नन्दि० म० ।

तो भणइ केवलाणं पत्तो इयरेयरावरणदोसो । भण्णइ चउणाणिस्स वि स एव दोसो समाविसइ ॥२३८॥
एवं विणा वि णासं कारणमुप्पायविगमया पत्ता । एवं च सइ विण्णाणुब्भवो कह णु सिद्धाणं ? ॥ २३९ ॥
जुगवाणुवओगित्ते वुच्चइ चउणाणिणो विणा हेउं । विगमुप्पाओ जह तह जिणस्स जइ होज्ज को दोसो ॥२४०॥
अहवा खीणावरणे जिणम्मि णिक्कारणावरणदोसो । ण उ जुज्जइ छउमत्थे संतावरणे त्ति ते बुद्धी ॥ २४१ ॥
भण्णइ छउमत्थस्स वि णाणेगयरोवओगिभावत्ते । संते वि खओवसमे सेसावरणं न संभवइ ॥ २४२ ॥
जेण जया ण जाणइ पूयमुइण्णं तदा तदावरणं । अघ संतेण ण जाणइ मिच्छावरणक्खओवसमो ॥ २४३ ॥
एवं जं जं कालं उववज्जइ जम्मि जम्मि णाणम्मि । तं तं कालं जुत्तो तस्सावरणक्खओवसमो ॥ २४४ ॥
ठिइकालविसंवाओ णाणाणं न वि य ते चउण्णाणी । एवं सति छउमत्थो अत्थि न जइ दंसणी समए ॥२४५॥

—विशेषा० भा० गा० ३१०७ ।

[2]पासंतो ण वि जाणइ जाणं व ण पासई जइ जिणंदो । एवं ण कयाइ वि सो सव्वण्णू सव्वदरिसी य ॥२४६॥

—नन्दि० चू० । नन्दि० ह० । धर्मसं० गा० १३४६ । नन्दि० म० ।

[3]जुगवमजाणंतो वि हु चउहिं णाणेहिं जह चउण्णाणी । भण्णइ तहेव अरहा सव्वण्णू सव्वदरिसी य[4] ॥ २४७ ॥

—नन्दि० चू० । नन्दि० ह० । धर्मसं० गा० १३४७ । नन्दि० म० ।

[5]तुल्ले उभयावरणक्खयम्मि पुव्वयरसुब्भवो कस्स । दुविहुवओगाभावे जिणस्स जुगवं ति चोएइ[6] ॥ २४८ ॥

—नन्दि० चू० । नन्दि० ह० । धर्मसं० गा० १३४८ । नन्दि० म० ।

[7]भण्णइ ण एस णियमो जुगवुप्पण्णेसु जुगवमेवेह । होयव्वं उवओगेण एत्थ सुण ताव दिट्ठंतं ॥२४९॥

—नन्दि० चू० । नन्दि० ह० । धर्मसं० गा० १३४९ । नन्दि० म० ।

---

१ "जधा तओ तत्थस्स मतिसुतावधिणाणेसु अंतमुहुत्तो कालोवयोगसंभवो उवयोगाणुवयोगेण य छावट्ठिसागरा से ठितिकालो दिट्ठो तधा जति जिणस्स णाणदंसणा सादिअपज्जवसाण उवयोगाणुवयोगेण भवति तो को दोसो ? जति एवं ते णाणुमयं तो इमं ते कधं अणुमतं भविस्सति ?"—नन्दि० चू० ।

"न च क्षयकार्येण अवश्यमनवरतमेव भवितव्यमिति दर्शयन्नाह"—नन्दि० ह० ।

२ "पुणो पर आह"—नन्दि० चू० ।

"व्याख्या—पश्यन्नपि न जानाति जानन् वा न पश्यति यदि जिनेन्द्रः । एवं न कदाचिदप्यसौ सर्वज्ञः सर्वदर्शी च युगपदन्यतरोपयोगकालेऽन्यतरोपयोगाभावादिति गाथार्थः."—नन्दि० ह० ।

३ "उत्तरमाचार्य्य आह"—नन्दि० चू० ।

"सिद्धान्तवाद्याह"—नन्दि० ह० ।

४ "इयं तु निगदसिद्धैव । नवरं क्षायिकभावमाश्रित्येति गाथार्थः"—नन्दि० ह० ।

५ "पर एवाह"—नन्दि० चू० ।

६ "व्याख्या—तुल्ये उभयावरणक्षये केवलज्ञानदर्शनावरणक्षये पूर्वतरं प्रथमतरमुद्भवः उत्पादः कस्य ? यदि ज्ञानस्य स किंनिबन्धन इति वाच्यम् । तदावरणक्षयनिबन्धन इति चेत् दर्शनेऽपि तुल्य इति तस्याप्युद्भवप्रसङ्ग । एवं दर्शनेपि वाच्य । अतः स्वावरणक्षयेऽपि दर्शनाभाववद् ज्ञानस्याप्यभावप्रसङ्गः । विपर्ययो वा एवं द्विविधोपयोगाभावे जिनस्य युगपदिति चोदयत्ययं गाथार्थः."—नन्दि० ह० ।

७ "उत्तरमाचार्य आह"—नन्दि० चू० ।

"अत्र सिद्धान्तवाद्याह"—नन्दि० ह०

जइ जुगवुप्पत्तीइ वि सुते सम्मत्तमइसुयाईणं । णत्थि जुगवोवओगो सव्वेसु तहेव केवलिणो ॥२५०॥

—नन्दि० चू० । नन्दि० ल० । धर्मसं० गा० १३५० । नन्दि० म० ।

भणियं पि य पण्णत्ती–पण्णवणाईसु जह जिणो समयं । जं जाणइ ण वि पासइ तं अणु–रयणप्पभाईणि ॥२५१॥

—विशेषा० भा० गा० ३११२ । नन्दि० चू० । नन्दि० ल० । धर्मसं० गा० १३५१ । नन्दि० म० ।

इवसद्दमतुप्पच्चयलोवा तं बिंति केइ छउमत्थे । अण्णे पुण परतित्थिअवत्तव्वमिणं तं जंपंति ॥ २५२॥

—विशेषा० भा० गा० ३११३ ।

जं छउमत्थाऽऽधोहियपरमावहिणो विसेसिउं कमसो । णिद्दिसइ केवलित्तेण तस्स छउमत्थया णत्थि ॥२५३॥

—विशेषा० भा० गा० ३११४ ।

ण य पासइ अणुमण्णो छउमत्थो मोत्तुमोहिसंपण्णं । तत्तो जो परमावहिणाणी तत्तो वि किंचूणो ॥ २५४ ॥

—विशेषा० भा० गा० ३११५ ।

ते दो वि विसेसेउं अण्णो छउमत्थकेवली को सो ? । जो पासइ परमाणुं गहणमिहं जस्स होज्जा हि ॥२५५॥

—विशेषा० भा० गा० ३११६ ।

तेसिं चिय छउमत्थाइयाण गहिगज्जए जहिं सुते । केवलसंजम–संवर–बंभाइएहिं निव्वाणं ॥ २५६ ॥

—विशेषा० भा० गा० ३११७ ।

तिण्णि वि पडिसेहेउं तीसु वि कालेसु केवली तत्थ । सिज्झिंसु सिज्झइ त्ति य सिज्झिस्सइ या विणिद्दिट्ठा २५७॥

—विशेषा० भा० गा० ३११८ ।

एवं विसेसयम्मि वि परमयमेगंतरोवओगो त्ति । ण पुण जुगवोवओगो परवत्तव्वं ति का बुद्धी[1] ॥ २५८ ॥

—विशेषा० भा० गा० ३११९ ।

अण्णं च इमा गाहा समए सिद्धाहिगारपरिपढिया । फुडवियडत्थं साहइ जिणस्स एगंतरुवओगं ॥ २५९ ॥

णाणम्मि दंसणम्मि य एत्तो एगतरयम्मि उवउत्ता । सव्वस्स केवलिस्सा जुगवं दो णत्थि उवओगा ॥ २६० ॥

—विशेषा० भा० गा० ३०९६ । नन्दि० चू० । नन्दि० ल० । धर्मसं० गा० १३५७ । नन्दि० म० ।

सिद्धाण वि एगयरोवओगवत्तित्तणं ति एईसे । पुव्वद्धेणं सिद्धं अच्छउ पच्छद्धमिह ताव ॥ २६१ ॥

परवत्तव्वमिणं ति य भणिज्ज एवं पि कोइ तं ण भवे । पण्णत्तीए[2] विसेसियमेयं जम्हा णियंठेसु ॥ २६२ ॥

उवओगो एगयरो पणुवीसइमे सए सिणायस्स । भणिओ वियडत्थो च्चिय छट्ठुद्देसे विसेसेउं ॥ २६३ ॥

—विशेषा० भा० गा० ३१२० । नन्दि० चू० । नन्दि० ल० । धर्मसं० गा० १३५८ । नन्दि० म० ।

पण्णवणाचरमैपए भणिओ सिद्धो विसुद्धनाणीहिं । सागारे उवउत्तो सिज्झइ जइ तत्थ गंतूणं ॥ २६४ ॥

अह भणसी सव्व च्चिय सागारे से अओ अदोसो त्ति । ता सिद्धलक्खणं कहिं भणियं सागारऽणागारे ॥२६५॥

एवं फुडवियडम्मि वि सुत्ते सव्वण्णुभासिए सिद्धे । कह तीरइ परतित्थियवत्तव्वमिणं ति वोत्तुं जे ?॥ २६६ ॥

—विशेषा० भा० गा० ३१२१ ।

सव्वत्थ सुत्तमत्थि य फुडमेगयरोवउत्तसत्ताणं । उभओवउत्तसत्ता सुत्ते वुत्ता ण कत्थइ वि ॥ २६७ ॥

—विशेषा० भा० गा० ३१२२ ।

कस्सइ वि णाम कत्थइ काले जइ होज्ज दो वि उवओगा । उभओवउत्तसत्ताण सुत्तमेगं पि ता हुज्जा ॥ २६८ ॥

—विशेषा० भा० गा० ३१२३ ।

दुविहाणं पि य जीवाण भणियमप्पबहुयं ससमयम्मि । सागारऽणागाराण य भणियमुभओवउत्ताणं ॥२६९॥

—विशेषा० भा० गा० ३१२४ ।

जइ केवलीण जुगवं उवओगा होज्ज होज्ज तो एवं । सागारऽणागाराण य मीसाण य तिण्हमप्पबहुं ॥ २७० ॥

—विशेषा० भा० गा० ३१२५ ।

---

१ "किंच, सिद्धाधिकारे एगंतरोवयोगदंसिणा इमा पाहुडा गाहा"—नन्दि० चू० ।
"स्वपक्षे समर्थनायैव सिद्धान्तगाथाह"—नन्दि० ह० ।
२ "किंच, भगवईए"—नन्दि० चू० ।
"नवरं भगवत्यां पञ्चविंशतितमे शते [श० २५ उ० ६ पृ० ८९९ द्वि० सू० ७६७] अधिकारोपलक्षिते निर्ग्रन्थप्रस्तावे स्नातकस्य केवलिनः ।"—नन्दि० ह० ।
३ प्रज्ञाप० प० ३६ पृ० ६०७ सू० ३४५ ।

अहव मई छउमत्थे पडुच्च सुत्तमिणमो ण केवलिणो । तं पि न जुज्जइ जं सव्वसत्तसंखाहिगारोऽयं ॥ २७१ ॥

—विशेषा० भा० गा० ३१२६ ।

काउं सिद्धग्गहणं बहुवत्तव्वयपएसु सव्वेसु । इह केवलमग्गहणं जइ ते तं कारणं वच्चं ॥ २७२ ॥

—विशेषा० भा० गा० ३१२७ ।

अहवा विसेसियं च्चिय जीवाभिगमम्मि एतमप्पबहुं । दुविह त्ति सव्वजीवा सिद्धा सिद्धादिया जत्थ ॥ २७३ ॥

—विशेषा० भा० गा० ३१२८ ।

सिद्ध सइंदियकाए जोगे वेए कसाय लेसा य । णाणुवओगाहारगभासा य सरीरचरिमे य ॥ २७४ ॥

—विशेषा० भा० गा० ३१२९ ।

अंतोमुहुत्तगेव य कालो भणिओ तहोवओगस्स । साई अपज्जवसिओ त्ति णत्थि कत्थइ वि णिद्दिट्ठो ॥२७५॥

—विशेषा० भा० गा० ३१३० ।

जइ सिद्धाईयाणं भणियं साईअपज्जवसियत्तं । तह जइ उवओगाणं हवेज तो होज्ज ते जुगवं ॥ २७६ ॥

—विशेषा० भा० गा० ३१३१ ।

केस्स व णाणुमयमिणं जिणस्स जइ होज्ज दो वि उवओगा । णूणं ण होंति जुगवं जओ णिसिद्धा सुए बहुसो ॥

—विशेषा० भा० गा० ३१३२ । नन्दि० चू० । नन्दि० ल० । धर्मसं० गा० १३५९ । नन्दि० म० ।

ण वि अभिणिवेसबुद्धी अम्हं एगंतरोवओगम्मि । तह वि भणिमो ण तीरइ जं जिणमयमण्णहा काउं ॥२७८॥

—विशेषा० भा० गा० ३१३३ ।

मोत्तूण हेउवायं आगममेत्तावलंबिणो होउं । सम्ममणुचिंतणिज्जं किं जुत्तमजुत्तमेयम्मि ? ॥ २७९ ॥

अहवा ण सव्वसो च्चिय सव्वं जिणमयमहेउयं भणियं । किंतु अणुयत्तमाणो अण्णत्तं हेउओ भणइ" ॥२८०॥

अत्र श्रीमदकलङ्कादिव्यवस्थापितत्वेन प्रसिद्ध एक एव उपयोगयौगपद्यपक्षो दिगम्बरीयेषु प्रवचनसार-आप्तमीमांसा-अष्टशती-अष्टसहस्री-तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक-नियमसार-गोम्मटसार-बृहद्द्रव्यसंग्रहेषु सहसोपलभ्यते नेतरो खण्डनीयत्वेनापि । अनुक्रमेण तद्यथा—

"तेकालणिच्चविसमं सकलं सव्वत्थसंभवं चित्तं । जुगवं जाणदि जोण्हं अहो हि णाणस्स माहप्पं ॥

ज्ञानाधि० १ ॥ ५१ ॥

"तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनम् । क्रमभावि च यज्ज्ञानं स्याद्वादनयसंस्कृतम् ॥ १०१ ॥

परि० १० पृ० ४४ ।

तत्र सकलज्ञानावरणपरिक्षयविजृम्भितं केवलज्ञानं युगपत्सर्वार्थविषयं करणक्रमव्यवधानातिवर्तित्वाद् युगपत्सर्वभासनं तत्त्वज्ञानत्वात् प्रमाणम् । तथोक्तम् 'सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य' इति सूत्रकारैः । केवलज्ञानदर्शनयोः क्रमवृत्तित्वात् चक्षुरादिज्ञानदर्शनवद्युगपत्सर्वभासनमयुक्तमिति चेन्न, तयोर्यौगपद्यात्, तदावरणक्षयस्य युगपद्भावात् 'मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शना-

---

१ सिद्धान्तबाधेनानुद्धतत्वमागमभक्तिं च परां ख्यापयन्नाह—नन्दि० ल० ।

इतो धर्मसंग्रहण्यामिमा गाथा अधिका वर्तन्ते—

जं दंसणणाणाइं सामन्नविसेसगहणरूवाइं । तेण ण सव्वण्णू सो णाया ण य सव्वदरिसी वि ॥

समुदितमुभयं सव्वं अण्णतरेण ण वि घेप्पति तयं च । भेदाभेदे वि मिहो एसो खलु होइ णातो त्ति ॥

सामन्नमिह कहंची णेयं अब्भंतरीकयविसेसं । ते वि इतरेण एवं उभयं पि ण जुज्जई इहरा ॥

एवं च उभयरूवे सिद्धे सव्वम्मि वत्थुजायम्मि । दंसणणाणे वि फुडं सिद्धे च्चिय सव्वविसए त्ति ॥

जं एत्थ णिव्विसेसं गहो विसेसाण दंसणं होति । सविसेस पुण णाणं ता सयलत्थे तओ दो वि ॥

समताधम्मविसिट्ठं घेप्पति जं दंसणेण सव्व तु । ण तु विसमताए ता कह सयलत्थमिणं ति वत्तव्वं ? ॥

एवं विवज्जासेणं णाणस्स वि असयलत्थया णेया । उभयग्गहणे [य] दोण्हवि अविसेसो पावती णियमा ॥

समएतरधम्माणं भेदाभेदम्मि ण खलु अण्णोण्णं । णिरवेक्खमेव गहणं इय सयलत्थे तओ दो वि ॥

जं सामण्णप्पहाणं गहणं इतरोवसज्जणं चेव । अत्थस्स दंसणं तं विवरीयं होइ णाणं तु ॥

जीवसहावातो च्चिय एतं एवं तु होइ णातव्वं । अविसिट्ठम्मि वि अत्थे जुगवं च्चिय उभयरूवे वि ॥

अण्णे सव्वं णेयं जाणति सो जेण तेण सव्वण्णू । सव्वं च दरिसणिज्जं पासइ ता सव्वदरिसि त्ति ॥

णेया तु विसेस च्चिय सामण्णं चेव दरिसणिज्जं तु । ण य अण्णेयण्णाणे वि तस्स णो इट्ठसिद्धि त्ति ॥

गा० १३६०–१३७१ धर्मसं० पृ० ४४२ द्वि० ।

वरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्' इति अत्र प्रथमं मोहक्षयस्ततो ज्ञानावरणादित्रयक्षयः सकृदिति व्याख्यानात्। तज्ज्ञानदर्शनयोः क्रमवृत्तौ हि सर्वज्ञत्वं कादाचित्कं स्यात् दर्शनकाले ज्ञानाभावात् तत्काले च दर्शनाभावात्। सततं च भगवतः केवलिनः सर्वज्ञत्वं सर्वदर्शित्वं च साद्यपर्यवसिते केवलज्ञानदर्शने इति वचनात्। कुतस्तत्सिद्धिरिति चेत् निर्लोठितमेतत् सर्वज्ञसिद्धिप्रस्तावे न पुनरिहोच्यते। केवलज्ञानदर्शनयोर्युगपद्भावः कुतः सिद्ध इति चेत्, सामान्य-विशेषविषययोर्विगतावरणयोरयुगपत्प्रतिभासायोगात् प्रतिबन्धकान्तराभावात्। सामान्यप्रतिभासो हि दर्शनं विशेषप्रतिभासो ज्ञानम्। तत्प्रतिबन्धकं ज्ञानावरणं दर्शनावरणं च। यदुदयादसदादेः केवलज्ञानदर्शनानाविर्भावः तयोश्च युगपदात्मविशुद्धिप्रकर्षविशेषात् परिक्षयसिद्धेः कथमिवायुगपत्प्रतिभासनं सामान्यविशेषयोः स्यात् प्रक्षीणाशेषमोहान्तरायस्य प्रतिबन्धान्तरं च कथमिव संभाव्येत येन युगपत्तद्द्वितयं न स्यात्? अस्तु नाम केवलं तत्त्वज्ञानं युगपत्सर्वभासनम्, मतिश्रुतावधिमनःपर्ययज्ञानं तु कथमित्युच्यते"।

—अष्टश० अष्टस० पृ० २८१ पं० ५—।

"सोपयोगस्यानेकस्य ज्ञानस्यैकत्र यौगपद्यवचने हि सिद्धान्तविरोधः सूत्रकारस्य न पुनरनुपयोगस्य सह द्वावुपयोगौ न स्त इति वचनात्॥ सोपयोगयोर्ज्ञानयोः सह प्रतिषेधादिति निवेदयन्ति—

क्षायोपशमिकं ज्ञानं सोपयोगं क्रमादिति। नार्थस्य व्याहतिः काचित् क्रमज्ञानाभिधायिनः॥

निरुपयोगस्यानेकस्य ज्ञानस्य सहभाववचनसामर्थ्यात् सोपयोगस्य क्रमभावः क्षायोपशमिकस्येत्युक्तं भवति तथा च नार्थस्य हानिः क्रमभाविज्ञानावबोधकस्य सम्भाव्यते। अत्रापराकूतमनूद्य निराकुर्वन्नाह—

सोपयोगौ सह स्यातामित्यार्याः ख्यापयन्ति ये। दर्शनज्ञानरूपौ तौ न तु ज्ञानात्मकाविति॥
ज्ञानानां सह भावाय तेषामेतद्विरुध्यते। क्रमभावि च यज्ज्ञानमिति युक्तं ततो न तत्"॥

१-३० श्लो० ६-८ पृ० २५३ पं० ३०—।

"जुगवं वट्टइ णाणं केवलणाणिस्स दंसणं च तहा। दिणयरपयास-तापं जह वट्टइ तह मुणेयव्वं" ॥ १६० ॥
"सिद्धाणं सिद्धगई केवलणाणं च दंसणं खयियं। सम्मतमणाहार, उवओगा ण क्कमपउत्ती" ॥ ७३० ॥
"दंसणपुव्वं णाणं, छदमत्थाणं ण दोण्णि उवउग्गा। जुगवं जम्हा केवलि-णाहे जुगवं तु ते दोवि ॥ ४४ ॥

दसणपुव्वं णाणं छदमत्थाणं" सत्तावलोकनदर्शनपूर्वकं ज्ञानं भवति छद्मस्थानां संसारिणाम्। कस्मात् "ण दोण्णि उवउग्गा जुगवं जम्हा" ज्ञानदर्शनोपयोगद्वयं युगपन्न भवति यस्मात् "केवलिणाहे जुगवं तु ते दोऽवि" केवलिनाथे तु युगपत्तौ ज्ञानदर्शनोपयोगौ द्वौ भवत इति"—पृ० १६९ पं० ३-८।

अत्रेदमवधातव्यं विशेषावश्यकभाष्ये नन्दिचूर्ण्यां च पक्षत्रयं पुरस्कर्तॄणां नामानि अनिर्दिश्यैव सामान्यतो वर्णितम् हारिभद्रीयायां मलयगिरीयायां च वृत्तौ क्रमोपयोगपक्षः श्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणादिसत्कत्वेन युगपदुपयोगपक्षः श्रीसिद्धसेनादिसत्कत्वेन एकोपयोगपक्षश्च श्रीवृद्धाचार्यादिसत्कत्वेन उपन्यस्तः परन्तु सम्मतिटीकाकारैः श्रीमदभयदेवैः युगपदुपयोगपक्षः श्रीमल्लवादिसत्कत्वेन एकोपयोगपक्षश्च प्रकरणकार-सिद्धसेनदिवाकर-सत्कत्वेन वर्णितः—

श्रीहरिभद्राभयदेवमलयगिरीणां पक्षद्वयपुरस्कर्तृविषयोऽयं मतभेदः वाचकवर्यैः श्रीमद्यशोविजयैरित्थं परिहृतः— "इदमिदानीं निरूप्यते—केवलज्ञानं स्वसमानाधिकरणकेवलदर्शनसमानकालीनं न वा, केवलज्ञानक्षणत्वं स्वसमानाधिकरणदर्शनक्षणाव्यवहितोत्तरत्वव्याप्यं न वा? एवमाद्याः क्रमोपयोगवादिनां जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणपूज्यपादानाम्, युगपदुपयोगवादिनां च मल्लवादिप्रभृतीनाम्, यदेव केवलज्ञानं तदेव केवलदर्शनमिति वादिनां च महावादिश्रीसिद्धसेनदिवाकराणां साधारण्यो विप्रतिपत्तयः। यत्तु युगपदुपयोगवादित्वं सिद्धसेनाचार्याणां नन्दिवृत्तावुक्तं तदभ्युपगमवादाभिप्रायेण न तु स्वतन्त्रसिद्धान्ताभिप्रायेण, क्रमाक्रमोपयोगद्वयपर्यनुयोगानन्तरमेव स्वपक्षस्य संमतावुद्भावितत्वादिति द्रष्टव्यम्"—ज्ञानबिं० पृ० १५४ द्वि० पं० ५।

सार्वज्ञ्यविषयकोक्तपक्षत्रयगतः पारस्परिको बलीयान् विवादस्तैरेव नयवादाश्रयेण इत्थं समाहितः—

"भेदग्राही व्यवहृतिनयं संश्रितो मल्लवादी पूज्याः प्रायः करणफलयोः सीम्नि शुद्धर्जुसूत्रम्।
भेदोच्छेदोन्मुखमधिगतः संग्रहं सिद्धसेनस्तस्मादेते न खलु विषमाः सूरिपक्षास्त्रयोऽपि॥
चित्सामान्यं पुरुषपदभाक्केवलाख्ये विशेषे तद्रूपेण स्फुटमभिहितं साद्यनन्तं यदेव।
सूक्ष्मैरंशैः क्रमवदिदमप्युच्यमानं न दुष्टं तत्सूरीणामियमभिमता मुख्यगौणव्यवस्था॥
तमोऽपगमचिज्जनुः क्षणभिदा निदानोद्भवाः श्रुता बहुतराः श्रुते नयविवादपक्षा यथा।
तथा क इव विस्मयो भवतु सूरिपक्षत्रये प्रधानपदवी धियां क नु दवीयसी दृश्यते"॥

—ज्ञानबिं० पृ० १६४ प्र० श्लो० २,३,४,।

केचित् ब्रुवते "यदा जानाति तदा न पश्यति जिनः" इति सूत्रम्—"केवली णं भंते! इमं रयणप्पभं पुढविं आयारेहिं पमाणेहिं हेऊहिं संठाणेहिं परिवारेहिं जं समयं जाणइ नो तं समयं पासइ? हंता गोयमा! केवली णं" [ ] इत्यादिकम्—अवलम्बमानाः।

अस्य च सूत्रस्य किलायमर्थः—केवली सम्पूर्णबोधः 'णं' इति प्रश्नोऽभ्युपगमसूचकः। 'भन्ते!' इति भगवन्! इमां रत्नप्रभामन्वर्थाभिधानां पृथ्वीमाकारैः समनिम्नोन्नतादिभिः प्रमाणैर्दैर्घ्यादिभिः हेतुभिरनन्तानन्तप्रदेशिकैः स्कन्धैः संस्थानैः परिमण्डलादिभिः परिवारैः घनोदधिवलयादिभिः 'जं समयं णो तं समयं' इति च "कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे" [पा० २-३-५] इति द्वितीया अधिकरणसप्तमीबाधिका तेन यं समयं जानाति यदा जानातीत्यर्थः 'णो तं समयं' पश्यतीति न तदा पश्यतीति भावः। विशेषोपयोगः सामान्योपयोगान्तरितः सामान्योपयोगश्च विशेषोपयोगान्तरितस्तत्स्वाभाव्यादिति प्रश्नार्थः। उत्तरं पुनः 'हंता गोयमा!' इत्यादिकं प्रश्नानुमोदकम् 'हंता' इत्यभिमतस्यामन्त्रणम् 'गौतम' इति गोत्रामन्त्रणम् प्रश्नानुमोदनार्थं पुनस्तदेव सूत्रमुच्चारणीयम् हेतुप्रश्नस्य चात्र सूत्रे उत्तरम्—"साकारे से णाणे अणागारे दंसणे" [ ] साकारं विशेषावलम्बि अस्य केवलिनो ज्ञानं भवति अनाकारमतिक्रान्तविशेषं सामान्यालम्बि दर्शनम्। न चानेकप्रत्ययोत्पत्तिरेकदा निरावरणस्यापि तत्स्वाभाव्यात् न हि चक्षुर्ज्ञानकाले श्रोत्रज्ञानोत्पत्तिरुपलभ्यते। न चावृतत्वात् तदा तदनुत्पत्तिः स्वसमयेऽप्यनुत्पत्तिप्रसङ्गात्। ततो युगपदनेकप्रत्ययानुत्पत्तौ स्वभाव एव कारणम् नावरणसद्भावः। सन्निहितेऽपि च द्व्यात्मके विषये विशेषांशमेव गृह्णन् केवली तत्रैव सामर्थ्यात् सर्वज्ञ इति व्यपदिश्यते सर्वविशेषज्ञत्वात् सर्वसामान्यदर्शित्वाच्च सर्वदर्शी। यच्चैवंव्याख्यायामकिञ्चिज्ज्ञत्वं केवलिनः होढदानं चेति दूषणम्, तन्न; यतो यदि तत् केवलं ज्ञानमेव भवेद् दर्शनमेव वा ततः स्यादकिञ्चिज्ज्ञता न चैवम् आलदानमपि न संभवति 'यं समयं' इत्याद्युक्तव्याख्यायाः सम्प्रदायाविच्छेदतोऽपव्याख्यानत्वायोगात्। न च दुःसम्प्रदायोऽयम् तदन्यव्याख्यातॄणामविसंवादात् "जं समयं च णं समणे भगवं महावीरे" [ ] इत्यादावप्यागमे असकृदुच्चार्यमाणस्यास्य शब्दस्यैतदर्थत्वेन सिद्धत्वात्। ततो दुर्व्याख्यैषा—यैः समकं यत्समकमिति भवतैव होढदानं कृतम्।

[केवलोपयोगद्वयस्य क्रमभावित्वं प्रतिषेध्य तत्सहभावित्वपरतया आगमस्य व्याख्यानम्]

एते च व्याख्यातारः तीर्थकरासादनाया अभीरवः तीर्थकरमासादयन्तो न बिभ्यतीति यावत्। सा च 'न किञ्चिज्जानाति तीर्थकृदित्यधिक्षेपः' 'अन्यथोक्ते तीर्थकृतैवमुक्तम्' इत्यालदानम्। तथाहि—यदि विषयः सामान्यविशेषात्मकस्तदा विषयि केवलं विशेषात्मकं वा भवेत् सामान्यात्मकं वा? यदि विशेषात्मकमिति पक्षस्तदा निःसामान्यविशेषग्राहित्वात् तेषां च तद्विकलानामभावात् निर्विषयतया तदवभासिनो ज्ञानस्याभाव इत्यकिञ्चिज्ज्ञः सर्वज्ञस्ततो भवेत्। अथ

---

१ "केवली णं भंते! इमं रयणप्पभं पुढविं आगारेहिं हेतूहिं उवमाहिं दिट्ठंतेहिं वण्णेहिं संठाणेहिं पमाणेहिं पडोयारेहिं जं समयं जाणति तं समयं पासइ? जं समयं पासइ तं समयं जाणइ?

गोयमा! नो तिणट्ठे समट्ठे।

से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चति—'केवली णं इमं रयणप्पभं पुढविं आगारेहिं जं समयं जाणति नो तं समयं पासति, जं समयं पासति नो तं समयं जाणति?

गोयमा! सागारे से णाणे भवति, अणागारे से दंसणे भवति से तेणट्ठेणं जाव णो तं समयं जाणति एवं जाव अहेसत्तमं। एवं सोहम्मकप्पं जाव अच्चुयं गेविज्जगविमाणा अणुत्तरविमाणा ईसीपब्भारं पुढविं, परमाणुं पोग्गलं दुपदेसियं खंधं जाव अणंतपदेसियं खंधं" इति संपूर्णं सूत्रम्—प्रज्ञाप० प० ३० सू० ३१४ पृ० ५३१—।

एतत्सदृशान्यन्यानि सूत्राणि भगवतीसूत्रीयचतुर्दशाष्टादशशतकान्तर्गताभ्यां दशमाष्टमोद्देशकाभ्यां यथाक्रममवगन्तव्यानि।

२ "कालाध्वनोर्व्याप्तौ"—हैम० २-२-४२। ३—या सप्तमीबा—छ० वा० बा० मो० मां० विना। ४ 'नाम'—ल० टि०। ५ "आलदानम्"—बृ० ल० टि०। ६ "सिद्धसेनदिवाकरेण"—बृ० टि०। ७ "जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणमतमुक्त्वा सम्प्रत्युत्तरं कृतम्"—बृ० टि०। ८ सा न आ० हा० वि०। ९—नं च त—मो० मां० विना।

सामान्यात्मकम् एवमपि विशेषविकलसामान्यरूपविषयाभावतो निर्विषयस्य दर्शनस्याप्यभावान्न किञ्चित् केवली पश्येत्। अथायुगपद् ज्ञानदर्शने तस्याभ्युपगम्येते तथापि यदा जानाति न तदा पश्यति, यदा च पश्यति न तदा जानातीत्येकरूपाभावे अन्यतरस्याप्यभावात् पूर्ववदकिञ्चिज्ज्ञोऽकिञ्चिद्दर्शी च स्यात्। उभयरूपे वा वस्तुन्यन्यतरस्यैव ग्राहकत्वात् केवलोपयोगो विपर्यस्तो वा भवेत्। तथाहि—यद् उभयरूपे वस्तुनि सामान्यस्यैव ग्राहकं तद्विपर्यस्तम् यथा सांख्यज्ञानम् तथा च सामान्यग्राहि केवलदर्शनमिति तथा, यद् विशेषावभास्येव तथाभूते वस्तुनि तदपि विपर्यस्तम् यथा सुगतज्ञानम् तथा च केवलज्ञानमिति। यथा च सामान्यविशेषात्मकं वस्तु तथा प्रतिपादितमनेकधा।

होढदानमपि सूत्रस्यान्यथाव्याख्यानादुपपन्नम्। तथाहि—न पूर्वप्रदर्शितस्तत्रार्थः किन्त्वयम्—केवली इमां रत्नप्रभां पृथिवीं यैराकारादिभिः समकं तुल्यं जानाति न तैराकारादिभिस्तुल्यं पश्यतीति किमेवं ग्राह्यम्? 'एवम्' इत्यनुमोदना। ततो हेतौ पृष्टे सति तत्प्रतिवचनं भिन्नालम्बनप्रदर्शकं तत्-ज्ञानं साकारं भवति यतो दर्शनं पुनरनाकारमित्यतो भिन्नालम्बनावेतौ प्रत्ययाविति। इदं चोदाहरणमात्रं प्रदर्शितम्। एवं च सूत्रार्थव्यवस्थितौ पूर्वार्थकथनमालदानमेव। 'जंसमयं' इत्यत्र 'जं'शब्दे 'अम्'भावः प्राकृतलक्षणात्—

> णीया लोवमभूया आणीया दो वि बिंदु-दुब्भावा।
> अत्थं वहंति तं चिय जो च्चिय सिं पुव्वनिद्दिट्ठो[2] ॥ [ ]

अभूत एव बिन्दुरिहानीतः। यथा 'यत्कृतसुकृते' इति "जंकयसुकयं" [ ] इति लोकप्रयोगे ॥४॥

[आगमेन केवलज्ञान-दर्शनयोर्यौगपद्यमभिधाय अनुमानयुक्त्या पुनस्तत्प्रतिपादनम्]

आगमेनाभिधाय यौगपद्यं ज्ञान-दर्शनयोरनुमानेनाऽपि तयोस्तद् दर्शयितुमाह—

> केवलणाणावरणक्खयजायं केवलं जहा णाणं।
> तह दंसणं पि जुज्जइ णियआवरणक्खयस्संते ॥ ५ ॥

केवलज्ञानावरणक्षये यथोत्पन्नं विशेषाववोधस्वभावं ज्ञानं तथा तदैव दर्शनावरणक्षये सति सामान्यपरिच्छेदस्वभावं दर्शनमप्युत्पद्यताम् न ह्यविकलकारणे सति कार्यानुत्पत्तिर्युक्ता तस्यातत्कार्यताप्रसक्तेरितरत्राप्यविशेषतोऽनुत्पत्तिप्रसक्तेश्च। ज्ञानकाले दर्शनस्यापि संभवः तदुत्पत्तौ कारणसद्भावाद् युगपदुत्पत्त्यविकलकारणघटपटयुगपदुत्पत्तिवत्[3]। ननु च हेतौ सत्यपि श्रुताद्यावरणक्षयोपशमे श्रुताद्यनुत्पद्यमानमपि कदाचिद् दृष्टमित्यनैकान्तिको हेतुः, न, श्रुतादौ क्षीणावरणत्वस्य हेतोरभावात् श्रुतादेः क्षीणोपशान्तावरणत्वात्। भिन्नावरणत्वादेव च श्रुतावधिवत्नैकत्वमेकान्ततो ज्ञानदर्शनयोरेकदो[4]भयाभ्युपगमवादेनैव ॥ ५ ॥

[सर्वज्ञे छाद्मस्थिकक्रमोपयोगाभावात् तद्दृष्टान्तेनैव तत्र केवलज्ञानादन्यदा केवलदर्शनाभावप्रतिपादनम्]

यज्जातीये यो[5] दृष्टस्तज्जातीय एवासावन्यत्राप्यभ्युपगमार्हो न जात्यन्तरे धूमवत् पावकेतरभावाभावयोः अन्यथाऽनुमानादिव्यवहारविलोपप्रसङ्गादित्याह—

> भण्णइ खीणावरणे जह मइणाणं जिणे ण संभवइ।
> तह खीणावरणिज्जे विसेसओ दंसणं नत्थि ॥ ६ ॥

---

१ "त्मके"–बृ० टि०।

२ नीतौ लोपमभूतौ आनीतौ द्वावपि बिन्दु-द्विर्भावौ। अर्थं वहन्ति तमेव य एव तयोः पूर्वनिर्दिष्टः ॥

३ "यदविकलकारणं तद् भवत्येव यथाऽऽदित्यप्रकाशसमये तदविनाभावी प्रतापः। अविकलकारणं च ज्ञानोत्पत्तिकाले दर्शनमिति प्रयोग."—बृ० टि०। ४–कदोभ–वा० बा०। ५ यो यो दृ–बृ०।

यथा क्षीणावरणे मति-श्रुताऽवधि-मनःपर्यायज्ञानानि जिने न संभवन्तीत्यभ्युपगम्यते तथा तत्रैव क्षीणावरणीये विश्लेषतो ज्ञानोपयोगादन्यदा दर्शनं न संभवतीत्यभ्युपगन्तव्यम् क्रमोपयोगस्य मत्याद्यात्मकत्वात् तदभावे तदभावात् ॥ ६ ॥

[क्रमवादिमतेऽनुमानविरोधवदागमविरोधोऽप्यापततीति प्रदर्शनम्]

न केवलं क्रमवादिनोऽनुमानविरोधः आगमविरोधोऽपीत्याह—

सुत्तम्मि चेव साई अपज्जवसियं ति केवलं वुत्तं।
सुत्तासायणभीरूहि तं च दट्ठव्वयं होइ ॥ ७ ॥

साद्यपर्यवसाने केवलज्ञानदर्शने क्रमोपयोगे तु द्वितीयसमये तयोः पर्यवसानमिति कुतोऽपर्यवसितता? तेन क्रमोपयोगवादिभिः सूत्रासादनाभीरुभिः "केवलणाणे णं भंते!" [ ] इत्यादि आगमे साद्यपर्यवसानताभिधानं केवलज्ञानस्य केवलदर्शनस्य च द्रष्टव्यं—पर्यालोचनीयं भवति। सूत्रासादना चात्र सर्वज्ञाधिक्षेपद्वारेण द्रष्टव्या अचेतनस्य वचनस्याधिक्षेपायोगात्।

न च द्रव्यापेक्षयाऽपर्यवसितत्वम् द्रव्यविषयप्रश्नोत्तराश्रुतेः। अथ भवतोऽपि कथं तयोरपर्यवसानता पर्यायाणामुत्पादविगमात्मकत्वात्? न च द्रव्यापेक्षयैतदिति वाच्यम् असत्पक्षेऽप्यस्य समानत्वात्। तद्विषयप्रश्नप्रतिवचनाभावान्नेति चेत् तर्हि भवतोऽपि द्रव्यापेक्षयाऽपर्यवसानकथनमयुक्तम्, असदेतत्; तयोर्युगपद् रूपरसयोरिवोत्पादाभ्युपगमान्न ऋजुत्व-वक्रतावत्। एवमपि सपर्यवसानतेति चेत्, न; कथंचित् केवलिद्रव्यादव्यतिरेकतस्तयोरपर्यवसितत्वात्। न च क्रमैकान्तेऽप्येवं भविष्यत्यनेकान्तविरोधात्। न चात्रापि तथाभावः तथाभूतात्मकैककेवलिद्रव्याभ्युपगमात् रूपरसात्मैकद्रव्यवत् अक्रमरूपत्वे च द्रव्यस्य तदात्मकत्वेन तयोरप्यक्रम एव। न च तयोस्तद्रूपतया तथाभावो न स्वरूपतः तथात्वेऽनेकान्तरूपताविरोधान्निरावरणस्याक्रमस्य क्रमरूपत्वविरोधाच्च तस्यावरणकृतत्वात्। किञ्च, यदि सर्वथा क्रमेणैव तयोरुत्पत्तिरनेकान्तविरोधः। अथ कथञ्चित् तदा युगपदुत्पत्तिपक्षोऽप्यभ्युपगतः। न च द्वितीये क्षणे तयोरभावे अपर्यवसितता छाद्मस्थिकज्ञानस्येव युक्ता। पुनरुत्पादादपर्यवसितत्वे पर्यायस्याप्यपर्यवसिततात्प्रसक्तिः। द्रव्यार्थतया तत्त्वे द्वितीयक्षणेऽपि तयोः सद्भावोऽन्यथा द्रव्यार्थत्वायोगात् ॥ ७ ॥

[सोपसंहारमागमविरोधस्य स्पष्टीकरणम्]

तदेवं क्रमाभ्युपगमे तयोरागमविरोध इत्युपसंहरन्नाह—

संतम्मि केवले दंसणम्मि णाणस्स संभवो णत्थि।
केवलणाणम्मि य दंसणस्स तम्हा सणिहणाइं ॥ ८ ॥

क्रमोत्पादे सति केवलदर्शने न तदा ज्ञानस्य संभवस्तथा केवलज्ञाने न दर्शनस्य तस्मात् सनिधने केवलज्ञानदर्शने ॥ ८ ॥

[प्रकरणकारेण क्रमोपयोगद्वयवादिनम् सहोपयोगद्वयवादिनं च पर्यनुयुज्य स्वपक्षस्योपन्यासः]

अत्र प्रकरणकारः क्रमोपयोगवादिनं तदुभयप्रधानाक्रमोपयोगवादिनं च पर्यनुयुज्य स्वपक्षं दर्शयितुमाह—

१–भवीन्यभ्यु–आ० हा० वि०। २ "केवलणाणी णं पुच्छा, गोयमा! सातिए अपज्जवसिते"–प्रज्ञाप० प० १८ सू० २४१ पृ० ३८९। ३–थात्वेनैका–वा० बा० आ० हा० वि०।

दंसणणाणावरणक्खए समाणम्मि कस्स पुव्वअरं ।
होज्ज समं उप्पाओ हंदि दुए णत्थि उवओगा ॥ ९ ॥

सामान्यविशेषपरिच्छेदकावरणापगमे समाने कस्य प्रथमतरमुत्पादो भवेत् अन्यतरस्योत्पादे तदितरस्याप्युत्पादः स्यात् न चेदन्यतरस्यापि न स्यादविशेषात् इत्युभयोरप्यभावप्रसक्तिः अक्रमोपयोगवादिनः कथमिति चेत् समम् एककालम् उत्पादस्तयोर्भवेत् सत्यक्रमकारणे कार्यस्याप्यक्रमस्य भावादित्यक्रमौ द्वावुपयोगौ । अत्रैकोपयोगवाद्याह–हंदि दुवे णत्थि उवओगा इति द्वावप्युपयोगौ नैकदेति ज्ञायताम् सामान्यविशेषपरिच्छेदात्मकत्वात् केवलस्येति ॥ ९ ॥

[केवलज्ञान-दर्शनयोरभेदपक्ष एव सर्वज्ञत्व-सर्वदर्शित्वोपपत्तिरिति प्रकटनम्]

यदेव ज्ञानं तदेव दर्शनमित्यस्मिन्नेव वादे सर्वज्ञतासंभव इत्याह—

जइ सव्वं सायारं जाणइ एक्कसमएण सव्वण्णू ।
जुज्जइ सयावि एवं अहवा सव्वं ण याणाइ ॥ १० ॥

यदि आकारात्मकं वस्तु भवनं भवनात्मकं वा आकारात्मकं सामान्यविशेषयोरविनिर्भागेनवृत्तित्वात् सर्वं साकारं जानंस्तदात्मकं सामान्यं तदैव पश्यति तत् पश्यन् वा तदव्यतिरिक्तं विशेषं तदैव जानाति उभयात्मकवस्त्ववबोधैकरूपत्वात् सर्वज्ञोपयोगस्य तदा सर्वज्ञत्वं सर्वदर्शित्वं च तस्य सर्वकालं युज्यते प्रतिक्षणमुभयात्मकैकरूपत्वात् तस्य । अथवा सर्वं सामान्यं साकारं वा वस्तु न पश्यति न जानाति च तथाभूतयोस्तयोरसत्त्वात् जात्यन्धवत् आकाशवद्वा । अथवा सर्वं न जानात्येकदेशोपयोगवृत्तित्वाद् मतिज्ञानिवत् । युगपत् क्रमेण चैकान्तभिन्नोपयोगद्वयवादिमते न सर्वज्ञता सर्वदर्शिता चेत्याशय आचार्यस्य ।

[क्रमाऽक्रमाऽभेदपक्षत्रयग्राहिण आचार्यान् नामग्राहं निर्दिश्य तैः स्वस्वपक्षपोषकतया व्याख्यातानां सूत्राणां संसूचनम्]

अत्र च जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणपूज्यानामयुगपद्भाव्युपयोगद्वयमभिमतम् । मल्लवादिनस्तु युगपद्भावि तद्द्वयमिति । सिद्धान्तवाक्यान्यपि "सागारमणागारं लक्खणमेयं तु सिद्धाणं" [प्रज्ञाप० द्विती० प० सू० ५४ गा० १६०] । तथा "केवलणाणुवउत्ता जाणंति" [प्रज्ञाप० द्विती० प० सू० ५४ गा० १६१] इत्यादीनि युगपदुपयोगवादिना स्वमतसंवादकत्वेन व्याख्यातानि । क्रमोपयोगवादिना तु "सव्वाओ लद्धीओ" [विशेषावभा० गा० ३०८९] इत्यादीनि स्वमतसंवादकत्वेन । प्रकरणकारोऽपि स्वमतसंवादकान्येतान्यन्यानि च व्याख्यातवान् ॥ १० ॥

---

१ एकस–वा० बा० भा० । २–गवर्तित्वा–वा० बा० । ३–कारं ज्ञानं तदा–वृ० आ० हा० वि० । ४–कान्तरितोप–वृ० ।

५ "असरीरा जीवघणा उवउत्ता य दंसणे य नाणे य" । इति पूर्वार्धम्–प्रज्ञाप० पृ० १०६ द्वि० ।

६ "केवलनाणुवउत्ता जाणंता सव्वभावगुणभावे । पासंता सव्वओ खलु केवलदिट्ठीहिऽणंताहिं" ॥—प्रज्ञाप० पृ० १०६ द्वि० ।

७ इदं गाथाद्वयमौपपातिके आवश्यकनिर्युक्त्यन्तर्गतनमस्कारनिर्युक्तौ विशेषावश्यकभाष्यटीकायां च वर्तते—पृ० ११६ प्र० गा० ११–१२ । पृ० १७५ गा० ९१–९२ । पृ० ११९८,११९९ ।

८ "सव्वाओ लद्धीओ जं सागारोवओगलाभाओ । तेणेह सिद्धलद्धी उप्पज्जइ तदुवउत्तस्स" ॥ इति संपूर्णा गाथा ।

[साकारानाकारोपयोगयोरेकान्तिकभेदासंभवप्रदर्शनेन अनेकान्तस्य समर्थनम्]

साकारानाकारोपयोगयोर्नैकान्ततो भेद इति दर्शयन्नाह सूरिः—

परिसुद्धं सायारं अवियत्तं दंसणं अणायारं ।
ण य खीणावरणिज्जे जुज्जइ सुवियत्तमवियत्तं ॥ ११ ॥

ज्ञानस्य हि व्यक्तता रूपं दर्शनस्य पुनरव्यक्तता न च क्षीणावरणे अर्हति व्यक्तताव्यक्तते युज्येते । ततः सामान्यविशेषज्ञेयसंस्पर्शी उभयैकस्वभाव एवायं केवलिप्रत्ययः । न च ग्राह्यद्वित्वाद् ग्राहकद्वित्वमिति तत्र संभावना युक्ता केवलज्ञानस्य ग्राह्यानन्त्येनानन्ततापत्तेः । अन्योन्यानुविद्धग्राह्यांशद्वयभेदाद् ग्राहकस्य तथात्वकल्पने एकत्वानतिक्रमान्न दोष इति ।

सूरेरयमभिप्रायः—न चैकस्वभावस्य प्रत्ययस्य शीतोष्णस्पर्शवत् परस्परविभिन्नस्वभावद्वयविरोधो दर्शनस्पर्शनशक्तिद्वयात्मकैकदेवदत्तवत् स्वभावद्वयात्मकैकप्रत्ययस्य केवलिन्यविरोधात् अनेकान्तवादस्य प्रमाणोपपन्नत्वात् ॥ ११ ॥

[क्रमाक्रमोपयोगद्वयपक्षे शास्त्रसिद्धं ज्ञात-दृष्टभाषित्वं भगवतो न घटते इत्यभिधानम्]

क्रमाक्रमोपयोगद्वयाभ्युपगमे तु भगवत इदमापन्नमिति दर्शयति—

अदिट्ठं अण्णायं च केवली एव भासइ सया वि ।
एगसमयम्मि हंदी वयणवियप्पो न संभवइ ॥ १२ ॥

अदृष्टमेव ज्ञातं जात्यन्धहस्तिपरिज्ञानवत् अज्ञातमेव च दृष्टमलातचक्रदर्शनवत् । सर्वकालमेव केवली भाषत इत्येतदापन्नमक्रमोपयोगपक्षे । क्रमवत्युपयोगपक्षे तु एकस्मिन् समये जानाति यत् तदेव भाषते ज्ञातं न च दृष्टम् समयान्तरे तु यदा पश्यति तदापि दृष्टं भाषते न ज्ञातम् बोधानुरूप्येण वाचः प्रवर्तनात् । बोधस्य चैकांशावलम्बित्वादक्रमोपयोगपक्षे, क्रमोपयोगपक्षे तु तत्त्वाद् भिन्नसमयत्वाच्च तत एकस्मिन् समये ज्ञातं दृष्टं च भाषत इत्येष वचनविशेषो भवद्दर्शने न संभवतीति गृह्यताम् ॥ १२ ॥

[क्रमाक्रमपक्षद्वये भगवतः अज्ञातदर्शितया अदृष्टज्ञायितया च सर्वज्ञत्वासंभवप्रदर्शनम्]

तथा च सर्वज्ञत्वं न संभवतीत्याह—

अण्णायं पासंतो अदिट्ठं च अरहा वियाणंतो ।
किं जाणइ किं पासइ कह सव्वण्णु त्ति वा होइ ॥ १३ ॥

अज्ञातं पश्यन्नदृष्टं च जानानः किं जानाति किं वा पश्यति न किञ्चिदपीति भावः । कथं वा तस्य सर्वज्ञता भवेत् ? ॥ १३ ॥

[आगमसिद्धसमसंख्यकविषयावगाहित्वयुक्त्या केवलज्ञानदर्शनयोरभेदसमर्थनम्]

ज्ञानदर्शनयोरेकसंख्या(ख्य)त्वादप्येकत्वमित्याह—

केवलणाणमणंतं जहेव तह दंसणं पि पण्णत्तं ।
सागारग्गहणाहि य णियमपरित्तं अणागारं ॥ १४ ॥

---

१ "जुज्जइ सवियत्तमवियत्तं"–ज्ञानबिं० पृ० १५८ प्र० पं० ९ । २–पक्षे चैक–हा० । ३–द्रा ढं–वा० बा० । ४–त्वादभि–वा० बा० । ५ "एकांशावलम्बित्वात्"–वृ० टि० । ६ "एकसंख्याशालित्वात्"–ज्ञानबिं० पृ० १५९ प्र० पं० ११ ।

अत्र तात्पर्यार्थः—यद्येकत्वं ज्ञान-दर्शनयोर्न स्यात् ततोऽल्पविषयत्वाद् दर्शनमनन्तं न स्यादिति "अंणन्ते केवलणाणे अणंते केवलदंसणे" [ ] इत्यागमविरोधः प्रसज्येत। दर्शनस्य हि ज्ञानाद् भेदे साकारग्रहणादनन्तविशेषवर्तिज्ञानादनाकारं सामान्यमात्रावलम्बि केवलदर्शनं यतो नियमेनैकान्तेनैव परीतमल्पं भवतीति कुतो विषयभेदादनन्तता ?

युगपदुपयोगद्वयवादी अनन्तं दर्शनं प्रज्ञप्तमित्यस्यां प्रतिज्ञायां "साकारग्गहणाहि य णियमऽपरित्तं" इत्यकारप्रश्लेषात् साकारे विशेषे गतं यत् सामान्यं तस्य यद् ग्रहणं दर्शनं तस्य नियमोऽवश्यंभावस्तेनापरीतमपरिमाणमिति साकारगतग्रहणनियमेनापरीतत्वादिति हेतुमभिधत्ते। यच्चापरीतं तदनन्तं यथा केवलज्ञानम् अपरीतता च दर्शनस्य द्रव्य-गुण-कर्मादेः साकारस्य च सकलस्य द्रव्यत्व-गुणत्व-कर्मत्वादिना स्वसामान्येन तावत्परिमाणेनाशून्यत्वात् सामान्यविकलस्य पर्यायस्यासंभवात्। विशेषतादात्म्यव्यवस्थितसामान्यस्य दर्शनविषयस्यानन्त्येन दर्शनस्यापरीतत्वं नासिद्धमिति भवति तस्यानन्त्यसिद्धिरिति व्यवस्थितः ॥ १४ ॥

[अभेदवाद्युक्तस्य केवले अपर्यवसितत्वादिदोषस्य क्रमवादिना समुद्धरणम् तस्य च पुनरभेदवादिना प्रतिसमाधानम्]

क्रमवादिदर्शने ज्ञानदर्शनयोरपर्यवसितत्वादिकं नोपपद्यत इति यत् प्रेरितमेकत्ववादिना तत्परिहारार्थमाह—

भण्णइ जह चउणाणी जुज्जइ णियमा तहेव एयं पि।
भण्णइ ण पंचणाणी जहेव अरहा तहेयं पि ॥ १५ ॥

यथा क्रमोपयोगप्रवृत्तोऽपि मत्यादिचतुर्ज्ञानी अपर्यवसितचतुर्ज्ञान उत्पद्यमानतज्ज्ञानसर्वदोपलब्धिको व्यक्तबोधो ज्ञातदृष्टभाषी ज्ञाता द्रष्टा संशयवर्ती चावश्यमेव युज्यते तच्छक्तिसमन्वयात् तथैतदपि एकत्ववादिना यदपर्यवसितादि केवलिनि प्रेर्यते तद् युज्यत एव।

अनेकत्ववादिना प्रतिसमाधानं भण्यते यथैवार्हन् पञ्चज्ञानी भवति तथैतदपि क्रमवादिना यदुच्यते भेदतो ज्ञानवान् दर्शनवानिति च तदपि न भवतीति सूत्रकृतोऽभिप्रायः।

[शक्ति-क्रमोपयोगयोश्छद्मना व्याप्तिं स्वीकुर्वतां केषांचिन्मतस्य व्यावर्णनम्]

अत्र च छद्मस्थे किलोपयोगक्रमस्य दृष्टत्वात् केवलिनि च छद्माभावान्न क्रमवान् ज्ञानदर्शनोपयोग इत्ययमत्रार्थो विवक्षित इति केचित् प्रतिपन्नाः न हि यो यज्जातीये दृष्टः सोऽतज्जातीयेऽपि भवति अतिप्रसङ्गात् अन्यथा छद्मस्था अपि केवलिवत् क्रमोपयोगित्वात् सर्वज्ञाः स्युः सोऽपि वा न भवेत् तत एव सर्वज्ञवन्निरावरणास्ते सोऽपि वा सावरणः तत एव एकज्ञानिनो वा ते सोऽपि वा चतुर्ज्ञानी स्यात्।

[केवलिकवलाहारचर्चा]

[कवलाहारनिषेधवादस्य पूर्वपक्षतयोपन्यासः]

अत एव छद्मस्थे भुजिक्रियादर्शनात् केवलिनि तद्विजातीये भुजिक्रियाकल्पना न युक्ता–अन्यथा चतुर्ज्ञानित्वाऽकेवलित्व-संसारित्वादयोऽपि तत्र स्युः—न देहित्वं तद्भुक्तिकारणं तथाभूतशक्त्यायु-

---

१ "अणंते नाणे केवलिस्स, अणंते दंसणे केवलिस्स, निव्वुडे नाणे केवलिस्स, निव्वुडे दंसणे केवलिस्स"—भगवतीसू० श० ५ उ० ४ सू० १८५ पृ० २१६। २–कार वि–बृ० वा० वा० विना। ३–हणे नि–बृ०। ४–छद्र–बृ०। ५–स्थितिसा–हा० वि०। ६–स्थिती ती। क–वा० वा०। ७–तमनेकत्व–बृ० आ० हा० वि०। ८ "युगपदुपयोगवादी"–बृ० टि०। ९ "ज्ञातदृष्टभाषी ज्ञाता द्रष्टा च नियमेन"–ज्ञानबिं० पृ० १५९ प्र० पं० १२। १०–र्ती चाव–बृ० वा० बा० मां० विना। ११ "यदपर्यवसितत्वादि क्रमोपयोगे केवलिनि"–ज्ञानबिं० पृ० १५९ प्र० पं० १३। १२–पन्ना न हि आं० हा० वि०। १३ इयं चर्चा स्याद्वादरत्नाकरे भङ्ग्यन्तरेण चर्चिता विद्यते—परि० २ सू० २७ पृ० ४५७–४८३। १४ "केवलिनि"–बृ० टि०।

ष्ककर्मणोस्तद्धेतुत्वादेकवैकल्ये तदभावात्। औदारिकव्यपदेशोऽप्युदारत्वान्न मुक्तेः। यदपि 'एकेन्द्रियादीनामयोगिपर्यन्तानामाहारिणां सूत्रोपदेशात् केवलिनः कवलाहारित्वं केचित् प्रतिपन्नाः' तदपि सूत्रार्थापरिज्ञानात् तत्र ह्येकेन्द्रियादिभिः सह भगवतो निर्देशान्निरन्तराहारोपदेशाच्च शरीरप्रायोग्यपुद्गलग्रहणमाहारत्वेन विवक्षितमन्यथा क्षणत्रयमात्रमपहाय समुद्घातावस्थायां निरन्तराहारो भगवांस्तेनाहारेण भवेत्। यदपि 'यथासंभवमाहारव्यवस्थितेः सह निर्देशेऽपि कवलाहार एव केवलिनो व्यवस्थाप्यते युक्त्या अन्यथा तच्छरीरस्थितेरभावादिति' तदपि न युक्तिक्षमम् यतो यदि नामास्मदादेः प्रक्षिप्ताहारमन्तरेणौदारिकशरीरस्थितेः प्रभूतकालमभावात् केवलिनोऽपि तथाऽनुमीयते तर्हि सर्वज्ञतापि तस्य कथमवसातुं शक्या दृष्टव्यतिक्रमप्रकल्पनायोगात् श्रूयते च प्रक्षिप्ताहारमन्तरेणाप्यौदारिकशरीरस्थितिश्चिरतरकाला प्रथमतीर्थकृत्प्रभृतीनाम्। न च तदियत्तानियमप्रतिपादकं प्रमाणमस्तीति सूत्रभेदकरणनिमित्तासंभवात् यथान्यासमेव सूत्रार्थपरिकल्पनमस्तु एवं च निरन्तराहारवचनमप्यनुल्लङ्घितं भवेत्। अथापि स्यादतिशयदर्शनान्निरवशेषदोषावरणहानेरत्यन्तशुद्धात्मस्वभावप्रतिपत्तिवत् प्रक्षिप्ताहारविकला औदारिकशरीरस्थितिरात्यन्तिकी क्वचिद् यदि भवेत् तदाऽसंभवन्मुक्तीनां केवलिनां प्रमाणतः प्रतिपत्तेः "असरीरा जीवघणा" इत्याद्यागमविरोधः प्रसज्येत, असदेतत्; यतः किमेवं सर्वज्ञस्यासत्त्वं प्रतिपादयितुमभिप्रेतम् उतातिशयदर्शनस्य तदहेतुत्वम्? न तावदाद्यः पक्षः धर्मिणोऽभावे तद्धर्मस्य ध[illegible]स्य साधयितुमशक्तेः। नापि द्वितीयः औदारिकशरीरस्य चिरतरकालावस्थायित्वस्याविरोधात्। न चातिशयदर्शनस्य तदहेतुत्वे केवलिमुक्तिसिद्धिः। न च यदतिशयवत् तदात्यन्तिकमतिशयमनुभवतीति सर्वत्र साध्यते किन्तु व्याप्तिदर्शनमात्रमेतत् अतः कियत्कालावस्थितिमात्रं केवलिनां शरीरस्थितेरिष्टं नात्यन्तिकम्। न च संयोगस्यात्यन्तिकी स्थितिः संभवति सत्यपि प्रकर्षदर्शने जीवकर्मणोरनादित्वेऽपि विश्लेषप्रतिपत्तेः संश्लेषस्थितिनियमस्य चानिष्टेरसंख्येयकालादूर्ध्वं पुद्गलपरिणतेः सर्वस्या अन्यथाभवनाद् औदारिकशरीरस्य च निराहारस्य चिरतरकालस्थायिन उत्तरकालमशेषकर्मक्षयाद् विनिवृत्तावस्ति साधनं सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वम् इदमेव च तत्त्वव्यवस्थायां सर्वत्राभ्युपगन्तव्यम् न ह्यध्यक्षाद्यवगतस्याप्यर्थस्यैतदन्तरेण तत्त्वव्यवस्थितिः अनुभूतस्यापि बाधकप्रत्ययप्रवृत्तौ मिथ्यात्वरूपतया व्यवस्थापनात्। ततः सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वादेव प्रमाणप्रमेयतत्त्वसिद्धिः बाधकप्रमाणनिश्चयात् तद्विपरीतार्थप्रतिपत्तिः उभयोरनिश्चये दृष्टश्रुतयोरर्थयोः संशीतिरिति व्यवस्था सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वं च प्रक्षिप्ताहारवैकल्येऽपि सर्वज्ञौदारिकशरीरचिरस्थायित्वप्रतिपादकागमस्य समस्त्येवेति न किञ्चित् तस्य कवलाहारपरिकल्पनया। केवली च कवलाहारमश्नन् किं बुभुक्षया उत शरीरस्थित्यन्यथाऽनुपपत्त्या आहोस्वित् स्वभावतोऽश्नातीति वक्तव्यम्? न तावदाद्यः पक्षः बुभुक्षाया दुःखरूपत्वात् तन्मूलदोषराशिनिवृत्तौ तस्या असंभवात् अनिवृत्तौ वा तत्प्रभवस्य दुःखसमूहस्य सद्भावे आत्यन्तिकसौख्यानुपपत्तिर्भगवति स्यात्। न च क्षुत्तुल्या शरीरवेदनेत्युक्तम्। बुभुक्षामन्तरेणापि शरीरं स्थापयितुमिच्छुरश्नातीति चेत्, न; अनन्तवीर्यस्य भगवतः शरीरस्थितिमिच्छोः प्रक्षिप्ताहारमन्तरेणापि तत्स्थापनासामर्थ्याविरोधात् शरीरतिष्ठापयिषाऽपि बुभुक्षावत् क्लेश एवेति न प्रथमपक्षादस्य विशेष इति न द्वितीयः पक्षोऽपि। नापि तृतीयपक्षाभ्युपगमोऽपि युक्तः प्रक्षिप्ताहारविकलस्यैव विवक्षितकालभाविशरीरस्थितिस्वभावकल्पनयैव दोषाभावाद् अन्यथाऽशिष्टव्यवहारेष्वपि तत्स्वभावकल्पनायाः प्रसङ्गात्। तीर्थप्रवर्तनस्य तु व्यापारव्याहारलक्षणस्य तत्कालभाविविवक्षाचिकीर्षाऽभावेऽपि सद्भावो न विरुध्यते तीर्थप्रवर्तनस्य सद्भावनाविशेषोत्पन्नविशिष्टफलरूपत्वात्। सकलक्लेशोपरमेऽपि च तीर्थप्रवर्तनं स्वयमभ्युपगतं परेण प्रक्षिप्ताहारादिकं तु क्लेशोपशमनार्थं कथं तत्स्वभावतः कल्पयितुं युक्तम्? न च भगवति क्लेशः नापि तदुपशमनवाञ्छा तस्येति कवलाहारपरिकल्पनायां भगवति पक्षत्रयेऽपि दोषानतिवृत्तेः प्रकारान्तरस्य चासंभवान्न तत्र प्रक्षिप्ताहारकल्पना युक्तिसंगता।

---

१ स्याद्वादर० पृ० ४५८ पं० ४-५। २ पृ० ६०८ पं० २२ टि० ५। ३ "शरीरस्थितेरहेतुरतिशयवत्त्व[illegible]भाव"-बृ० टि०। ४-भययोर-भा० हा० वि०। ५ "पंचघमा नत्थि जरा छुहाग्गा वेयणा नत्थि" इति विश्रुतं सुभाषितम्। ६-पिशुद्धिबुभुक्षा-भां० मां०। ७-स्य तद्धा-पा० वा० विना।

[पूर्वपक्षं प्रतिविधातुमुपयोगक्रमसामान्यस्य छद्मना व्याप्तिं निरस्य भुक्तेरपि तेन सह व्याप्त्यभावे तात्पर्यख्यापनम्]

अत्र प्रतिविधीयते यदुक्तम् 'छद्मस्थे उपयोगक्रमस्य दृष्टत्वात् केवलिनि च छद्माभावादुपयोगक्रमाभावः' तत्र क्रमोपयोगस्य क्षयोपशमकार्यत्वात् केवलिनि च तदभावात् क्रमोपयोगस्यापि तत्कार्यस्याभावः। तथाहि-यत् यत्कारणं तत् तदभावे न भवति यथा चक्षुरभावे चक्षुर्ज्ञानम् क्षयोपशमकारणश्च क्रमोपयोग इति क्षायिकोपयोगवति केवलिनि क्रमोपयोगाभावः। अथ क्षयोपशमाभावे भवतु तत्र मतिज्ञानादिक्रमवदुपयोगाभावः केवलज्ञानदर्शनयोस्तु क्षायिकत्वात् कथं क्षयोपशमाभावे तयोः क्रमाभावः? उच्यते, यद् यदाऽविकलकारणं तत् तदाऽवश्यंतया प्रादुर्भवति यथा अन्त्यावस्थाप्राप्तक्षित्यादिसामग्रीसमयेऽङ्कुरः अविकलकारणं च केवलज्ञानोपयोगकाले केवलदर्शनम् स्वावरणक्षयलक्षणाविकलकारणसद्भावेऽपि तदा तस्यानुत्पत्तावतद्धेतुकताप्रसक्तेर्देशकालाकारनियमो न भवेत्। अनायत्तस्य तदसंभवात् इति प्रतिपादितत्वात्। क्रमोत्पत्तिस्वभावप्रकल्पनायां क्षायिकत्वं तस्य परित्यक्तं स्यात् अध्यक्षसिद्धे च क्रमे तत्स्वभावप्रकल्पना युक्तिसंगता अन्यथातिप्रसङ्गः सर्वभावव्यवस्थाविलोपप्रसक्तेः। न च यो यज्जातीये दृष्टः सोऽन्यत्रातज्जातीये न भवति इत्येतदत्र विवक्षितं किं तर्हि कारणाभावे कार्यं न भवति अविकलकारणं चाविलम्बितोत्पत्तिकमेतदत्र प्रतिपादयितुमभिप्रेतमाचार्यस्य।

[केवलिनि कवलाहारमुपपादयितुं बाधकप्रमाणनिरासपूर्वकं साधकप्रमाणप्रदर्शनम्]

तेन यदि केवलिनो भुक्तिकारणाभावः सिद्धो भवेत् प्रतिबद्धत्वं वा स्वकार्यकरणे कारणस्यावगतं भवेत् तदा तदभावनिश्चयः स्यात् न चैतदुभयमपि भवस्थकेवलिनि सिद्धम् अप्रतिबद्धसामर्थ्यस्य क्षुद्वेदनीयकर्मोदयस्य तत्र सद्भावात्। तेनातज्जातीयत्वेऽपि केवलिनि भुक्तिप्रकल्पनायां चतुर्ज्ञानित्वाऽकेवलित्वापत्त्यादेर्दूषणस्यानवकाशो भुक्तिकारणस्यैव तत्कारणस्य तत्राभावान्निर्निमित्तस्य च चतुर्ज्ञानित्वादेः कार्यस्यासंभवात्। यच्च अतज्जातीयत्वं केवलिनः प्रतिपादितं तत् किमस्मदाद्यपेक्षया आहोस्विदात्मीयछद्मस्थावस्थापेक्षया? तत्राद्ये विकल्पे सिद्धसाध्यता। द्वितीयपक्षेऽपि किं घातिकर्मक्षयापेक्षया तत् तस्याभ्युपगम्यते आहोस्विद् भुक्तिनिमित्तकर्मक्षयापेक्षया? प्रथमपक्षे सिद्धं विजातीयत्वम् न तु तावता तस्य भुक्तिप्रतिषेधः अप्रतिबद्धसामर्थ्यस्य भुक्तिकारणस्य तथाविजातीयत्वेऽपि स्वकार्यनिर्वर्तकत्वात्। द्वितीयपक्षोऽप्ययुक्तः अतज्जातीयत्वस्यैवासिद्धत्वात् तन्निमित्तस्य कर्मणो भवस्थकेवलिनि पर्यन्तसमयं यावदनुवृत्तेः। यदपि 'न देहित्वं भुक्तिकारणं तथाभूतशक्त्यायुष्ककर्मणोस्तद्धेतुकत्वादेकवैकल्ये तदभावात्' इति तदप्यसंगतम् यतो न देहित्वमात्रं प्रकृतभुक्तिकारणमपि तु विशिष्टकर्मोदयादिसामग्री तस्याश्च ततोऽद्याप्यव्यावृत्तेः कुतस्तदभावः? तथाभूतशक्त्यायुष्ककर्मणोश्चैकस्यापि वैकल्यासिद्धेरेकवैकल्ये तदभावादित्यसिद्धम्। यच्च 'औदारिकव्यपदेशोऽप्युदारत्वान्न भुक्तेः' इति, तदपि न दोषावहम् औदारिकशरीरित्वे स्वकारणाधीनाया भुक्तेरप्रतिषेधात्। व्यपदेशस्योदारत्वनिमित्तत्वेऽपि स्वकारणनिमित्तप्रकृतभुक्तिसिद्धेः। यदपि 'एकेन्द्रियादीनामयोगिपर्यन्तानामाहारिणां सूत्र उपदेशः' इत्याद्यभिधानम्, तदप्यसंगतम्; एके-

---

1 श्वेताम्बरमार्गानुयायिनः केवलिनः (सर्वज्ञस्य) कवलाहारकत्वं स्वीकुर्वते। दिगम्बरा अपि ये यापनीयसंघानुयायिनस्तेषामेव तद् अभिप्रेतम् नान्येषां दिगम्बराणाम्। अत्र विषये यापनीयसंघाग्रगामिना श्रीमता शाकटायनेन रचितं सप्तत्रिंशत्कारिकामयं केवलिभुक्तिप्रकरणमवबोद्धव्यम्। इतरदिगम्बराणां च मतमवबोद्धुं प्रमेयकमलमार्तण्डगता सा केवलिकवलाहारचर्चाऽपि अत्रानुसन्धेया—पृ० ८४ द्वि० पं० १६—पृ० ८७ द्वि० पं० ५।

२ पृ० ६१० पं० २४। ३ भवति त-वा० बा०। ४ "देशकालप्रतिनियम"-वृ० टि०। ५ पृ० ५६८ पं० २१ तथा टि० ८। ६-स्यालो-भां० मा०। ७-न्यत्र त-भा० हा० वि०। पृ० ६१० पं० २५। ८-रणं घा-वृ० वा० बा०। ९ "वैधर्म्येण निदर्शनमुक्तम्-" वृ० टि०। १० पृ० ६१० पं० २५। ११-द्ये क-भां० मा० विना। १२ पृ० ६१० पं० ३२। १३ पृ० ६११ पं० १। १४ पृ० ६११ पं० २।

न्द्रियादिसहचरिततत्त्वनिरन्तराहारोपदेशत्वाद्यन्तरेणापि "विग्गहगइमावण्णो" [ ] इत्यादि सूत्रसंदर्भस्य केवलिभुक्तिप्रतिपादकस्यागमे सद्भावात्। न च तस्याप्रामाण्यम् सर्वज्ञप्रणीतत्वेनाभ्युपगतसूत्रस्येव प्रामाण्योपपत्तेः। न च तत्प्रणीतागमैकवाक्यतया प्रतीयमानस्याप्यस्यातत्प्रणीतत्वम् अन्यत्रापि तत्प्रसक्तेः। यद[2]पि 'शरीरप्रायोग्यपुद्गलग्रहणमाहारत्वेनाभिमतमत्र' इत्यभिधानम् तदप्यसंगतम्; विग्रहगत्यापन्नसमवहतकेवल्ययोगिसिद्धव्यतिरिक्ताशेषप्राणिगणस्य शरीर[3]प्रायोग्यपुद्गलग्रहणमेवाहारशब्दवाच्यमिह सूत्रेऽभिप्रेतमिति कोऽन्यः सामयिकशब्दार्थविदो भवतोऽभिधातुं समर्थः? यद[4]पि 'निरन्तराहारत्वं केवलिनस्तेनाहारेण समुद्घातक्षणत्रयमपहाय भवेत्' इत्युक्तम् तदप्यसंगतम् विशिष्टाहारस्य विशिष्टकारणप्रभवत्वात् तस्य च प्रतिक्षणमसंभवात् यस्तु पुद्गलादानलक्षणो लोमाद्याहारस्तस्य प्रतिक्षणं सद्भावेऽप्यदोषात्। यद[5]पि 'यथासंभवमाहारव्यवस्थितेः केवलिनः कवलाहारः अन्यथा शरीरस्थितेरभावात् व्यवस्थाप्यते' इत्यभिधानम् तद्युक्तमेव न हि देशोनपूर्वकोटिं यावद् विशिष्टाहारमन्तरेण विशिष्टौदारिकशरीरस्थितिः संभविनी। न च तच्छद्मस्थावस्थातः केवल्यवस्थायामात्यन्तिकं तच्छरीरस्य विजातीयत्वं येन प्रकृताहारविरहेऽपि तच्छरीरस्थितेरविरोधो भवेत् ज्ञानाद्यतिशयेऽपि प्राक्तनसंहननाद्यधिष्ठितस्य तस्यैवापातमनुवृत्तेः। अस्मदाद्यौदारिकशरीरविशिष्टस्थितेर्विशिष्टाहारनिमित्तत्वं प्रत्यक्षानुपलम्भप्रभवप्रमाणेन सर्वत्राधिगतमिति विशिष्टाहारमन्तरेण तत्स्थितेरन्यत्र सद्भावे सकृदपि तत्स्थितिस्तन्निमित्ता न भवेत् अहेतोः सकृदपि सद्भावाभावात्। यदि पुनर्विशिष्टाहारनिमित्ताप्यस्मदादिषु विशिष्टशरीरस्थितिः पुरुषान्तरे तद्व्यतिरेकेणापि भवेत् तर्हि महानसादौ धूमध्वजप्रभवोऽपि धूमः पर्वतादौ तमन्तरेणापि भवेदिति धूमादेरग्न्याद्यनुमानमसङ्गतं भवेद् व्यभिचारात्। अथैतज्जातीयो धूम एतज्जातीयाग्निप्रभवः सर्वत्र सकृत्प्रवृत्तेनैव प्रमाणेन व्यवस्थाप्यते तत्कार्यताप्रतिपत्तिबलादग्निस्वभावादन्यत्र त[6]स्य भावे सकृदप्यग्नेर्न भावः स्याद् अग्निस्वभावाजन्यत्वात् तस्य भवति चाग्निस्वभावान्महानसादौ धूम इति सर्वत्र सर्वदा तत्स्वभावादेव तस्योत्पा[7]दे तदुत्पत्तिकस्याधूमस्वभावत्वादिति न धूमादेरग्न्याद्यनुमाने व्यभिचारस्तर्ह्ययं प्रकारः प्रकृतेऽपि समानः विशिष्टौदारिकशरीरस्थितेर्विशिष्टाहारमन्तरेणापि भावे तच्छरीरस्थितिरेवासौ न भवेत्। न चात्यन्तविजातीयत्वं तस्या इति प्रतिपादितम्। सर्वथा समानजातीयत्वं तु महानसपर्वतोपलब्धधूमयोरप्यसंभवि। ततोऽस्मदादेरिव केवलिनोऽपि प्रकृताहारमन्तरेणौदारिकशरीरस्थितिश्चिरतरकाला न संभवतीत्यनुमानं प्रवर्तत एव अन्यथा धूमादेरग्न्याद्यनुमानमपि न स्यात्। यदपि 'कुत[10]स्तस्यैवं सर्वज्ञतादिसिद्धिः' इत्यभिधानम् तदप्यसङ्गतम् घातिकर्मक्षयप्रभवसर्वज्ञतादेः प्रकृताहारेण तत्कार्येण वा चिरका[11]लभाव्यौदारिकशरीरस्थित्यादिना विरोधासंभवात् सर्वज्ञतासिद्धिनिबन्धनस्य च प्रमाणस्य प्रतिपादितत्वात् प्रकृताहारप्रतिपादकस्य च। यद[12]पि 'निराहारौदारिकशरीरस्थितेः प्रथमतीर्थंकरप्रभृतीनामतिशयश्रवणात् तदियत्तानियमप्रतिपादकप्रमाणाभावाच्च' इति तदप्यपर्यालोचिताभिधानम् तस्य प्रामा[13]ण्ये तदियत्तानियमस्यापि तत एव सिद्धेः तदधिकनिराहारतच्छरीरस्थितेः सूत्रे निषेधान्निरशनकालस्य तावत एवोत्कृष्टताप्रतिपादनात्। यद[14]पि 'सूत्रभेदकरणकारणासंभवात्' इत्यादि तदप्यसंगतम् चिरतरकालस्थितिरेव तच्छरीरस्य सूत्रभेदकरणकारणं प्रकृताहारमन्तरेण तत्स्थितेरसंभवस्य प्रतिपादनात्। भूयांसि च प्रकृताहारप्रतिपादकानि केवलिनः सूत्राण्यागमे[15] उपलभ्यन्ते प्रतिनियतकालप्रकृताहारनिषेधकानि

---

1 "विग्गहगइमावन्ना केवलिणो समुहया अयोगी या। सिद्धा य अणाहारा सेसा आहारगा जीवा" ॥ इत्येषा गाथा सूत्रकृताङ्गसूत्रटीकाकृता श्रीशीलाङ्केन तत्सूत्रद्वितीयश्रुतस्कन्धस्य आहारपरिज्ञानाम्नि तृतीयेऽध्ययने व्याख्यायामुद्धृताऽस्ति–पृ० ३४४ द्वि० पं० १–२। तस्या विशदा व्याख्याऽपि तत्स्थानत एव बोद्धव्या। प्रमेयकमलमार्तण्डेऽपि एषा उद्धृताऽस्ति–पृ० ८५ प्र० पं० १२। स्याद्वादर० पृ० ४६२ पं० २४। 2 पृ० ६११ पं० ४। 3–रप्रयो–वृ०। 4 पृ० ६११ पं० ४। 5 पृ० ६११ पं० ५। 6 तस्या भा–ज० स०। 7 अत्र–'त्पादेऽतदुत्पत्ति'–इति सावग्रह पाठो युज्यते अन्यथा 'स्याधूम' इति असंगतं स्यात्। 8 प्र० पृ० पं० १२। 9 पृ० ६११ पं० ८। 10–स्तस्यैव स–भा० मा० विना। 11 पृ० ५३–६९। 12 पृ० ६११ पं० ९। 13–माण्यात्तदिय–वृ०।–माण्यं तर्हि तदिय–आ०। 14 पृ० ६११ पं० १०। 15 सूत्राणि चैतानि सूत्रकृताङ्गसूत्रान्तर्गतद्वितीयश्रुतस्कन्धे आहारपरिज्ञानाम्नि तृतीयेऽध्ययने, भगवतीसूत्रे प्रथमशतकीयप्रथमोद्देशके, प्रज्ञापनासूत्रे च आहारपदे लभ्यन्ते–पृ० ३४२–३६०। पृ० १९–३०। पृ० ४९८—५२४।

च। यथा प्रथमतीर्थकृत एव चतुर्दशभक्तनिषेधेनाष्टापदनगे दशसहस्रकेवलिसहितस्य निर्वाणगतिप्रतिपादकानि[1] सूत्राणि[2]। यदपि[3] 'अतिशयदर्शनान्निरवशेषदोषावरणहाने:' इत्याद्याशङ्क्य विकल्पद्वय[4]मुत्थाप्य परिहृतम् तत्रापि नास्माभिः सर्वज्ञत्वादेरभावः साध्यते येन धर्मिणोऽभावात् प्रकृतसाध्यसिद्धिर्न भवेत् किन्तु यद्यतिशयदर्शनान्नैर्मल्यप्रतिपत्तिवद् आत्यन्तिकी शरीरस्थितिस्तस्य साध्येत तदा मुक्तेरभावः प्रसज्यत एवेति प्रसङ्गसाधनं भवदभिप्रेतव्याप्तिबलात् क्रियत इति न प्राग्[6]उक्तदोषावकाशः। द्वितीयपक्षेऽपि 'न केवलिमुक्तिः सिध्यति नाप्यनाहारौदारिकशरीरस्य चिरतरकालस्थायित्वं विरुध्यते' इति यद्दूषणमुक्तम् तदनुक्तोपालम्भरूपम् न ह्येवं केवलिभुक्त्यादिकमस्माभिः साध्यते किन्तु प्रदर्शितप्रमाणात् सर्वज्ञप्रणीतागमाच्च। 'न च यदतिशयवत्' इत्याद्यप्यसङ्गतम् संवत्सरमात्रशरीरस्थितिसिद्धावपि केवलिनामतोऽतिशयात् प्रभूततरकालस्थित्यसिद्धेः। न च तावत्कालप्रकृताहारविरहप्रतिपादकमपि केवलिनां सूत्रमुपलभ्यते। यच्च[8] 'संयोगस्यावस्थानमात्यन्तिकं न भवति' इत्यादि तत् सिद्धमेव साधितम्। यच्च[9] 'सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वं प्रकृताहारविरहेऽपि चिरतरमौदारिकशरीरस्थितेः प्रतिपादकस्य सूत्रस्यास्त्येव' इत्युक्तम् तदपि प्रकृताहारविरहे केवलिप्रकृतशरीरस्थितेः प्रतिपादकस्य सूत्रस्यैवाभावादयुक्तम्। यदपि[10] 'आहारविरहातिशयप्रतिपादकं सूत्रं प्रथमतीर्थकृदादेः' तदपि तच्छद्मस्थावस्थायां न पुनः केवल्यवस्थायाम् असंभवद्बाधकप्रमाणत्वं चासिद्धमनुमानस्य तदाहारप्रतिपादकस्य बाधकस्य प्रदर्शितत्वात्[12] सूत्रसमूहस्य च व्याख्याप्रज्ञप्त्यादि[13]ष्वेषु तद्बाधकस्योपलम्भात्।

किञ्च, सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वं न प्रमाणलक्षणं तस्य ज्ञातुमशक्यत्वात्। तथाहि–बाधकप्रमाणाभावो यद्यन्यतः प्रमाणादवसीयते तर्हि तत्रापि बाधकप्रमाणाभावनिश्चयात् प्रामाण्यनिश्चयस्तदभावनिश्चयश्चान्यतोऽबाधितप्रमाणादित्यनवस्थाप्रसक्तिः। अथ बाधानुपलम्भाद् बाधकाभावनिश्चयः, न, उत्पत्स्यमानबाधकेऽपि बाधकोत्पत्तेः प्राग् बाधानुपलब्धिसंभवात्[14] बाधकानुपलम्भाद् बाधाभावनिश्चयः। न चानिश्चित[15]लक्षणं प्रमाणं प्रमेयव्यवस्थानिबन्धनम् अतिप्रसङ्गात्। अथ संवादादसंभवद्बाधकप्रमाणत्वनिश्चयस्तर्हि संवादित्वमेव प्रमाणलक्षणमभ्युपगमार्हं किमबाधितत्वलक्षणप्रतिज्ञानेन तच्च संवादित्वमतीन्द्रियार्थविषयस्यागमस्याप्तप्रणीतत्वान्निश्चीयते तत्प्रणीतत्वनिश्चयश्चागमैकवाक्यतया व्यवस्थितस्य केवलिमुक्तिप्रतिपादकसूत्रसमूहस्य सिद्ध एवेति भवत्यागमादपि केवलिमु-

---

१-दनादिसूत्राणि ल० भा० मां० विना। २ तच्चेत्थम्—

"ते णं काले ण ते णं समए णं उसभे अरहा कोसलिए वीसं पुव्वसयसहस्साइं कुमारवासमज्झे वसित्ता णं तेवट्ठिं पुव्वसयसहस्साइ रज्जवासमज्झे वसित्ता णं तेसीइं पुव्वसयसहस्साइं अगारवासमज्झे वसित्ता णं एगं वाससहस्सं छउमत्थपरिआय पाउणित्ता एगं पुव्वसयसहस्सं वाससहस्सूणं केवलिपरिआयं पाउणित्ता पडिपुण्णं पुव्वसयसहस्सं सामण्णपरियागं पाउणित्ता चउरासीइं पुव्वसयसहस्साइं सव्वाउयं पालइत्ता खीणे वेयणिज्जाउयनामगुत्ते इमीसे ओसप्पिणीए सुसमदुसमाए समाए बहुविइक्कंताए तिहिं वासेहिं अद्धनवमेहि य मासेहिं सेसेहिं जे से हेमंताणं तच्चे मासे पंचमे पक्खे माहबहुले तस्स णं माहबहुलस्स तेरसीपक्खे णं उप्पिं अट्ठावयसेलसिहरांसि दसहिं अणगारसहस्सेहिं सद्धिं चोद्दसमेणं भत्तेणं अपाणएणं असीइणा नक्खत्तेण जोगमुवागएणं पुव्वण्हकालसमयंसि संपलियंकनिसण्णे कालगए विइक्कंते जाव सव्वदुक्खप्पहीणे"— मू० कल्पसू० सू० २२७ पृ० ४९ द्वि०।

३ पृ० ६११ पं० ११। ४ पृ० ६११ पं० १४—१६। ५-त इति छ० वा० बा० भां० मा० विना। ६ पृ० ६११ पं० १३। ७ पृ० ६११ पं० १६। ८ पृ० ६११ पं० १७। ९ पृ० ६११ पं० १९। १० पृ० ६११ पं० २१। ११ पृ० ६११ पं० ९। १२ पृ० ६१३ पं० १४ तथा टि० १५।

१३ भगवतीतिनाम्ना प्रसिद्धे व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्रे द्वितीयशतकीयप्रथमोद्देशके स्कन्दकतापसाधिकारे सर्वज्ञस्य भगवतो महावीरस्य शरीरं वर्णयता सूत्रकारेण तस्य नित्यभोजित्वमपि 'वियट्टभोती' इति विशेषणेन सूचितम्। तच्चेत्थम्—

"तेणं कालेणं तेणं समयेणं समणे भगवं महावीरे वियट्टभोती या वि होत्था। तए णं समणस्स भगवओ महावीरस्स वियट्टभोगियस्स सरीरं ओरालं सिंगारं कल्लाणं सिवं धन्नं मंगलं सस्सिरीयं अणलंकियविभूसियं ××× सिरीए अतीव अतीव उवसोभमाणे चिट्ठइ"—पृ० ११७ प्र० तथा पृ० ६१३ टि० १५।

१४ "यावद् भाविन्या बाधाया अभाव."—वृ० ल० टि०। १५ "अनिश्चित एव बाधकाभावो मानलक्षणं भविष्यतीत्याह—न चेति"—वृ० ल० टि०।

क्तिसिद्धिः । तेन 'सूत्रभेदप्रक्षिप्तिः कवलाहारपरिकल्पनायां केवलिनः' इति दोषाभावः यथोक्तन्यायात् तत्सिद्धेः । यदपि 'केवली प्रकृतमाहारमश्नन्' इत्यादिपक्षत्रयमुत्थाप्य तत्र दोषाभिधानम् तदप्यसंगतम् यतः प्रथमपक्षे बुभुक्षयाऽश्नतो दुःखिताप्रसक्तिर्दोष उद्भावितः स चादोष एव असातानुभवस्य वेदनीयकर्मप्रभवस्यायोग्यवस्थाचरमक्षणं यावत् संभवात् तत्कारणस्यासातवेदनीयकर्मोदयस्याप्रतिबद्धत्वात् अविकलकारणस्य च कार्यस्योत्पत्त्यप्रतिषेधात् अन्यथा तस्य तत्कारणत्वायोगात्, न च दग्धरज्जुसंस्थानीयत्वात् तस्य स्वकार्याजनकत्वम् तत एव सातवेदनीयस्यापि स्वकार्याजनकत्वप्रसक्तेः सुखानुभवस्यापि भगवत्यभावप्रसङ्गात् । यथा च दग्धरज्जुसंस्थानीयायुष्ककर्मोदयकार्यं प्राणादिधारणं भगवति तथा प्रकृतमप्यभ्युपगम्यतां विशेषाभावात् । न च बुभुक्षाया दुःखरूपत्वाद् भगवत्यसंभवः प्रतिपादयितुं शक्यः "एकादश जिने" [तत्त्वार्थ० अ० ९, सू० ११] इति सूत्रात् क्षुदादिपरिषहैकादशकस्य केवलिनि सिद्धेः । यदपि 'अनन्तवीर्यत्वं प्रकृताहारमन्तरेणापि शरीरस्थितिकारणमभिधीयते' तदपि छद्मस्थावस्थायां भगवत्यपरिमितबलश्रवणात् समस्त्येव न च प्रकृताहारमन्तरेण तत् तस्यामवस्थायां शरीरस्थितिकारणम् अन्यथा कर्मक्षयार्थमनशनादितपस्युद्यमवतः प्राणवृत्तिप्रत्ययं तस्यामवस्थायामशनाद्यभ्यवहरणमसङ्गतं स्यात् । न च प्राक् क्षायोपशमिकं तस्य वीर्यं कैवल्यावस्थायां तु क्षायिकं तदिति विशिष्टाहारमन्तरेणापि शरीरस्थितिनिबन्धनम् तत्सद्भावेऽपि शरीरस्थितिनिमित्तशयनोपवेशादिवत् प्रकृताहारस्याप्यविरोधात् । न चोपवेशादिकमपि शरीरस्थित्यर्थं तत्रासिद्धम् समुद्घातावस्थानन्तरकालं पीठफलकादिप्रत्यर्पणश्रुतेस्तद्ग्रहणमन्तरेण तत्प्रत्यर्पणस्यासंभवात् तद्ग्रहणस्य च यथोक्तप्रयोजनमन्तरेणाभावात् अन्यथाऽप्रेक्षापूर्वकारितापत्तेः । यदपि 'बुभुक्षया देहं तिष्ठापयिषोः क्लेशवत्त्वे न कश्चिद् विशेषः' तदप्यसारम् क्लेशस्य भगवत्यद्याप्यामुक्तिगमनात् सर्वथा अनिवृत्तेः । तत्स्वभावपरिकल्पनया दोषप्रसञ्जनमभ्युपगमादेव निरस्तम् । तदेवं बाधकप्रमाणाभावात् साधकस्य च सद्भावात् सिद्धा केवलिभुक्तिरित्यलं प्रसक्तानुप्रसक्त्या । ॥ १५ ॥

[मत्यादिज्ञानचतुष्करूपे दृष्टान्ते यत्र यत्रोपयोगे विषयभेदस्तत्र तत्रासर्वार्थत्वमिति व्याप्तेर्भावनम्]

क्रमेण युगपद्वा परस्परनिरपेक्षस्वविषयपर्यवसितज्ञानदर्शनोपयोगौ केवलिन्यसर्वार्थत्वान्मत्यादिज्ञानचतुष्टयवन्न स्त इति दृष्टान्तभावनायाह—

पण्णवणिज्जा भावा समत्तसुयणाणदंसणाविसओ ।
ओहिमणपज्जवाण उ अण्णोण्णविलक्खणा विसओ ॥ १६ ॥

मतिश्रुतयोरसर्वपर्यायसर्वद्रव्यविषयतयाऽभिन्नार्थत्वे श्रुतस्यासर्वार्थग्रहणात्मकत्वभावनया मतिरपि तथा भावितैवेति श्रुतज्ञानस्यैव गाथायामसर्वार्थत्वभावना प्रदर्शिता । प्रज्ञापनीयाः शब्दाभिलाप्या भावा द्रव्यादयः समस्तश्रुतज्ञानस्य द्वादशाङ्गवाक्यात्मकस्य दर्शनाया दर्शनप्रयोजिकायास्तद्वाक्योपजाताया बुद्धेर्विषय आलम्बनम् मतेरपि त एव शब्दानभिधेया विषयः शब्दपरिकर्मणोऽनपेक्षस्य ज्ञानस्य यथोक्तभावविषयस्य मतित्वात् । अवधिमनःपर्याययोः पुनरन्योन्यविलक्षणा भावा विषयः अवधेः पुद्गलाः मनःपर्यायज्ञानस्य मन्यमानानि द्रव्यमनांसि विषयः इति असर्वार्थान्येतानि मत्यादिज्ञानानि परस्परविलक्षणविषयाणि च अत एव भिन्नोपयोगरूपाणि ॥ १६ ॥

---

१ पृ० ६११ पं० १० । २ पृ० ६११ पं० २७—२९ । ३ "कार्यस्य"-वृ० ल० टि० । ४ "असातावेदनीयस्य"-वृ० ल० टि० । ५ पृ० ६११ पं० ३१ । ६ "प्राणवृत्तौ प्रत्ययं कारणभूतम्"-वृ० ल० टि० । ७ "छद्मस्थावस्थायाम्"-वृ० ल० टि० । ८ पृ० ६११ पं० ३२ । ९ पृ० ६११ पं० ३३ । १०-णानापे- आ० हा० वि० ।

[मत्यादिवैधर्म्येण केवलोपयोगस्य असर्वार्थत्वाभावेन विषयभेदाभावादक्रमोपयोगद्वया-त्मकैकरूपत्वसाधनम्]

एवमसकलार्थत्वं भिन्नोपयोगपक्षे दृष्टान्तसमर्थनद्वारेण प्रदर्श्योपसंहारद्वारेणाक्रमोपयोगद्वयात्मकमेकं केवलमन्यथा सकलार्थता तस्यानुपपन्नेति दर्शयितुमाह—

तम्हा चउव्विभागो जुज्जइ ण उ णाणदंसणजिणाणं ।
सयलमणावरणमणंतमक्खयं केवलं जम्हा ॥ १७ ॥

यस्मात् केवलं सकलं सकलविषयं तस्मान्न तु नैव ज्ञानदर्शनप्रधानानां निर्मूलिताशेषघातिकर्मणां जिनानां छद्मस्थावस्थोपलब्धतत्तदावरणक्षयोपशमकारणभेदप्रभवमत्यादिचतुर्ज्ञानेष्विव ज्ञानदर्शनयोः पृथक् क्रमाक्रमविभागो युज्यते । कुतः पुनः सकलविषयत्वं भगवति केवलस्यानावरणत्वात् न ह्यनावृतमसकलविषयं भवति । न च प्रदीपादिना व्यभिचारोऽनन्तत्वात् अनन्तत्वं च द्रव्यपर्यायात्मकानन्तार्थग्रहणप्रवृत्तोत्पादव्ययध्रौव्यात्मकोपयोगवृत्तत्वेनाक्षयत्वात् । यथा च सकलपदार्थविषयं सर्वज्ञज्ञानं तथा प्राक् प्रदर्शितम् । ततोऽक्रमोपयोगद्वयात्मकमेकमिति स्थितम् न चाक्रमोपयोगद्वयात्मकत्वे कथं तस्य केवलव्यपदेश इति क्रमाक्रमभिन्नोपयोगवादिना प्रेर्यम् इन्द्रियालोकमनोव्यापारनिरपेक्षनिरावरणात्मसत्तामात्रनिबन्धनतथाविधार्थविषयप्रतिभासस्य तथाविधव्यपदेशविषयत्वात् । अद्वैतैकान्तात्मकं तु तन्न भवति सामान्यविशेषोभयानुभयविकल्पचतुष्टयेऽपि दोषानतिक्रमात् । तथाहि—न तावत् सामान्यरूपतया तदद्वयं सामान्यस्य विशेषनिबन्धनत्वात् तदभावे तस्याप्यभावात् नापि विशेषमात्रत्वात् तदद्वयम् अवयवावयविविकल्पद्वयानतिक्रमात् न तावत् तदवयवरूपम् अवयव्यभावे तदपेक्षावयवरूपताऽसंभवात् । न चावयविरूपम् अवयवाभावे तद्रूपस्यासंभवात् न च तद्व्यातिरिक्तविशेषरूपम् असदविशेषप्रसङ्गात् न चैकान्तव्यावृत्तोभयरूपम् उभयदोषानतिक्रमात् । न चानुभयस्वभावम्, असत्त्वप्रसक्तेः । न च ग्राह्यग्राहकविनिर्मुक्ताऽद्वयस्वरूपम् तथाभूतस्यात्मनः कदाचिदप्यननुभवात् सुषुप्तावस्थायामपि न ग्राह्यग्राहकस्वरूपविकलमद्वयं ज्ञानमनुभूयते ॥ १७ ॥

[अभिन्नोपयोगवादिना स्वपक्षे समापतत आगमविरोधस्यार्थगत्या व्याख्यान्तरमाश्रित्य परिहरणम्]

ज्ञानदर्शनोपयोगद्वयात्मकैककेवलोपयोगवादी स्वपक्षे आगमविरोधं परिहरन्नाह—

परवत्तव्वयपक्खाअविसिट्ठा तेसु तेसु सुत्तेसु ।
अत्थगईअ उ तेसिं वियंजणं जाणओ कुणइ ॥ १८ ॥

परैर्वैशेषिकादिभिर्यानि वक्तव्यानि प्रतिपाद्यानि तेषां पक्षा अभ्युपगमाः "युगपद् ज्ञानानुत्पत्तिः" [ ] "नागृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिः" [ ] इत्यादयः तैरविशिष्टा अभिन्ना भगवन्मुखाम्भोजनिर्गतेषु तेषु तेषु सूत्रेषु "जं समयं पासइ णो तं समयं जाणइ" [ ] इत्यादिषु अभ्युपगमाः प्रतिभासन्ते । न च ते तथैव व्याख्येयाः प्रमाणबाधनात् । तस्मात् अर्थगत्यैव सामर्थ्येनैव तेषां व्यक्तिं सकलवस्तुव्याप्यनेकान्तात्मकैककेवलावबोधप्रभवद्वादशाङ्गैकश्रुतस्कन्धाविरोधेन व्याख्यां ज्ञको ज्ञाता करोति । श्रुतावधिमनःपर्यायकेवली त्रिविधो "जं समयं पासइ नो तं समयं जाणइ" । [ ] न त्वेवं केवलकेवली तस्यासर्वज्ञताप्राप्तेरिति सूरेरभिप्रायः ॥ १८ ॥

१-दृश्योपसंहारिणाक्रमो-वा० बा० ।-दृश्योपयोगद्वारेणाक्रमो-बृ० आ० हा० वि० । २ तस्म सा-आ० हा० वि० । ३-पक्षममा-भा० मा० । ४-यरू-भा० हा० वि० । ५-लद्ध-वा० बा० । ६-वलं के-आ० वि० ।

[अक्रमोपयोगद्वयात्मकमेकं चेत् केवलं किमिति मनःपर्यायवदागमे तस्य ज्ञानमात्रतया न कथनम् किमिति च ज्ञान-दर्शनरूपतया द्वैविध्येन वर्णनमिति चोद्ये समोद्घाटनम्]

यद्यक्रमोपयोगद्वयात्मकमेकं केवलं किमिति मनःपर्यायज्ञानवत् तद् ज्ञानत्वेनैव न निर्दिष्टम्? तस्मात् "केवलनाणे केवलदंसणे" [ ] इति भेदेन सूत्रनिर्देशात् क्रमेण युगपद्वा भिन्नमुपयोगद्वयं केवलावबोधरूपमित्याशङ्क्याह—

जेणं मणोविसयगयाण दंसणं णत्थि दव्वजायाण।
तो मणपज्जवणाणं णियमा णाणं तु णिद्दिट्ठं ॥ १९ ॥

यतो मनःपर्यायज्ञानविषयगतानां परमनोद्रव्यविशेषाणां विशेषरूपतया वाह्यस्य चिन्त्यमानस्य घटादेर्लिङ्गिनो गमकतोपपत्तेः दर्शनं सामान्यरूपं नास्ति द्रव्यरूपाणां चिन्त्यमानालम्बनपरमनोद्रव्यगतानां [1]चिन्त्याविशेषाणां विशेषरूपतया वाह्यार्थगमकत्वात् तद्ग्राहि मनःपर्यायज्ञानं विशेषाकारत्वाद् ज्ञानमेव ग्राह्यदर्शनाभावाद् ग्राहकेऽपि तदभावः ततो मनःपर्यायाख्यो बोधो नियमाद् ज्ञानमेवागमे निर्दिष्टो न तु दर्शनम्। केवलं तु सामान्यविशेषोपयोगैकरूपत्वात् केवलं ज्ञानं केवलं दर्शनं चेत्यागमे निर्दिष्टम् ॥ १९ ॥

[एकत्वेऽपि केवलस्य ज्ञान-दर्शनोभयरूपतया शास्त्रे पाठात् तस्य कथंचिदनेकरूपत्वाभ्युपगमनम्]

तथा पुनरप्येकरूपानुविद्धामनेकरूपतां दर्शयन्नाह—

चक्खुअचक्खुअवहिकेवलाण समयम्मि दंसणविअप्पा।
परिपढिया केवलणाणदंसणा तेण ते अण्णा ॥ २० ॥

चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां स्वसमये दर्शनविकल्पा भेदाः परिपठितास्तेन दर्शनमध्ये पाठाद् दर्शनमपि केवलम् ज्ञानमध्ये पाठाद् ज्ञानमपि अतो भिन्ने एव केवलज्ञानदर्शने न चात्यन्तं तयोर्भेद एव केवलान्तर्भूतत्वेन तयोरभेदात्, न चैवमभेदाद्वैतमेव सूत्रयुक्तिविरोधात् तत्परिच्छेदकस्वभावतया कथंचिदेकत्वेऽपि तथा तद्व्यपदेशात् ॥ २० ॥

[एकदेशिना मत्युपयोगं दृष्टान्तीकृत्य एकस्यापि केवलोपयोगस्य द्विरूपत्वसमर्थनम्]

एतदेव दृष्टान्तद्वारेणाह—

दंसणमोग्गहमेत्तं 'घडो' त्ति णिव्वण्णणा हवइ णाणं।
जह एत्थ केवलाण वि विसेसणं एत्तियं चेव ॥ २१ ॥

अवग्रहमात्रं मतिरूपे बोधे दर्शनम् 'इदम्' 'तत्' इत्यव्यपदेश्यम् 'घटः' इति निश्चयेन वर्णना निश्चयात्मिका [2]मतिज्ञानं यथेह तथेहापीति दार्ष्टान्तिकं योजयति जह एत्थ इत्यादिना केवलयोरप्येतन्मात्रेणैव विशेषः एकान्तभेदाभेदपक्षे तत्स्वभावयोः [3]पूर्वोक्तदोषप्रसङ्गाद् अजहद्वृत्त्यैकरूपयोरेवाभिनिवोधिकरूपयोस्तत्तद्रूपतया तथाव्यपदेशसमासादनात् कथंचिदेकानेकात्मकत्वोपपत्तेर्भेदैकान्ते तयोरप्यभावापत्तेः ॥ २१ ॥

---

१ चिन्त्यतावि-भा० मां०। चितितावि-वा० वा०। चिंत्यावि-हा० वि०। २ मतिज्ञा-आ०। "घट इति निश्चयेन वर्णना तदाकाराभिलाप इति यावत्। कारणे कार्योपचाराच्च घटाकाराभिलापजनकं घटे मतिज्ञानमित्यर्थः यथाऽत्रैवं तथा केवलयोरप्येतावन्मात्रेण विशेषः"—ज्ञानबि० पृ० १६० द्वि० पं० १३। ३ प्र० पृ० पं० २०।

[पुनरप्येकदेशिना क्रमिकभेदं दूषयितुं शास्त्रीययुक्त्या ज्ञान-दर्शनयोः कथंचिदन्यत्व-व्यवस्थापनम्]

इतश्च कथञ्चिद् भेदः—

दंसणपुव्वं णाणं णाणणिमित्तं तु दंसणं णत्थि ।
तेण सुविणिच्छियामो दंसणणाणाण अण्णत्तं ॥ २२ ॥

दर्शनपूर्वं ज्ञानम्, ज्ञाननिमित्तं तु दर्शनं नास्तीत्युक्तं यतः सामान्यमुपलभ्य पश्चाद् विशेषमुपलभते न विपर्ययेणेत्येवं छद्मस्थावस्थायां हेतुहेतुमद्भावक्रमः । तेनाप्यवगच्छामः कथञ्चित् तयोर्भेद इति । अयं च क्षयोपशमनिबन्धनः क्रमः केवलिनि च तदभावादक्रम इत्युक्तम् ॥२२॥

[एकदेशीये अवग्रहमात्रमतिज्ञानस्य दर्शनत्वाभ्युपगमे समापततो दोषस्याभिधानं तत्समर्थनं च]

यदुक्तम् 'अवग्रहमात्रं मतिज्ञानं दर्शनम्' इत्यादि तदयुक्तम् अतिव्याप्तेरित्याह—

जइ ओग्गहमेत्तं दंसणं ति मण्णसि विसेसिअं णाणं ।
मइणाणमेव दंसणमेवं सइ होइ निप्फण्णं ॥ २३ ॥
एवं सेसिंदियदंसणम्मि नियमेण होइ ण य जुत्तं ।
अह तत्थ णाणमेत्तं घेप्पइ चक्खुम्मि वि तहेव ॥ २४ ॥

यदि मत्यवबोधे अवग्रहमात्रं दर्शनं विशेषितं ज्ञानमिति मन्यसे मतिज्ञानमेव दर्शनमित्येवं सति प्राप्तम् न चैतद् युक्तम् । "स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः" [तत्त्वार्थ० अ० २ सू० ९] इति सूत्रविरोधात् ॥ २३ ॥

एवं शेषेन्द्रियदर्शनेष्वप्यवग्रह एव दर्शनमित्यभ्युपगमेन मतिज्ञानमेव तदिति । न च तद् युक्तं पूर्वोक्तदोषानतिवृत्तेः । अथ तेषु श्रोत्रादिष्विन्द्रियेषु दर्शनमपि भवत् तद् ज्ञानमेव, मात्रशब्दस्य दर्शनव्यवच्छेदकत्वात् । अत एव तत्र 'श्रोत्रज्ञानम्' इत्यादिव्यपदेश उपलभ्यते 'श्रोत्रदर्शनम्' 'घ्राणदर्शनम्' इत्यादिव्यपदेशस्तु नागमे क्वचित् प्रसिद्धस्तर्हि चक्षुष्यपि तथैव गृह्यताम् 'चक्षुर्ज्ञानम्' इति न तु 'चक्षुर्दर्शनम्' इति । अथ तत्र दर्शनम् इतरत्रापि तथैव गृह्यताम् । ज्ञान-दर्शनयोरुपलम्भरूपत्वे अविशेषप्रसङ्गस्तयोरिति चेत् एवमेतद्रूपतया स्वभावभेदात् तु भेद इति ॥२४॥

[ज्ञान एव चक्षुरचक्षुर्दर्शनप्रवादसमर्थनाय दर्शनपदस्य अर्थाभिधानम्]

नन्ववग्रहस्य मतिभेदत्वाद् मतेश्च ज्ञानरूपत्वाद् अवग्रहरूपस्य दर्शनस्याभाव एव भवेत् । उच्यते—

णाणं अपुट्ठे अविसए य अत्थम्मि दंसणं होइ ।
मोत्तूण लिंगओ जं अणागयाईयविसएसु ॥ २५ ॥

अस्प(स्पृ)ष्टेऽर्थरूपे चक्षुषा य उदेति प्रत्ययः स चक्षुर्दर्शनं ज्ञानमेव सत् इन्द्रियाणामविषये च परमाण्वादौ अर्थे मनसा ज्ञानमेव सद् अचक्षुर्दर्शनम्, मुक्त्वा मेघोन्नतिरूपा-

---

१ पृ० ६१२ पं० ३ । २ पृ० ६१७ गा० २१ प० २६ । ३-णसित्तं बृ० । ४ प्र० पृ० पं० १५ । ५-वमेतत्तरूप-वा० बा० । ६ "अस्पृष्टेऽर्थे"—ज्ञानबिं० पृ० १६१ द्वि० पं० १३ ।

लिङ्गाद् भविष्यद्वृष्टौ नदीपूराद् वोपर्यतीतवृष्टौ वा लिङ्गिविषयं यद् ज्ञानं तस्यास्प(स्पृ)ष्टाविषयार्थस्याप्यदर्शनत्वात् ॥ २५ ॥

[अस्पृष्टाविषयावगाहित्वेऽपि न मनःपर्यायबोधस्य दर्शनत्वप्रसङ्ग इति सयुक्तिकं प्रतिपादनम्]

यद्यस्पृष्टाऽविषयार्थज्ञानं दर्शनमभिधीयते ततः—

मणपज्जवणाणं दंसणं ति तेणेह होइ ण य जुत्तं।
भण्णइ णाणं णोइंदियम्मि ण घडादओ जम्हा ॥ २६ ॥

एतेन लक्षणेन मनःपर्यायज्ञानमपि दर्शनं प्राप्तं परकीयमनोगतानां घटादीनामालम्ब्यानां तत्रासत्त्वेनास्पृष्टेऽविषये च घटादावर्थे तस्य भावात् न चैतद् युक्तम् आगमे तस्य दर्शनत्वेनापाठात्। भण्यते अत्रोत्तरम(म्) णोइंदियम्मि मनोवर्गणाख्ये मनोविशेषे प्रवर्तमानं मनःपर्यायबोधरूपं ज्ञानमेव न दर्शनं यस्माद्स्पृष्टा घटादयो नास्य विषयो लिङ्गानुमेयत्वात् तेषाम्। तथा चागमः "जाणइ वज्झेऽणुमाणाओ" [विशेषा० भा० गा० ८१४]। ननु च परकीयमनोगतार्थाकारविकल्पस्योभयरूपत्वात् किमिति तद्ग्राहिणो मनःपर्यायावबोधस्य न दर्शनरूपता? न, मनोविकल्पस्य बाह्यार्थचिन्तनरूपस्य विकल्पात्मकत्वेन ज्ञानरूपत्वात् तद्ग्राहिणो मनःपर्यायज्ञानस्यापि तद्रूपतैव घटादेस्तु तत्र परोक्षतैवेति दर्शनस्याभाव एव मनोविकल्पाकारस्योभयरूपत्वेऽपि छाद्मस्थिकोपयोगस्य परिपूर्णवस्तुग्राहकत्वासंभवाच्च न मनःपर्यायज्ञाने दर्शनोपयोगसंभवः ॥ २६ ॥

[अस्पृष्टाविषयावगाहि ज्ञानमेव दर्शनम् न ततः पृथगिति प्रतिपादनम्]

किञ्च,

मइसुयणाणणिमित्तो छउमत्थे होइ अत्थउवलंभो।
एगयरम्मि वि तेसिं ण दंसणं दंसणं कत्तो? ॥ २७ ॥

मतिश्रुतज्ञाननिमित्तश्छद्मस्थानामर्थोपलम्भ उक्त आगमे। तयोरेकतरस्मिन्नपि न दर्शनं संभवति न तावदवग्रहो दर्शनं तस्य ज्ञानात्मकत्वात् ततः कुतो दर्शनम्? नास्तीत्यर्थः। अस्पृष्टेऽविषये चार्थे ज्ञानमेव दर्शनं नान्यदिति प्रसक्तम् ॥ २७ ॥

[अस्पृष्टार्थावगाहित्वेऽपि श्रुतज्ञानस्य दर्शनत्वाभावप्रतिपादनम्]

ननु श्रुतमस्पृष्टे विषये किमिति दर्शनं न भवेत्? इत्याह—

जं पच्चक्खग्गहणं ण इन्ति सुयणाणसम्मिया अत्था।
तम्हा दंसणसद्दो ण होइ सयले वि सुयणाणे ॥ २८ ॥

यस्मात् श्रुतज्ञानप्रमिताः पदार्था उपयुक्ताध्ययनविषयास्तथाभूतार्थवाचकत्वात् श्रुतशब्दस्य प्रत्यक्षं न गृह्यन्ते अतो न श्रुतं चक्षुर्दर्शनसंज्ञम् मानसमचक्षुर्दर्शनं श्रुतं भविष्यतीत्येतदपि नास्ति अवग्रहस्य मतित्वेन पूर्वमेव दर्शनतया निरस्तत्वात् ॥ २८ ॥

---

१ "तस्यास्पृष्टाविषयार्थस्यापि दर्शनत्वेनाव्यवहारात्"—ज्ञानबिं० पृ० १६२ प्र० पं० ३। २–त्तरं मनो–भा० मां०। ३–इंद्रियस्मि भा० मा० विना।

४ "दव्वमणोपज्जाए जाणइ पासइ य तग्गएऽणंते। तेणावभासिए उण जाणइ बज्झेऽणुमाणेणं" ॥—विशेषा० भा० पृ० ८१४ द्वि०।

५–गस्यो परिपू–हा० वि०। ६ न चाव–बृ० आ० हा० वि०। ७–दार्थे उ–भा० मा० विना। ८–ह्यते अ–बृ० वा० बा० विना। ९ प्र० पृ० पं० २०।

[अवधिज्ञाने एव प्रवृत्तिनिमित्तवशेन दर्शनशब्दस्यापि लब्धावकाशत्वसमर्थनम्]

नन्वेवमवधिदर्शनस्याप्यभावः स्यादित्याह—

जं अप्पुट्ठा भावा ओहिण्णाणस्स होंति पच्चक्खा ।
तम्हा ओहिण्णाणे दंसणसद्दो वि उवउत्तो ॥ २९ ॥

यस्मादस्पृष्टा भावा अण्वादयोऽवधिज्ञानस्य प्रत्यक्षा भवन्ति, चक्षुर्दर्शनस्येव रूपसामान्यम् ततस्तत्रैव दर्शनशब्दोऽप्युपयुक्तः ॥ २९ ॥

[सिद्धान्तिना एकस्यैव केवलोपयोगस्य ज्ञानदर्शनोपयोगद्वयरूपत्वव्यावर्णनम्]

केवलावबोधस्तु ज्ञानदर्शनोपयोगद्वयात्मको ज्ञानमेव सन् दर्शनमप्युच्यत इत्याह—

जं अप्पुट्ठे भावे जाणइ पासइ य केवली णियमा ।
तम्हा तं णाणं दंसणं च अविसेसओ सिद्धं ॥ ३० ॥

यतोऽस्पृष्टान् भावान्नियमेनावश्यंतया केवली चक्षुष्मानिव पुरःस्थितं चक्षुषा पश्यति जानाति चोभयप्राधान्येन । तस्मात् तत् केवलावबोधस्वरूपं ज्ञानमप्युच्यते दर्शनमप्यविशेषत उभयाभिधाननिमित्तस्याविशेषात् न पुनर्ज्ञानमेव सदविशेषतोऽभेदतो दर्शनमिति सिद्धम् । यतो न ज्ञानमात्रमेव तत् नापि दर्शनमात्रं केवलम् नाप्युभयाक्रमरूपं परस्परविविक्तम् नापि क्रमस्वभावम् अपि तु ज्ञानदर्शनात्मकमेकं प्रमाणमन्यथोक्तवत् तदभावप्रसङ्गात् ।

[पूर्वाभिप्रायेण ज्ञानपञ्चक-दर्शनचतुष्कयोः स्वरूपविभजनम्]

छद्मस्थावस्थायां तु प्रमाणप्रमेययोः सामान्यविशेषात्मकत्वेऽप्यनपगतावरणस्यात्मनो दर्शनोपयोगसमये ज्ञानोपयोगस्यासम्भवाद् अप्राप्यकारिनयन-मनःप्रभवार्थावग्रहादिमतिज्ञानोपयोगप्राक्तनी अवस्था अस्प(स्पृ)ष्टावभासिग्राह्यग्राहकत्वपरिणत्यवस्था व्यवस्थितात्मप्रबोधरूपा चक्षुरचक्षुर्दर्शनव्यपदेशमासादयति । द्रव्यभावेन्द्रियालोकमतिज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमादिसामग्रीप्रभवरूपादिविषयग्रहणपरिणतिश्चात्मनोऽवग्रहादिरूपा मतिज्ञानशब्दवाच्यतामश्नुते । श्रुतज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमवाक्यश्रवणादिसामग्रीविशेषनिमित्तप्रादुर्भूतो वाक्यार्थग्रहणपरिणतिस्वभावो वाक्यश्रवणानिमित्तो वा आत्मनः श्रुतज्ञानमिति शब्दाभिधेयतामाप्नोति । रूपिद्रव्यग्रहणपरिणतिविशेषस्तु जीवस्य भवगुणप्रत्ययावधिज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमप्रादुर्भूतो लोचनादिबाह्यनिमित्तनिरपेक्षः अवधिज्ञानमिति व्यपदिश्यते तज्ज्ञैः अवधिदर्शनावरणकर्मक्षयोपशमप्रादुर्भूतस्तु स एव तद्द्रव्यसामान्यपर्यालोचनस्वभावोऽवधिदर्शनव्यपदेशभाग् भवति । अर्धतृतीयद्वीपसमुद्रान्तर्वर्तिसकलमनोविकल्पग्रहणपरिणतिर्मनःपर्यायज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमादिविशिष्टसामग्रीसमुत्पादिता चक्षुरादिकरणनिरपेक्षस्यात्मनः मनःपर्यायज्ञानमिति वदन्ति विद्वांसः । छाद्मस्थिकोपयोगं चात्मा स्वप्रदेशावरणक्षयोपशमद्वारेण प्रतिपद्यते

---

1 प्रस्तुतगाथासंवादकमेकं पद्यं मलधारिहेमचन्द्रसूरिणा स्वकीयायां विशेषावश्यकभाष्यवृत्तौ स्तुतिकारकर्तृकत्वेन समुद्धृतं वर्तते । तद्यथा—

"यद्यपि केवलज्ञानं केवलदर्शनं च तथोच्यते तथापि तयोर्न विशेष इत्यभिप्रायवता प्रोक्तं स्तुतिकारेण
एव कल्पितभेदमप्रतिहतं सर्वज्ञतालाञ्छनं सर्वेषां तमसां निहन्तृ जगतामालोकनं शाश्वतम् ।
नित्यं पश्यति बुध्यते च युगपद् नानाविधानि प्रभो ! स्थित्युत्पत्तिविनाशवन्ति विमलद्रव्याणि ते केवलम्" ॥

—पृ० ११९८ पं० १० ।

यद्यपि इदं पद्यं लब्धासु एकविंशतौ सिद्धसेनीयद्वात्रिंशिकासु न दृश्यते तथापि तत् सिद्धसेनप्रणीतमेवाऽवसीयते समन्तभद्रवत् तस्यैव स्तुतिकारत्वेन प्रसिद्धत्वात् तस्यैव अभिन्नकेवलज्ञानदर्शनोपयोगद्वयमतप्रस्थापकत्वेन विश्रुतत्वाच्च ।

२-मात्र के-भा० मां० डा० । ३-पाचक्षु-वृ० डा० वि० ।

न त्वनन्तज्ञेयज्ञानस्वभावस्यात्मन एतदेव खण्डशः प्रतिपत्तिलक्षणं पारमार्थिकं रूपं सामान्यविशेषात्मकवस्तुविस्तरव्यापि युगपत्परिच्छेदस्वभावद्वयात्मकैककेवलावबोधतात्त्विकरूपत्वात् तस्य। तच्च तस्य स्वरूपं केवलज्ञानदर्शनावरणकर्मक्षयाविर्भूतं करणक्रमव्यवधानातिवर्तिसकललोकालोकविषयत्रिकालस्वभावपरिणाममेवानन्तपदार्थयुगपत्सामान्यविशेषसाक्षात्करणप्रवृत्तं केवलज्ञानं केवलदर्शनमिति च व्यपदिश्यते। तेन 'अवग्रहरूप आभिनिबोधो दर्शनम् स एव चेहादिरूपो विशेषग्राहको ज्ञानं तद्व्यतिरिक्तस्यापरस्य ग्राहकस्याभावात् तस्यैवैकस्य तथाग्रहणात् तथाव्यपदेशादुत्फणविफणावस्थासर्पद्रव्यवत् ततस्तयोरवस्थयोरव्यतिरेकात् तस्य च तद्रूपत्वादेक एवाभिनिबोधो दर्शनं मतिज्ञानं चाभिधीयत इति सूत्रकृतोऽभिप्रायः' इति यत् कैश्चिद् व्याख्यातं तदसङ्गतं लक्ष्यते आगमविरोधात् युक्तिविरोधाच्च न ह्येकान्ततोऽभेदे पूर्वमवग्रहो दर्शनं पश्चाद् ईहादिकं ज्ञानं तयोश्च तत्रान्तर्भाव इति शक्यमभिधातुम् कथंचिद्भेदनिबन्धनत्वादस्य आत्मरूपतया तु तयोरभेदोऽभ्युपगम्यत एव। न चैकस्यैव मतिज्ञानस्योभयमध्यपातादुभयव्यपदेशः अवग्रहस्य दर्शनत्वे 'अवग्रहादिधारणापर्यन्तं मतिज्ञानम्' इत्यस्य व्याहतेः तस्य वाऽदर्शनत्वे 'अवग्रहमात्रं दर्शनम्' इत्यस्य विरोधात् आगमविरोधश्च तद्व्यतिरेकेण दर्शनानभ्युपगमे तदभ्युपगमे वाऽष्टाविंशतिभेदमतिज्ञानव्यतिरिक्तदर्शनाभ्युपगमात् कुतो ज्ञानमेव दर्शनं छद्मस्थावस्थायाम्? केवल्यवस्थायां तु क्षीणावरणस्याऽऽत्मनो नित्योपयुक्तत्वात् सदैव दर्शनावस्था वर्तमानपरिणतेर्वस्तुनोऽवगमरूपायाः प्राक् तथाभूतानवबोधरूपत्वासंभवात् तथाभूतज्ञानविकलावस्थासंभवे वा प्रागितरपुरुषाविशेषप्रसङ्गात्। ततो युगपज्ज्ञानदर्शनोपयोगद्वयात्मकैकोपयोगरूपः केवलावबोधोऽभ्युपगन्तव्य इति सूरेरभिप्रायः॥ ३०॥

[एक एव केवलोपयोगो द्व्यात्मक इति स्वसिद्धान्तः समयान्तरोत्पादवचनं तु परतीर्थिकमतकथनमिति विभजनम्]

द्व्यात्मक एक एव केवलावबोध इति दर्शयन्नाह—

साई अपज्जवसियं ति दो वि ते ससमयओ हवइ एवं।
परतित्थियवत्तव्वं च एगसमयंतरुप्पाओ॥ ३१॥

द्वे अपि ते ज्ञानदर्शने यदि युगपद् न नाना भवतस्तदा स्वसमयः स्वसिद्धान्तः 'साद्यपर्यवसिते' इति घटते यस्त्वेकसमयान्तरोत्पादस्तयोः 'यदा जानाति तदा न पश्यति' इत्येवमभिधीयते स परतीर्थिकशास्त्रं नार्हद्वचनम् नयाभिप्रायेण प्रवृत्तत्वादिति सूरेरभिप्रायः॥ ३१॥

[एवंभूततत्त्वश्रद्धानरूपस्य सम्यग्दर्शनस्य सम्यग्ज्ञानरूपत्वमेव इति वर्णनम्]

एवंभूतं वस्तुतत्त्वं श्रद्दधानः सम्यग्ज्ञानवानेव पुरुषः सम्यग्दृष्टिरित्याह—

एवं जिणपण्णत्ते सद्दहमाणस्स भावओ भावे।
पुरिसस्साभिणिबोहे दंसणसद्दो हवइ जुत्तो॥ ३२॥

एवमनन्तरोक्तविधिना जिनप्रज्ञप्तान् भावान् श्रद्दधानस्य पुरुषस्य यदाभिनिबोधिकं ज्ञानं तदेव सम्यग्दर्शनम् विशिष्टावबोधरूपाया रुचेः सम्यग्दर्शनशब्दवाच्यत्वादिति भावः॥ ३२॥

१-र्थिकरू-हा० वि०। २-नानति-वृ० सं०। ३ एवेहा-भां० मा० विना। ४-स्थयोर्व्यति-वृ०। ५ दर्शनत्वेन अ-वा० भा०। दर्शने अ-वृ०। ६-पर्यन्त म-वृ० वा० बा० मां० विना। ७ पृ० ६१७ गा० २१ पं० २६। ८-गमे वाष्टा-वृ०।

[सम्यग्ज्ञाने दर्शनत्वस्य नियततया दर्शने सम्यग्ज्ञानत्वस्य विकल्पनीयतया सम्यग्दर्शनं विशिष्टज्ञानरूपमेव इति फलिताभिधानम्]

ननु यदि सम्यग्ज्ञाने सम्यग्दर्शनं नियमेन दर्शनेऽपि रुचिलक्षणे सम्यग्ज्ञानं किमिति न स्यात् ? न, एकान्तरुचावपि सम्यग्ज्ञानप्रसक्तेरित्याह—

सम्मण्णाणे णियमेण दंसणं दंसणे उ भयणिज्जं ।
सम्मण्णाणं च इमं ति अत्थओ होइ उववण्णं ॥ ३३ ॥

सम्यग्ज्ञाने नियमेन सम्यग्दर्शनं दर्शने पुनर्भजनीयं विकल्पनीयं सम्यग्ज्ञानम् एकान्तरुचौ न संभवति अनेकान्तरुचौ तु सम्यग्दर्शने समस्ति । यतश्चैवमतः सम्यग्ज्ञानं चेदं सम्यग्दर्शनं च विशिष्टरुचिस्वभावमवबोधरूपमर्थतः सामर्थ्यादुपपन्नं भवति ॥ ३३ ॥

[सूत्रोक्तं साद्यपर्यवसितत्वं शब्दशः स्पृशतां केषांचिदाचार्याणां गर्विष्ठतया सम्यग्वादित्वाभावप्रतिपादनम्]

अत्र साद्यपर्यवसितं केवलज्ञानं सूत्रे प्रदर्शितम् अनुमानं च तथाभूतस्य[1] तस्य प्रतिपादकं संभवति । तथाहि—घातिकर्मचतुष्टयप्रक्षयाविर्भूतत्वात् केवलं सादि न च तथोत्पन्नस्य पश्चात्तस्यावरणमस्ति अतोऽनन्तमिति न पुनरुत्पद्यते विनाशपूर्वकत्वादुत्पादस्य न हि घटस्याविनाशे कपालानामुत्पादो दृष्ट इत्यनुत्पादव्ययात्मकं केवलमित्यभ्युपगमवतो निराकर्तुमाह—

केवलणाणं साई अपज्जवसियं ति दाइयं सुत्ते ।
तेत्तियमित्तोत्तूणा केइ विसेसं ण इच्छंति ॥ ३४ ॥

केवलज्ञानं साद्यपर्यवसितमिति दर्शितं सूत्रे इत्येतावन्मात्रेण गर्विताः केचन विशेषं पर्यायं पर्यवसितत्वस्वभावं विद्यमानमपि नेच्छंति ते न च सम्यग्वादिनः ॥ ३४ ॥

[सिद्धान्तिना केवलस्य पर्यवसितत्वप्रदर्शनम्]

यतः—

जे संघयणाईया भवत्थकेवलिविसेसपज्जाया ।
ते सिज्झमाणसमये ण होंति विगयं तओ होइ ॥ ३५ ॥

ये वज्रऋषभनाराचसंहननादयो भवस्थस्य केवलिनः आत्मपुद्गलप्रदेशयोरन्योन्यानुवेधाद् व्यवस्थिताः विशेषपर्यायास्ते सिध्यत्समयेऽपगच्छन्ति तदपगमे तदव्यतिरिक्तस्य केवलज्ञानस्याप्यात्मद्रव्यद्वारेण विगमात् अन्यथाऽवस्थातुरवस्थानामात्यन्तिकभेदप्रसक्तेः केवलज्ञानं ततो विगतं भवतीति सूत्रकृतोऽभिप्रायः ॥ ३५ ॥

१-स्य प्रति-बृ० आ० हा० वि० । २-यमेत्तो- बृ० आ० हा० वि० । ३-मित्तोत्तणा आ० ।-मित्तोमूणा वि० ।-मित्तोपूणा हा० । 'उत्तूण' शब्दो दृप्तवाची देश्य । "दरिए उत्तुण-उम्मुह-उम्मुंसु-च्छुच्छु-उत्तुरिद्धीओ"— देशीना० प्रथ० व० गा० ९९ पृ० ४१ ।

[सिध्यत्समये केवलस्य विनाशवद् उत्पादस्यापि प्रदर्शनम् अपर्यवसितत्वविषयक-सूत्रोक्तेरपेक्षाविशेषेण समर्थनं च]

विनाशवत् केवलज्ञानस्योत्पादोऽपि सिध्यत्समय इत्याह—

सिद्धत्तणेण य पुणो उप्पण्णो एस अत्थपज्जाओ।
केवलभावं तु पडुच्च केवलं दाइयं सुत्ते ॥ ३६ ॥

सिद्धत्वेनाशेषकर्मविगमस्वरूपेण पुनः पूर्ववदुत्पन्न एष केवलज्ञानाख्योऽर्थपर्याय उत्पादविगमध्रौव्यात्मकत्वाद् वस्तुनः अन्यथा वस्तुत्वहानेः। यत् त्वपर्यवसितत्वं सूत्रे केवलस्य दर्शितं तत् तस्य केवलभावं सत्तामात्रमाश्रित्य कथंचिदात्माव्यतिरिक्तत्वात् तस्य आत्मनश्च द्रव्यरूपतया नित्यत्वात् ॥ ३६ ॥

[स्वरूप-लक्षणाभ्यां जीव-केवलयोर्भेदे सत्यपि कथं तयोरेकत्वमित्यस्याः केषांचिदाशङ्काया उल्लेखः]

ननु केवलज्ञानस्यात्मरूपतामाश्रित्य तस्योत्पादविनाशाभ्यां केवलस्य तौ भवतः न चात्मनः केवलरूपतेति कुतस्तद्वारेण तस्य तावित्याह—

जीवो अणाइणिहणो केवलणाणं तु साइयमणंतं।
इअ थोरम्मि[1] विसेसे कह जीवो केवलं होइ ॥ ३७ ॥
तम्हा अण्णो जीवो अण्णे णाणाइपज्जवा तस्स।
उवसमियाईलक्खणविसेसओ केइ इच्छन्ति ॥ ३८ ॥

जीवोऽनादिनिधनः केवलज्ञानं तु साद्यपर्यवसितमिति स्थूरे विरुद्धधर्माध्यासलक्षणे विशेषे छायातपवदत्यन्तभेदात् कथं जीवः केवलं भवेत्? जीवस्यैव तावत् केवलरूपता असंगता दूरतः संहननादेरिति भावः ॥ ३७ ॥

तस्माद् विरुद्धधर्माध्यासतोऽन्यो जीवो ज्ञानादिपर्यायेभ्यः अन्ये च ततो ज्ञानादिपर्याया[2] लक्षणभेदाच्च तयोर्भेदः। तथाहि—ज्ञान-दर्शनयोः क्षायिकः क्षायोपशमिको वा भावो लक्षणम् जीवस्य तु पारिणामिकादिर्भावो लक्षणमिति केचित् व्याख्यातारः प्रतिपन्नाः ॥ ३८ ॥

[प्रागुक्तामाशङ्कां निरसितुमुपक्रमः]

एतन्निषेधायाह—

अह पुण पुव्वपयुत्तो अत्थो एगंतपक्खपडिसेहे।
तह वि उयाहरणमिणं ति हेउपडिजोअणं वोच्छं ॥ ३९ ॥

यद्यप्ययं पूर्वमेव द्रव्यपर्याययोर्भेदैकान्तपक्षप्रतिषेधलक्षणोऽर्थः प्रयुक्तो योजितः 'उप्पाय-ट्ठिइ-भंगा' [प्र० का० गा० १२] इत्यादिना[3] अनेकान्तव्यवस्थापनात् तथापि केवलज्ञाने अनेकान्तात्मकैकरूपप्रसाधकस्य हेतोः साध्येनानुगमप्रदर्शकप्रमाणविषयमुदाहरणमिदमुत्तरगाथया वक्ष्ये ॥ ३९ ॥

---

१ इअ थोर-भा० मां०। एत्थोर-वृ० आ० हा० वि०। २-पर्याय ल-वृ० भा० मा० विना।
३ पृ० ४१० पं० ५।

[अनेकान्तात्मकैकरूपत्वेन साध्येन सत्त्वस्य हेतोर्व्याप्तिं प्रसाधयितुं दृष्टान्तोपन्यासः]

तदेवाह--

जह कोइ सट्ठिवरिसो तीसइवरिसो णराहिवो जाओ।
उभयत्थ जायसद्दो वरिसविभागं विसेसेइ ॥ ४० ॥

यथा कश्चित् पुरुषः षष्टिवर्षः सर्वायुष्कमाश्रित्य त्रिंशद्वर्षः सन्नराधिपो जात उभयत्र मनुष्ये राजनि च जातशब्दोऽयं प्रयुक्तो वर्षविभागमेवास्य दर्शयति। षष्टिवर्षायुष्कस्य पुरुषसामान्यस्य नराधिपपर्यायोऽयं जातः अभेदाध्यासितभेदात्मकत्वात् पर्यायस्य नराधिपपर्यायात्मकत्वेन चायं पुरुषः पुनर्जातो भेदानुषक्ताभेदात्मकत्वात् सामान्यस्य एकान्तभेदेऽभेदे वा तयोरभावप्रसङ्गान्निराश्रयस्य पर्यायप्रादुर्भावस्य तद्विकलस्य वा सामान्यस्यासंभवात् संशयविरोधवैयधिकरण्याऽनवस्थोभयदोषादीनामनेकान्तवादे च प्रागेव निरस्तत्वात् ॥ ४० ॥

[दृष्टान्तगृहीतव्याप्तेः सत्त्वहेतोर्दार्ष्टान्तिके केवले उपनयनम्]

दृष्टान्तं प्रसाध्य दार्ष्टान्तिकयोर्जनायाह--,

एवं जीवद्दव्वं अणाइणिहणमविसेसियं जम्हा।
रायसरिसो उ केवलिपज्जाओ तस्स सविसेसो ॥ ४१ ॥

एवमनन्तरोक्तदृष्टान्तवज्जीवद्रव्यमनादिनिधनमविशेषितभव्यजीवरूपं सामान्यं, यतो राजत्वपर्यायसदृशः केवलित्वपर्यायस्तस्य तथाभूतजीवद्रव्यस्य विशेषस्तस्मात् तेन रूपेण जीवद्रव्यसामान्यस्यापि कथंचिदुत्पत्तेः सामान्यमप्युत्पन्नं प्राक्तनरूपस्य विगमात् सामान्यमपि--तदभिन्नं कथंचिद् विगतं पूर्वोत्तरपिण्डघटपर्यायपरित्यागोपादानप्रवृत्तैकमृद्द्रव्यवत् केवलरूपतया जीवरूपतया वा अनादिनिधनत्वान्नित्यं द्रव्यमभ्युपगन्तव्यम् प्रतिक्षणभाविपर्यायानुस्यूतस्य च मृद्द्रव्यस्याध्यक्षतोऽनुभूतेर्न दृष्टान्तासिद्धिस्तस्मात् केवलं कथंचित् सादि कथंचिदनादि कथंचित् सपर्यवसानं कथंचिदपर्यवसानं सत्त्वादात्मवदिति स्थितम् ॥ ४१ ॥

[जीव-तत्पर्यायगतं प्रामाणिकं व्यवहारमाश्रित्य द्रव्यपर्याययोरेकान्तभेदनिराकरणम्]

न द्रव्यं पर्यायेभ्यो भिन्नमेवेत्याह--

जीवो अणाइनिहणो 'जीव' त्ति य णियमओ ण वत्तव्वो।
जं पुरिसाउयजीवो देवाउयजीवियविसिट्ठो ॥ ४२ ॥

जीवोऽनादिनिधनो जीव एव विशेषविकल इति नियमतो न वक्तव्यम् यतः पुरुषायुष्कजीवो देवायुष्कजीवाद् विशिष्टो जीव एव इति त्वभेदे पुरुषजीव इत्यादिभेदो न भवेत् केवलस्य सामान्यस्य विशेषप्रत्ययाभिधानानिबन्धनत्वान्निर्निमित्तस्यापि विशेषप्रत्ययाभिधानस्य संभवे सामान्यप्रत्ययाभिधानस्यापि निर्निमित्तस्यैव भावात् तन्निबन्धनसामान्याभ्युपगमोऽप्ययुक्तः स्यादिति सर्वाभावः। न च विशेषप्रत्ययस्य बाधारहितस्यापि मिथ्यात्वमितरत्रापि तत्प्रसक्तेरिति प्रतिपादनात् ॥ ४२ ॥

---

१ जाइस-वृ०। २-पशब्दोऽ-भां० मां०। ३-दाध्यवसि-बा० बा०। ४-कल्पस्य वृ० आ० विना। ५ पृ० ४५१ पं० ११ टि० ७। ६-जनामाह भा० मा०। ७ एवं वृ० बा० बा० विना। ८-एडद्रव्यय-वृ० आ० बा० विना। ९ सादिकं क-भा० भा० मा० मां०। १०-व्यस्यापि-बा० बा० विना।

[आत्मद्रव्यस्य स्वाभाविकैर्वैभाविकैश्च पर्यायैः कथंचिदेकानेकत्वप्रदर्शनम्]

... ज्ञानस्य कथंचिदात्माऽव्यतिरेकादात्मनो वा केवलज्ञानाव्यतिरेकात् कथञ्चिदेकत्वं तयोरित्या... -

संखेज्जमसंखेज्जं अणंतकप्पं च केवलं णाणं ।
तह रागदोसमोहा अण्णे वि य जीवपज्जाया ॥ ४३ ॥

... त्वात् कथञ्चित् तदव्यतिरिक्तं केवलमप्येकम् केवलस्य वा ज्ञानदर्शनरूपतया द्विरूपत्वात् तदव्यतिरिक्त आत्माऽपि द्विरूपः असंख्येयप्रदेशात्मकत्वादात्मनः केवलमप्यसंख्येयम् अनन्तार्थविषयतया केवलस्यानन्तत्वादात्माऽप्यनन्तः । एवं रागद्वेषमोहा अन्येऽपि जीवपर्यायाश्छद्मस्थावस्थाभाविनः संख्येयाऽसंख्येयानन्तप्रकारा आलम्ब्यभेदात् तदात्मकत्वात् संसार्यात्माऽपि तद्वत् तथैव स्यात् । सोमिलब्राह्मणप्रश्नप्रतिवचने चागमे एतदर्थप्रतिपादकं च सूत्रम्—"एगे[1] भवं दुवे भवं" इत्यादि "जाव अणेगभूयभावभविए भवं" इति प्रश्ने उत्तरं-"सोमिला ! एगे वि अहं जाव अणेगभूयभावभविए य अहं । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ ? एगे वि अहं" इत्याद्युत्तरहेतुप्रश्ने हेतुप्रतिपादनम् । "सोमिला ! दव्वट्ठयाए एगे अहं, णाणदंसणट्ठयाए दुवे अहं" [भगवती० श० १८ उ० १० सू० ६४७] इत्यादि प्रकृतार्थसंवादि सिद्धम् । रागादीनां चैकाद्यनन्तभेदत्वमात्मपर्यायत्वात् यो ह्यात्मपर्यायः स एकाद्यनन्तभेदो यथा केवलावबोधस्तथा च रागादय इति स्थित्युत्पत्तिनिरोधा[2]त्मकत्वमर्हत्यपि सिद्धमिति यत् परेणोक्तम्—"अनेकान्तात्मकत्वाभावेऽपि केवलिनि सत्त्वात् यत् सत् तत् सर्वमनेकान्तात्मकमिति प्रतिपादकस्य शासनस्याव्यापकत्वात् कुसमयविशासित्वं तस्या सिद्धम्" [ ] इति तत्[3] प्रत्युक्तं द्रष्टव्यम् ॥ ४३ ॥

तत्त्वबोधविधायिन्यां सम्मतिटीकायां द्वितीयं काण्डम्[4] ।

१ "एगे भवं दुवे भवं अक्खए भवं अव्वए भवं अवट्ठिए भवं अणेगभूयभावभविए भवं ?
सोमिला ! एगे वि अहं जाव अणेगभूयभावभविए वि अहं ।
से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ जाव-भविए वि अहं ?

सोमिला ! दव्वट्ठयाए एगे अहं, नाण-दंसणट्ठयाए दुविहे अहं, पएसट्ठयाए अक्खए वि अहं, अव्वए वि अहं अवट्ठिए वि अहं, उवयोगट्ठयाए अणेगभूयभावभविए वि अहं । से तेणट्ठेणं जाव-भविए वि अहं"—इति संपूर्णं सूत्रम् भगवतीसू० पृ० ७६० प्र० । २-त्तितिरो-आ० हा० वि० । त्तिविरो-भा० मा० । ३-त् प्रयुक्तं द्र-भा० मां० ।-त् प्रत्यक्षं द्र-बृ० आ० हा० वि० । ४ (ग्रन्थाग्रम्) ७२५० बृ० ।

शुद्धिपत्रम्

शुद्धिः

शैल्या पृष्ठे

प्रशस्त० कं० ४९१

तत्त्वार्थश्लो० ५२९

५५३